संस्थापक संपादक : दूधनाथ सिंह : 1975

पक्षधर

प्रतिरोध की संस्कृति का रचनात्मक हस्तक्षेप

वर्ष : **14** अंक : **29** जुलाई-दिसम्बर, 2020

संपादक
विनोद तिवारी

संपादन सहयोग
अजय आनंद
आशीष मिश्र

अक्षर संयोजन

कम्प्यूटेक सिस्टम
ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32
आवरण चित्र : अभिषेक प्रताप सिंह

मूल्य :

एक प्रति : ₹ 100 (व्यक्तिगत) ₹ 150 (संस्थागत)

सदस्यता :

वार्षिक (व्यक्तिगत) : ₹ 300 (डाक खर्च सहित)
वार्षिक (संस्थागत) : ₹ 350 (डाक खर्च सहित)
पंचवार्षिक : ₹ 1500
आजीवन : ₹ 5000
विदेश के लिए : 100 $

भुगतान हेतु बैंक-खाता विवरण :
A/c Name / No. : Pakshdhar / 31266280438
Bank : SBI / IFSC-SBIN0001067

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक **विनोद तिवारी, सी-4/604, ऑलिव काउंटी, सेक्टर-5, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012** के लिए बी.के. ऑफसेट, एफ-93, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से प्रकाशित और मुद्रित।

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।

सम्पर्क :

सी-4/604, ऑलिव काउंटी, सेक्टर-5,
वसुंधरा, गाजियाबाद-201012
मो. 09560236569
ई-मेल : pakshdharwarta@gmail.com
वेब पता : www.pakshdhar.com

PAKSHDHAR
A Bi-Annual Literary Magazine
Editor : Vinod Tiwari
Language : Hindi

ISSN : 2231-1173

अनुक्रम

संपादकीय

जीत की हार 5

एक कवि : एक राग

चौदह कविताएँ : **लीलाधर जगूड़ी** 11

स्मृति-शेष

अक़्ल को काला पानी... : **रवि श्रीवास्तव** 24

शमसुर रहमान फ़ारूक़ी की याद में : **अली अहमद फ़ातमी** 28

लेख

वैचारिक स्वराज : आज की चुनौतियाँ : **आदित्य निगम** 35

औपनिवेशिक सुधारवाद और बांड्ला का स्त्री-समाज
(संदर्भ : बांड्ला स्त्री-आत्मकथ्य) : **गरिमा श्रीवास्तव** 48

समकालीनता और नाटक : **नरेन्द्र मोहन** 63

गाँधी : 150 साल

सत्याग्रही भारत में एक फ्रांसीसी पत्रकार : अल्बर्ट लाँद्रेज : **शिवज्योति गुहा** 70
(अनु. : रामशंकर द्विवेदी)

कहानियाँ

महाप्रस्थान : **कविता** 98

जापान लाइफ @ सच्चाई डॉट कॉम : **राकेश मिश्र** 116

तीन एकालाप : **मनोज कुमार पांडेय** 125

चक्रव्यूह : **आयशा आरफ़ीन** 136

महाश्मशान में राग-विराग : **रश्मि शर्मा** 145

लंबी कविता

युद्ध और शांति : **एकांत श्रीवास्तव** 154

उपन्यास-अंश

ढलती साँझ का सूरज : **मधु कांकरिया** 163

मायरा के सौ सुसाइड नोट्स : **संदीप मील** 169

कविताएँ

नौ कविताएँ : **नंदकिशोर आचार्य** 175

चार कविताएँ : **पंकज चौधरी** 179

आठ कविताएँ : **अनुज लुगुन** 185

छह कविताएँ : **अदनान कफ़ील दरवेश** 194

लंबी कहानी

कैंसर वार्ड : **राजकुमार राकेश** 199

तरतीब से बाहर

पाँच कविताएँ और दो कहानियाँ : **कुमार अंबुज** 249

नया वरक़

छह कविताएँ : **कविता कादंबरी** 258

समीक्षाएँ

मील नहीं किलोमीटर के पत्थर : **रणजीत साहा** 266

असहमति में उठा एक हाथ : रघुवीर सहाय की जीवनी : **कर्मेन्दु शिशिर** 283

अमरफल चाहता है कि कविता फिर किसी फल का बीज
बनकर अमर हो : **अच्युतानंद मिश्र** 295

उत्तर पैग़म्बर : समग्र मनुष्यता की पक्षधर कविताएँ : **मीना बुद्धिराजा** 303

जुलुम कर डारा री मेरी गुइयाँ... : **राकेश बिहारी** 307
(विद्या जी को 'सहेला रे' के एक पाठक का ई-मेल)

जीत की हार

हिन्दी के प्रसिद्ध कहानीकार सुदर्शन से माफ़ी माँगते हुए कि उनकी प्रसिद्ध कहानी 'हार की जीत' के शीर्षक को मैंने सिर के बल खड़ा कर दिया। एक ऐसे समय में जब सब कुछ उलट-पुलट गया हो, कुछ भी सीधा और सरल न रह गया हो वहाँ एक शीर्षक के उलट दिए जाने को माफ़ किया जाएगा। शीर्षक जब शीर्षासन करने लगे तो कहानी को देखने का ढंग और पढ़ने का तरीका बदल जाएगा। शीर्षासन को आसनों का राजा कहा जाता है। तो आप इसे एक राजा और उसके राज्य की कहानी के रूप में पढ़ सकते हैं। आँखों देखी कहानी। कहते हैं कि इस राज्य का पहला राजा भी शीर्षासन करता था। शीर्षासन करते हुए उसकी एक तस्वीर जारी हुयी थी। पर उसके लिए शीर्षासन आठों यामों में से एक याम का व्यायाम था, नए राजा के लिए यह एक मुद्रा थी। वह आठों याम इसी मुद्रा में रहता था। वैसे लोग तो यह कहते पाए जाते कि इस राजा की असल प्रतिस्पर्द्धा पहले राजा से ही थी। इसे महज साहित्य नहीं कहा जा सकता। इसमें विज्ञान भी है और दर्शन भी। योग का विनियोग तो है ही। कहते हैं कि शीर्षासन के बहुत से फ़ायदे हैं, नुकसान को लेकर अभी तक कोई अध्ययन सामने नहीं आया है। अब शुरू हो गया हो तो जानकारी नहीं है। यहाँ एक बात विचारणीय है कि शीर्षासन की ही मुद्रा में रहते हुए जब कोई व्यक्ति कुछ भी देखता है या देखना चाहता है, तो वस्तु-जगत उसे कैसा दिखता होगा? अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि उसे सब कुछ 90 डिग्री पर ही दिखता होगा, सीधा, सपाट। पर, पूरा और बहुत दूर तक वह इस मुद्रा में नहीं देख पाता होगा। कोई दिखाना भी चाहे तो भी नहीं। जितना वह देख पाता है, देखना चाहता है, उतना ही देखता होगा।

अब जैसे कोरोना जैसी जानलेवा महामारी की ही बात ले लें। इस महामारी ने 2019 से ही दुनिया के सभी राज्यों पर कहर बरपाया है, बरपा रही है। ऐसे में इस नए राजा का राज्य कैसे बचा रहता। सो महामारी को यहाँ भी फैलना था, फैली। राजा ने इसे 'जंग' मानकर

लड़ना शुरू किया। राजा को 'जंग' लड़ना बहुत प्रिय है। वह एक योद्धा राजा है। बचपन में मगरमच्छ से लड़ गया था। मगरमच्छ बहुत रोया-गिड़गिड़ाया तो एक शर्त पर वह उसकी जान बख़्श देने पर राज़ी हुआ। शर्त यह थी कि मगरमच्छ, अपनी तरह उसे रोना सिखा दे। सोचा होगा कि अगर इससे जान बच सकती है तो सीखने में क्या बुराई है। हालाँकि, यह मगरमच्छ प्रजाति के लिए 'टॉप सेक्रेट' गुण था। यह उनकी 'बौद्धिक सम्पदा' थी। उसका फ़ार्मूला वह कैसे दे सकता था। पर मरता क्या न करता। उसने वह फार्मूला उस वीर बालक को दे दिया। देखा गया है कि बचपन में पाये हुए उस फार्मूले का उपयोग वह जब-तब, यथाअवसर कर लेता था। कुछ नासमझ लोग इसे 'घड़ियाली आँसू' कह कर भ्रम फैलाते थे। भोले और भावुक प्रजा को गुमराह करते थे। बहरहाल, राजा ने पूरे राज्य में तालबंदी कर, पूरे राज्य को एक तरह से बंकर में तब्दील कर कोरोना की पहली लहर से 'जंग' शुरू कर दी। जब पूरा राज्य ही बंकर बन जाये तो लोग क्या कर सकते हैं, आम जनता में हाहाकार मच गया। उन्हें 'रामराज्य' की बात याद आने लगी, तुलसीदास याद आने लगे। उनका कहा फलीभूत होता दिखने लगा—'बनिज को बनिज न चाकर को चाकरी/जीविकाविहीन लोग सिद्यमान सोचबस/कहें एक एकन सौं कहाँ जाईं का करीं।' ख़ैर, कोरोना से लड़े जा रहे जंग में राजा को सकारात्मक परिणाम दिखने लगे। लोग कहते हैं राजा में उत्साह बहुत था। अति-उत्साही वीर बालक की वही बचपने वाली भावना। इसी उत्साह में वह जेनेवा सम्मेलन में दुनिया भर के राजाओं के बीच कोरोना से जंग जीतने की घोषणा कर आया। क्यों न करता, जीतना उसे बहुत पसंद है। वह सब कुछ जीतने के लिए ही करता है। इसीलिए हर चीज को वह जंग समझ कर लड़ता है, वह चाहे कोई आपदा-विपदा या महामारी हो अथवा चुनाव। उसे बराबर इसी बात का शिक्षण-प्रशिक्षण दिया गया है।

परंतु, वह कथित जीत कुछ ही महीनों में हार में तब्दील होती चली गयी। इस बार का हमला पहले से कई गुना भयानक और जानलेवा था। पर वह जंगजू राजा अपनी तथाकथित जीत को भुनाने और सेलेब्रेट करने के लिए पाँच सूबों के चुनावी जंग में जी-जान से लगा हुआ था। ऐसा नहीं था कि इस दूसरी लहर के हमले से वह अनभिज्ञ था। उसके मंत्रियों, सलाहकारों, कारिंदों ने इस हमले के प्रति उसे आगाह किया था। पर, अपनी शीर्षासनी मुद्रा में वह जितना देखना चाहता था, उसने उतना देखा और तद्नुसार अपनी प्राथमिकता तय की। पहले चुनाव, सिर्फ़ चुनाव। अतः यह बात कि इसका अंदाज़ा उसे नहीं था, कि यह दूसरी लहर इतनी खतरनाक होगी, बेमानी है। क्योंकि, इस बार जानबूझकर जनता को मरने के लिए, उन्हें उन्हीं के हाल पर छोड़ दिया गया। कोरोना पर अध्ययन और शोध के लिए बनायी गयी पाँच वैज्ञानिकों की एक सलाहकार समिति ने राजा को आगाह किया था। पर उनकी बात को अनसुना कर दिया गया। वे करते तो क्या करते। किससे कहते। उस राज्य में बोलना भी राजा के कोप का कारण बन सकता था। पर, जब हालत बद से बदतर होती चली गयी तो इस समिति ने अपनी ओर से एक समाचार एजेंसी रॉयटर्स को स्पष्टीकरण देते हुए बताया है कि "उनकी चेतावनी को सरकार ने नजरअंदाज किया। चार वैज्ञानिकों ने कहा कि चेतावनी के बावजूद सरकार ने वायरस को फैलने से रोकने के लिए कड़ी पाबंदियाँ लगाने में कोई रुचि नहीं दिखाई। लाखों लोग बेरोक-टोक राजनीतिक रैलियाँ और धार्मिक आयोजनों में शामिल होते रहे। दसियों हजार किसान नई दिल्ली की सीमा पर धरने पर बैठे रहे। नतीजा यह निकला कि भारत इस वक्त कोरोना वायरस की सबसे बुरी मार से गुजर रहा है।" INSACOG (इंडियन

सार्स कोव-2 जेनेटिक्स कन्सॉर्टियम) नामक इस समिति के मुखिया का कहना था कि समिति ने मार्च में ही एक मंत्री स्तर के सचिव को इसके बारे में चेतावनी दी थी जो सीधे राजा के लिए काम करता था, उसी के प्रति जवाबदेह था। इस समिति का गठन 2019 के दिसंबर महीने में खुद सरकार द्वारा हुआ था। इस समिति से दस राष्ट्रीय प्रोगशालाओं को जोड़ा गया था, जो वायरस संबंधी अध्ययन के लिए जानी जाती हैं। समिति के एक सदस्य और इंस्टीट्यूट ऑफ लाइफ साइंसेज के निदेशक के मुताबिक शोधकर्ताओं ने सबसे पहले फरवरी में इस नए वैरियंट का पता लगाया जिसे B.1.617 कहा गया और बाद में 'डेल्टा' कहा गया। INSACOG के मुखिया का मानना है कि अधिकारी इन सबूतों की ओर ज्यादा ध्यान नहीं दे रहे थे। वे कहते हैं—"नीति को साक्ष्य आधारित होना चाहिए न कि साक्ष्यों को नीति आधारित। मुझे आशंका है कि नीति बनाते समय विज्ञान को ज्यादा गंभीरता से लिया गया। लेकिन मुझे पता है कि मेरा काम कहाँ तक है। वैज्ञानिक होने के नाते हम साक्ष्य उपलब्ध कराते हैं। नीतियाँ बनाना सरकार का काम है।'' ज़ाहिर है कि समिति के मुखिया और देश के श्रेष्ठ वायरोलाजिस्ट और वैज्ञानिक के इस स्पष्टीकरण को नीति-विरोधी माना गया और उन्हें अपने पद से इस्तीफा देना पड़ा। ब्रेष्ट की एक कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं :

नदी की धार बाँधना
फल के पेड़ में कलम लगाना
आदमी को शिक्षित करना
राज्य को बदलना
ये सब सोद्देश्य आलोचना की मिसालें हैं
और साथ-साथ कला की भी।

पर वह कथित मसीहे-वक़्त आलोचना और विरोध के अंतर को नहीं समझता था। आलोचना को विरोध मानता था। इसलिए आलोचना से तिलमिला उठता। जिस देश का राजा सच्ची आलोचना की जगह केवल भाटों और चापलूसों से घिरा रहता हो, वहाँ की प्रजा का कोई मोल उसके लिए नहीं होता। वह मर जाय, मार दी जाय 'सिस्टम' को कोई खास फर्क नहीं पड़ता, जनता ने यह देख लिया। इस दूसरी लहर ने तथाकथित विकास और आत्मनिर्भरता की पोल खोल दी। लोग अस्पताल, बेड, दवा, डाक्टर के लिए तरसते-तड़पते रह गए। सबसे अधिक भयावह मंजर था ऑक्सीज़न की कमी के चलते तिल-तिल दम घुटने से मरते हुए लोगों को देखना। स्वजन-परिजन विवश, लाचार, करें तो क्या करें। उन्होंने कभी सोचा भी नहीं होगा कि उनके जीवन में ऐसा भी मंजर आएगा, जिसमें लाचारी और विवशता का ऐसा आलम होगा कि ऑक्सीज़न की कमी से वे अपने माँ, बाप, भाई, बेटी, पत्नी, पुत्र आदि को तड़पते हुए जान गँवाते असहाय देख रहे हों और कुछ कर न पा रहे हों। उनके सामने सब कुछ तबाह हो गया। ऐसे परिवारों के लिए अब न दिन का उत्साह है, न रात का सुकून। बस है तो, चारों ओर अछोर उदासी। फिर भी यदि यह कहा जा रहा है कि 'सकारात्मक सोचिए', तो यह कहने का मन करता है कि माई लॉर्ड! आप समय रहते सकारात्मक हो गए होते तो यह दिन न देखने पड़ते। कहा जाता है कि मनुष्य अपनी गलतियों से सीखता है। मेरे एक मित्र ने कहा कि जिसने भी यह कहा होगा उसे यह वाक्य—'अगर वह सीखना चाहे' ज़रूर जोड़ देना चाहिए था। पर, फिर थोड़ी देर रुककर उसी मित्र ने पता नहीं क्या सोच कर कहा कि नहीं जिसने भी कहा होगा ठीक कहा है, क्योंकि उसने मनुष्यों के लिए वह वाक्य कहा है।

अमानवीयता का एक दूसरा पहलू और भयानक है। 'सिस्टम' के पूरी तरह से नाकाम हो जाने पर, इस महमारी के दौरान यह देखा गया कि बीमार लोगों की विवशता, लाचारी और खौफ़ में तरह-तरह के दलालों, लुटेरों को आपातकालीन-सुविधा उपलब्ध कराने के नाम पर खूब लूट-खसोट और कालाबाज़ारी करने की छूट मिल गयी थी। राज्य के नियंत्रण से सब कुछ बाहर हो चुका था। जनता इसे कभी नहीं भूल सकती। जहाँ मैं रहता हूँ, उसी का ठीक पड़ोसी इलाक़ा है—इंदिरापुरम। इंदिरापुरम, गाज़ियाबाद का पॉश रिहाइश इलाक़ा है। यहाँ के एक परिवार के साथ घटी घटना का जिक्र इसलिए कि यही हालात पूरे देश के रहे हैं। यहाँ अपने छोटे बेटे के साथ रह रही माँ कोरोना की चपेट में आने के बाद, ऑक्सीज़न की कमी के कारण, गंभीर स्थिति में पहुँचती जा रही थीं। जितनी जल्दी हो सके उनको अस्पताल ले जाना जरूरी था। समर, पुणे में रहने वाली बेटी और लंदन से बड़ा बेटा, तीनों अस्पताल में बेड की ख़ोज में जुटे थे। खूब छानबीन के बाद रोहिणी, दिल्ली के एक अस्पताल में एक बेड खाली होने की सूचना मिली। अब वहाँ तक ले जाने के लिए एंबुलेंस चाहिए। मोबाइल के जरिए तीनों एंबुलेंस की ख़ोज में जुटे। ऑक्सीज़न वाले एंबुलेंस की इस समय बहुत क़िल्लत थी। बहरहाल, काफ़ी मेहनत के बाद एक एंबुलेंस वाला तैयार हुआ। पर, उसने रोहिणी तक की 30-40 किलोमीटर की दूरी के लिए 70 हज़ार रुपए की माँग रखी। छोटा बेटा हैरान-परेशान। पर बड़े बेटे ने लंदन से भाई को समझाया कि इस समय पैसा नहीं, जान की कीमत है। मरता क्या न करता। एंबुलेंस आधे घंटे में पहुँची। डेढ़ घंटे लगे रोहिणी के अस्पताल पहुँचने में। वहाँ पहुँचने पर पता चला कि जो आईसीयू बेड खाली था वह एक दूसरे गंभीर मरीज को दे दिया गया। बेटे की हालत का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। फिर एक बार बड़े भाई ने बेड के लिए अपने सभी परिचितों-दोस्तों से संपर्क किया। पता चला कि ग्रेटर कैलाश के एक हॉस्पिटल में एक बेड खाली है। तुरत-फुरत में उसी एंबुलेंस वाले को कहा गया कि वह ग्रेटर कैलाश चले। चलने से पहले उसने फिर 40 हज़ार की माँग रखी—'यहाँ से ग्रेटर कैलाश जाने के 40 हज़ार देने होंगे'। खैर, एक लाख दस हज़ार लुटाकर माँ को आईसीयू बेड तक पहुँचाया जा सका। बहरहाल, उनकी जान बच गयी। लेकिन बहुत आसानी से यह समझा जा सकता है कि इस दिवालिए व्यवस्था के बाज़ार में किस कदर इंसानियत की लूट-खसोट जारी थी।

पर, राजा का तंत्र इसको मानने को तैयार नहीं। वह तो सही-सही उन आँकड़ों का भी सामना नहीं करना चाहता कि इस लहर में असल में कितनी जानें गयीं हैं। श्मशान, कब्रिस्तान में लाशों को जलाने और दफनाने की जगहें जब कम पड़ गईं तो ऐसी जगहों को मरघट में तब्दील कर दिया गया जिन पर बिल्डरों की नज़र अभी तक नहीं पड़ी थी या जो सरकारी भूमि के नाम पर त्याज्य पड़ी हुई थीं। इनसे भी कितनी जगह की पूर्ति हो पाती। बलिया, गाजीपुर, छपरा, बक्सर, पटना आदि जगहों पर लाशें गंगा में तैरती हुयी पायी गईं। पतित-पावनी गंगा शव-वाहिनी गंगा हो गयीं। कहा गया लोगों को मुक्ति मिल गयी। वे जीवन से मुक्त हो गए। आप मानें या न मानें यह तो परंपरा से होता आया है, ऐसा कहा गया। 1918 में, ब्रिटिश राज में आए विश्वव्यापी फ्लू के चलते दुनिया भर में करोड़ लोगों के मरने की बात कही जाती है। इस फ्लू में निराला के परिवार के अनेक लोग चले गए थे। निराला ने अपने उपन्यास 'कुल्लीभाट' में लिखा है—''रोज गंगा देखने जाया करता था। एक ऊँचे टीले पर बैठकर लाशों का दृश्य देखता था। मन की अवस्था बयान से बाहर।'' पर लाशों के गंगा में बहाए जाने की परंपरा वाली बात निराला ने कहीं नहीं लिखी है। लेकिन परंपरा के कवच से मजबूत ढाल

भला और क्या हो सकती है। मौत के सरकारी आँकड़ें और वास्तविक आँकड़ों में बहुत बड़ा फ़र्क था। देश-दुनिया के कुछ अखबारों की मानें तो यह अंतर आठ से दस गुना का था। अगर सरकारी आँकड़ा 3-4 लाख से ऊपर का था तो उन अखबारों के अनुमान से यह आँकड़ा 30-40 लाख से कम नहीं था।

इन सबके बावजूद, राजा अपनी लापरवाही और नाकामी स्वीकारने को तैयार नहीं। राजा तो ईश्वर होता है और भला ईश्वर से भी कोई गलती संभव है? कदापि नहीं। इसी को सिद्ध करने के लिए राजा और उसके सिपहसालारों ने हमलावर तरीके से यह बताना शुरू किया कि राजा के विरोधी भ्रम फैला रहे हैं, जनता को गुमराह कर रहे हैं। दुर्भाग्य से हम एक ऐसे समय में रह रहे थे, जिसमें राजनैतिक आक्रामकता का सबसे कातर वाक्य था - 'राजनीति की जा रही रही है' और राजनैतिक अराजकता का सबसे सबल वाक्य था - 'गुमराह किया जा रहा है'। ऐसा तब होता है जब राज्य अपना नैतिक-बल खो देता है। इस राजा के साथ भी ऐसा ही हुआ। पर, वह इसे मानने को तैयार नहीं। अपने द्वारा पोषित मान्यताओं और नीतियों के विपरीत तथ्यों और तर्कों का सामना करने की सहन शक्ति उसमें नहीं। वह बातों का धनी था। बातों की आँधी चलाता था। जो कुछ जी में आता कह जाता। जनता को कुछ भी समझ में आए या न आए पर माननीय मूढ़ मध्यवर्ग के लोभी जी हुजूरिए लोग, तबलचियों की तरह सिर हिला-हिला कर वाह! वाह!! बोलते। पुँछहिलौअल का आदी हो चुका सरकारी अमला पीठ-पीछे अपना सिर धुनता। क्या करे! राजा तो राजा। कुछ लोग बोलते तो इस्तीफा देना पड़ता। हाँ, कभी-कभी न्यायपालिका कुछ-कुछ जरूर बोलती। इस दूसरी लहर में, सिस्टम की नाकामी के चलते स्थिति जब बद से बदतर होती चली गयी, सरकारें आँख मूँदे, जमीन में सिर धँसाए पड़ी रहीं तो न्यायपालिका को बोलना पड़ा। यह कार्यपालिका की कितनी बड़ी असफलता और नाकामी थी कि उसको उसी के कर्तव्यों की याद अदालतें दिला रही हों। माननीय अदालतों की कुछ टिप्पणियों को देखने से यह बात साफ हो जाती है :

- भारत का चुनाव आयोग देश में कोरोना वायरस की दूसरी लहर के लिए जिम्मेदार है। उसके अधिकारियों पर कोविड-19 के मानकों (प्रोटोकाल) का पालन की ज़िम्मेदारी सुनिश्चित किए बिना चुनावी रैलियों की अनुमति देने के लिए संभवतः हत्या का मुकदमा चलाया जाना चाहिए। **27 अप्रैल, 2021, मद्रास हाईकोर्ट**
- कोविड-19 के मरीजों की मौतें एक 'आपराधिक कृत्य है' और नरसंहार से कम नहीं। **4 मई, 2021, इलाहाबाद हाईकोर्ट**
- आप शुतुरमुर्ग की तरह रेत में अपना सिर डाले रह सकते हैं, हम नहीं। **4 मई, 2021, दिल्ली हाईकोर्ट।** ऑक्सीज़न की कमी पर दिल्ली हाईकोर्ट ने केंद्र सरकार को अवमानना नोटिस तक भेजा। अंततः इस मामले में हस्तक्षेप करते हुए माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने केंद्र सरकार को फटकार लगाते हुए यह निर्देश दिया कि 'दिल्ली को हर हाल में 700 मीट्रिक तन ऑक्सीज़न की आपूर्ति प्रतिदिन की जाए। हम यह गंभीरता से कह रहे हैं। कृपया हमें उस स्थिति में जाने के लिए मजबूर न करें, जहाँ हमें सख्ती बरतनी पड़े। **7 मई, 2021, सुप्रीम कोर्ट**
- राज्य में जो स्वास्थ्य सेवाओं की खस्ताहाल स्थिति है, उसको ठीक करने में राज सरकार पूर्णतः असफल है। ऐसी हालत में स्वास्थ्य सेवा को सेना के हवाले कर देना चाहिए। **4 मई, 2021, पटना हाईकोर्ट**

पर, कार्यपालिका की कार्य-शैली पर इससे कोई ख़ास फ़र्क इसलिए नहीं पड़ा कि उसने नैतिकता को अपनी कार्यनीति से विदाई दे रखी थी। ऐसे में अदालतें हस्तक्षेप करते हुए, कभी-कभी कड़ाई से डाँटती हुई भंगिमा में दिखतीं, पर वे भी जानती कि उस पर अमल तो अंततः कार्यपालिका को ही करना है। हैदराबाद हाईकोर्ट के पूर्व न्यायाधीश मनमोहन सिंह लिब्राहन का यह कहना बिल्कुल उचित है कि "जब सरकार कमजोर होती है तो अदालतें बोलने लग जाती हैं और जब अदालत कमजोर होती हैं तो सरकारें बोलने लग जाती हैं। आजकल सरकार मजबूत है तो अदालतें कुछ भी बोलें उसका ज्यादा महत्व नहीं।" इन दिनों उस राज्य का यही यथार्थ है। हिन्दी के एक कवि मंगलेश डबराल की कविता 'यथार्थ इन दिनों' की कुछ पंक्तियाँ याद आ रही हैं :

एक मरा हुआ मनुष्य इस समय;
जीवित मनुष्य की तुलना में कहीं ज्यादा कह रहा है;
उसके शरीर से बहता हुआ रक्त;
शरीर के भीतर दौड़ते हुए रक्त से कहीं ज़्यादा आवाज़ कर रहा है।

पक्षधर का यह अंक, श्रद्धांजलि सहित समर्पित है; कोरोना से अपनी जान गँवा चुके हमारे अपने साथी, हमनवा, जाने-पहचाने लोगों के साथ-साथ उन सभी लावारिस मौतों को, जो निरंक चले गए। किसी भी आँकड़ें में अंकित या टंकित नहीं हुए। उनकी नागरिकता को तिरोहित कर दिया गया।

कोरोना महामारी के चलते यह अंक कुछ विलंब से पाठकों के बीच जा पा रहा है। हम इसके लिए अपने पाठकों से क्षमा प्रार्थी हैं। इस अंक के सभी रचनाकारों को **पक्षधर** की ओर से आभार, जिनके सहयोग के बिना यह अंक संभव नहीं हो पाता। उम्मीद है कि आपका यह रचनात्मक सहयोग हमें आगे भी मिलता रहेगा।

इधर लगातार कागज और प्रिंटिंग की अन्य वस्तुओं के महँगे होते जाने के चलते हम अगले अंक से **पक्षधर** की कीमत 100 रुपए से 150 रुपए करने जा रहे हैं। उम्मीद है कि पाठकों का हमें समर्थन और सहयोग पूर्ववत् मिलता रहेगा।

विनोद तिवारी

चौदह कविताएँ

लीलाधर जगूड़ी

शिल्पियों का समय

शिल्पियों को कोई समय याद नहीं जब काम कठिन न रहा हो
या बिना काम कुछ भी काम का रहा हो
शिल्पियों को कोई समय ऐसा याद नहीं पड़ता

याद नहीं कि कोई काम नशा हो और कला न बना हो
जीवन की कला को काम ही चमकाता है आखिर

कामनाओं में धीरज की गरीबी बचाने के लिए
कोई समय ऐसा याद नहीं आता
जब छोटी-बड़ी सफलता नादान जुगाड़ों से न मिली हो

आशा तो कई-कई दिन घर से बाहर रही
हानियाँ ही जीवन की कहानियाँ रहीं
घर के भीतर बैठी निराशा ने ही सबको हिलाए-डुलाए रखा
बस एक लग्गी लगाई और खतरनाक ऊँचाइयों को भी
रंग दिया।

तपते दिन में

जलते दीपों जैसे फूलों भरे रास्तों से
गुजर जाता हूँ कई बार
इस उतप्त पृथ्वी पर

एक-एक खिला हुआ शेष आयु पत्ता
गिरते हुए देखता हूँ
स्वर्ग में न काम, न जुकाम, न खाँसी
छींक तक नहीं

पत्तों की नोक पर टँगी ओस बूँदों को
सूली पर टंगे ईसा जैसी करनी पड़ती है
हर दिन की शुरुआत

पत्तों की नोक पर टँगे खुशी भरे दृश्य के अहसास को
ना करने का न मौका पाता हूँ न साहस...
फिर भी कई दृश्य मिट जाते हैं
कई फूल झर जाते हैं
उन्हीं रास्तों पर जहाँ दीपों जैसे जले हुए थे
खिले हुए फूल।

रात से वंचित सूर्य

धरती और आकाश के बीच। सबसे पहला मानवीय शब्द है विपत्ति
इसे खुशी में बदलने के लिए। बहुत से दिन-रात
एक करने पड़े हैं मनुष्यों को। तब कहीं उत्पत्ति समझ में आती है

सूरज सारे समयों का पिता है। हर शाम को उसे
अगला पूर्वोदय मिल जाता है। कभी नहीं मिलती आराम की एक रात
अपने लिए आरामगाह। थमे घोड़ों के लिए चारागाह
कभी नहीं मिलते
पीछे छूटे हुए लम्बे अस्ताचल। दूर छूट जाते हैं
और सामने आ जाते हैं नये उदयाचल

सारी पृथ्वी पर उगी मिलती है उसकी गझिन स्वर्ण किरणों जैसी
घनी हरी घास। रात के चन्द्रमुखी पानी से भीगी हुई
पर प्यासे घोड़े मुँह नहीं मार सकते

और सूर्य के आत्म प्रताप से। अगला हर क्षण
उदयाचल बन जाता है किसी नये अक्षांश पर

पीछे छूट चुके क्षितिजों पर वह चाँद तारों के बहाने
देखना भी चाहे अपना अतीत तो उतना भी नहीं दिखता
जितना रात को दिखता है अपना अंधकार
वरना किसे के पास क्या होता है यादों में लौटने के लिए
घटनाओं और दृश्यों के अलावा
सारे दृश्यों और घटनाओं का एकमात्र गवाह सूरज ही रहा है
सारी किंवदन्तियों में
कुंतियों और माद्रियों का रूप वैभव याद करो
युद्धों और संकटों के अलावा। एक अलसाई हुई शाम में भी
अपना कोई अस्तबल तक उसे मिल नहीं पाया
पीछे छूट चुकी अपनी ठंडी कुंचित अलकों से
खेलती हुई सुरमई रात में
सूरज होने की स्वप्न विहीन नींद लिये
उसकी उनींदी पलकों में बनी रहती ब्रह्मण्डीय उन्मनता

क्योंकि वह जहाँ भी जाता है। सबको जगा देता है
उसका स्वोदय सबको सुबह बाँटता है
सदियों से उगते-उगते थका हुआ सुबह का सूरज
अपनी प्रखरता में भी कोमल लगता है
रात की चाँदनी के भीगे हुए छोर से। हर जगह की नम धरती
किरणों का मुँह धो देती है
ऐसे-ऐसे सुखद स्पर्श पाकर। सूरज को भी अच्छा लगता होगा
अपना, हर जगह, हर रोज उगता हुआ
अपना पूर्वोदयी व्यक्तित्व
जो हर नयी सृष्टि को सुलाकर-जगना जानता है
सूर्य के मार्फ़त/पृथ्वी के पानी दिल को
भाप बनाकर उठाना-गिराना है। समुद्रों और पहाड़ों पर भी
बर्फ गिरानी है
बहुत सी जगहों के चट्टानी दिल को फूलों से भर देना है

सूर्य! तुम जब से उगे हो
न डूबे हो, न बुझे हो
शुरू से ही पृथ्वी के अबुझ-अखंड दीप बने रहे हो
तुम्हें अपना कौन सा प्रथमोदय याद है?

तुम्हारे उदयास्तों को देखते। गवाहों की तरह खड़े हैं पहाड़
धरती के सब अंगों पर तुम्हारे स्पर्श की किरणें
घनी जंगली घास की तरह रोमांचित हैं

परोपकार करता हुआ स्वेच्छा से सूरज
दण्डित-मण्डित होता रहता है
सबको देता रहता है अपने ही उठाये हुए
बादलों की छाँह
आराम के लिए अपनी अनुपस्थिति की रात बनाता है
और सदियों तक को क्षणों में मिटा देती है
प्राकृतिक बिजली
फिर भी समय के रोज वादे निभाता है
हफ्ते में एक दिन भी आराम नहीं करता
जबकि उसी के नाम से हमारा छुट्टी वाला 'रविवार'

अपने जन्म के समय से ही विश्वमित्र कहलाता है सूर्य
भूल से भी विश्वामित्र नहीं कहलाता है वह
(कौन होना चाहेगा-विश्व का अमित्र?)

दुनिया के दोस्त सूरज के जीवन में
एक दिन की छुट्टी नहीं
(चाँद की पन्द्रह-पन्द्रह गैरहाजरियाँ माफ हैं)
अपने वैयक्तिक प्यार और आराम के लिए
सूरज को एक रात भी नहीं मिली है अब तक
दुनिया की हर चीज से दोस्ती निभाना
वाकई कितना कठिन है???

एक वक़्त था

जब नदियों ने रास्ता दिखाया था हमें
जलधि तक पहुँचाया था
उस पयोधि को पाना मंजिल पाने जैसा था

नदियों के किनारों को ही रास्ता बनाया हमने
अब हम मझधार में भी चल लेते हैं
पानी ने इतना फिरंदर बना दिया है हमें

अब हम नदियों को भी नागरिक मान चुके हैं

संविधान में भी शामिल कर चुके है उन्हें
अब उन्हें तमीज से चलना सिखाना है

अब उन्हें ही रास्ता दिखाने का वक्त आ गया है
उन्हें ही मुँह धोना नहाना और साफ रहना सिखाना पड़ेगा
सभ्यता के साथ बहुत गंदली हो गयीं हैं वे

उन्हें भी छालने का वक्त आ गया है
क्योंकि नदी किनारे पहुँचने का वक्त आ गया कि देख सकें
कितने विद्युत शवदाह गृह बनाये लिए हैं
तथाकथित विकास भाईसाहब ने।

चट्टानें

चट्टानें फाड़कर शिलाएँ बनायी गयीं
शिलाएँ तोड़कर पत्थर बनाये गये
कुछ पत्थरों से सीमेंट, कुछ से रोड़ी बनायी गयी

रोड़ी टूटी तो कंकड़ी बनायी गयी
कंकड़ी टूटी तो बजरी बनी

इस तरह एक पहाड़ आया
कई शहर बसाने के काम।

पानी के पतन की परम्परा

पैदा होने को बड़ा बना देने की परम्परा के साथ
अचरज पर अचरज भी बड़े होते जाते हैं

हर अंत की होती रहती है शुरुआत
खिलकर भी झरकर दिखाते हैं बसंत
झरकर भी खिल-खिल आते हैं
बसंत की तरह सपने भी झर-झर जाते हैं
और फिर-फिर खिलने का मौका दे जाते हैं

यह कहानी पानी के पतन में भी
गिरते पानी की रवानी की है
(कितनी ध्वनियों के तुक मिल गये एक साथ)

पतझर और पतन की समांतर परम्परा
सुकृति की तरह
अपने बल चलाये, चलती रहती है प्रकृति
झरकर भी उड़ती रहती है पतन की परम्परा
उत्थान की कोई शुभ्रता लेकर
जिसमें उसकी नम्रता का सिक्का चलता है

प्रकृति के भी अभद्रता के
अपने बंजर तरीके है

उलट नजारे दिखा-दिखाकर सुलट इशारे भी करती है प्रकृति
अपनी प्रवृत्तियों और निवृत्तियों में भी
एकदम निष्णात् है प्रकृति

पतन शब्द की निकृष्ट परम्परा में इतना पारंगत है पानी
कि छनता-बनता मटमैल भी निर्मलता पा जाता है
अपनी निजी उठा-पटक में
स्वच्छ-साफ नीलांग होकर, गौरांग तक हो जाता है
पानी के जलत्व को हवा तक पी जाती है

बहुत वृद्धि के बाद समृद्धि भी डुबो देती है
मामूली तरंगे भी प्रलय की तरंग में आ जाती हैं

पानी पर भी पानी फिर जाता है
कोई बनता, बना हुआ भी लापता हो जाता है
पर पानी का कुछ नहीं बिगड़ता
पानी बहुरूपिया बन कर
जड़ों से फुनगी तक चढ़ जाता है
ताप में भाप बनकर उड़ जाता है
और उमड़-घुमड़ कर बरसने को आ जाता है
कुछ तो छिपा-मिटा बैठा भी अचानक खिल आता है
अपनी गदबदायी सी मांसल देह लेकर
दाना बनकर पानी कई-कई फसलों में बदल जाता है
उत्तरकाशी से चलकर रात भर में
ऋषिकेश हरिद्वार पहुँचकर
ताजा हो जाता है
समुद्र पहुँचकर भी ठोस और बासी नहीं होता

सुबह-शाम कहीं भी सबके मुँह धो देता है
घाट-घाट का पानी

पानी के पतन की परम्परा निभाने में ऐसे भी क्षण आते हैं
कि ढाल आते ही पतन को
नया प्रवाह देकर पतन भी निढाल हो जाते हैं

पताल तक पतन की परम्परा का सिलसिला
चलाये रहता है पानी
लगातार गिरने के बावजूद
उद्‌भव और उत्थान को
नयी गति दे जाता है पानी

जहाँ-तहाँ थाप देकर खुद अपनी देह को थपथपाता है पानी
हर उगे हुए को लिखा हुआ समझकर
छप-छप करता है
जैसे लंबा जप करता हो पानी

बहते चलते अस्तित्व के
प्रथम उच्चारण के साथ
प्रकृति का आदिकालीन चारण बनकर
आज भी सृष्टि के सौन्दर्य का
मूर्तिमान दृश्यगान करता है पानी।

अस्तबल

मैं ऐसे घोड़े पर सवार हूँ जिसकी काठी
समुद्र की लहरें हैं
जिसकी लगाम एवरेस्ट के हाथों में है

मैं समुद्र और हिमालय पर एक साथ सवार हूँ
समुद्रों और पहाड़ों से बनी इस काठी और लगाम का
घोड़ा भी हूँ मैं और सवार भी
दोनों का अस्तबल है
आकाश और जमीन के बीच सरकती दुनिया।

तकलीफ़ की याद

अर्धविराम चुनता हूँ, छोटी सी साँस लेकर
पलक झपकने भर का अंधकार चुनता हूँ

कभी-कभी जाड़ों की शाम जितने अर्धविराम के मोड़ पर
काँपती कोई पंक्ति आती है मुझे दूसरी पंक्ति समझ कर
पीठ सटाकर रात बिताने की सोचती है

हमेशा ही जो नई धूल कभी की धूल में मिलती जाती है
उसी धूल के बिस्तर पर
उभरती है एक तीसरी पंक्ति
दुःख के बीच विसर्ग जैसे घाव लेकर
कोष्ठक जैसे घर में (–) डैश की तरह लेटी
तकलीफ की याद आती है
शीर्षक जैसी कोई पुरानी पीड़ा फैल जाती है पूरे शरीर में।

यादों में रहता है समय

दिन का छोर ही समय का आखिरी छोर नहीं
रात में अँधेरे में भी निकल आता है
और बीतता चला जाता है
दरवाजे बंद रहते हैं और समय निकल जाता है

कभी सुबह बनकर। कभी शाम बनकर
कभी काल-यात्री बनकर
कभी महारात्रि बनकर निकल जाता है
फिर भी फूल की तरह खिला मिल जाता है
कोई बिताया हुआ दिन। यादों में
यादें भी बिताये हुए दिनों का भुलाया हुआ खजाना हैं

किंवदन्ति वाली होती जा रही है जिन्दगी
हर रोज मैं चिड़ियों के साथ सुबह का इंतजार करता हूँ
ताकि बीते वक्त की होकर न रह जाएँ
सारी कामयाबियाँ

फिर वही दीर्घकालीन समस्याओं वाले अल्पायु-दिन
हर आखिरी रात की लंबाई खलने वाली है

इंतजार के बाद भी जो आया नहीं
उसकी याद आने वाली है
हर बार मैं देखना चाहता हूँ सृष्टि का पुनर्निर्माण

यह कौन सा अंधविश्वास है
समय के छोर सा दिख रहा है दिन का आखिरी छोर
सपनों जैसी चलती रहती है भरी हुई रेलें
जाने कहाँ जाने को उड़ते रहते हैं हवाई जहाज

समय में कोई भी समय तुच्छ समय नहीं है
नष्ट होने के बावजूद
हमेशा मौजूद रहता है कोई न कोई समय
एक ही समय में कैसे संभव है खराबियों का अंत
एक से एक ईश्वर देखे हैं पैदा होते हुए
स्त्रियों की बदौलत
उनके भी देखे हैं कई जन्म
चाहे जितने भी मजहबों से भरकर
असुंदर हो जाए दुनिया

महाशंख, महापद्म उपस्थितियों के बावजूद
गिनते हैं तो शून्य ही हाथ क्यों लगता है?
समय में नहीं। यादों में रहता है समय।

वोट

भीड़ चाहे धर्मों की हो
तुम भीड़ का हिस्सा मत बनो

भीड़ चाहे राष्ट्रों की हो
तुम भीड़ का हिस्सा मत बनो

पर अगर भीड़ मतदाताओं की हो
तो तुम भीड़ का हिस्सा जरूर बनो
तभी तुम उस कूड़े को साफ कर पाओगे
जिसे तुम राजनीतिक रूप से पसंद नहीं करते

तुम पूरे के हिस्से बनो अधूरे के नहीं
क्योंकि भीड़

किसी के भी अलग व्यक्ति बन जाने के खिलाफ है

अगर तुम में समझदारी है
और तुम्हें वोट देना आता है
तो चुप रहने की भाषा का भी इस्तेमाल सीखो
और अपनी कमियाँ जानने के लिए
दूसरे का मौन, मुखर हो जाने दो।

इतिहास

जितना वर्तमान सुधर पाता है
उतना ही इतिहास सुधरता है

इतिहास को इतिहास में जाकर
नहीं सुधारा जा सकता

हर नया बीता इतिहास नहीं होता
जो बनाते हैं और जो नहीं बनाते हैं
दोनों के साथ घटित होता है इतिहास

पर इतिहासकार उन्हीं का जिक्र करते हैं
जो इतिहास का फायदा उठाते हैं।

यादों का इतिहास

हर मनुष्य को अपने मानव होने की पहली याद
जरूर ढूँढ-ढूँढकर याद रखनी चाहिए
कहाँ खो जाता है हमारी मनोवैज्ञानिक यादों का इतिहास?

यादाम्बर में दिखता हूँ तो दिगम्बर दिखता हूँ
कई रूप याद आते हैं मुझे बचपन और बचपने के

अकेले मेरा ही बचपन मनुष्यता का बचपन नहीं था
अरबों बचपनों से बना है सर्वसुलभ सयानापन

सृष्टि के शुरुआत में जुलाई, अगस्त, सितम्बर नहीं था
आषाढ़, श्रावण, भाद्रपदों ने कई वनस्पतियों को
एक किया और सींचा है

सबका मिलाजुला नाम चौमासा रहा हो शायद
तेज गरमी वाला जेठ महीना ही समय चक्र
पहला महीना ही रहा हो शायद
जाने कितने शायदों से बन-बनकर आगे आई हो यह दुनिया

शायद मार्गशीर्ष ही रहा हो शीर्ष महीना
वैचित्र्य से भरे चैत्र से क्यों न समय में
साल की शुरुआत हुई हो?

मेरा नंगावतरण और मौसम का जलावतरण
एक साथ क्यों याद आ रहे हैं मुझे
लहालोट बारिशों में
कुसमय की मौतें
क्यों याद आ रही हैं?

पहले मनुष्य की पहली याद करता हुआ
विकसित होती मानवता के बीच में मिला एक कवि
ईश्वर के साथ मनुष्यता का प्रयोग करते हुए
जिसमें बावन अंगुल के पहले ब्राह्मण ने
ईश्वर को भी एक बौना याचक बना दिया था

तब मैं समझ पाया सांस्कृतिक बचपन में भी कितनी ताकत थी प्रतिरोध की
ब्राह्मण जाति नहीं एक प्रायोगिक-वैज्ञानिक दृष्टिकोण था
(ब्राह्मण शब्द जाति बनने के बाद बिगड़ गया)
कवि होना विचार दर्शन का अन्वेषण था
ईश्वर को भी भाग्य लिखने की लिपि सीखनी पड़ी
मरने की वास्तविकता को मृत्युंजय की धारणा बना दिया
ईश्वरत्व में भी कई प्रयोग कर डाले

कवियों के रचे हुए ईश्वर याद आते हैं
जो जनता के बच्चों के साथ गुरुकुल में पढ़ने जाते थे
रोग, भोग और औषधीय उपचार के लिए
जिन्होंने धनुषाकार रुग्ण-रीढ़ से बचने के लिए
धन्वंतरि की कथा लिखी
भोग, रोग से बचने के लिए योग जैसे
कई उपचार रचे

देवता अगर दनु के वशंजों के बारे भी सोच लेते

तो दानव शब्द गाली न माना जाता
अपनी और किसी की भी 'रक्षा' करने में
मायावी 'राक्षस' बुद्धि को हम खो न बैठते
वरदान, अभय दान और निर्भयता की टेक्नोलॉजी
उन्होंने ही बनायी थी
वे देवता आज भी पूजनीय हैं
जो वरदान और शस्त्रदान करते हैं

मनुज अगर दनुजों के पक्ष में भी जाते
तो उसी समय टेक्नोलॉजी सीख जाते
और कमजोरी के विरुद्ध। कभी न होता युद्ध

देवताओं को भी अनेक तपस्या विधियों की
विद्या रचनी पड़ी
तपस्या में भी श्रम जोड़ना पड़ा

मैं आज भी जब कुछ करता हुआ उभरता हूँ
तो जैसे किसी बड़े बोझ से उतरता हूँ
तब सुविधा, सुरक्षा और निश्चिंतता देने वाले साधन
देख पाता हूँ
इस परस्पर सांस्कृतिक द्वन्द्व को प्रणाम करता हूँ
जो विजयी अस्तित्व के यंत्र-मंत्र घुमाने लगता है
मैं मनुज और दनुज होने की मायावी योग्यताएँ
पाने लगता हूँ।

असंभव फूल

आम के रंग के फूल खिले हुए हैं
कई प्रकार का सोना पिघल रहा है हवा में
शांति की शांति है इस हवा में

भूल कोई याद आ रही है
दूर कोई खिले तांबई फूल जैसी
अपनत्व भरी दो आँखें खिली हुई हैं
जैसे उन्हीं में से ताड़ रहा हो आकाश हमें
एक समय में थमे-थमे

सूखी त्वचा वाली पृथ्वी

पानी में डूबी हुई है
अंधेरे रंग का डंठल
काले बल्ब सा दमक रहा है
ऊब भी कई रंगों में उबर आयी है

पानी में आग सा झलकता है
सूर्य बिम्ब
कनक भी रोटी में बदल रहा है
दिव्य दाह में दमक रही है हर चाह
बोरियत भी प्रसन्नता के रंगमंच पर चढ़ी हुई है

फुनगी-फुनगी, टुक्कू-टुक्कू चढ़े हुए हैं
टहनियों के मुँह पर
रंग-बिरंगे दीयों से, खिले हुए से
जले हुए हैं फूल
आँधियों से बचाये हुए
ओस और धूप में नहाये हुए हैं फूल।

आँधी

रात वह हवा चली जिसे आँधी कहते हैं
उसने कुछ दरवाजे भड़भड़ाये
कुछ खिड़कियाँ झकझोरीं, कुछ पेड़ गिराये
कुछ जानवरों और पक्षियों को
आकुल-व्याकुल किया

रात जानवरों ने बहुत से जानवर खो दिये
पक्षियों ने बहुत से पक्षी
जब कोई आदमी नहीं मिले
तब उसने खेतों में खड़े बिजूके गिरा दिये
काँटेदार तारों पर टँगे मिले है सार बिजूके

आदमियो! सावधान
कल घरों के भीतर से उठने वाली है
कोई आँधी।

संपर्क : 7, सीता कुटी, सरस्वती इन्क्लेव, बद्रीपुर रोड (जोगीवाला), देहारादून-248005, मो. : 9411733588

स्मृति शेष : 1

अक़्ल को कालापानी...

(मंगलेश डबराल की कविता 'तानाशाह कहता है')

रवि श्रीवास्तव

ब्रेष्ट के नाटक 'द लाइफ ऑफ गैलेलियों' की पंक्ति है :

Unhappy the land that has no heroes. जवाब में का आंद्रेई का कहना है : Unhappy the land that is in need of heroes 'अभागा है वह देश जिसका कोई नायक नहीं है। एक अभागे देश को ही नायक की ज़रूरत होती है'। नायक से यहाँ मुराद देश को नेतृत्व देने वाले नेता से है। बात जर्मनी फासीवाद के संदर्भ में कही गई है। जिसका नेता हिटलर था। यदि किसी देश को हिटलर जैसा नेता मिले तो वह सचमुच ही अभागा देश होगा। जर्मनी में प्रतिरोधी शक्तियाँ कमजोर पड़ी थीं, खत्म नहीं हुई थीं। उस ख़तरनाक वक्त के यथार्थ को पहचानने वाली आँखें तब भी मौजूद थी जो अमानुषिक आतंक के अँधेरे में रहकर भी यह कहने का हौसला रखती थीं, 'क्या अँधेरे वक्त में भी/गीत गाये जायेंगे/हाँ अँधेरे वक़्त के ही/गीत गाये जायेंगे।' (ब्रेष्ट)

विशुद्ध भौतिक ताकत पर टिकी हुई निरंकुश सत्ता की नैतिकता बहुत कमजोर होती है। क़िले में, हथियारों के साये में बंद बौना तानाशाह हमेशा ख़ौफज़दा होता है। इसलिए वह बार-बार डराता है। डर जितना अधिक बढ़ता है उसी अनुपात में स्वयं को सर्वशक्तिमान मनवाने की उसकी हवस या ज़िद भी बढ़ती है। नादिरशाही या डिक्टेटरशिप की यह प्रवृत्ति तब पनपती है। जब व्यक्ति का आत्मज्ञान और अधिकार-भाव दोनों समान रूप से कमजोर होते हैं। भय या आतंक का विस्तार उसी के नतीजे हैं। यह ऐसा मनोविज्ञान है जिसे मंगलेश डबराल ने अपनी कविता 'तानाशाह कहता है' में धारदार और असरदार तरीके से चित्रित किया है। तानाशाह कितना ही मजबूत क्यों न दिखे होता है वह कायर और डरपोक ही। बार-बार समझता है कि 'मैं हूँ तो मुमकिन है'। वह 'रॉबिनहुड' का मुखौटा लगाकर जन-जन का उद्धारक होने का दावा करता है—

हमारे बिना तुम कुछ नहीं कर सकते
तानाशाह कहता है

तुम उठ नहीं सकते साँस नहीं ले सकते
कहीं आ-जा नहीं सकते
हम न हों तो तुम भी नहीं हो सकते

(पहाड़ पर लालटेन, संग्रह से)

गरज कि, अगर तुम्हें होना है तो हमारे जैसा ही होना होगा। हमारे जैसा होने का अर्थ क्या है? अक़्ल को काला-पानी की सज़ा। दूसरे शब्दों में, नरसंहार और योजनाबद्ध हत्याओं के सुनियोजित आयोजन का सहभागी होकर निरंकुश फाँसीवादी ताकतों के सामने प्रश्नातीत आत्मसमर्पण। यह दावा या दमोक्ति व्यक्ति और समाज दोनों के पतन के लक्षण हैं। उस पतन को बढ़ावा देने वाले सुचित्य और समुन्नत साधन भी आज हमारे पास मौजूद है। विडंबना देखिए, 'हम न हों तो तुम भी नहीं हो सकते' जैसे खरा फरेब को इतिहास ने हमेशा खारिज किया है। पूरी कविता में मितव्ययी कथनों की नाटकीयता एक 'अलगाव-प्रभाव' उत्पन्न करती है कि जन-जन की नियति इसके ठीक उलट है। इस मामले में फासिस्ट तानाशाह की चिंता एक नया सौंदर्यविधान रचने की है जिसे नीत्शे ने 'मृत्यु का सौंदर्यशास्त्र'—एस्थेटिक्स आफ डेथ की कल्पना में देखा था।

तानाशाह बार-बार अपनी बातें दोहराता है, सुनहरे भविष्य के सपने दिखाता है—

देखो तुम्हारी झोंपड़ियों के छप्पर
उड़ गये हैं
और कई रोज से तुमने कुछ नहीं खाया
तुम्हारी फसल कोई लूट ले गया है
तुम्हारे बच्चे रो रहे हैं
आसमान की ओर मुँह किये हुए

कितनी बड़ी विडंबना है कि जो झोंपड़ियों को उजाड़ने के जिम्मेदार हैं, जो भूख के लिए जवाबदेह हैं जिसके नीचे 'हर बार एक स्वप्न दब जाता है...', जो बच्चों के रोदन और काले कानूनों से किसानों को दबाकर उनकी फसलों की लूट से कारपोरेट घरानों के महलों को सुंदर बनाना चाहते हैं, जो श्रमजीवियों की दीनता और दुःख के हेतु हैं वही उनके उद्धारक होने का दावा भी कर रहे हैं! इस योजनाबद्ध प्रचार का प्रयोजन यह है कि क्रमशः लोग इसे स्वाभाविक मानकर उसके अभ्यस्त हो जायें। यानी संहारक में ही उद्धारक की छवि-स्वीकृति। मंगलेश ने यहाँ जिस तकनीकि का सहारा लिया है उसे टी.डब्ल्यू. एर्डोने ने 'निगेटिव डायलेक्टिस' कहा था जो खुद में ही अंतर्निहित विपरीत तर्कों से झूठ और वितंडावाद को ज्यादा देर तक टिकने नहीं देता और उसके खंड-खंड पाखंड को उसके अपने ही तर्कों से ध्वस्त कर देता है—

फिर भी तुम खुश रह सकते हो
अगर हमारे होकर रहो
हम तुम्हारे लिए ही आये हैं
कहता हुआ तानाशाह नेपथ्य से आता है
जो हमारा नहीं उसकी ख़ैर नहीं
कहकर मुस्कुराता है।

वर्तमान भारत पर बिल्कुल सटीक! 'जो हमारा नहीं उसकी ख़ैर नहीं', यही है 'मन की बात'! 'आत्मनिर्भर' भारत का सच!! निपट व्यंग्य और विद्रूप। इस मुस्कुराहट में छिपी भयावहता को एक दौर में रघुवीर सहाय ने पहचाना था, 'प्रजातंत्र का अंतिम क्षण है कहकर आप हँसे, चारो ओर बड़ी लाचारी कहकर आप हँसे।' कविता में जो आश्वासन है, हक़ीक़त में वह बड़ा

ख़तरा है। उस ख़तरे के प्रयोजन को आप ध्यान में रखें तब यह तथ्य अनदेखा न रह जायेगा कि आज भारत में जो फासीवादी प्रवृत्तियाँ उभर रही हैं उसके एक हाथ में धर्म का गुटका है और दूसरे में कॉरपोरेट पूँजी की बेलगाम ताकत। यह अपनी तरह का नया सौंदर्यवाद है जो सुनियोजित दुष्प्रचार में 'आयुष्मान भारत' की मनोहर छवि गढ़ता है। उसका दूसरा प्रयोजन है वीरपूजा यानी एक ऐसे नायक की स्थापना और उसकी स्वीकृति जो अपने चमत्कार से जादुई प्रभाव उत्पन्न कर सके जो यह समझा सके–

धैर्य रखो धैर्य बड़ी चीज है
अपने दुःख के बारे में मत सोचो
और दुःख होगा
मुझसे देखा नहीं जाता तुम्हारा दुःख
देखो देखो कितना बड़ा है मेरा दुःख

इसी मनःस्थिति को तोड़ने के लिए मंगलेश की यह कविता सहायक है। वह, बर्बरता और सहृदयता के बीच जो फाँक है, जो गहरा दरार है उसका भेद समझाती है। साथ ही उस प्रवृत्ति के छद्म से भी पर्दा उठाती है कि तानाशाहों की दंभोक्तियों में बिना किसी पापबोध के शहादत का जो जज़्बा रौशन अफ़रोज़ होता है कि वे दूसरों के लिए ही जी-मर रहे हैं वे वस्तुतः दमन के पहचाने हुए चेहरे ही होते हैं। जिसके बारे में अमेरिकी रेडिकल सी राइट मिल्स ने कहा था कि अब '...द मोस्ट अनसिविलाइजड एंड इनडिसिप्लिन्ड मास्टर्स हैव टेकन द चार्ज टू सिविलाइज, एंड डिसिप्लिन ह्यूमन डेस्टिनी फेट एंड फॉरचून'। अन्यथा उसे यह कहने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती, 'मुझसे देखा नहीं जाता तुम्हारा दुःख/देखो देखो कितना बड़ा है दुःख मेरा'। किसी बुद्ध जीसस, इब्राहिम या गाँधी को ऐसी घोषणा करने की ज़रूरत कब पड़ी थी?

थोड़ा विषयांतर जरूर होगा लेकिन इस मौके पर मैं जन्मजात हिंदुस्तानी मूल के पाकिस्तानी उपन्यासकार मुश्ताक अहमद युसुफ़ी के उपन्यास 'खोया पानी' में उनके द्वारा लिखी गई 'भूमिका' के निम्न अंश को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। जिस 'तानाशाह' कविता पर मैं विचार कर रहा हूँ उसके ताने-बाने में निहित कलात्मक अनुगूँज को समझने में मुझे मुश्ताक साहब के इन शब्दों से काफी मदद मिली। साथ ही, मंगलेश के रचनात्मक संदर्भ की वैचारिकता को समझने में भी।

"लीडर भ्रष्ट, विद्वान लोग स्वार्थी, जनता भयभीत-आतंकित और हर आदेश का पालन करने वाली। जब संस्थान खोखले और लोग चापलूस हो जायें तो जनतंत्र धीरे-धीरे डिक्टेटरशिप को रास्ता देता जाता है।...डिक्टेटर स्वयं नहीं आता, लाया और बुलाया जाता है...डिक्टेटर से अधिक प्यार-भरा और कोई हो नहीं सकता, इस अर्थ में कि वो अपने दिल की गहराइयों से यह समझता है कि जनता और देश से जिस तरह टूट के वह प्यार करता है और जैसी जितनी सेवा वो अकेला कर सकता है पूरे देश के बूते का काम नहीं। वो सचमुच महसूस करता है कि उसके जिगर में सारे-जहाँ का दर्द ही नहीं इलाज भी है।"

"...इसमें शक नहीं कि उसके पास उन Non-issues और झूठे झगड़ों का संतुष्टिदायक हल होता है जो वो अपनी करतूतों से खड़ा करता है।"

"...राज्य की सर्वोच्चता और सत्ता की निरंकुशता का अनिवार्य परिणाम ये कि वो ईश्वर की सृष्टि से इस तरह संबोधित होता है जैसे वो पाषाणकालीन जंगली हों और वो स्वयं उन्हें अंधकार से निकालकर अपने नेतृत्व में लाने और वनमानुष से मनुष्य बनाने के ईश्वरीय काम पर है।"

"...फिर जैसे-जैसे साम्राज्य का अहंकार और हवस बढ़ती जाती है, डिक्टेटर अपने निजी

विरोधियों को ईश्वर का विरोधी और अपने चाकर-टोले को बुरा बताने वालों को देशद्रोही बताता है।...वो ये जानता है कि साहित्य और पत्रकारिता में बिके हुए लोगों का एक कबीला होता है। उनसे वो गवाही दिलवाता है कि मेरे राज्य में बोलने, छपने और छापने पर कोई प्रतिबंध नहीं है। मतलब ये कि जिसका जी चाहे, जिस छंद या विधा में स्तुति लिखे और पढ़े। बल्कि स्तुति-काव्य छंद, बुद्धि से परे भी हो तो कोई बात नहीं।"

आज के भारत का सच। दरअसल, जब झूठ रोजमर्रा के जीवन का हिस्सा बनने लगता है। देश और समाज चारो ओर से बंद और डरे हुए दिमाग का क़ब्रगाह यानी 'नो ह्वेयर टू गो बट इनडोर्स' तो उस जड़ता को तोड़ने की ज़रूरत होती है। इस मामले में 'तानाशाह' एक विलक्षण कविता है। वह 'एब्जॉर्ब' नहीं करती, 'एलियनेट' करती है। यह समानानुभूति के भूमंडलीकरण की नहीं बल्कि उससे अलगाव की कविता है। जहाँ सहृदयता, अत्याचार और आतंक से जन्म ले वह बर्बरता है। यह कविता उस बर्बरता की पहचान ही नहीं कराती बल्कि उससे दो-चार हाथ करने का नैतिक साहस भी दिखाती है। अपने पूरे विन्यास से सपाट प्रतीत होने वाली यह कविता अर्थ के अनेक परतों को खोलती है तो महज इसलिए नहीं कि उसका मुहावरा यथार्थवादी है बल्कि इसलिए कि वह उससे कहीं अधिक यथार्थ में निहित व्यंग्य और विद्रूप के विडंबनात्मक बोध की पहचान कराती है। यह एक प्रकार की आलोचनात्मक दृष्टि है जो 'नारों और वादों के लिजलिजे जाल में फँसी 'भूख को एक मुस्तैद और नुकीले पंजे' में बदलती है; 'मुट्ठियाँ ताने हुए' ('मुक्ति' कविता की पंक्ति) जिसका दूसरा नाम 'विजडम' या विवेक है। अगर इतिहाससिद्ध अनुभवों से छनकर यह कविता न निकली होती तो महज प्रचार होती या अधिक से अधिक एक कवि का चुस्त 'स्मार्ट' आत्म-वक्तव्य।

कविता का अंतिम बंद उस व्यंग्य और विद्रूप के विडंबनात्मक बोध की पहचान की परम सिद्धि है जिसकी मैंने ऊपर चर्चा की है। तानाशाह अपनी वंश-फसल-वृद्धि के लिए क्या चाहता है?

तानाशाह चाहता है
तुम सिर्फ उसके दुःख के बारे में सोचो
और कुछ करना ही है
तो इतना करो
कि जब वह मरने लगे
तो खोज लाओ एक नया तानाशाह।

यह व्यंग्य और विद्रूप की पराकाष्ठा है। यह एक ऐसी थकी हुई सोच है जिसकी पांडुलिपि में हमेशा की तरह 'हारे को हरिनाम' ही दर्ज़' किया जा सकता है। एक बार पुनः ब्रेष्ट की ये पंक्तियाँ याद आयीं–

जनरल, तुम्हारा टैंक एक मजबूत गाड़ी है।
रौंद सकता है एक जंगल को और पीस डालता है सैकड़ों इंसानों को।
लेकिन उसमें एक कमी है
उसे एक ड्राइवर चाहिए।

यानी अक़्ल जिसे कालापानी की सजा मिली है; इल्म जिस पर लॉकडाउन का सख़्त पहरा है। लेकिन कब तक? मंगलेश यह सवाल छोड़ जाते हैं।

संपर्क : 62, वन विहार कॉलोनी, टोंक रोड, जयपुर-302018 (राजस्थान), मो. : 9116671126

स्मृति शेष : 2

शमसुर रहमान फ़ारूक़ी की याद में

अली अहमद फ़ातमी

ज़िंदगी के रंग अजीब होते हैं। 2021 ई. के स्वागत में जब लोग ख़ुशियाँ मना रहे थे, हम उर्दू वाले अपने एक बड़े साहित्यकार, लेखक, आलोचक शमसुर रहमान फ़ारूक़ी के जाने का ग़म मना रहे थे। पिछले वर्ष इलाहाबाद वालों को एक फ़ारूक़ी का ही गम नहीं, कई और ग़म मिले। महीने-डेढ़ महीने पहले नगर के सीनियर सामाजिक कार्यकर्ता कामरेड ज़ियाउल हक़' रूख़सत हो गये। कुछ और महीने पूर्व प्रगतिशील लेखक व आलोचक सै. मो. अक़ील भी दुनिया से चले गये, ग़रज़ कि ग़म ही ग़म। ऐसे बड़े इंसानों के जाने का ग़म तो होता ही है, उस से ज़्यादा इस बात का ग़म कि उनके साथ एक युग का, एक तहज़ीब का अंत हो जाता है। शायरी और दानिश्वरी का ख़ातमा हो जाता है। आज के इस गैर शायराना और ग़ैर दानिश्वराना माहौल में ये तीनों ही साहित्य व संस्कृति के एक दबिस्तान थे, शमसुर रहमान, फ़ारूक़ी विशेषकर।

मैं जितना क़रीब अक़ील रिज़वी और ज़ियाउल हलक़ के था उतना फ़ारूक़ी साहब के नहीं। उसका कारण यह है कि जब मैंने साहित्य के क्षेत्र में कदम रखा, फ़ारूक़ी साहब शहर में नहीं थे। अपनी नौकरी के सिलसिले में वह कभी दिल्ली में होते तो कभी लखनऊ, पटना में होते। यही कारण है कि उनकी पत्रिका 'शबखून' भी प्रभावित होने लगी, फिर एक समय ऐसा भी आया कि फ़ारूक़ी को उसका आख़िरी अंक निकालना पड़ा। फ़ारूक़ी साहब शहर से दूर, आयु में बड़े और बड़े अफसर भी थे और मैं प्रगतिशील लेखक संघ का सक्रिय सदस्य बन चुका था और फ़ारूक़ी की छवि प्रगतिशील विरोधी की थी, इसलिये फ़ासले तो होने ही थे लेकिन उसके बावजूद उनकी शख़्सियत में बड़ा रचाव था, उनसे मिलने की एक ललक तो रहती ही थी।

अपना शोध-कार्य पूरा करने के बाद जब मैं अपनी पहली नौकरी करने सेंट जॉन्स कॉलेज आगरा गया (1980) तो वहाँ का उर्दू विभाग बेहद कमज़ोर था, मैंने उसे मज़बूत करने के लिये जन कवि 'नज़ीर अकबराबादी' पर बड़ा सेमिनार किया, कई बड़े साहित्यकारों के साथ

मैंने फ़ारूक़ी साहब को भी आमंत्रित किया, हालाँकि मुझे मालूम था कि वह नज़ीर को ज़्यादा पसंद नहीं करते हैं। फ़ारूक़ी साहब उन दिनों दिल्ली में तैनात थे। मैं उनसे मिलने गया तो उन्होंने साफ़ तौर पर कहा कि वह नज़ीर को शायर नहीं मानते, फिर भी आऊँगा क्योंकि आगरा कभी अकबराबाद था, उसने बड़े-बड़े काम किये हैं। फिर उन्होंने यह भी बताया कि जिस कॉलेज में तुम उस्ताद हुए हो कभी इसी कॉलेज में 'मजाज़' जज़्बी, आले अहमद सुरूर आदि पढ़ते थे। बड़ा मशहूर कॉलेज हैं। बहरहाल फ़ारूक़ी साहब आगरा आये, तक़रीर भी की, नज़ीर पर कम बोले अकबराबाद के इतिहास व संस्कृत पर ज़्यादा बोले। 'मैकश अकबराबादी' से मुलाक़ात की और शाबशी देते हुए दिल्ली चले गये।

तीन साल के बाद (1983) मैं इलाहाबद विश्वविद्यालय से जुड़ गया। शहर में सक्रियता बढ़ी, इलाहाबाद यूँ भी प्रगतिशीलों और सरकसों का शहर कल भी था और आज भी है। ऐसे में फ़ारूक़ी साहब के शहर में न रहते हुए भी पीठ पीछे चर्चे होते, उनकी दो किताबों की चर्चा विशेषकर होती, पहली "शेर ग़ैर शेर और नस्र" दूसरी, "अरुज़, आहंग और बयान" पत्रिका 'शबखून' के चर्चे तो थे ही। 'शबखून' मैं भी पढ़ लेता था पर मुझे हैरत होती थी कि इसमें सम्पादकीय क्यों नहीं होता, उसके स्थान पर किसी पश्चिमी आलोचक का विचार होता, कुछ अच्छी राय नहीं बनी और न ही 'शबखून' रोचकता से पढ़ा गया। बाद में जब उनकी किताब 'शेर, ग़ैर शेर और नस्र' पढ़ी तो दिमार्ग़ रौशन हो गया, एक ऐसी रौशनी जिसकी चकाचौंध आँखों के सामने अँधेरा कर देती है। इसमें शामिल लेखों 'शेर ग़ैर शेर व नस्र' 'अदब के ग़ैरे अदबी मेयार' और 'अलामत की पहचान' पढ़े तो ज्ञान का एक ऐसी दहशत तारी हुई जो आज तक न निकल सकी, इस दहशत का एक कारण यह भी था कि लेख के बड़े हिस्से समझ में ही नहीं आये थे जिसके शुरू में मैंने अपनी अज्ञानता से जोड़ा, बाद में पता चला कि जदीदियत के ज़ोर में उन दिनों यह फ़ैशन चल पड़ा था कि जो साहित्य समझ में आ जायें वह मामूली सतह का है। ऐसी कहानियाँ शायरी 'शबखून' से वापस कर दी जाती थीं। आज इन लेखों को फिर से पढ़ता हूँ तो साफ़ अंदाज़ा होता है कि जिस तरह प्रगतिशील लेखकों, आलोचकों ने "अदब और ज़िंदगी" "अदब और समाज" "अदब और तहज़ीब" "अदब और सियासत" जैसे विषयों पर लेख लिख कर प्रगतिशील मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र को स्पष्ट करने की कोशिश की, इसी प्रकार फ़ारूक़ी साहब अकेले दम पर ऐसे लेख लिख कर जदीदियत के काव्यशास्त्र को साबित करते रहे साथ ही उसके रिश्ते क्लासीकीयत से जोड़ते रहे। फ़ारूक़ी साहब ने बाद के दौरे में भी "ज़दीदियत कल और आज" या "जदीदियत आज के तनाज़ुर में" जैसे लेख लिखे लेकिन इन लेखों में धुव्रीकरण का स्पष्टीकरण ज़्यादा है। लेकिन इसी किताब में जो 'अमीर खुसरो', ग़लिब, दाग़ और अकबर इलाहाबादी पर लेख हैं वह बदले हुए फ़ारूक़ी का पता देते हैं। बदलाव से मेरा अर्थ फैलाव से है। इस बदलाव व फैलाव में फ़ारूक़ी साहब की शख़्सियत में इज़ाफ़ा हुआ लेकिन कुछ कमज़ोर के जदीद आलोचक उनसे अलग भी होने लगे, जिसका फ़ारूक़ी साहब को ज़रा भी दुःख न था इसलिये कि फ़ारूकी कमज़ोर कंधा या दूसरों का कंधा इस्तेमाल करने वाले न थे। उनके अपने ज्ञान का खंभा इतना मज़बूत था कि हिलाये न हिलता था। आप इससे सहमत हों या ना हों लेकिन उनके भरे-पूरे ज्ञान से कोई असहमत नहीं हो सकता था। मैंने कई बार सरदार जाफरी, मो. हसन, सै. मौ. अक़ील आदि को भी इनके पढ़े-लिखे होने का ऐलान करते देखा और सुना।

एक वाक़या याद आ रहा है। 1982 ई. की बात है, मैं आगरे में था। अली सरदार जाफ़री का ख़त आया कि लखनऊ में मजाज़ पर सेमिनार है, तुम्हें "मजाज़ और आगरा" के

शीर्षक पर पेपर पढ़ना है। मैंने मेहनत से पेपर लिखा और सेमिनार में शिरकत की जिसमें अली सरदार जाफ़री के अलावा कैफ़ी आज़मी, राही मासूम रज़ा, मोहम्मद हसन, क़मर रईस, सै. मो. अक़ील के साथ शमसुर रहमान फ़ारूक़ी ने भी शिरकत की, सेमिनार तीन दिन चला। अंतिम सत्र की अध्यक्षता जाफ़री और फ़ारूक़ी ने की। पहले फ़ारूक़ी बोले और साफ़ तौर पर कहा कि मैं 'मज़ाज़' को मामूली शायर समझता हूँ और वह मामूलीपन को साबित करने लगे। हॉल में मज़ाज के चाहने वालों की संख्या थी वह बेचैन होने लगी, शोर मचने लगा तो जाफ़री माइक पर आये और कहा—"साहित्य में समाज से भी बड़ी जम्हूरियत होती है, फ़ारूक़ी को अपनी बात कहने का पूरा हक़ है लेकिन हमें भी अपनी बात रखने का हक़ है—"इसके बाद जाफ़री ने मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र पर शानदार भाषण दिया, ऐसा भाषण जिससे खुद फ़ारूक़ी प्रभावित हुए। चाय पर दोनों जिस प्रकार हँस-बोल कर बातें कर रहे थे वह देखने लायक था। बड़े लोगों की बड़ी बातें हैं जो हमें सबक़ सिखलाती हैं। बाद मे जब फ़ारूक़ी के काव्य संग्रह पर जाफ़री की राय छपी देखी तो फ़ारूक़ी मेरे लिये आदरणीय हो गये। सच ये है कि जिनका ज़ेहन बड़ा होता है उनका दिल बड़ा हो तो वह शख़्स बड़ा होकर भारी भरकम शख़्सियत बन जाता है, एक मिसाली शख़्सियत।

एक वाक़या और सुनिये—किसी फंक्शन में शिरकत की ग़रज़ से मशहूर शायर कैफ़ी आज़मी इलाहाबाद आये। वह जब भी इलाहाबाद आते हम तरक्क़ीपसंद दोस्त उनको घेर लेते। इस बार मुलाक़ात हुई तो कैफ़ी साहब कहने लगे—"मुझे फ़ारूक़ी के घर ले चलो सुना है कि वह बीमार हैं।" फ़ारूक़ी साहब वाक़ई बीमार थे, हम दोनों उन्हें देखने गये तो वह तमाम कमज़ोरियों के बावजूद तेज़ी से ड्राइंग रूम में आये और तपाक से ऐसे मिले जैसे कोई खानदान का बुज़ुर्ग आ गया हो। रस्मी बाते होने लगीं, कुछ देर बार फ़ारूक़ी साहब अंदर गये और कैफ़ी आज़मी का नया काव्य संग्रह लेकर आये और बड़ी नर्मी से बोले—"हुजूर इस पर दस्तख़त कर दीजिये तो इस किताब की क़ीमत दुगनी हो जायेगी।" मैं यह देखकर हैरान हो उठा और सोचने लगा कि जो शख़्स मजाज़ को शायर नहीं समझता फ़िराक़ को बड़ा शायर नहीं मानता है वह कैफ़ी के बारे में क्या राय रखता होगा। हम लोग थोड़ी देर बैठकर वापस आ गये तो मैंने कैफ़ी साहब से कहा—"फ़ारूक़ी साहब तरक्क़ीपसंद शायरों को कुछ नहीं समझते और आप...." "लेकिन मैं तो उन्हें बहुत कुछ समझता हूँ!" कैफ़ी साहब ने फ़ौरन जवाब दिया और मैं अपने आप में शर्मिन्दा हो गया। बाद के तकल्लुफ़ क्षण में फ़ारूक़ी साहब से भी यही कहा तो वह बोले—"क़ैफ़ी साहब हमारे बुज़ुर्गों में से हैं, हमारे हम वतन हैं, साहित्य मतभेद अपनी जगह और तहज़ीब व एखलाक़ अपनी जगह पर।" मैं यहाँ भी शर्मिन्दा हुआ लेकिन इस शर्मिंदगी से यह जरूर अहसास हुआ कि इख़्तेलाक़ को मुखालेफ़त में नहीं बदलना चाहिये और अदावत व नफ़रत में तो बिल्कुल नहीं। लेकिन आजकल यही हो रहा है शायद यही कारण है कि हमारे बीच न जाफ़री पैदा हो रहे हैं न फ़ारूक़ी।

फ़ारूक़ी साहब जब आख़िरी बार पाकिस्तान गये तो वहाँ बड़ी आवभगत हुई, इंटरव्यूज हुए। किसी एक इंटरव्यू में कह दिया कि मैं फ़ैज़ को चौथे नंबर का शायर समझता हूँ, ग़ौर कीजिये पाकिस्तान, जहाँ का ज़र्रा ज़र्रा फ़ैज़ नवाज़ है उन्हीं की सरज़मीन पर फ़ारूक़ी ने यह फ़ैसला सुना दिया, बड़ी ले दे हुई, जो होनी ही थी और शायद फ़ारूक़ी साहब यही चाहते भी थे। ठहरी हुई झील में पत्थर फेंक कर हलचल मचा देने की जो सलाहियत फ़ारूक़ी साहब में थी उनके समकालीन में किसी के पास न थी इस सलाहियत में सिर्फ़ शरारत का नहीं बल्कि उनकी क़ाबिलियत और ज़ेहानत का दख़ल था। जब वह पाकिस्तान से वापस आये तो हम

लोग उनसे मिलने गये। मेरे साथ मशहूर कहानीकार हुसैनुल हक़ और जावेद अख़्तर खाँ थे जो उन दिनों इलाहाबाद में एक्साइज़ के ज्वाइंट कमिशनर थे और साहित्य से गहरी दिलचस्पी रखते थे। हम लोगों ने भी शरारत की और फ़ैज़ वाले विवाद को छेड़ दिया तो कहने लगे—"मेरा मक़सद उन्हें कमतर करना नहीं था बल्कि ये कि अगर कोई मुझसे पूछे कि इस दौर में मेरे पसंद के शायर कौन-कौन से हैं तो मैं सबसे पहले मीराजी का काम लूँगा, उसके बाद नूम मीम राशिद, फिर मजीद अमजद उसके बाद फ़ैज़ को चौथे नंबर पर रखूँगा।" हम तीनों उनकी पसंद और तरतीब पर हैरान थे, मैं जानता था कि फ़ारूक़ी साहब कुछ अलग सी राय देने में महारत रखते हैं और इस महारत में उनकी इल्मियत उनका भरपूर साथ देती थी कि बड़े-बड़े लाजवाब हो जाते, हम सभी लाजवाब ही थे लेकिन एक्साइज़ कमिश्नर होने के बावजूद मासूम और शरीफ़ जावेद अख़्तर ने हैरत से सवाल किया—"ऐसा क्या है इस तीनों शायरों मे जिनकों आप फ़ैज़ जैसे आलमी शायर से बरतर समझते हैं?" फ़ारूक़ी फ़ौरन बोले—"ऐसा क्या है फ़ैज में कि उनको सब पर अहमियत दी जाये पूरी शायरी स्टेटमेंट (Statement) की शायरी है—" जावेद अख़्तर का ख़ान जाग गया फ़ौरन बोले—"स्टेटमेंट की शायरी होना बुरी बात है क्या? इक़बाल की पूरी शायरी स्टेटमेंट नहीं तो क्या है मगर आप उसकी तो बहुत तारीफ़ करते हैं फ़ैज़ की नहीं करते।" ग़रज़ कि खूब बहस हुई, उस दिन फ़ारूक़ी थोड़े से बैकफुट पर नज़र आये, बीच को हुसैन साहब बोले—"तुम लोग क्या फ़ैज़ पर काम करोगे तुम्हारे यहाँ तो फ़लाँ दरभंगवी, फ़लाँ गयावी, फ़लाँ आरवी पर काम होते हैं।" हुसैन को बुरा ज़रूर लगा लेकिन यह भी बेहद सभ्य व संजीदा इंसान हैं और फ़ारूक़ी साहब हर ऐतबार से हमसे बड़े, इसलिये महफ़िल हँसी मज़ाक़ पर ख़त्म हुई। हँसी मज़ाक़ कुछ भी हो लेकिन हम जब भी उनकी महफ़िल से उठते तो थोड़े से खुश, थोड़े से बेक़रार और थोड़े से परेशान होकर निकलते तो ग़ालिब याद आ जाते—

बूए-गुल, नालए-दिल टूटे-चिरागे-महफ़िल
जो तेरी बज़्म से निकला सो परेशाँ निकला

हम शुरु से ही तरक़्क़ीपसंद खे़में में थे, जहाँ हमें पढ़ाया और समझाया गया कि साहित्य में आमतौर पर दो ही धाराएँ हुआ करती हैं। एक साहित्य और समाज के लिये, दूसरा साहित्य सिर्फ़ कला व साहित्य के लिये। पहले के हम तरफ़दार थे दूसरे के आधुनिकतावादी लेखक जिसके बड़े विचारक थे शमसुर रहमान फ़ारूक़ी। फ़ारूक़ी ने अपने कई लेखों में आधुनिकता और कलावादिता पर बहस की है। जिसे इस लेख में दोहराया नहीं जा सकता फिर भी मैं केवल एक उदाहरण देकर बात को आगे बढ़ाऊँगा। अपनी किताब "जदीदियत कल और आज" की प्रस्तावना में एक जगह लिखते हैं—

"जदीद अदीब अदब की अदबियत से सरोकार रखते हैं उसकी नाम नेहाद (तथाकथित) समानी या सियासी क़ीमत से नहीं। अदब की अदबियत किसी भी तख़लीक़ (रचना) का जौहर है और तख़लीक़ के लिये मुतलक़ (Absolute) उसूल की हैसियत रखती है। इसके बर खिलाफ़ समाजी या सियासी या तारीख़ी मायनों में तख़लीक़ का जौहर नहीं हैं और इनमें लाज़मियत (आवश्यक) नहीं क्योंकि फ़लसफ़ा, सियासत, तारीख आदि हर लम्हा बदलाव में रहते हैं।"

ये ख़्यालत ग़ौरतलब हैं और बहसतलब भी लेकिन सामाजिक अर्थ के साथ तथाकथित का दुमछल्ला फ़ारूक़ी की अपनी ईजाद है। बहस ये भी हो सकती है कि अगर इतिहास, दर्शन,

राजनीति बदलते रहते हैं तो साहित्य भी तो हर समय बदलाव के प्रभाव में रहता है। अली सरदार जाफ़री ने अपने काव्य संग्रह—'पत्थर की दीवार' की प्रस्तावना में सबक तौर पर कहा कि हर शेर, हर साहित्य मौजूद क्षण में जन्म लेता है। हर शायर की शायरी क्षणिक होती है, ये अलग बात है कि बड़ा शायर बड़े विचारों व मूल्यों से उसे दूर तक ले जाता है। सुप्रसिद्ध बुद्धिजीवी एजाज़ अहमद के तो एक लेख का शीर्षक ही है—"सृजनशीलता हमेशा सामाजिक होती है।"

बहरहाल फ़ारूक़ी की अपनी एक सोच थी, साहित्य का फ़लसफ़ा था जिस पर वह हमेशा ज़ोर देते रहे, लेकिन दो वाक़ये ऐसे भी हुए जिसमें मैंने उनके विचारों को बदला हुआ भी पाया। हैदराबाद में 'दाग़ देहलवी' वर बड़ा सेमिनार था, मुझे दाग़ पर पेपर लिखना था, मुझे ये देखकर ख़ुशी हुई कि फ़ारूक़ी साहब ने भी 'दाग़' पर एक लंबा लेख लिखा है जिसे मैंने बड़े ग़ौर और शौक़ से पढ़ा। इसी लेख में एक वाक्य यूँ मिलता है—"दाग़ गुज़रे हुए ज़माने के So called ज़वाल आमादा (पतनशील) समाज के शायर है।" यहाँ नाम नेहाद के बजाय So Called लिखा है जिसका अर्थ एक ही है। इसी में आगे लिखते हैं—

> *''हम क्लासिकी शायरों को पढ़ते हुए ये बात भूल जाते हैं कि क्लासिकी शायर के पहले किसी ने क्या कहा और उस क्लासीकी शायर के बाद क्या कहा? इसको ध्यान में रखे बग़ैर आप शायर के साथ इंसाफ़ नहीं कर सकते क्योंकि ये सब लोग Intertetual हैं, एक का सिरा दूसरे से जुड़ा हुआ है।''*

एक का सिरा दूसरे से समय और काल से भी जुड़ा रहता है और इस जुड़ाव में तहज़ीब की आवाज़ें अपना काम करती रहती हैं, साहित्य व संस्कृति उन्नति बहरहाल समाज के बदलाव व उतार चढ़ाव से भी जुड़ा रहता है, यह एक बड़ी सच्चाई है लेकिन फ़ारूक़ी इस बात को स्वीकार नहीं करते थे, वह केवल शब्द, भाषा, उसकी बंदिश को ही सबसे अहम समझते, इस संबंध में उनकी किताब "शेर, ग़ैर शेर और नस्र" बड़ी अहमियत रखती है, लेकिन बाद के दौर में जो लेख उन्होंने लिखे वह उनकी किताब "लफ़्ज़ो-मायनी" "ताबीर की शरह", "सूरतो-मायनी-ए-सुख़न" में शामिल हैं, इनमें वह कट्टरता नहीं, बल्कि फैलाव है और कहीं कहीं बदलाव भी।

सत्यप्रकाश जी के रहते इलाहाबाद म्यूज़ियम ने फ़ारूक़ी साहब से 'अकबर इलाहाबादी पर कई लेक्चर करवाये, मैंने भी शिरकत की, इस ख़्याल से कि क्या फ़ारूक़ी साहब 'अकबर' की शायरी को भी केवल शब्दों, और बयानों के द्वारा परखेंगे या कुछ और आगे जायेंगे और मुझे विश्वास था कि वह ज़रूर आगे जायेंगे इसलिये कि मैं उनके दो बेहद अच्छे लेख "नज़्म क्या है?" और "नज़्म का उसलूब" पढ़ चुका था और जो मुझे थोड़े बहुत मतभेद के बावजूद पसंद आये थे, लेकिन अकबर पर तो वह मेरी उम्मीदों से कहीं ज़्यादा आगे गये। सारे लेक्चर सोशियो कल्चरल और कहीं-कहीं पोलिटिकल इशारों और ख़्यालों से भरे हुए थे। बाद में यह लेक्चर म्यूज़ियम ने हिंदी में प्रकाशित भी किये और उर्दू में कई किताबों में शामिल भी हैं। इन लेक्चर्स में पहली बार इनके लेखों में अंग्रेज़ी साम्राज्य, सांस्कृतिक संकट, पूँजीवादी व्यवस्था जैसे शब्द सुने तो अच्छा भी लगा, हैरानी भी हुई। मैं उनकी ख़िदमत में हाज़िर हुआ, बधाई दी फिर सवाल किया—क्या कोई सौंदर्य का मूल्य, समाजी मूल्य से अलग हो सकता है?' तो उन्होंने स्वीकार किया कि उन्नीसवीं सदी की उथल-पुथल को समझे बग़ैर 'अकबर' को समझा नहीं जा सकता, हम उनके हास्य-व्यंग्य की चासनी में डूब जाते हैं लेकिन उनकी दूरदर्शिता,

चिंता को समझ नहीं पाते, मैं अकबर को उर्दू के चंद बड़े शायरों में तसलीम करता हूँ।"

मैंने पहली बार फ़ारूक़ी साहब की साहित्य के माध्यम से इतिहास, संस्कृत समाज आदि पर बातें करते देखा तो बेहद खुशी हुई, बाद में यह बदलाव फैलता गया और उनके उपन्यास में समा गया। सच पूछिये तो फ़ारूक़ी साहब शेरो-शायरी के ज्ञाता और आलोचक हैं। उर्दू साहित्य में एक ज़माने तक साहित्य का मतलब ही शायरी समझा जाता रहा है। 'हाली' की "मुक़दम-ए-शेरो-शायरी'' से लेकर फ़ारूक़ी की "मआरफ़ते-शेरे-नौ" तक चले आइये- शेर ही शेर हैं। "सूरते-मायनी-ए-सुख़न" अकेली ऐसी किताब है जिसमें पहली बार कहानी विधा पर कुछ लेख नज़र आये जो बाद में उनकी किताब "अफ़साने की हिमायत में" शामिल हुए जिसमें कुछ और लेख भी हैं। हालाँकि इन लेखों में हिमायत कम मुख़ालिफ़त ज़्यादा है। उस समय हैरानी हुई जब मुख़ालिफ़त करते-करते एक बड़ा उपन्यास लिख गये (कई चाँद थे सरे आसमाँ)। मैंने जब यह उपन्यास पढ़ा तो उसकी सादगी, उसका साफ़-सुथरा बयानिया (Narration) हैरान कर गया। सच यह है कि अलोचना की दुनिया कुछ और होती है और रचना की कुछ और। फ़ारूक़ी भी दो हिस्सों में जिये, एक आलोचक दूसरे रचनाकार, इसी प्रकार उनकी साहित्य यात्रा को भी दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। पहले का फ़ारूक़ी जो दूसरे बुतों को तोड़ता रहा, फिर उनका अपना बुत भी बना और उसे बनना ही था कि जो ज़ेहन, क़लम और क़ैंची लेकर वह चले थे उनमें कलम ही कलम था बक़ौल ग़ालिब-"हर चंद इसमें हाथ हमारे क़लम हुए।"

रचना की गहराइयों में उतरने, 'मीर' के नश्तरों से लहूलुहान होने सरस्वती सम्मान प्राप्त करने और देश व समाज के बिगड़ते माहौल ने एक नये फ़ारूकी को जन्म दिया। बड़े ज़ेहन और बड़े फलक के फ़ारूक़ी जदीदियत के हवाले से वह कितने जाने जाएँगे कह नहीं सकता, खुद जदीदियत इतिहास में किस रूप में ली जायेगी, अभी कुछ कह पाना मुश्किल है लेकिन मीर तकी मीर पर उनका बड़ा काम, बड़ा उपन्यास, गालिब और इक़बाल की नई समझ और पेशकश और दास्तान की नई समझ उन्हें हमेशा ज़िन्दा रखेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

पिछले दिसंबर, 2019 ई. आल इंडिया रेडियो वालों ने मुझसे संपर्क किया कि नेशनल आर्काईव के लिये शमसुर रहमान फ़ारूक़ी से चार घंटे का इंटरव्यू करूँ तो सच पूछिये तो मैं घबरा सा गया, चार घंटे का इंटरव्यू वह भी फ़ारूक़ी जैसे लेखक से। पहले तो मैंने सोचा कि माफ़ी माँग लूँ, लेकिन रेडियो वालों के दबाव पर मैंने इस इंटरव्यू को चैलेंज की तरह लिया, हम लोग़ फ़ारूक़ी साहब से मिले। जाड़े के दिन थे, सर्दी खूब पड़ रही थी, फ़ारूक़ी ने कहा कुछ ठंडक कम हो जाये अभी इसे टालिये। तय हुआ कि फ़रवरी 2020 ई. में रखा जाये और रोज़ केवल एक घंटा बात की जाये। मुझे खुशी हुई कि इस तरह मुझे दो महीने तैयारी के मिल जायेंगे। और मैने तैयारी की।

फ़रवरी 20 ई. में हमने चार दिन के बजाय तीन दिन में चार घंटे का समय पूरा कर लिया। अब इंटरव्यू कैसा रहा, मैं अपनी क़लम से कुछ नहीं कह सकता, फ़ारूक़ी साहब ज़िंदा होते तो बताते या रेडियो वाले ही बता सकते हैं। फ़ारूक़ी साहब ने मेरी पीठ ठोंकी, तारीफ़ की जिससे मुझे बेहद हौसला मिला।

बातें और हैं और मुलाक़ातें भी जिन पर लिखा जाता रहेगा, इसलिये कि वह साहित्य थे, इतिहास के युग पुरुष थे। बड़ी शख़्सियत के मालिक थे और बड़ी शख़्सियत के लोग छोटे-छोटे खुशामदीन भी हो जाया करते हैं जिनसे फ़ायदा कम नुक़सान ज्यादा हुआ करता है।

उन्हीं खुशामदीन ने यह भी कहा कि फ़ारूक़ी का उपन्यास उर्दू का सबसे बड़ा उपन्यास

है। किसी ने कहा कि बीसवीं सदी फ़ारूक़ी की सदी है और किसी ने जोश में कह दिया कि हमें गर्व है कि हम फ़ारूक़ी को देख रहे हैं उनके दौर में जी रहे हैं। बड़े साहित्यकारों के साथ इस प्रकार के मामले होते ही रहते हैं लेकिन फ़ारूक़ी ने इस प्रकार की बातें अपनी ज़बान से नहीं कहीं। वह अकसर दूसरों को जाहिल, बदअक़ल आदि कह जाते थे, लेकिन अपनी ज़बान से अपने आप को आलिम-फ़ाज़िल नहीं कहा, लेकिन मिज़ाज़ में एक ख़ास प्रकार की नज़ाकत और गुस्सा ज़रूर था जो उनपर अच्छा भी लगता था और फिर बक़ौल शायर-"खुदा जब हुस्न देता है नज़ाकत आ ही जाती है।"

मुझे अपने जीवन में बड़े बड़े शायरों व साहित्यकारों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है लेकिन फ़ारूक़ी इन सबसे अलग थे। मैं अक्सर सोचता था कि यह अलगाव क्या है। मैं आज भी इस सवाल का जवाब नहीं दे सकता। बस यही सोचता हूँ कि एक शख़्स जिसने अंग्रेज़ी से एम. ए. किया हो, सारा जीवन पोस्ट ऑफ़िस में गुज़ारा हो। उर्दू-फ़ारसी कभी क्लास में न पढ़ा हो, वह उर्दू साहित्य का इतना बड़ा लेखक व आलोचक। लाखों सफ़हात पढ़े, हज़ारों सफ़हात लिखे। किसी संगठन या आंदोलन से नहीं जुड़े, खुद एक संस्था बन गये, विचारों का एक दबिस्तान, जिसने पूरी एक नस्ल की ज़ेहनसाबी की और साहित्य व शायरी की समझ के नये पैमाने गढ़ दिये।

जीवन में, साहित्य में दावेदारी अच्छी नहीं लगती, लेकिन सच यही लगता है कि अब ज़िंदगी और ज़माना जिस ढर्रे पर जा चुका है, बाज़ारवाद का जो प्रभाव है, नगाड़े और नुमाइश का जो शोर है वह सब के सब गहरे व संजीदा साहित्य से दूर करते जा रहे हैं, ऐसे में फ़ारूक़ी जैसे क़द का साहित्यकार का आना लगभग असंभव सा है। इसलिये फ़ारूक़ी का जाना बहुत बड़ा नुकसान है। लेकिन जाना तो सबको होता है, वह भी गये और पूरी शान से गये, शान से रहे और शानदार काम कर गये। 'मीर' पर उन्होंने बड़ा काम किया, मीर के शेर पर ख़त्म करता हूँ—

मत सहल हमें जानों फिरता है फ़लक बरसों
तब ख़ाक के परदे से इंसान निकलते हैं।

संपर्क : बी-518, जी.टी.बी. नगर, करेली, प्रयागराज-211016 (उ.प्र.), मो. : 9415306239

वैचारिक स्वराज : आज की चुनौतियाँ

आदित्य निगम

नमस्कार विनोद जी, आनंद जी, सूर्यनारायण भाई। सत्यप्रकाश जी से कभी मेरा खुद का सीधा वास्ता नहीं रहा है, मगर मेरे कई दोस्तों का रहा है और मैंने जो लंबी फ़ेहरिश्त उनकी याद में आयोजित व्याख्यानों के पूर्व वक्ताओं की देखी है तो उस कड़ी में मैं अपने आप को थोड़ा छोटा महसूस कर रहा हूँ। उन बहुत ही दमदार और सम्मानित पूर्व वक्ताओं की कड़ी में खुद को पा कर मैं सम्मानित भी महसूस कर रहा हूँ।

सूर्यनारायण जी अभी विषय की और मेरी किताब की चर्चा कर रहे थे। मैंने यह विषय विनोद जी से बातचीत करके ही चुना था। विनोद जी का भी आग्रह था कि 'डिकोलोनाइजिंग थियरी' के इर्द-गिर्द भी बात रखी जा सकती है और मुझे भी लगा कि आज की तारीख में कुछ चीजें साफ-साफ कहना बहुत जरूरी है। हमारे यहाँ आज-कल यह नारे की तरह चल रहा है; कभी मोहन भागवत कहते हैं कि विदेशी विचार हमारे यहाँ लागू नहीं होता और औरतों को रसोई में रहना चाहिए, कभी अमित शाह जी कहते हैं मानवाधिकारों की पश्चिमी अवधारणा हमारे यहाँ लागू नहीं होती है। तो तमाम तरीके से हम देखते हैं कि ये पश्चिम और पश्चिम का भूत जो है वो दरअसल एक खास तरह की राजनीति को प्रतिष्ठित करने के लिए, उसको जमाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। इसलिए मैं शुरू में बिल्कुल साफ कर देना चाहता हूँ कि मैं किस अर्थ में डि-कोलोनाइजेशन, वि-उपनिवेशवाद या स्वराज, वैचारिक स्वराज आदि की बात करूँगा। वो अर्थ इन नारों से बिलकुल अलग है, और मैं उस पर दो मिनट लगाना चाहता हूँ यह बताने के लिए कि वह क्यों अलग है। मैं जो कहना चाहता हूँ वो एक खास तरह से उठ रहे इस पूरे डि-कोलोनाइजेशन के नारे से जुदा है, जिसकी आड़ में एक खास किस्म की—कह सकते हैं ब्राहमणवादी—राजनीति का वर्चस्व कायम करने की कोशिश की जाती है। उसके बरक्स, मैं इस बात को थोड़ा और तफ़सील से बाद में खोलूँगा। लेकिन अभी शुरुआत में हम यह साफ कर लें कि सिर्फ वि-उपनिवेशवाद की बात करना, वि-उपनिवेशिकरण की

बात करना या वैचारिक स्वराज की बात करना अपने आप में काफी नहीं है—और न ही यह पश्चिम और पूर्व के द्वैत से निर्धारित होती है।

हम लोग यदि अपने इतिहास को देखें तो उन्नीसवीं सदी के आखिर से बीसवीं सदी के दौर में बहुत बड़ी बौद्धिक कवायद हुई। यह बहुत बड़ी कवायद इस तरह से संपन्न हुई जिसका सरोकार हमारे अपने 'आप' को, अपने पुराने अतीत को खँगाल कर एक राष्ट्रीय अस्मिता गढ़ने की गरज़ से तथाकथित वैचारिक स्वराज कायम करने से था। के॰ सी॰ भट्टाचार्य के जिस भाषण का ज़िक्र सूर्य नारायण जी कर रहे थे, वह इसी संदर्भ में 1928 में दिया गया था। उसकी पृष्ठभूमि समझना थोड़ा जरूरी है क्योंकि भट्टाचार्य जो कह रहे हैं वो वह सब नहीं है जो हमारे आज के महानुभाव लोग कहते हैं। उन्नीसवीं सदी के आखिर का और बीसवीं सदी का वह दौर राष्ट्र और राष्ट्रीय अस्मिता की गंगोत्री को तलाशने और उस तक पहुँचने की कोशिशों से सराबोर था। वह कोशिश आखिरकार वेदों तक ले जाती है और एक ऐसे जमाने, ऐसे स्त्रोत तक ले जाती है जहाँ लगता है कि सब कुछ पाक-पवित्र है। एक ऐसी मंशा थी कि जो मिश्रण बाद में हुआ है हमारी संस्कृति के साथ, हमारी सोच के साथ, उन सब की छँटाई कर कर के, अलग करके, हम अब एक खास, खालिस भारतीय विचार या भारतीय सोच को खोज कर निकालेंगे। पर दरअसल इससे बड़ी गलतफहमी शायद कोई और नहीं है। इसका मतलब यह कतई नहीं है कि मैं उस दौर के स्कॉलरशिप को नकार रहा हूँ। उस दौर में बहुत बेहतरीन स्कॉलरशिप सामने आई है। जो कुछ भी उस दौरान में लिखा गया हमारे राष्ट्रीय चिंतकों द्वारा, जो कुछ भी बातें कहीं गईं और जो हमारे बहुत बड़े बड़े अकादमिशियन, स्कालर्स ने जो शोध किए और वो चाहे हिंदू पोलिटी के ऊपर हो, वो चाहे हिंदू एस्थेटिक्स या सौंदर्यशास्त्र के ऊपर हो, अर्थशास्त्र के ऊपर हो, नाट्यशास्त्र के ऊपर हो - उन कामों में कहीं भी अकादमिक रिगर और मेहनत की कमी नहीं है। लेकिन जो सबसे बड़ी दिक्कत सामने आती है वह उस दौर के कारण ही आती है। वह जो पूरा दौर है वह ऐसा दौर है जिसमें हम जिस चीज की तलाश कर रहे हैं, जिस अस्मिता की तलाश कर रहे हैं, जिसकी दुहाई दे रहे हैं—वह खुद एक लंबे एम्नीशिया या विस्मृति की गिरफ्त में है और उसे प्राप्त करने की ही सारी कोशिश है। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के उपनिवेशवाद का जो बौद्धिक हस्तक्षेप था उसमें ज़ाहिर है कि सत्ता की जरूरतें हावी थीं और मैं यह नहीं कहूँगा कि वह कुल मिलाकर एक साज़िश थी, मगर जब वह शासक बनकर यहाँ आए तो उनकी कोशिश यह भी थी कि जिस मुल्क पर वह शासन कर रहे हैं, जिस आबादी पर वह हुकूमत करेंगे, उस आबादी को, उसके चाल-चलन को, उसकी संस्कृति को, जाने समझें, वगैरह। तो इन सब उद्देश्यों को हासिल करने के लिए बाज़ाब्ता कई जगहों पर संस्थाएँ बनाई गईं। कई जगहों पर उनके शोधकर्ताओं विचारकों ने आकार काम किया। पहले भी हम मैक्समूलर जैसे इंडोलोजिस्ट और ओरिएंटलिस्टों के काम देखते आए हैं। वह एक दौर था जिसमें, बजरिए उपनिवेशवाद हमें खुद अपनी संस्कृति का नए सिरे से ज्ञान होने लगा।

आज अपने अतीत के बारे में बहुत से लोगों का जो मानना है कि दरअसल गए जमाने में हमने कई क्षेत्रों में एक विकसित सभ्यता और ज्ञान की ऊँचाइयाँ हासिल की थीं, वह एकदम हवाई नहीं है बल्कि वह औपनिवेशिक इतिहासकारों के लंबे शोधों का भी नतीजा है। खुद अपने इतिहास से हम एक लंबे समय तक बिल्कुल बेखबर रहे हैं लेकिन फिर उसके बाद उन्नीसवीं और बीसवीं सदी उस दौर में जब नए नए शोध हमारे सामने आने लगता है तो वह उपनिवेशवाद के, इंडोलोजी के और ओरिएंटलिज्म के अध्येताओं की स्कॉलरशि से छन कर आता है। उसी

के आईने में हमलोग अपना अक्स देखते हैं। इसलिए उस वक्त जो कुछ भी हम देखते हैं, जिसे 'नव हिंदूवाद' या नवाचारी हिंदूवाद कह सकते हैं, वह रिफॉर्मिस्ट हिंदूवाद है जो इस नए ज्ञान और उसकी मान्यताओं के आधार पर खड़ा होता है, जिसमें आप ब्रह्म समाज, आर्यसमाज से लेकर प्रार्थना समाज आदि को शामिल कर सकते हैं। इन्होंने हिंदू समाज में तब्दीली लाने की कोशिश की और उनकी कोशिश यह थी कि दरअसल समय के साथ हमारे समाज में भी कई किस्म जड़ताएँ आ गई हैं जिनसे हमें निजात पान जरूरी है। उनकी कोशिशें कैसी थीं, सही थीं या गलत थीं, यह एक अलग सवाल है। इसी तरह उन्नीसवीं सदी के आखिर से जिन लोगों ने खुद को सनातनी कहना शुरू किया वे दरअसल इन्हीं नवाचारी या रिफॉर्मिस्ट हिंदुओं के बरक्स ही अपने आप को परिभाषित करने की कोशिश कर रहे थे। इस परिप्रेक्ष्य से सनातनी कोई पुराना शब्द नहीं है। यूँ तो 'हिंदुइज़्म' नाम की भी जो चीज है वो भी एक खास शक्ल लेती है उन्नीसवीं सदी के उसी दौर में—औपनिवेशिक ज्ञान से अलहदा कर के उसे समझना मुश्किल है। लिहाज़ा जो लोग आज अपने आप को उसका उत्तराधिकारी मानते हैं और जो लोग यह दावा करते हैं कि उस आधार पर वो लोग वि-उपनिवेशिकरण कर रहे हैं वो दरअसल कम औपनिवेशीकृत दिमाग नहीं है। हमारी संस्था के हमारे बुजुर्ग साथी आशीष नंदी लंबे समय से कहते आए हैं कि दरअसल 'हिंदुइज़्म' को जिस शक्ल में हम जानते हैं वो एक आधुनिक प्रोजेक्ट है जिसकी कोशिश पुराने हिंदू धर्म की जो विविधता है, उसके अंदर की तमाम तरह की जो प्रवृत्तियाँ हैं, उनमें बहुत सी ऐसी न तो आधुनिक हिंदुओं के गले उतरती हैं और न ही उनको हज़म होती है जो ब्राहमणवादी या शास्त्रीय किस्म के हिंदुइज़्म के पैरोकार हैं। यह तो राजनीति के संदर्भ में उभरी उनकी दृष्टि है।

अगर हम ज्ञान और विचार के क्षेत्र में देखें तो आप भी यह देख पाएँगे कि उन्नीसवीं सदी की उन तमाम कोशिशों में लगातार एक दिक्कत बनी रही—और यहाँ मैं गंभीर स्कॉलरशि की बात कर रहा हूँ—कि हमारे लिए हर चीज में यह साबित करना जरूरी हो गया था कि जो आपके पास है यानी उपनिवेशवाद के पास है वो हमारे पास भी है और नहीं है तो वो हमारे पास किसी सुदूर अतीत में था। अगर आपके पास मैकियावेली है तो हमारे पास भी कौटिल्य था। अगर आपके पास 'स्टेट ऑफ नेचर' की अवधारणा है तो हमरे पास भी 'मत्स्यन्याय' की अवधारणा थी, आपके पास फलाँ है तो हमारे पास भी ढिमका है या था। यह जो क्षेत्र में, हर सूरत में, किसी न किसी ढंग से अपने आप को उपनिवेशवाद द्वारा स्थापित पैमाने पर खरा उतरना की हमारी मंशा है और खरा उतरने के लिए अपने आप को साबित करने की लगातार जरूरत है। यह हमारी अपनी अस्मिता को दरअसल उनके अक्स में ढालने की कोशिश मात्र है। यह कोशिश उस दौर में इस कदर हावी हुई कि हम हाल में तो उनकी बराबरी न कर पाए इसलिए लगातार पीछे की तरफ जाते चले गए और साथ ही साथ पुराने जमाने के खुलेपन की जगह अपने ही भीतर सिमटते चले गए। यह एक अंधी गली की तरह है जिसमें जो जाता है वह लौट कर नहीं आता। जिन लोगों ने जाने की कोशिश की वे लोग वेदों तक गए लेकिन अंततः वो उपनिवेशवाद द्वारा खड़े किए गए फ्रेम से बाहर नहीं निकल पाए। इसलिए, इन तमाम वजहों से मैं अपनी बात को इस सोच से बिल्कुल अलग करना चाहता हूँ।

दूसरा मसला जो मेरे ख्याल से समझना ज्यादा जरूरी है वह यह कि विचारों की दुनिया में कहीं भी कभी भी राष्ट्र की सीमाएँ, राष्ट्र की सरहदें खींची नहीं जा सकती हैं। यह दावा करना कि कोई विचार खालिस भारतीय विचार है या खालिस पाकिस्तानी विचार है या खालिस चीनी विचार है, क़त्तई खामखयाली है। ऐसा दरअसल होता नहीं है। एक मिसाल लीजिए।

मान लीजिए कि पाँचवी-छठी सदी में हमारे यहाँ जो गणित वगैरह को लेकर बहुत काम हो रहा था। ब्रह्मगुप्त का काम है जिसमें शून्य के आविष्कार से लेकर दशमलव पद्धति वगैरह तमाम तरह की चीजें शामिल थीं। इसे मैं सिर्फ एक मिसाल के तौर पर सामने रखना चाहता हूँ क्योंकि यह दिखाती है कि किस तरह से उस ज़माने में भी दुनिया के दूसरे हिस्सों से संपर्क बने हुए थे। आठवीं-नवीं सदी की बात है जब बगदाद में बैत-अल-हिकमा (अंग्रेजी में 'हाउस ऑफ विज़डम') खलीफ़ा अल-मामून की सरपरस्ती में स्थापित किया गया। यह दुनिया की ऐसी नायाब संस्था थी जहाँ दुनिया भर के शोध उपलब्ध हुआ करते थे, दस्तावेज़ इकट्ठे किए जाते थे। दुनिया भर के आलिम वहाँ जाते थे और उनके बीच चर्चाएँ होती थी। उनके दस्तावेज़ों और रचनाओं के तर्जुमा होते थे। अल-ख़्वारिज़्मी नाम के एक शख़्स, जो खुद गणित के बहुत बड़े विद्वान थे, हिंदुस्तान आए। उस वक्त तो खैर हिंदुस्तान नहीं था, बहरहाल!

तो अल-ख्वारिज़्मी हिंदुस्तान आए और वे ब्रह्मगुप्त का सिद्धांत यहाँ से लेकर गए। उन्होंने वहाँ जाकर उसका तर्जुमा किया और उसमें अपनी तरफ़ से इजाफा भी किया और इन सबके बाद उसे छापा। उसी का आगे चलकर लातिन में तर्जुमा हुआ। 12वीं शताब्दी में जब बगदाद मँगोल आक्रमण में बर्बाद हो जाता है तो बैत-अल-हिकमा का खजाना भी साथ ही नष्ट हो जाता है मगर उसकी लातिन स्क्रिप्ट बची रह जाती है। दिलचस्प बात यह है कि अल-ख़्वारिज़्मी जो कृति यहाँ से लेकर गए थे उस पर उन्होंने और काम किया और उसके आधार पर एक किताब लिखी जिसका लातिन तर्जुमा 'दे न्यूमरो इंडोरम' नाम से जाना जाता है। उसके बाद उनके माध्यम से यह गणित बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में यूरोप में प्रचलित हुई। अल-ख़्वारिज़्मी के नाम का लातिन तर्जुमा 'अलगोरिथमी' के रूप में हुआ। आज हम जिस अलगोरिथ्म को जानते हैं वह उसी अलगोरीथमी की ईज़ाद है। तो वह चाहे मैथेमेटिक्स की दुनिया है चाहे चिकित्सा विज्ञान की दुनिया हो, सब जगह ऐसी मिसालें मिलती हैं। उस जमाने में सुश्रुत और चरक संहिता और तमाम तरह का मेडिकल ज्ञान के भंडार हैं। यह सब कुछ ग़लत नहीं है लेकिन कभी कभी यह बहुत भौंडे रूप में सुनने में आता है जैसा कि हम इस दावे में देखते हैं कि इंसान की देह पर हाथी के सिर को पलास्टिक सर्जरी करके गणेश को जन्म दिया गया था। अगर इस भौंडेपैन को छोड़ दें तो इसके पीछे बुनियादी बात यह है कि उस जमाने में बहुत सारे क्षेत्रों में, ज्ञान के अलग अलग हलकों में बहुत सारी चीजें हो रही थी। कहीं पर भी कोई भी पाबंदी नहीं थी। वो यहाँ से लेकर फारस और उसके बाद अरब तक विचारों की आमदोरफ़्त बनी रहती थी। एक तरफ यह सब हो रहा था तो दूसरी तरफ बौद्ध मत का जन्म हो रहा था। बौद्ध मत हिंदुस्तान से बढ़ कर कभी चीन और तिब्बत में फैला, तो कभी म्यांमार, श्रीलंका और दक्षिण-पूर्व एशिया में उसका प्रचार-प्रसार होने लगा। मतलब यह कि कहीं भी विचारों का प्रचार-प्रसार और विस्तार खानों में बंद नहीं थे और न रखे जा सकते थे। उन्हें किसी सरहद में बांधकर कभी नहीं रखा गया। आप सभी इन तथ्यों से परिचित हैं, मैं सिर्फ इन्हें अपनी बात को रेखांकित करने के लिए दोहरा रहा हूँ।

यही बात वेदों के बारे में भी कही जा सकती है। सिंधु घाटी सभ्यता के बारे में अक्सर बेसिरपैर के दावे किए जाते हैं मगर उसके बारे में अभी हमारी पर्याप्त जानकारी नहीं है। वैदिक सभ्यता से उसका कोई रिश्ता था इसके कोई प्रमाण नहीं हैं। मगर अगर हम वैदिक सभ्यता के ज्योग्राफिए को देखें तो वह हिंदुस्तान नहीं है। बहुत संभव है वेदों की रचना हिंदुस्तान में ही हुई मगर उस कई जो वाचिक परंपरा है वह बहुत पुरानी और विस्तृत है। मसलन, आज के सीरिया में ऐसा शिलालेख मिला है जिस में मित्र, वरुण और इंद्र जैसे वैदिक देवों का उल्लेख

है और उससे यह लगता है कि यह सभ्यता भारत आने से पहले वर्तमान तुर्की से लेकर सीरिया और इराक़ तक फैली थी। ईरान के जेंद-अवेस्ता ग्रंथों के देवों और वेदों के देवों में भी कई समानताएँ पाई गई हैं।

तो दुनिया में विचारों का, भाषाओं का, संस्कृतियों का आदान-प्रदान इतना रहा है कि कोई अगर आज की तारीख में यह समझता है कि हम कहीं से निकाल कर वो खालिस भारतीय विचार ले आएँगे जिसके बूते पर हम दावा कर पाएँगे कि हमने अपना वि-उपनिवेशिकरण कर दिया है, तो ऐसा नामुमकिन है।

इसलिए जिस पक्ष पर मैं थोड़ा बात करना चाहता हूँ वह यह कि जब हम वि-उपनिवेशीकरण की बात करते हैं तो उसके दूसरे मायने भी हैं। यह सवाल इस मुकाम पर पूछा ही जा सकता है कि अगर ये वि-उपनिवेशीकरण नहीं है तो क्या है? अगर यह मान लिया जाए कि शायद सारे विचारों के बीच में दुनिया भर में अंतर्क्रियाएँ चलती रहती हैं तो क्या वैचारिक उपनिवेशवाद नाम की कोई चीज हो सकती है? और अगर हो सकती है तो कैसे? हम जिस उपनिवेशीकरण की बात करेंगे या वैचारिक स्वराज की बात करेंगे उसके मायने क्या हो सकते हैं? के॰ सी॰ भट्टाचार्य ने जब 1928 में अपना भाषण दिया तो उसमें उन्होंने अपनी एक दिक्कत को रेखांकित किया था। वे दार्शनिक थे और उन्होंने कहा था कि यदि मुझे अपना यह भाषण अपनी मातृभाषा बांग्ला में देना होता तो मैं नहीं दे पाता। इसे मैं सिर्फ अंग्रेजी में दे पा रहा हूँ यह मेरी आज की स्थिति है। वास्तव में यह स्थिति यह बतलाती है कि हम एक तरह से अपनी ज़बान खो चुके हैं। उन्होंने अपनी बात को ज्यादा स्पष्ट करते हुए कहा कि इस बात के दो पहलू हैं। एक पहलू यह है कि आधुनिक विचार जिस रूप में जिस शक्ल में हमारे सामने आते हैं उनके साथ लगातार जूझना और उनके ऊपर अपने परिप्रेक्ष्य से, अपने नज़रिये से, अपनी जरूरतों के हिसाब से, अपने बूते पर, अपने पैरों पर खड़े होकर टिप्पणी कर पाना, उनकी परख कर पाना और उनकी आलोचना कर पाना एक पक्ष है। लेकिन एक दूसरी स्थिति वो होती है जहाँ आप एक दूसरी संस्कृति को बिना जाँचे परखे अपना लेते हैं यह यूँ कहिए कि उसकी गिरफ़्त में सिमट कर रह जाते हैं। वहाँ स्थिति यह नहीं है कि आप विदेशों से आए या पश्चिम से आए विचार कबूल कर रहे हैं या नहीं कबूल कर रहे हैं। के॰ सी॰ भट्टाचार्य का कहना है कि सवाल यह है कि क्या आप उसको जाँच परख कर कबूल कर रहे हैं, आप उसके बारे में अपनी कोई नुक्ताचीनी रखते हैं, आप अपने मुकाम से खड़े होकर उसके बारे में सोचने समझने की कूवत रखते हैं, अपनी संस्कृति और विचार परंपराओं को लेकर उसके साथ जद्दोजहद कर सकते हैं? या जो सिर्फ आपको पढ़ाया जाता है या जो सिखाया जाता है आप उसे जस का तस हजम कर जाते हैं? इन दोनों के बीच में फर्क करते हुए ही के॰सी॰ भट्टाचार्य अपने वैचारिक स्वराज का प्रोग्राम सामने रखते हैं। मैं यहाँ पर थोड़ा दो कदम आगे निकलूँगा क्योंकि वो 1928 का ज़माना था और अब हम इक्कीसवीं सदी में हैं। आज सवाल हमारे सामने किस तरह से हाज़िर होते हैं और वो दिक्कत क्यों आती है इसके बारे में थोड़ा बात करना इसलिए जरूरी है कि हमें सोचना होगा हम अपनी परंपरा का क्या करें? अपनी परंपरा के साथ हमारा रिश्ता क्या बने? जो सवाल के॰ सी॰ भट्टाचार्य अपने भाषण के संदर्भ में उठाते हैं, बांग्ला भाषा के और फ़लसफ़ाई तक़रीर करने की अपनी अक्षमता के बारे में; अपनी ज़बान की अक्षमता के बारे में इक़बाल करते हैं; तो उस नज़र से अगर हम देखें तो दिक़्क़त किस जगह नज़र आती है, परेशानी क्या है?

मैं हमेशा अपने छात्रों के सामने कहा करता हूँ कि अगर हमें हिंदुस्तान में किसी भी

सवाल पर चर्चा करनी है, हमारे आज के समाजविज्ञान के क्षेत्र में जो तामझाम है उससे जब हम लोग स्कूल और कॉलेज की शिक्षा पार करके निकलते हैं तो हम लोगों के पास जो ज्ञान बचता है उसका कुल नतीजा यह होता है कि अगर हम किसी भी चीज के बारे में बात करना शुरू करें तो हर बात के अंतिम विश्लेषण का एक ही नतीज़ा होता है कि हम अभी 'वहाँ' पहुँचे नहीं हैं। 'वहाँ' यानि उस गंतव्य पर जो हमारे लिए यूरोप ने तय कर दिया है; वह गंतव्य जो सारी दुनिया के लिए यूरोप द्वारा अनिवार्य बना दिया गया है। बेशक़ उन समाजों की अपनी मंजिल तय करने में क़त्तई कोई भूमिका नहीं है। इस नजरिए से देखें तो न हम पूरी तरह से आधुनिक हो पाए हैं, न हम पूरी तरह से सेक्युलर हो पाए हैं, न ही हमारा पूँजीवाद विकसित हो पाया है; तमाम तरह की जो खामियाँ हैं उसकी एक पूरी फेहरिस्त तैयार हो जाती है। यह स्थिति सिर्फ भारत की नहीं है यह दुनिया के पाँच हिस्सों में से चार के बारे में सही है। समाज विज्ञान के पास इन समाजों के बारे में कहने के लिए कुछ नहीं है सिवाय इसके कि ये अभी तक पश्चिम नहीं बन पाए। इन समाजों को आप जब तक आज का पश्चिम नहीं बना देंगे तब तक समाजविज्ञान इनके बारे में कुछ नहीं कहेगा। ऐसा इसलिए क्योंकि समाजविज्ञान की सारी पोथियाँ, सारे पद, सारी धारणा, सारा फ्रेमवर्क एक खास मुकाम पर सत्रहवीं से उन्नीसवीं सदी के यूरोप से निकली हैं। इसलिए जो कुछ भी हमलोगों के पास है वो उस तजुर्बे के आधार से आता है और उस तजुर्बे को ही दुनिया की नियति बना दिया गया। यहाँ पर थोड़ी हाथ की सफाई देखने को मिलती है कि जो दुनिया के छोटे से हिस्से का तजुर्बा था उसे हमने सारी दुनिया की नियति बना कर पेश कर दिया और चूँकि हम इस रास्ते पर चले हैं इसलिए सारी दुनिया को इस रास्ते पर चलना है। यह सब तय कर दिया गया है। मैं आऊँगा थोड़ी देर में इस पक्ष पर कि आजकल जो किसानों का मामला, उनका जो आंदोलन चल रहा है वह भी इससे गहरे रूप से जुड़ा है।

दिक्कत यह है कि हम अपने ज्ञान के सारे कारोबार को दो हिस्सों में बाँट देते हैं। एक तरफ हम अपनी प्राचीन सभ्यता का महिमामंडन करते हैं, उसका गुणगान करते हैं, उसकी आरती उतारते हैं लेकिन जब हम वर्तमान पर बात करना शुरू करते हैं तो हमारे पास समाज विज्ञान से मिले हुए पदों के अलावा और कुछ नहीं होता और इसलिए हम सिर्फ वही बात करते हैं जो हम लोगों को समाजविज्ञान सिखलाता है जो हमें, जिसे मैं ज्ञान की औपनिवेशिक पद्धति कहना चाहता हूँ (कोलोनियल मोड ऑफ प्रॉडक्शन) से मिलता है। कोलोनियल मोड ऑफ प्रॉडक्शन क्या है? वह उत्पादन का एक औपनिवेशिक ढाँचा था। इंग्लैंड में हुई औद्योगिक क्रांति और उसके बाद उपनिवेशों से एक खास रिश्ता बना। यहाँ से कच्चा माल लेकर जाता था और उन्हें उधर के कारखानों में माल तैयार करने में लगा दिया जाता था। उसके बाद तैयार माल मुलम्मा चढ़ा कर वापस उन्हीं उपनिवेशों में बेचा जाता था—और ऐसा करते हुए स्थानीय उत्पादन के उद्योग-धंधे बर्बाद कर दिए जाते थे। आहिस्ता-आहिस्ता उन कारखानों की सब्सिडीयरी शाखाएँ यहीं पर वही काम करने लगीं। सारा उत्पादन उन्हीं कारखानों, उन्हीं की मशीनों के जरिए होता था। अब इसे ज्ञान के संदर्भ में देखें तो उनकी मशीनरी, उनके कान्सेप्ट, उनके फ्रेमवर्क, उनकी थ्योरी सारी चीजें हैं और वो तैयार ज्ञान आप ही के सामने समाज विज्ञान के रूप में परोसा जाता है। आपके पास आपके यहाँ से ले जाया गया कच्चा माल मुलम्मा चढ़ा कर आता था। यही बात ज्ञान के क्षेत्र में भी देख सकते हैं। हिंदुस्तान क्या है? अफ्रीका क्या है? लातिन अमेरिका क्या है? ये 'फील्ड' है जहाँ से कच्चा माल इकट्ठा किया जाता है लेकिन इकट्ठे किए गए कच्चे माल की प्रोसेसिंग कैसे होती है? तो मेटेरियल की प्रोसेसिंग

ऐसे होती है कि वो उन सामग्री को अपने यहाँ के कारखानों में या उन कारखानों के यहाँ की सब्सिडीयरी में डाल कर जो भी माल निकलता है उसे आपको बेच दिया जाता है। ज़ाहिर है यह एक ऐसी स्थिति को जन्म देता है जहाँ पर स्वतंत्र रूप से सोचने की कोई गुंजाइश बचती नहीं है। हमारा अपना भी कोई अपना रास्ता है क्या? क्यों यह तय हो गया और कब तय हो गया कि हमें उसी रास्ते पर चलना है जिसे दो-तीन सौ साल पहले यूरोप ने तय किया था? वैसे तो यह भी एक प्रकार का अतिसरलीकरण ही है। जो इतिहास हमारे सामने रखा जाता है 'स्टैण्डर्ड वेस्टर्न एक्सपिरियन्स' के नाम पर उसे अगर अर्थनीति के लिहाज से देखें तो वह इंग्लैंड का ही तजुर्बा है। इंग्लैंड का 'इंक्लोजर ऑफ द कॉमन्ज़' (सामूहिक संपत्ति की घेरेबंदी), जमीन से बेदखल लाखों लाख लोग और उस बेदखली के बाद उनको जुर्म और अपराध में धकेल दिया जाना और फिर वहाँ से उन्हें ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में बसा दिया जाना—यह सब जगह तो नहीं हुआ लेकिन उसे मार्क्स ने भी पूंजीवाद का क्लासिकी रूप करार दिया और 'आदिम संचय' कहकर एक साइंटिफ़िक सा नाम दे दिया। इस पद को सुनकर लगता है कि यह एक स्वतः चलने वाली ऐतिहासिक प्रक्रिया है, इसी प्रक्रिया से इतिहास का विकास होता है। परंतु दरअसल खुद यूरोप का इतिहास भी ऐसा नहीं है। ग्राम्शी इटली में 'सदर्न क्वेस्चन' या दक्षिण के प्रश्न पर जब लिखते हैं तो इटली का जो दक्षिणी इलाका था वो मूलतः कृषि का इलाका था उससे रूबरू होते हैं। उनकी समस्या यह थी क्यों औद्योगिक विकास इटली उत्तरी हिस्से में हुआ और दूसरे में नहीं हुआ। ये असामान्यता क्या है? और जब वह इसकी तहक़ीक़ात करना शुरू करते हैं तो वे कुछ चौंका देने वाले नतीजों पर पहुँचते हैं। इसलिए वे 'पैसिव रेवोल्यूशन' पद इस्तेमाल करते हैं, जिसका कई बार ज़िक्र आता है और जिसकी वे अपने प्रिज़न नोट्बुक्स में विस्तृत चर्चा करते हैं। जब आप ग्राम्शी की उस पूरी चर्चा को पढ़ेंगे तो आप पाएँगे कि दरअसल वो कह रहे हैं कि पूरे यूरोप का इतिहास पैसिव रेवोल्यूशन का इतिहास है और कहीं भी शायद बुर्जुवा क्रांति नाम की कोई चीज इंग्लैंड के अलावा नहीं हुई है। इंग्लैंड में भी हुई या नहीं पता नहीं है। फ्रांस में जिसे बुर्जुवा क्रांति कहा जाता है वो भी कितनी बुर्जुवा है या नहीं है इसपर भी इतिहासकार कई किस्म के सवाल उठा चुके हैं। लेकिन हमें उसे जिस रूप में पढ़ाया गया हमने उसे उसी रूप में आत्मसात् कर लिया। वह अब हमारी सोच का तरीका बन गया है।

तरीका किस तरह से बनता है इसकी भी दो मिसालें मैं जरूर देना चाहूँगा। एक मिसाल है जिसका हिंदी में पूरा दर्द निकल कर आएगा। वह यह है कि जब हमने शुरू-शुरू में समाजविज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र वगैरह-वगैरह की किताबों और ज्ञान का तर्जुमा करना शुरू किया, तो शब्दों और उनके तर्जुमों को लेकर बहुत सारे सवाल उठते थे। ऐसा ही एक शब्द है सामंतवाद। 'सामंत' हमारे यहाँ बहुत देशज शब्द है, संस्कृत में भी है। सामंत दरअसल हमारे यहाँ जो मंडल की तरह का ढाँचा हुआ करता था जिसमें एक बड़ा राजा हुआ करता था और उसके इर्द-गिर्द कई छोटे राजा हुआ करते थे, उससे जुड़ा है। आप अगर कौटिल्य के अर्थशास्त्र को पढ़ेंगे तो उसमें जो सप्तांग हैं उनमें एक मैत्री है तो वह मैत्री बाहर के लिए नहीं है वह राज्य का अंग है। वह राज्य का अंग इसलिए है क्योंकि उसे मिलाकर ही मंडल की एक इंटीगिटी बनती थी। मंडल में कई छोटे छोटे जमींदारियाँ या रियासतें होती थी जो बड़े वाले को टैक्स देते थे। तो यह शब्द जो था वह देशज व्यवस्था का शब्द था। हमारे यहाँ के इतिहास में इसका एक खास मायने था लेकिन जब हमें अँग्रेजी के शब्द 'फ्यूडलिज़्म' का तर्जुमा करने की जरूरत पड़ी तो हमने सामंतवाद शब्द को चुन लिया। सामंतवाद शब्द जब से हमने चुना तब से हमारी

ऐतिहासिक याददाश्त में उसका वह अर्थ लुप्त हो गया। उसके बाद सामंतवाद शब्द आते ही हमें यूरोप का और इंग्लैंड का 'फ्यूडलिज़्म' याद आता था। बाद में हरबंस मुखिया साहब ने एक बहस छेड़ी 'वॉज़ देयर फ्यूडलिज़्म इन इंडिया?'—केवल उन्होंने ही नहीं कई और इतिहासकारों ने भी इस ओर ध्यान दिलाया था लेकिन मुख्य सवाल उन्होंने ही उठाया था—हिंदुस्तान में फ्यूडलिज़्म था क्या? मार्क्स भी जब एसियाटिक मोड ऑफ प्रॉडक्शन की बात करते हैं तो कुछ इसी तरफ़ इशारा करते हैं। तो जब इन सारी चीजों के लेकर सवाल उठता है और फिर जब हम सारी चीजों को हिंदी में तर्जुमा करते हैं तो क्या पाते हैं? अब हमारा सवाल कुछ इस तरह सामने आता है : क्या हिंदुस्तान में सामंतवाद था? मगर अब जब आप सामंतवाद की बात कर रहे हैं तो अब आप उस सामंतवाद की बात नहीं कर रहे हैं जहाँ से यह शब्द आ रहा है। अब जब आप सामंतवाद की बात करते हैं तो आपके दिमाग में इंग्लैंड की ग्यारहवीं-बारहवीं-तेरहवीं सदी का सामाजिक ढाँचा है। वो हिंदुस्तान के अतीत का ढाँचा नहीं है। इसी तरह से इरफ़ान हबीब ने मुगल इंडिया पर काम करते हुए अपनी बहुत महत्वपूर्ण रचनाओं के अलावा कुछेक लेख लिखें, जिनमें भी अगर आप देखिएगा तो वे सवाल क्या पूछते हैं? आप आखिर में सारे सवालों के बीच में यह खोजिएगा कि मुगल इंडिया में कैपिटल एक्यूमिलेशन था क्या? 'पोटेंशियलिटीज़ ऑफ कैपिटलिस्ट डेव्लपमेंट इन इंडिया'—यानी उपनिवेशवाद आने से पहले भारत में पूँजीवादी विकास की क्या संभावनाएँ थीं? तो एक मायने में हम लोग अपने इतिहास पर शोध करते हुए भी, उसपर सोच विचार करते हुए भी, उस मैटेरियल से जूझते हुए भी जो सवाल उस मैटेरियल के सामने रखते थे वह सवाल अपनी जमीन से उठने वाले सवाल नहीं होते हैं। वो सवाल कहीं और से आ रहे थे, इसलिए उनके जबाब मिलने मुश्किल थे।

सबसे दिक्कत वाला पद अगर आप देखेंगे तो वह पद सेक्युलरिज़्म है। सेक्युलरिज़्म पर अगर हम बात करते हैं तो हमें यह याद रखना चाहिए कि यह पद एक खास इतिहास से निकला है और वो है मध्यकालीन यूरोप—जिसे लातिन क्रिश्चियडम कहा जाता है—वह इतिहास जिसे अंधकार मध्ययुग या 'डार्क मिडिल एजेज़' कहा जाता है। उस ज़माने में चर्च और राज्यसता यूरोप में इस क़दर गूँथे हुए थे जिसमें हल्के संबंध की कोई गुंजाइश ही नहीं थी। ऊपर से लेकर नीचे तक फ्यूजन था। यूरोप में जिसे डार्क मिडिल एजेज़ कहा जाता है वो अंधकार इसीलिए थे : चर्च का दबदबा, राज्यसत्ता के साथ उसका फ्यूजन होने की वजह से। यह एक तरह का सर्वसत्तावाद था जिसका असर आपको इंक्यूजिशन में देखने को मिलेगा, क्रूसेड्स (धर्मयुद्धों) में देखने को मिलेगा। ऐसा दुनिया में कहीं और नहीं था। इसलिए जब प्रबोधन की रोशनी यूरोप में पड़ी तो ज़लज़ला आ गया। शुरुआत रेनेसाँ से हुई लेकिन अट्ठाहरवीं सदी से पहले की दुनिया के बारे में माने जाने लगा कि यह दुनिया अंधकार में जीती थी। यह जो स्थापना यूरोप के बारे में प्रबोधन के कारण हुई यही प्राकांतर से सारी दुनिया पर थोपी जाने लगी। तो एक मायने में हमलोग खुद यह समझने लगे कि हम लोग भी अंधकार में जी रहे थे। इससे पहले तो हमारे पास कुछ भी नहीं था। हम इस इंतज़ार में थे कब यूरोप में प्रबोधन आए तो हमें कुछ रोशनी मिले। लेकिन मैं आपसे पहले ही ज़िक्र कर चुका हूँ और जिसे मैंने थोड़ा-सा ब्रह्मगुप्त और अल-ख़्वारिज़्मी के हवाले से स्पष्ट करने का भी प्रयास किया, लेकिन अगर आप सियासत के ताने-बाने को देखेंगे तो दुनिया में कहीं भी आपको वह फ्यूजन देखने को नहीं मिलेगा जिससे सेक्युलरिज़्म निकला। सेक्युलरिज़्म में जो सेपरेशन की धारणा है, अलगाव है—राज्य और रिलीजियस पावर के बीच—वह उस खास पृष्ठभूमि से ही आती है। अगर वही नहीं है तो उसके सेपरेशन या अलगाव के क्या मायने? हम लोग यहाँ पर कहते

हैं कि राजनीति और धर्म में अलहदगी करनी चाहिए। किस तरह का सेपरेशन करना चाहिए उसपर हमलोग ज़्यादा माथापच्ची करने को तैयार नहीं हैं। लेकिन अगर आप दुनिया के हिसाब देखें तो मान लीजिए इस्लाम है, इस्लाम में ईसाइयत की तरह कोई चर्च की सत्ता थी ही नहीं। वहाँ उस तरह की चीज शुरुआत से ही देखने को नहीं मिलती। बहुत शुरू से ही चार खलीफ़ाओं के बाद तकरीबन-तकरीबन खिलाफ़त और सल्तनत के बीच में दो फाड़ हो गया और खिलाफ़त तकरीबन तकरीबन न के बराबर रही। ज़्यादातर जगह सल्तनत जिसे अरबी में दौला या दऊलत भी कहा जाता है, बनी। इसमें इहलौकिक पावर की संरचना थी। खुद अगर आप हिंदुस्तान में सल्तनत के ज़माने से देखें; सल्तनत का दौर है, मुगल साम्राज्य का दौर है तो यहाँ शरियत के आधार पर चल रहा समाज थोड़े ही था। ज़ियाउद्दीन बर्नी कोशिश करते रहे लेकिन फिरोज़ शाह तुगलक उसको नकारते रहे। उसके बाद भी और मिसालें मिलती हैं।

आप अट्ठाहरवीं सदी के प्रबोधन की बात करें तो हमारे यहाँ 1560-70 में ही अकबर के ज़माने में मुगल दरबार में ब्राह्मणों और जैनों की उपस्थिति में संस्कृत टेक्स्टस का तर्जुमा होना शुरू हुआ। तो अकबर के दरबार के साथ जो उस समय के संस्कृत के बुद्धिजीवी थे, ब्राहमण थे, जैन थे और और लोग थे; उन सब लोगों का वहाँ आना जाना और वहाँ पर तमाम तरह के संस्कृत ग्रंथों का, जिसमें पंचतंत्र आदि शामिल है, तर्जुमा होना शुरू हो गया था। सोलह सौ तीस-चालीस में दाराशिकोह उपनिषदों का फ़ारसी अनुवाद करवाते हैं—उपनिखत नाम से। वही अनुवाद जाकर फ्रांस पहुँचता है और उसके अनुवाद के माध्यम से फ्रांसीसियों को भारत के उपनिषदों के बारे में पता चलता है और बहुत उत्साहित होकर वहाँ के इंडोलोजिस्ट उपनिषदों के बारे में जानकारी लेने के लिए तत्पर होते हैं। खुद दारा शिकोह का 'मज्म-उल-बहरैन' जो है वह इस्लाम और अद्वैत वेदांत या वेदांत के बीच में सामंजस्य ढूँढने की कोशिश है। यही मज्म-उल-बहरैन बाद में समुद्रसंगम के नाम से संस्कृत में तर्जुमा होता है। तो हमारे यहाँ वह इंक्यूजेशन नहीं था जो 'डार्क मिडिल एजेज़' की खासियत थी। उस लिहाज़ से देखें तो अट्ठाहरवीं सदी से पहले 'डार्क मिडिल एजेज़' में सारी दुनिया अंधकार में डूबी होनी चाहिए। लेकिन वैसा नहीं है खुद हिंदुस्तान का इतिहास आप देखेंगे तो न जाने क्या क्या हो रहा था। जनार्दन गनेरी नव्यन्याय के ऊपर अपनी किताब लॉस्ट एज ऑफ रीज़न में पंद्रहवीं शताब्दी के उतरार्द्ध और सोलहवीं शताब्दी में, जिस दौर में मुगल दरबार दारा शिकोह की सरपरस्ती में संस्कृत टेक्स्ट का अनुवाद हो रहा था, उसी दौर में हो रहे विचारों के आदान प्रदान के बारे में लिखते हैं। गनेरी का यह कहना है कि जो नव्यन्याय जिसके उस ज़माने में नदिया और मिथिला में केंद्र हुआ करते थे, उन जगहों पर जो नए विचार न्याय फिलोस्फी के अंदर आने शुरू हुए और जिसमें उनको एक आधुनिकता की भनक मिलती है वो सब उपनिवेशवाद आने से बहुत पहले की घटना है। कम से कम ढाई-तीन सौ साल पहले की। ऐसे ही अगर आप चीन को देखें, जापान को देखें तो हर जगह ऐसा ही कुछ न कुछ दिखेगा। चीन की तो खैर उस तरह की धार्मिकता है भी नहीं न कन्फ़्यूसिज़्म में है, न दाओइज़्म में है तो आपको वह फ्यूजन मिलता ही नहीं है जिसके आधार पर सेकुलरिज़्म की अवधारणा वजूद में आई।

मगर उपनिवेशवाद के असर में हमारे यहाँ हमने क्या किया? हमने सेक्युलरिज़्म ढूँढना शुरू किया। जैसे सामंतवाद के साथ हुआ वैसा ही सेक्युलरिज्म के साथ हुआ। बस यहाँ पर हमें कोई देशज पद मिला नहीं; न हिंदी में मिला और न उर्दू-फ़ारसी में मिला, तो हमने पद बनाने शुरू किए। हमने धर्मनिरपेक्षता शब्द बनाया लेकिन धर्मनिरपेक्षता सेक्युलरिज़्म नहीं है, न सर्वधर्म समभाव सेक्युलरिज़्म है। पर हमने यहाँ पर जो पाया जिसकी एक लंबी विरासत

मिलती है उसकी हमने उपेक्षा की। ऐसा नहीं है कि सत्रहवीं-अट्ठारहवीं सदी के यूरोप से पहले हमें जीने के अंदाज नहीं आते थे। तो कुछ लोग सेक्युलरिज़्म ढूँढते-ढूँढते अशोक तक पहुँच गए लेकिन वो क्या सेक्युलरिज़्म है? या उसके लिए हमें हमारी अपनी शब्दावली से कोई और शब्द ढूँढने की जरूरत है? लेकिन जैसे ही हम सेक्युलरिज़्म की बात करेंगे वैसे ही हम फिर यूरोप के उस मध्ययुगीन इतिहास में चले जाएँगे। तो हम अपनी चर्चा, अपने इतिहास की चर्चा कभी नहीं कर पाएँगे क्योंकि पद ही ऐसे हैं जिनका जिक्र होते ही एक खास तसव्वुर, एक खास इतिहास हमारे दिमाग में आ जाता है। इसलिए जब हम अपने संदर्भ में देखने की कोशिश करते हैं, आप भी एक चीज पर कभी गौर करें हमारे यहाँ कभी भी पूरे जंगे आज़ादी के दरम्यान सेक्युलरिज़्म शब्द का इस्तेमाल नहीं होता। सेक्युलरिज़्म शब्द का इस्तेमाल पहली बार तब होता है जब हम कन्स्टिटुअन्ट एसेम्बली की प्रक्रिया शुरू करके कानून बनाने की ओर बढ़ते हैं। उस दौर में दुनिया भर के संविधानों को पढ़-पढ़ा के उन विचारों के साथ रब्तजब्त बनाकर यह सेक्युलरिज़्म पद कांस्टीच्युशनल प्रक्रिया द्वारा सामने आता है। उससे पहले क्या हो रहा था? उससे पहले हमारे चिंतक, मनीषी 'यूनिटी इन डायवर्सिटी' की बात करते थे। 'यूनिटी इन डायवर्सिटी' की दो बहुत अलग जड़ें हैं। एक जड़ है जो अद्वैत वेदांत तक जाती है जिसमें जितनी विविधता हैं वो अंत में एक ब्रह्म ही है, या उसकी लीला है और इसलिए जीवात्मा तो सिर्फ फेनोमिनल दुनिया है। अंतिम सत्य ब्रह्म है। या इब्न-अल-अरबी की वहदत-अल-वजूद की धारणा है। सारी दुनिया की विचित्रताओं और विविधताओं के बावजूद सब आखिर में एक है। तो ये जो दो बिल्कुल अलग जड़ों से विचार आते हैं एक सूफी इस्लाम से, बजरिए इब्न-अल-अरबी और दूसरे जो अद्वैत वेदांत से आता है। यही कोशिश दाराशिकोह के मज्म उल बहरैन में करता है। उसे उपनिषद् से इतना लगाव क्या था, वास्तव में उसे दोनों के बीच में कहीं समानता दिखलाई पड़ी और उसने अपने काम के द्वारा इस्लाम और वेदांत के बीच में एक रिश्ता ढूँढने की कोशिश की। इसको अगर हम सेक्युलरिज़्म की दास्तान में समेटने की कोशिश करें तो यह नहीं सिमटेगा। अब हुआ सिर्फ यह कि हमने सेक्युलरिज़्म का जाप करते-करते उन लोगों के लिए ज़मीन खुली छोड़ दी जिन लोगों के पास हिंदू और हिंदू अस्मिता को भुनाने के अलावा और कोई काम नहीं है। यहाँ मेरे ख्याल से हम लोगों को अपने गिरेबान में झाँक कर देखने की जरूरत है कि हम, जो अपने आप को सेक्युलर, मॉडर्निस्ट, आधुनिक कहते हैं, ने जो ज़मीन छोड़ी उसके असर यह हुए कि जिन पदों का हम इस्तेमाल करते हैं वो पद एक स्तर के बाद बहुत अजनबी से दिखाई देने लगते हैं। बिल्कुल उसी तरह से जिस तरह से डिस्टोर्टिंग मिरर में आपको अपनी तस्वीर दिखाई देती है। अक़्स तो आपका ही है शायद लेकिन वो वैसी नहीं है जैसे आप हैं।

इसलिए अगर हमें ज्ञान के इस औपनिवेशिक व्यवस्था (कोलोनियल मोड ऑफ नॉलेज प्रॉडक्शन) से बाहर निकालना है तो क्या करना चाहिए? मेरी दो तजवीज़ें हैं। पहली बात यह है कि दरअसल हमें अपने पैर पर खड़े होकर सोचना सीखना होगा। यहाँ सवाल यह नहीं है कि विचार कहाँ से आ रहा है। जरूर वह भी एक सवाल है वो मेरा दूसरा पॉइंट है। ऐसा नहीं हो सकता जैसा हम अब तक करते आए है कि सारा विचार सिर्फ समाज विज्ञान द्वारा एक खास तजुर्बे के आधार पर गढ़े ज्ञान के अनुरूप हो और उसी के आधार पर हम अपनी जिंदगी जीते चले जाएँ—हालांकि उसे मैं खारिज नहीं करता हूँ। सबसे पहला सवाल यह है कि हर थियरी, हर सिद्धांत का काम अपने वक्त से जूझना है। आप अतीत का कितना ही महिमामंडन करते रहिए लेकिन अगर आखिरकार आपको भी वही करना है; आपको भी वही

बुलेट ट्रेन चाहिए, इंग्लैंड और यूरोप ने अपने यहाँ कृषि का खात्मा करके, औद्योगिक विकास किया तो हमें भी किसानी खत्म करनी है, हमें भी खेती खत्म करनी है; अगर उन्होंने खास तरह से शहरों को बनाया है तो हमें भी स्मार्ट सिटी चाहिए; अगर उन्होंने कैशलेस इकॉनमी बनाई है तो हमें भी कैशलेस इकॉनमी बनानी है तो आप वैचारिक स्वराज का दावा नहीं कर सकते हैं। अगर इस तरह से हमलोग चलेंगे तो ज़ाहिर है कि ये दिमागी गुलामी का ही एक दूसरा रूप है। आज की सरकार जो कर रही है वो ऐसा ही कुछ है। मुँह से हम कुछ भी बोल दें लेकिन वह करनी गुलामों वाली ही है।

आज जो किसानों के क्षेत्र में दिखाई दे रहा है, किसान आंदोलन के संदर्भ में दिखाई दे रहा है उससे एक ही बात साबित होती है कि कहीं न कहीं हमलोगों ने यह कबूल कर लिया और ये एक तरह से यह पूरे समाज में एक 'कंसेन्सस' रहा है, कुछ लोगों को छोड़कर, कुछ जगहों को छोड़कर। मसलन, अगर आप पूरे बीसवीं सदी के इतिहास में देखते हैं तो गाँधी, टैगोर और थोड़ा बहुत इनके असर में आने वाले बाद के चिंतक कुमारप्पा आदि गिने-चुने लोग के अलावा किसी में हिम्मत नहीं थी यह कहने कि यह रास्ता हमारा नहीं है। गाँधी जब हिंद स्वराज में भविष्य की बात करते हैं और मशीनी सभ्यता की आलोचना पेश करते हैं तो उनकी आलोचना देखने लायक है। वह बहुत दिलचस्प आलोचना है। एक दस्तकार जब एक मशीन का कलपुर्जा बन जाता है तो उसका यह सर्वहारा बनाना उसकी अपनी स्वायत्ता को खत्म कर देता है। इसलिए मशीनी सभ्यता या औद्योगिकीकरण का जो पूरा तसव्वुर है, उस तसव्वुर में दरअसल इंसान की सिर्फ गुलामी है। पहले जो उसको स्वायत्ता हासिल थी, उस स्वायत्तता की जगह वह गुलाम बना चला जाता है। मगर आज़ादी के आते-आते एक तरह से कन्सेन्सस बन गया और गाँधी खुशकिस्मती से या बदकिस्मती से, (उनके लिए अच्छा ही हुआ) सीन से ही हटा दिए गए। तो एक तरह से कंसेन्सस बन गया कि आधुनिक राष्ट्र राज्य बनाना है और आधुनिक राष्ट्र राज्य बनाने के लिए जो जो करना है वह करना होगा। आधुनिक राष्ट्र राज्य बनाने के लिए नए इंजीनियर चाहिए होंगे, नए टेक्नीशियन चाहिए होंगे, उनके लिए जो ज्ञान हमारे पास है और नई संस्थाएँ जो हमलोग गढ़ेंगे, उन संस्थाओं को चलाने के लिए जो नए सिलेबस, टीचर और जो लोग चाहिए वो सब पैदा करने होंगे। मगर वो कैसे पैदा होंगे? वो उसी ढाँचे से पैदा होंगे जो ढाँचा हमें उपनिवेशवाद से विरासत में मिला है। इसलिए जो थोड़ी बहुत आलोचना के सूत्र थे वह भी बाद में लुप्त हो गए।

आज नए सिरे से इस पर सोचने की जरूरत है और जो मौजूदा किसान आंदोलन है वो एक तरह से उन सवालों को उठा रहा है। जो बिल्कुल अलग ढंग से नर्मदा घाटी के विस्थापन विरोधी आंदोलन के समय उपजा था। बड़े डैम की परिकल्पना क्या है? क्यों बड़ा डैम जरूरी है? तो वो जो तसव्वुर है वो पूरा औद्योगिकीकरण के तसव्वुर के साथ जुड़ा हुआ है। इन सारी चीजों के बीच में एक रिश्ता है और वो रिश्ता आखिरकार इस बात से आकर जुड़ता है कि कहीं न कहीं हमलोग आज भी वैचारिक स्वराज नहीं प्राप्त कर पाए हैं। इसमें मैं उन वर्ग हितों को गिनती से बाहर नहीं रख रहा हूँ जिसमें बहुत सारे देशी और विदेशी वर्ग हित भी शामिल हैं। लेकिन सवाल सिर्फ इतना ही नहीं है अगर सिर्फ इतना ही होता तो शायद लड़ाई आसान होती। दिक्कत यह है कि हमारे यहाँ आज जो बुद्धिजीवी तबका है या जो लोग वामपंथ के साथ जुड़े होकर खुद को पूँजीवाद का विरोधी कहते हैं, वे भी यह मानते हैं कि किसानी का खात्मा जरूरी है। कृषि हमारे भविष्य का आधार नहीं हो सकती है। इसलिए उसे खत्म करके औद्योगिकीकरण करना जरूरी है। यह दीगर बात है कि कई वामपंथी आज यह मानेंगे

कि नंदीग्राम में या सिंगुर में जिस तरह से वामपंथियों के एक हिस्से ने किया वो ठीक नहीं था, वो ज्यादती थी। हमें थोड़ा हौले-हौले करना चाहिए था, हमें थोड़ा उन्हें समझा कर करना चाहिए। मगर कोई बदल उनके पास भी नहीं है। एक दूसरा तसव्वुर यह है कि अभी कॉर्पोरेटनाइजेशन और एग्रीबिजनेस को लेकर नए कृषि कानून में दिखलाई देता है। इसकी तफसील में मैं अभी नहीं जाऊँगा लेकिन कुल मिलाकर इतना कहना जरूरी है कि इसमें कोई इतिहास के अमोघ नियम काम नहीं कर रहे हैं। अगर अमोघ नियम काम कर रहे होते तो आज भी इतने साल की कोशिशों के बावजूद, उपनिवेशवाद की कोशिशों के बावजूद, पूंजीवादी राष्ट्र राज्यों की कोशिशों के बावजूद आज भी दुनिया का बड़ा हिस्सा कृषि आधारित जीवन यापन नहीं कर रहा होता। आज भी हिंदुस्तान जैसे मुल्क में साठ से सत्तर फीसदी आबादी कृषि पर निर्भर है। अफ्रीका में देखेंगे तो इसकी तादाद और कहीं ज्यादा है। अगर वैसा कोई अमोघ नियम होता तो अभी तक तो वह हो जाना चाहिए था। वास्तव में ऐसा कोई अमोघ नियम नहीं है यह दरअसल एक खास औपनिवेशीकृत तसव्वुर के चलते दुनिया भर के एलीट वजूद में लाना चाहते हैं। इसीलिए हमारे जो अर्थशास्त्री हैं—चाहे वे वामपंथी हों चाहे अमर्त्य सेन जैसे सोशल चॉइस के पैरोकार हों—इस बात पर कोई वैकल्पिक सोच पैदा नहीं कर पाए हैं। अमर्त्य सेन ने नंदीग्राम और सिंगुर के मामलों पर बहस के दौरान कहा था कि ऐसे ही होता है या दुनिया का तजुर्बा है। उन्होंने तो टेलीग्राफ में एक आलेख भी इसी मंशा के साथ लिखा था। तो इस तरह के सभी लोगों के विचार जब आप इस सवाल पर पढ़ेंगे तो पाएँगे कि सब उसी राह पर जा रहे हैं। उनका दावा था कि औद्योगिकीकरण की बहस तो दो सौ साल पहले तय हो गई है। दो सौ साल पहले जो तय हुआ और आज के क्लाइमेट क्राइसिस के दौर में जो स्थिति है, इन दोनों में उन्हें कोई फ़र्क़ नहीं दिखाई दिया। आज भी हमें उस दो सौ साल पहले के फैसले पर चलना है या नए सिरे से सोचना है? या यह भी कोई जरूरी है कि बंदर पेड़ पर चढ़ते हैं तो हाथियों को भी पेड़ पर चढ़ना होगा? हम लोगों का इतिहास तो वो इतिहास नहीं है जो यूरोप का इतिहास है। तो फिर यह क्यों ज़रूरी है कि हम उस रास्ते पर चलें?

इसलिए आज जो नए सवाल उठ रहे हैं वो सब खास तौर से दुनिया के आदिवासी या इंडीजीनिस आबादी की तरफ से बुनियादी तौर पर उठाए जा रहे हैं। वो सवाल तमाम चीजों पर एक नए सिरे से सोचने का रास्ता खोल रहे हैं। दूसरा सवाल जो इससे जुड़ कर आता है वह यह है कि हमारी जो अपनी वैचारिक परंपराएँ है उनकी क्या भूमिका हो? तो ये बात मेरे ख्याल से साफ ही होनी चाहिए कि हम अगर अपनी प्राचीन विचारों को देखें, प्राचीन दर्शनों को देखें या जो विभिन्न दार्शनिक मत हैं उनको देखें तो उनके पास हमारी आज की आधुनिक दुनिया के सवालों के हल तो नहीं हैं। हो भी नहीं सकते हैं। वो अपने वक्त की पैदाइश हैं उनके तमाम विचार उस समय के हैं। उनको अगर हमें आज के लिए, आज के जमाने में, आज की जमीन पर कारगर बनाना है या उनसे संवाद बनाना है तो वो तभी बन सकता है जब हम उन्हें आज के संदर्भ में समझने की कोशिश करें। एक मिसाल ले सकते हैं आप, आज के किसी भी वेस्टर्न दार्शनिक को देखें तो उनकी हर बात की शुरुआत अफलातून और अरस्तू से होती है। लेकिन वो अफलातून और अरस्तू की दुनिया में जाकर बात नहीं करते हैं वो आज की दुनिया में अफलातून और अरस्तू को लेकर आते हैं। हमारी दिक्कत क्या है कि हम जब भी बात करना चाहते हैं तो हम वेदों में चले जाते हैं या कहीं ऐसे अतीत में जाकर जीना शुरू कर देते हैं जिसका दरअसल हमारे सवालों से कोई ताल्लुक नहीं होता।

ये जो हमारी सोच में दो फाड़ हो गया है जिसमें एक तरह से एक अतीत है और वो अतीत कोई एक विशुद्ध अतीत है जिसके बारे में हम सिर्फ किस्से कह सकते हैं, जिसका हम सिर्फ महिमामंडन कर सकते हैं और आरती उतार सकते हैं और जब हम वर्तमान की बात करते हैं तो हम सिर्फ वही बात कर सकते हैं जो हमें समाज विज्ञान पढ़ाता है। इस स्थिति से जब तक हम नहीं निकल पाएँगे तब तक मुझे लगता है कि कोई वि-उपनिवेशिकरण का काम हो नहीं सकता है। वि-उपनिवेशिकरण के काम के लिए सबसे ज्यादा जरूरी काम यह है कि इस दो फाड़ से उबरा जाए और उबरने के लिए अपनी जो पुरानी वैचारिक परंपराएँ हैं, जो अपने पद हैं, जो अपने सोचने के तरीके हैं—मसलन सामंतवाद की बात करें या अद्वैतवाद की, इनके कई तरीके के इस्तेमाल हो सकते हैं क्योंकि ये हमारी भाषा और शब्दावली का हिस्सा हैं। लेकिन एक इस्तेमाल यह भी है कि हम अपने आज के व्यवहार को समझने की कोशिश करते हुए समाज विज्ञान के पदों को दो मिनट के लिए अलग रख कर तो पाएँगे कि बहुत सारी चीजें जाकर ऐसे जुड़ती हैं और हमारे लिए बहुत सारे नए रास्ते खोलती हैं जहाँ इस खाई को पाटने की गुंजाइश बनती है। यह करना ही शायद असली शर्त है वैचारिक स्वराज की और उसके लिए जाहिर है कि भारतीय भाषाओं का इस्तेमाल जरूरी है। फ्यूडलिज़्म की दिक्कत हमारी समझ में तब तक नहीं आ सकती जब तक हम उसे अंग्रेजी में कहते रहेंगे। अंग्रेजी में फ्यूडलिज़्म, फ्यूडलिज़्म है। जैसे ही हम भारतीय भाषा के संदर्भ में कदम रखते हैं वैसे ही उसकी जो दिक्कतें हैं वो सामने दिखाई देने लगती हैं। भाषा और विचार का एक बहुत गहरा संबंध है। आखिरी बात यही कहना चाहता हूँ कि अगर हमें इस खाई को पाटना है, तो अंततः भारतीय भाषाओं में समाजविज्ञान को नए सिरे से गढ़ने की तरफ बढ़ना होगा।

–लिप्यंतरण : धीरज कुमार मिश्र
(14वाँ सत्यप्रकाश मिश्र स्मृति व्याख्यान, 16 जनवरी, 2021)

संपर्क : विकासशील अध्ययन पीठ (CSDS) 29, राजपुर रोड, सिविल लाइंस, दिल्ली-110054, मो. : 9871406520

औपनिवेशिक सुधारवाद और बांङ्ला का स्त्री-समाज
(संदर्भ : बांङ्ला स्त्री-आत्मकथ्य)

गरिमा श्रीवास्तव

राष्ट्रवाद के उभार ने बंगाल में स्त्रियों को राजनीति में शिरकत करने के लिए उत्प्रेरक का कार्य किया। 1885 में कांग्रेस की स्थापना के समय तक स्त्रियों की शिरकत बहुत कम थी "केवल पंडिता रमाबाई, कादम्बिनी देवी और स्वर्णकुमारी घोषाल को कांग्रेस के अधिवेशन में शामिल होने का अवसर मिला लेकिन उन्हें वोट देने या अपना मंतव्य प्रकट करने का अवसर नहीं दिया गया।"[1] सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने 'कांग्रेस के प्रति महिलाओं के कर्तव्य 'लिखकर कांग्रेस में शिरकत करने के लिए स्त्रियों का आह्वान किया था।"[2]

सन् 1905 में बंग-भंग और स्वदेशी आंदोलन मध्यवर्गीय स्त्रियों को एकजुट कर घर के दायरे से बाहर लाने का कारण बन गया। आगे चलकर गाँधी के साथ काम करने वाली बहुत-सी स्त्रियाँ ऐसी थीं जिनके लिए स्वदेशी आंदोलन ने पाठशाला की भूमिका निभायी थी। ये वे स्त्रियाँ थीं जो अन्तःपुर की दीवारों को लाँघ कर राष्ट्रीय राजनीति और स्वदेशी आंदोलन से जुड़ीं। इसके बाद राष्ट्रव्यापी सविनय अवज्ञा आंदोलन ने अगले दशकों में बहुत सी राजनैतिक कार्यकर्ता तैयार किए। इस तरह राजनीति में स्त्रियों की शिरकत के मसले पर तमाम आपत्तियों और आशंकाओं को ध्वस्त करते हुए स्त्रियों ने बहु-आयामी भूमिकाएँ अर्थात् घर और बाहर दोनों में अपनी सक्रिय उपस्थिति दर्ज करनी शुरू की। बंगाली गृहस्थ भद्रलोक में परिवर्तन तब आया जब भद्र महिलाओं ने आगे बढ़ कर देश के राजनीतिक संघर्ष में अपना योगदान दिया। अधिकांश को उनके परिवार का समर्थन था, उन्होंने प्रहार भी झेले और जेल भी गयीं। सामाजिक स्थितियों और भारतीय माहौल में पश्चिमी शिक्षा से परिचय ने उनके विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, अब वे राजनीतिक परिदृश्य पर अपना चुनाव भी करती दिखाई देने लगीं, साथ ही जेल और सार्वजनिक जीवन ने उनके अनुभव-संसार के साथ-साथ साहित्यिक रुचियों का भी उन्नयन किया। इन स्त्रियों ने यात्राओं के साथ-साथ कारावास-जीवन के अनुभव लिखे, यद्यपि उनके द्वारा लिखी हुई आत्मकथाओं की संख्या कम है परन्तु औपनिवेशिक बंगाल के उत्तरार्द्ध

के कुछ दशकों को समझने के लिए ये आत्मकथाएँ दस्तावेज़ का काम कर सकती हैं। साहित्येतिहास में स्त्रियों की आत्मकथाओं का ज़िक्र न के बराबर है। प्रकाशकों और आलोचकों द्वारा इन्हें उपेक्षित किया गया, लेकिन हाल के वर्षों में लैंगिक अध्ययन केंद्रों में आत्मकथ्यों के शोध और विवेचन के कार्य ने गति पकड़ी। फलतः बहुत सी उपेक्षित और धूल खायी हुई सामग्री इतिहास और समाज अध्ययन की अनिवार्य स्रोत-सामग्री के रूप में पहचानी गयी।

बंगाल में मध्यवर्ग के उत्थान ने स्त्री लेखन, विशेषकर आत्मकथात्मक लेखन के लिए अनुकूल भावभूमि प्रदान की। इन स्त्री आत्मकथाओं में स्वर-वैविध्य मिलता है। कहीं तो वे पितृसत्ता की आलोचना करती हैं कहीं वे उसके प्रति मानसिक अनुकूलन दिखाती हैं, कहीं समाज और परिवार से छूट लेती हैं तो कहीं सामाजिक नियम-मर्यादा-पालन की मिसाल भी बनती हैं। वस्तुतः मनुष्य की किसी गतिविधि को एकरेखीय ढंग से नहीं विश्लेषित किया जा सकता। किसी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को बेहतर ढंग से समझने के लिए किसी घटना को क्रिया या क्रियाओं की प्रतिक्रिया के रूप में विश्लेषित करने से बेहतर है उसे नदी की परस्पर एक -दूसरे को काटती आवर्तित लहरों की तर्ज़ पर समझा जाए। भले ही मध्यवर्ग का उत्थान औपनिवेशिक शासन के सहयोग के लिए हुआ हो लेकिन फिर उसकी अपनी गतिकी रही होगी। जिस तरह संतान पिता से जन्म लेकर भी अपना स्वतंत्र विकास कर लेती है, उसी तरह अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य जीवन-पद्धति से आमना-सामना होते ही घर और बाहर की दुनिया अलग -अलग हो गयी होगी। इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि इस नयी सांस्कृतिक स्थिति से सामंजस्य पैदा करने के कई गुर अपनाये गए। उसके भीतर से कई चीजें निकलीं। स्त्रियों के लिए भले आचरण पुस्तकें तजवीज़ की गयीं लेकिन जीवित घटनाओं के साक्ष्य ये बताते हैं कि कभी अपने आंतरिक प्रशिक्षण से, कभी पुरुष की निगाह से खुद को तौलने, कभी पितृसत्तात्मक समाज के अलिखित जड़ कायदों से मुक्त होने की इच्छा से स्त्रियाँ अपने लेखन में मौजूद हैं।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में शिक्षा संपन्न जागरूक स्त्रियों के आत्मकथ्यों को देखने पर इनमें सबसे पहले अस्मितामूलक राजनीति के सूत्र मिलते हैं। ये आत्मकथ्य यह बताते हैं कि पढ़ी लिखी, सुशिक्षित और राजनैतिक तौर पर जागरूक मध्यवर्गीय हिंदू स्त्री जो औपनिवेशिक बंगाल में राष्ट्रीय चेतना की लहर के साथ न सिर्फ बहना सीख रही थी, बल्कि उन्नीसवीं सदी के समाज-सुधारकों के कतिपय रूढ़-दृष्टिकोण से टकरा भी रही थी। सुतनुका घोष के अनुसार यह नहीं भूलना चाहिए कि "यह वही समय है जब बंगाल की स्त्रियाँ, लड़कियों को शिक्षा का कानूनी अधिकार दिलाने का प्रयास कर रही थीं। बहुत से समाज सुधारकों के साथ मिलकर शारदा एक्ट के पक्ष में जनसमर्थन जुटा रही थीं।"[3]

नये बनते हुए मध्यवर्ग में बंगाली स्त्री का अपनी पहचान की खोज को इन आत्मकथाओं में देखा जा सकता है। ये आत्मकथाकार अपने-अपने ढंग से आधुनिक बनने का प्रयास कर रही थीं, फिर भी जिस आधुनिकता की कल्पना इन्होंने की थी वह फलीभूत होती नहीं दीखती। दरअसल वह आधुनिकता खंडित आधुनिकता है जिसे देखने के लिए अलग-अलग आत्मकथाओं को देखना दिलचस्प होगा। बंगाली समाज विशेषकर हिंदू और ब्राह्मो समाज में मध्यवर्गीय स्त्री की स्थिति का पता ये आत्मकथाएँ दे सकती हैं। ज्योतिर्मयी देवी (1894-1988), सरलादेवी चौधरानी (1872-1945), मणिकुंतला सेन (1911-1987) और शांतिसुधा घोष (1907-1992) की आत्मकथाओं को इस नज़रिए से देखने की वकालत सुतनुका घोष ने की है। इन आत्मकथाओं में आधुनिक बंगाली स्त्री के निर्माण की प्रक्रिया का नैरन्तर्य नहीं दीख पड़ता। कहीं भी वैश्विक

स्त्रीवाद या भगिनीवाद या आगे आने वाली स्त्रियों की पीढ़ी में आधुनिकता की प्रक्रिया का संधान पूरा होता हुआ नहीं दीखता, यह स्वयं में बहुत सारे सवालों को जन्म देता है। पहला तो यही कि क्या आत्मकथा लेखन में प्रवृत्त स्त्रियाँ अगली पीढ़ी को प्रेरणा देने में अक्षम थीं, या उन्हें स्वयं ही आधुनिकता की प्रक्रिया समझ नहीं आई थी, जिसे वे आगे की पीढ़ी तक पहुँचा सकें। जहाँ राशसुंदरी की आत्मकथा को पाठकों का ध्यान इसलिए मिला क्योंकि वह किसी बंगाली स्त्री द्वारा लिखी पहली आत्मकथा थी और उसका अपना ऐतिहासिक महत्त्व था और जिसमें साक्षरता के लिए ज़द्दोजहद व्यक्त की गयी थी जो 'आमार जीबन' को बीबी अशरफ से जोड़ती थी, जिसने विधवा होने के बाद चूल्हे की राख़ से अपने आप अक्षराभ्यास किया था, क्योंकि उसे अक्षर ज्ञान कराने वाला कोई नहीं था। सरलादेवी चौधरानी, शांतिसुधा घोष और मणिकुंतला सेन समकालीन थीं। इन तीनों स्त्रियों के लेखन में अपने-अपने ढंग से प्रतिरोध के स्वरों की अभिव्यक्ति होती दीखती है। इनके आत्मकथ्य शोषित वर्ग की संरचना को व्यक्त करते हैं।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध का समय मध्यवर्गीय बंगाली हिंदू और ब्राह्मो समाज की अधीनता का समय है। ऊपर से देखने पर ऐसा लग सकता है कि राजनैतिक उथल पुथल के इस दौर में लैंगिक-विभेद जैसी बातों को तरजीह नहीं दी जा रही होगी, लेकिन इन आत्मकथाओं को निकट से देखने पर कुछ मध्यवर्गीय बंगाली स्त्रियाँ अपने वर्ग के अस्तित्व के प्रश्न पर डिबेट करती दिखाई देती हैं। इस संदर्भ में ज्योतिर्मयी देवी (1894-1988) का 'आमार लेखार गोरार कथा' देखना दिलचस्प है जिसकी भूमिका में लिखा गया है—"इस संसार में स्त्री का जीवन व्यर्थ है। उसके पास मस्तिष्क है लेकिन अभ्यंतर को व्यक्त करने का कोई साधन नहीं है। उसके पास हृदय है लेकिन ऐसा हृदय जिसमें कोई उत्साह नहीं। ऐसा, जैसे संगीत-विहीन धुन हो, भाव है, भाषा नहीं। उसका जीवन ऐसा ही है। यदि वह ऋषि-मुनि होती तो उसकी आवाज़ चीख नहीं बल्कि वाल्मीकि की कविता, कालिदास का मेघदूत और रवि ठाकुर के गीत बन जाते।"[4]

ज्योतिर्मयी देवी अपने संस्मरण में स्त्री-अधीनता पर बहुत गंभीरता से विचार करती हैं। वैसे तो स्त्री अधीनता को विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से व्याख्यायित किया है। वास्तविक अधीनता और अधीनता के भ्रम में स्वभावतः ही अंतर होता है। दरअसल अधीनता की स्थिति हमें अपने बारे में जानकारी की ओर ले जाती है, जिसे हम जानते हैं या जानने की कोशिश करते हैं। यह आत्मचेतस होने की प्रक्रिया है जो हमें हमारी सीमाओं और संभावनाओं की जानकारी देती है। पुस्तक में ज्योतिर्मयी देवी स्त्री की अधीन स्थिति को बताने के लिए एक पुत्री, एक माता, एक पत्नी, एक विधवा, एक सामाजिक कार्यकर्ता, एक लेखिका के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करती हैं। ज्योतिर्मयी देवी "स्मृति विस्मृतिर तरंग' में विधवा होते ही स्वयं को 'न कुछ' यानी अस्तित्वहीन जैसा हुआ पाती हैं, तब वह न पुत्री रह पाती हैं न किसी की संतान। रह जाती है मात्र एक विधवा। उसका पूरा अस्तित्व एक विधवा में रिड्यूस हो जाता दीखता है। बंगाली समाज में विधवाओं की हीनतर स्थिति की ओर यह आत्मकथा संकेत करती है। साथ-ही पाठक और आलोचक के समक्ष ऐसे अनेक 'टेक्स्ट्स' के होने की संभावनाओं को खोल देती है जिनकी आवाज़ों को, प्रतिरोध को दबाने का प्रयास किया गया, ऐसी अनेक स्त्रियाँ जिनकी निजी अस्मिता का संघर्ष किसी मुकाम पर नहीं पहुँच सका। ऐसी स्त्रियाँ जिन्होंने अपने होने की वजह ढूँढनी चाही, पितृसत्ता के खिलाफ लड़ीं भी लेकिन आधुनिकता की राह के दरवाज़े उनके लिए आधे में ही बंद हो गए। परिवार, समाज, परिस्थितयों ने उन्हें वह 'स्पेस' दिया ही नहीं जहाँ वे अपनी

आशाओं-आकाँक्षाओं को परवाज़ दे सकें।

सरलादेवी, मणिकुंतला और शांतिसुधा वे रचनाकार थीं जिनके लिए पिछली पीढ़ी की तुलना में साक्षरता चुनौती नहीं थी, उनके परिवार विशेषकर माताओं ने उनको पढ़ने के लिए न सिर्फ प्रेरित किया बल्कि 'आत्म' की खोज में भी उनका साथ दिया, उनकी तरक्की के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा कीं। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या ये 'आत्म' का प्रकाशन और 'निज' की परिधि का अतिक्रमण कर अगली पीढ़ी के लिए कुछ कर पायीं या कोई राह प्रशस्त कर पायीं? अथवा इन आत्मकथानकों का पाठ इस रूप में किया जाना चाहिए जिसमें रचनाकार अपने ही दायरे में सिकुड़ी सिमटी रहीं, जिनके आख्यानों को पाठकों की ओर से कोई विशेष सकारात्मक प्रतिक्रिया नहीं मिली, अथवा इन्हें इस दृष्टि से देखा जाना चाहिए कि ये स्त्रियाँ समाज में प्रचलित पितृसत्ता के ढाँचे को तोड़कर माता-पुत्री के संबंध का एक नया समीकरण तैयार कर रही थीं। यह समीकरण उनकी बौद्धिक और भौतिक उन्नति के लिए ज़रूरी था, जिसमें माता के अपने अनुभवों की आँच थी और बेटी के भविष्य के लिए उज्ज्वल स्वप्न थे। इन तीनों स्त्रियों के आख्यान उन्नीसवीं सदी के मध्य से उत्तरार्ध में लिखे गए जिनमें बंगाली समाज विशेषकर हिंदू और ब्राह्मो समाज में मध्यवर्गीय स्त्री की स्थिति का पता चलता है। इनमें से सबसे पहले सरलादेवी चौधरानी के आत्मकथ्य 'जीबनेर झरापता' को देखा जा सकता है। इसका अंग्रेजी अनुवाद सुखेंदु राय ने किया।[5] जिसकी भूमिका में भारती राय ने लिखा कि यदि आत्मकथाओं को इतिहास की श्रेणी में रखा जाये तो सरलादेवी की आत्मकथा उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शती के बंगाल के समाजेतिहास का ज़रूरी हिस्सा होने का दावा कर सकती है।

सरलादेवी चौधरानी को साहित्यिकता विरासत में मिली थी। उनकी माँ स्वर्णकुमारी रवींद्रनाथ टैगोर की बहन थीं। यही वह समय था जब बंगाल में स्त्री शिक्षा के प्रचार कार्यक्रम ज़ोरों पर थे, अपनी पिछली पीढ़ी से कई क़दम आगे बढ़कर उन्होंने बेथून कालेज से 17 वर्ष की उम्र में स्नातक की उपाधि ली थी। स्त्री शिक्षा का जोर, सती प्रथा के उन्मूलन, स्वदेशी आंदोलन के प्रचार और बंग भंग के विरोध के माहौल में ही वे पली बढ़ी थीं। टैगोर परिवार की सांस्कृतिक चेतना उन्हें विरासत में मिली थी और 1895 से 'भारती' नामक मासिक पत्रिका की संपादक भी बन गयी थीं। पत्रिका के माध्यम से उन्होंने भौतिक-सांस्कृतिक अभियान चलाया जिसमें युवा पुरुषों से अन्तरंग दल की स्थापना करने का आग्रह किया गया जिससे वे अँगरेज़ सैनिकों द्वारा भारतीय औरत-मर्दों की बेइज्जती से रक्षा कर सकें। वे बंगाल के पुनरुत्थानवादी आंदोलन से गहरे तक जुड़ी हुई थीं। सन् 1902 में उन्होंने नौजवानों को प्रतापादित्य व्रत रखने, आत्म रक्षा के लिए हथियारों, मुक्केबाजी और कुश्ती के प्रशिक्षण की प्रेरणा दी। उनका व्यक्तित्व युवाओं के लिए प्रेरणास्पद था। सन् 1904 में सरलादेवी ने वीराष्टमी के अवसर पर एक रैली आयोजित की और उसी वर्ष उन्होंने कलकत्ता कांग्रेस में 'वंदेमातरम्' गवाकर इतिहास रचा'[6] इतिहासकार सुमित सरकार के अनुसार "सन 1905 में सरलादेवी की मैमनसिंह सुहृद समिति ने 'वंदेमातरम्' को राष्ट्रीय आह्वान के रूप में प्रयोग करने का पहला प्रयास किया।[7] आत्मकथा में उन्होंने यह दावा किया है कि बंकिमचंद्र के वंदेमातरम् की पहली दो पंक्तियों को रवींद्रनाथ टैगोर ने संगीतबद्ध किया शेष गीत को लय और धुन सरलादेवी ने दी। वे संगीत की पारखी भी थीं, आत्मकथा में अपने संगीत प्रेम और टैगोर द्वारा मिली प्रशंसा का उल्लेख वे बार बार करती हैं।

आत्मकथा का प्रारंभ वे अपने बचपन के जोड़ासांको वाले घर की स्मृतियों से करती

हैं—...''जोड़ासांको के घर में ढेर सारे लोग थे, विविध प्रकार के क्रियाकलापों से घर का कोना -कोना तरंगायित होता रहता था।...घर में एक दर्जन से अधिक ब्राह्मण रसोईये दिन भर संयुक्त रसोईघर में समूचे परिवार के लिए भोजन बनाने में व्यस्त रहते थे, पके भात का ढेर इतना ऊँचा होता था जो रसोई की छत लगभग छूता था।''[8] बड़े संयुक्त परिवार में छोटे बच्चे नौकर-नौकरानियों द्वारा पाले-पोसे जाते थे जिसके बारे में लिखती हैं—"माँ का वात्सल्य क्या होता है हमें मालूम ही नहीं था, माँ की गोद, उसका चुम्बन, उसका स्नेह क्या होता है? मेरी माँ, मौसियाँ सब एक ढर्रे की थीं—वे सब संतानों के प्रति वात्सल्य-प्रदर्शन से कतराती थीं। दरअसल यह पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अंतर्गत सभी संपन्न आभिजात्य परिवारों का चलन था। जिसकी अगली पीढ़ी में स्त्रियाँ अपने बच्चों के लिए अपेक्षाकृत ज्यादा प्रेम दिखाने लगीं। लेकिन हमारी पीढ़ी के बच्चों के साथ ऐसा नहीं था।"[9] वे ये भी लिखती हैं कि उन्हें आश्चर्य होता था कि नौकर हम बच्चों के साथ बहुत बुरे ढंग से पेश क्यों आते थे। ''...अब समझ पायी कि वे अतिरिक्त कार्यभार से दबे रहते थे।''[10] वे परिवार के भीतर के लैंगिक-विभेद को बचपन में ही पहचान जाती हैं—"मेरी बड़ी बहन ने खेल-खेल में मेरे बाल काट दिए जिसके लिए सात दिनों तक घर के भीतर ही रहने की सजा पिता ने सुनाई। बहन ने भाई के भी बाल काटे थे लेकिन भाई को घर के भीतर ही रहने की सजा नहीं सुनाई गयी क्योंकि लड़का होने के कारण उसकी सुंदरता को कोई खतरा नहीं था। इस अन्याय ने मुझे बहुत आहत किया।"[11]

तत्कालीन बंगला समाज ने सरला देवी चौधरानी में एक आधुनिक विवेकशील स्त्री का रूप देखा, उमा चक्रवर्ती के अनुसार जब सरलादेवी से उनके नौकरी करने के लिए अपने परिवार से संघर्ष करने का विवरण पूछा गया तो उन्होंने जवाब दिया कि "वह अपने घर रूपी जेल की कैद से मुक्त होकर पुरुषों की भाँति अपने जीवनयापन का अधिकार स्थापित करना चाहती थीं।"[12] सरलादेवी के आत्मनिर्भर जीवन के प्रयास का अंत बड़ा त्रासद था जिसके बारे में उमा चक्रवर्ती ने लिखा है कि एक रात सरलादेवी के कमरे में एक नौजवान घुस आया परिणामस्वरूप उन्होंने स्वतंत्र जीवनयापन का इरादा छोड़ दिया। 'जीबनेर झरापता' में वे इस प्रसंग पर मौन हैं। मैसूर से घर लौटकर सखी समिति तथा शिल्प मेलों में अपनी माँ स्वर्णकुमारी देवी की सहायता करने लगीं। बाद में उन्होंने 'भारती' का जिम्मा ले लिया। सरलादेवी की आत्मकथा तत्कालीन समाज में स्त्रियों की शिक्षा के बारे में प्रकाश डालती है। वे लिखती हैं-"उन्नीसवीं शती से लेकर अब तक दकियानूसी सोच से बाहर आकर बीसवीं शती में स्त्री शिक्षा ने अपना सतत विकास किया।''

1910 में सरलादेवी ने इलाहाबाद में भारत स्त्री महामंडल की स्थापना की, वे 29 वर्ष की अवस्था में गाँधीजी के संपर्क में आयीं। रामचंद्र गुहा ने 'गाँधी- द इयर दैट चेंज्ड द वर्ल्ड' में गाँधी और सरलादेवी के घनिष्ठ संबंधों की ओर संकेत किया है। वे लिखते हैं कि ''लेखिका सरलादेवी की पैदाईश 1872 की थी वे सुंदर थीं तथा मोती के आभूषण पहनती थीं। वे गाँधीजी के साथ यात्राएँ और सभाएँ किया करती थीं, पंजाब के सरगोधा जिले में किसानों ने उन्हें 'माता जी' का संबोधन दिया।[13] सरला देवी उन अनेक राष्ट्रवादियों में से एक थीं जिन्होंने सन् 1899 में रेल कर्मचारियों की हड़ताल को समर्थन देने के लिए ज़बरदस्त अभियान चलाया। ''नवयुवकों ने सरला देवी को ज़बरदस्त समर्थन दिया। व्यक्तिगत आज़ादी के लिए किये गए प्रयास कैसे राष्ट्रीय आजादी के प्रयासों में बदल गए इसे देखने के लिए सरलादेवी के कार्यों को देखा जा सकता है। पारिवारिक दबाव के कारण उनका विवाह एक विधुर आर्यसमाजी रामभज चौधरी से हुआ, जिसके बाद वे लोग लाहौर जाकर बस गए। विवाह के बाद सरला

देवी को अक्सर 'देवी चौधरानी' कहकर संबोधित किया जाता था। एक विधुर के साथ सरलादेवी का विवाह पारिवारिक दबाव में हुआ, यहाँ प्रश्न यह है कि क्या यह स्वर्ण कुमारी देवी के लिए उचित था कि उन्होंने अपनी सुन्दर, सुसंस्कृत, शिक्षित पुत्री का विवाह ज़बरदस्ती करवा दिया? यह एक संभावनापूर्ण कैरियर का अंत था। पाठक को यह आश्चर्य होता है कि सरलादेवी इस निर्णय के आगे झुकी क्यों? उन्होंने समझौते क्यों किये? आत्मकथा में भी वे इसके बारे में विस्तार से कुछ नहीं बतातीं, सिवाय इसके कि "मेरे हाथ पैर बंधे हुए थे, इस जीवन में आंदोलन की कोई गुंजाइश नहीं थी।"[14] हो सकता है तब तक स्त्रियों ने अपने विवाह संबंधी निर्णय लेने शुरू न किये हों। सरला देवी नवयुवकों में राष्ट्रीय चेतना भरने का प्रयास करती रहीं वे राष्ट्रोन्नति, देशोद्धार के लिए वे कृत संकल्प थीं। वे गाँधीजी के साथ लम्बे समय तक जुड़ी रहीं, उन्होंने गाँधीजी के साथ कई यात्रायें कीं, हैदराबाद नागरिक संघ में आयोजित एक कार्यक्रम में गाँधीजी ने कहा था—''मैं भारत के अपने भ्रमण में सरलादेवी को साथ रखता हूँ क्योंकि उन्होंने स्वदेशी के मेरे सिद्धांतों को कस्तूरबा से भी अधिक अच्छी तरह समझ लिया है।''[15] उधर सरलादेवी महात्मा को स्नेह करती थीं तथा उनके आराम का पूरा ख्याल रखती थीं हालाँकि आत्मकथा में उन्होंने विवाह के प्रसंग तक ही अपनी कथा लिखी, उन्होंने जो भी किया वह बृहत्तर अर्थ में राष्ट्र चिंता से प्रेरित था। उनके विवाह के बाद के प्रसंग किसी अन्य द्वारा परिशिष्ट के रूप में लिखे गए। उनकी ग़ैर-पारंपरिक जीवनशैली आलोचना का विषय भी बनती रही।[16] सरलादेवी की वक्तृता का लोहा विवेकानंद भी मानते थे। वे चाहते थे देश और विदेश में सरलादेवी सार्वजनिक मंच से बोलें—"तुम्हारी तरह मेधावी और बोल्ड स्त्री को तो इंग्लैण्ड जाकर उपदेश देने चाहिए। मुझे पूरा विश्वास है कि हजारों-हज़ार स्त्री-पुरुष भारत भूमि के धर्म को स्वीकार कर लेंगे।"[17] लेकिन सरलादेवी ने विवेकानंद का रास्ता नहीं अपनाया और वे मैसूर चलीं गयीं आत्मनिर्भर जीवन जीने के लिये।

गाँधीजी जब भी लाहौर जाते सरलादेवी से अवश्य मिलते, हालाँकि सरलादेवी नवयुवकों के 'विप्लवी' चरित्र के पक्ष में थीं और वे लाठी-भाला चलाने के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी किया करती थीं लेकिन उन्होंने कभी गाँधीजी के आतिथ्य-सत्कार में कोई कमी नहीं रखी। मगनलाल गाँधी को लिखे पत्र में गाँधीजी ने कहा था—"सरलादेवी हर तरह से मेरे ऊपर प्रेम बरसा रही है।'' गाँधी जब भी पंजाब जाते तो वे 'नवजीवन के पाठकों के लिए पत्र लिखते। वे प्रेरणा देते सरलादेवी को 'नवजीवन' में लिखने की। पाठकों को पंजाब की चिट्ठी में उन्होंने 'कैसा चमत्कार' शीर्षक लेख में लिखा था—"अपने पति से दूर सरलादेवी 'सिंहनी' की भाँति अकेली रहती थीं। पंडित रामभज चौधरी के जेल से निकलने के बाद उन्होंने सरला देवी के चेहरे पर अनोखा ही तेज देखा था। गाँधी ने लिखा कि वियोग-काल में भी सरलादेवी ने अपना तेज खोया नहीं था। राजमोहन गाँधी ने भी गाँधी और सरलादेवी के घनिष्ठ संबंध का ज़िक्र किया है।

बाद में चलकर गाँधीजी और सरलादेवी के आपसी रिश्तों में खटास आ गयी थी। 1920 के अंत तक गाँधीजी के करीबी रिश्तेदारों में इस संबंध को लेकर असंतोष बढ़ता जा रहा था। उनका पारस्परिक प्रेम कस्तूरबा के लिए भी तकलीफदेह साबित हो रहा था। राजगोपालाचारी ने इस बारे में महात्मा गाँधी को समझाने के लिए कई पत्र भी लिखे और इस तरह के अन्तरंग संबंध को महात्मा की छवि के लिए नुकसानदेह बताया। गाँधी जी सरलादेवी के साथ अपने संबंधों में खिंचाव भी महसूस कर रहे थे, उधर सरलादेवी के पत्रों का तीखापन और आक्रोश भी बढ़ता जा रहा था। यहाँ तक कि सरलादेवी ने एक पत्र में उन्हें लिखा था-"आप तो महात्मा हैं और मैं पापी।'' सरलादेवी का आत्मकथ्य 'देश' पत्रिका में सन् 1942 से 1943 के बीच

धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ। सन् 35 के लगभग सरलादेवी ने राजनैतिक और सार्वजनिक जीवन से संन्यास ले लिया और गाँधी के साथ उनके संपर्क भी तब तक ख़त्म हो चुके थे।

महादेव देसाई की निजी डायरी में सरलादेवी के पाँच-छह पत्रों का ज़िक्र किया गया है। रामचंद्र गुहा ने विस्तार से सरलादेवी और गाँधी जी के आत्मीय संपर्क का ज़िक्र करते हुए लिखा है कि—''गाँधीजी सरलादेवी के साथ यात्राओं पर जाते थे। सिंहगढ़ के अपने प्रवास के दौरान वे सरला देवी को लिखते हैं, 'अभी दो सपने देखकर उठा हूँ एक तुम्हारे बारे में और दूसरा खिलाफत का।'[18] फिर अगले पत्र में वे लिखते हैं कि वे सरलादेवी का इंतजार कर रहे हैं, उन्हें आश्रम में आना चाहिए...गाँधी की इच्छा थी कि सरलादेवी अपने समूचे आकर्षण और शक्ति के साथ आश्रमिक जीवन ग्रहण कर लें, जबकि सरलादेवी अपने परिवार में ही रहती रहीं। उन्होंने खादी ज़रूर पहनी जिससे गाँधीजी बहुत प्रसन्न हुए। गाँधीजी ने हर्मन केलैनबैक को सरलादेवी के विषय में पत्र लिखते हुए कहा—''तुम देखोगे तो उस पर मुग्ध हो जाओगे। बात यह है कि मेरा बहुत घनिष्ठ संपर्क हो गया है। वह अक्सर यात्रा में मेरे साथ रहा करती है। उसके साथ मेरे संबंधों को किसी परिभाषा में नहीं बाँधा जा सकता। मैं उसे अपनी 'आध्यात्मिक पत्नी 'कहता हूँ। एक मित्र ने हमारे संबंधों को बौद्धिक विवाह कहा है। मैं चाहता हूँ तुम उससे मिलो...।"[19]

सरलादेवी भी गाँधी जी का बहुत सम्मान करती थीं। 'कस्तूरबा ए सीक्रेट डायरी' में नीलिमा डालमिया ने सरलादेवी के गाँधीजी के साथ आत्मीय और बौद्धिक संपर्क का ज़िक्र किया है, जिस पर कस्तूरबा ने तीखी प्रतिक्रिया ज़ाहिर की थी, शीघ्र ही गाँधीजी ने इस संबंध से स्वयं को अलग कर लिया था। एक जगह सरलादेवी ने लिखा कि जब वह राजनैतिक तौर पर मुश्किल में थी तो महात्मा गाँधी ने कहा 'तुम्हारी हँसी राष्ट्रीय संपत्ति है, हमेशा हँसती रहो। यह आत्मीय रिश्ता अक्टूबर 1919 से दिसंबर 1920 तक चला, उसके बाद गाँधीजी ने राजगोपालाचारी की सलाह पर ध्यान दिया, जिसके बारे में रामचंद्र गुहा का अनुमान है कि वे इस आध्यात्मिक संपर्क को सामाजिक स्वीकृति भी देना चाहते थे क्योंकि सरलादेवी में उन्हें एक आदर्श सहयोगी की छवि दिखाई देने लगी थी। लेकिन राजगोपालाचारी ने बड़ी कड़ाई से गाँधीजी को इसके लिए मना किया क्योंकि इससे गाँधीजी की पवित्रता, साधुत्व और समूचे भारत के लिए अनुकरणीय छवि को निश्चित रूप से धक्का पहुँचने की आशंका थी।[20] राजगोपालाचारी की संक्षिप्त मुलाकात सरलादेवी से हुई थी जिससे वे बिल्कुल प्रभावित नहीं हुए थे और उन्होंने गाँधी जी को लिखा था कि सरलादेवी हजारों साधारण औरतों में से एक हैं, शिक्षा ने जिसके व्यक्तित्व को थोड़ा आकर्षक बना दिया है। उन्होंने गाँधी जी को इस संबंध को आगे ले जाने से रोका।[21] गाँधीजी ने राजाजी के सुझावों पर अमल किया और सार्वजनिक तौर पर 'आध्यात्मिक पत्नी' कहना बंद कर दिया। रामचंद्र गुहा ने बताया है कि सरलादेवी के लिखे पत्र हमें उपलब्ध नहीं हैं। वे गाँधीजी से मिलने के लिए अक्टूबर 1920 में अहमदाबाद गयीं थीं लेकिन तब तक गाँधीजी पदयात्रा पर निकल चुके थे। गाँधीजी को अपने बारे में बताते हुए उन्होंने लिखा था कि वे खादी का साड़ी-ब्लाउज पहनती हैं और अहमदाबाद की स्त्री समिति में खादी के प्रयोग के लिए प्रेरणा देती हैं। उन्होंने यह भी लिखा कि "सिर्फ स्नानघर ही एक ऐसी जगह है जहाँ मेरी सिसकियाँ सुनी जाती हैं...जल्दी ही ये दिन भी ख़त्म हो जाएँगे।"

बाद में, प्रतीक्षा से थक कर वे लाहौर वापस चली गयीं, वहाँ से पत्र लिखकर उन्होंने आपसी गलतफहमियों के बारे में, गुस्से और अपनी जीवनशैली के विषय में स्वयं निर्णय करने की छूट न दिये जाने के लिए गाँधी को ज़िम्मेदार बताया। सरला ने गाँधी जी को चुनौती दी कि वे उसके साथ प्रेम को सीधे-सरल शब्दों में कहें—''बताईये एक सीधी मर्मस्पर्शी भाषा में

कि आप मुझे रोज़ याद करते हैं, कि सुबह से शाम मुझसे मिलने के लिए प्रतीक्षारत रहते हैं।'' सरलादेवी को लिखे गाँधीजी के अधिकांश पत्र गाँधी वांग्मय में संगृहित हैं। लेकिन सरलादेवी की तरफ से लिखे पत्र गाँधी परिवार द्वारा नष्ट कर दिए गए जिसके बारे में रामचंद्र गुहा ने लिखा[22] गाँधी जी का अपनी इस मित्र से गहरा पर गैर-बराबरी का रिश्ता था।

गाँधीजी सरलादेवी को उनकी वक्तृता और आकर्षण के कारण बहुत पसंद करते थे लेकिन उन्हें अपने साँचे में ढाल लेना चाहते थे। वे उनसे चाहते थे कि वे आश्रम में सभी कार्य अपने हाथों से करें जबकि सरला अपने घर में नौकरों के भरोसे थीं। उनका समय लिखने-पढ़ने और कला साहित्य के लिए था जबकि गाँधी उन्हें आदर्श आश्रमवासिनी के रूप में देखना चाहते थे। सरलादेवी भी गाँधीजी के प्रति आकर्षित थीं, लेकिन वे अपने पति के प्रति ईमानदार थीं। लेकिन पति तो महात्मा नहीं थे वे एक छोटे प्रांतीय नेता थे जबकि गाँधी सबसे बड़े राष्ट्रीय नेता बन चुके थे। उधर गाँधीजी कस्तूरबा के प्रति ईमानदार थे, लेकिन वे कवि या लेखिका नहीं थीं। गाँधीजी ने सरलादेवी के साथ अपने संबंध को कभी छिपाया नहीं, उनके पूरे चरित्र में मिथ्या आचरण था ही नहीं इसीलिए तो उन्होंने उन्हें आश्रम जीवन बिताने के लिए खुलकर लिखा।[23] उनका जीवन और व्यवहार खुली किताब था और वे बंगाली भद्र-अभिजात्य स्त्री को अपने आदर्शों के अनुरूप ढाल लेना चाहते थे। जिस भारत में गाँधीजी पले-बढ़े थे वहाँ स्त्री-पुरुष के बीच स्वच्छंद संबंध अकल्पनीय था। विपरीत लिंगी से नैकट्य होने के लिए उसे नजदीकी संबंधी होना ज़रूरी था मसलन माता, बहन या पत्नी, जबकि विदेश-प्रवास में उन्होंने स्त्री-पुरुष दोनों से मित्रवत संपर्क बनाये। लैंगिक आधार पर जड़ मानसिकता में बदलाव के लिए उनकी शिक्षा और विदेशी मित्र उत्तरदायी रहे। भारत आने पर गाँधी की पहली महिला मित्र सरलादेवी ही थीं जिनके साथ संबंध को दैहिक परिधि में नहीं बाँधा जा सकता। यह संबंध सेक्स पर आधारित नहीं था, लेकिन गाँधी के आसपास के लोगों ने इस मित्रता को ठीक उसी रूप में स्वीकार नहीं किया। सरलादेवी भी भरे-पूरे परिवार की स्त्री थीं, अपने पति के लिए पूर्णतः समर्पित। उन्होंने स्वयं को सक्रिय राजनीति से क्यों अलग कर लिया होगा इसके कारण और प्रमाण हमें नहीं मिलते। उनके जीवन और कृतित्व पर बहुत से कार्य हुए लेकिन उनमें गाँधी के साथ घनिष्ठ संपर्क का ज़िक्र हमें नहीं मिलता, वे स्वयं भी इस प्रसंग से बची हैं।[24]

औपनिवेशिक भारत में बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दौर में लिखी गयी ये आत्मकथाएँ रचनाकारों की राजनैतिक विचारधारा का पता बताने के साथ उनकी जीवन धारा के बारे में भी बताती हैं। सरलादेवी पढ़ी-लिखी बोल्ड स्त्री होने के बावजूद अपने विवाह के कारणों के बारे में चुप रहती हैं, गाँधी के साथ अपने संपर्कों को भी सार्वजनिक चर्चा का विषय बनाने में अपनी तरफ से बचती हैं। मुरियल ने कहा था—''सोचो तो क्या होगा जब कोई स्त्री अपने जीवन का पूरा सच बता देगी। हो सकता है पूरा विश्व टुकड़े टुकड़े हो जाए।''[25] उधर इजाडोरा डंकन का मानना है कि, ''किसी भी स्त्री ने अपने जीवन का पूरा सच कभी नहीं बताया, यह भी कि प्रसिद्ध स्त्रियों की आत्मकथाएँ उनके बाह्य अस्तित्व, छिटपुट विवरणों, रोजनामचों से भरी हैं जिनमें उनके वास्तविक जीवन के आदर्श चित्र नहीं हैं।''[26] 'यह बात भले ही डंकन ने पश्चिमी आत्मकथ्यों के संदर्भ में कही हो लेकिन सरलादेवी सरीखी कई स्त्रियों के प्रतिरोध की आवाजें इसलिए मर्मराहट बन कर रह गयीं क्योंकि उनमें सब कुछ खोलकर, सच-सच कहने का साहस नहीं था, जिसके कारण बहुत से थे। सामाजिक-सांस्कृतिक सेंसरशिप के दबाव स्त्री के आतंरिक जगत पर बने हुए थे, जिनमें बदलाव आसान नहीं था/न है। सरलादेवी के बरक्स शांतिसुधा किसी राजनैतिक पृष्ठभूमि से नहीं आई थीं, उनके छोटे भाई रुनु 'तरुण दल' के

सदस्य थे। कलकत्ता प्रवास के दौरान उन्होंने कलकत्ते की राजनैतिक उथल-पुथल को करीब से देखा था, उन पर गाँधी का गहरा प्रभाव पड़ा था। इसी तरह मणिकुंतला के पास भी कोई भी राजनैतिक पृष्ठभूमि नहीं थी। वे कांग्रेस और गाँधीजी के संपर्क में आयीं थीं और वहीं शांतिसुधा से भी मिली थीं और क्रांतिकारी गुट 'युगांतर' की सदस्य बनने की इच्छा उन्होंने ज़ाहिर की थी। शांतिसुधा ने जेल के दिनों में कम्युनिस्ट साहित्य पढ़ा था और वह आजीवन कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्य भी रही। हालाँकि 1960 में कम्युनिस्ट पार्टी के विखंडन के बाद उन्होंने सक्रिय राजनीति से संन्यास ले लिया।

शांतिसुधा घोष (1907-1992) की आत्मकथा 'जिबोनेर रंगमंचे'(1989) को भी देखना महत्त्वपूर्ण है। वे अपने जीवन को रंगमंच कहती हैं जहाँ नाटक मंचित तो हुए पर उनका कोई दर्शक था या नहीं मालूम नहीं। दरअसल नाटक महत्वपूर्ण है उसके दर्शक नहीं। शांतिसुधा घोष ने अपने बारे में लिखकर ही जीवन नाटक को सार्वजनिक किया है। शांतिसुधा घोष अपने लेखकीय 'स्व' से स्वयं को अलग प्रस्तुत करती हैं। कहा गया है कि रचनाकार से भोक्ता की दूरी जितनी अधिक होगी, रचना उतनी ही श्रेष्ठ होगी। संभवतः शांतिसुधा ने इसीलिए लेखकीय स्व से खुद को दूर किया होगा। आत्मकथा की रचना 82 वर्ष की अवस्था में करते हुए, जैसे वे अपना जीवन फिर से रचती हैं। जीवन के इस पुनर्रचित पाठ को बहुत सावधानी से पढ़ा जाना चाहिए क्योंकि इस तरह के टेक्स्ट में शब्दों के बीच के संवाद और दरारों के पाठ अनेकार्थी होते हैं और पाठक तथा आलोचक से विशेष मेधा की माँग करते हैं। शांतिसुधा ने आत्मकथा में जिस जीवन का चित्रण किया है वह बहुत हद तक वैसा ही है-जैसा वह चाहती थीं। वास्तविक जिए गए जीवन और जैसा जीवन वे जीना चाहती थीं, उसमें अंतराल स्वाभाविक है लेकिन उसे काल्पनिक मानकर खारिज नहीं किया जा सकता, बल्कि पाठक से उनकी अपेक्षा है कि जैसा उन्होंने लिखा है पाठक उसी को सच मानकर चले।

शांतिसुधा घोष जैसी न जाने कितनी स्त्रियाँ हैं जिन्होंने लेखन में अपनी सीमाओं का अतिक्रमण किया, या यों कहें कि अपनी सीमाओं में रहते हुए अपने जीवन का निर्माण किया। यदि शांतिसुधा अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करके अपने जीवन को किसी दूसरी दिशा में ले जाने का प्रयास भी करतीं तो भी वह तत्कालीन प्रचलन के अनुरूप ही होता क्योंकि स्त्रियों ने जेंडर की सीमाओं को चुनौती देना शुरू कर दिया था। शांतिसुधा का पूरा जीवन शारीरिक रोगों से जूझते हुए बीता, इससे शिक्षा भी बाधित हुई लेकिन उन्होंने बाद में शिक्षा भी ग्रहण की और गाँधीवादी आंदोलन से भी जुड़ीं। जेल और निर्वासन की सजा भी उन्हें राष्ट्रवादी क्रियाकलापों से दूर नहीं कर सकी। वे 'जुगांतर' जैसी क्रांतिकारी संस्था से जुड़ीं और संस्था की क्रांतिकारी गतिविधियों में बढ़ चढ़ कर शिरकत करती रहीं। बाद में चलकर ही गाँधी से प्रभावित हुईं। बंगाल के नवजाग्रत माहौल में बहुत से अन्य लोगों की तरह नवजागरण की चेतना से प्रभावित होना शांतिसुधा के लिए अत्यंत स्वाभाविक ही था। अपने लेखन में वह कहीं भी क्रांति की चर्चा नहीं करती लेकिन उनकी जीवन शैली जिसका पता उनका आत्मकथ्य देता है वह 'आत्म' के प्रति एक ज़बरदस्त चैतन्यता को बताते हैं। फिर भी हम मणिकुंतला सेन और शांतिसुधा घोष के लेखन में जीवन की कई घटनाओं की ब्यौरेवार चर्चा पाते हैं लेकिन वे स्वयं को किसी परिवर्तनकारी एजेंसी के रूप में स्थापित नहीं करती दीखतीं। शांतिसुधा घोष आजीवन अविवाहित रहीं और पूरा जीवन कर्तव्यशील पुत्री के रूप में जिया। वे निर्वासन के दौरान या 1941 में जब गाँधीजी से मिलने ढाका गयीं तब भी पिता के साथ ही गयीं अकेली नहीं। आत्मकथ्य में दर्ज है कि बंग-भंग की घटना के बाद वे जी-जान से अपने माता-पिता

की सेवा कर रही थीं। वे बारिशाल (पूर्वी बंगाल) में ही रहकर 'जुगांतर' संस्था के लिए काम करती रहीं और खूब पढ़ती रहीं। यहाँ तक कि छोटे भाई के अलावा उनका पूरा परिवार भारत आकर बस गया लेकिन शांतिसुधा ने बारिशाल नहीं छोड़ा। वे सभा समितियों का काम बारिशाल में रहकर ही करती रहीं, भाई के घर रहते हुए सभा करना संभव नहीं था क्योंकि पुरुष कार्यकर्ता भी सदस्य के रूप में शामिल होते। पुरुष सहकर्मियों के साथ बैठना, बात करना अनुचित और समाज-विरोधी माना जाता था। शांतिसुधा को इन सब बाधाओं का सामना करना पड़ा होगा लेकिन इन स्थितियों के प्रति उनमें आक्रोश नहीं दिखायी देता, बल्कि इस सारे प्रसंग को वे व्यंग्यात्मक लहजे में चित्रित करती हैं। बतौर पाठक हम समझ सकते हैं कि ऐसी घटनाएँ कितनी अप्रिय रही होंगी। लेकिन वे मणिकुंतला की तर्ज़ पर ही ऐसी घटनाओं के विषय में निहायत ही तटस्थ भाव से, लगभग ग़ैर-महत्वपूर्ण मानते हुए लिखती हैं। यहाँ तक कि शांतिसुधा घोष अपने अविवाहित, एकाकी जीवन पर भी कोई टिप्पणी करती नहीं दिखाई देतीं। पाठक यह जानने से वंचित रह जाता है कि अविवाहित रहना शांतिसुधा का निजी निर्णय था या माता पिता द्वारा थोपा हुआ अथवा शांतिसुधा की रोगी काया ने उन्हें विवाह का अवसर नहीं दिया। जिस दौरान शांतिसुधा राजनैतिक सरगर्मियों से संबद्ध थीं उस दौरान 'गोलोकधाँधा' शीर्षक उपन्यास भी लिखा जिसका टेक्स्ट बहुत जटिल है जिसमें प्रेम और यौनिकता के पारस्परिक संगुफन को जिस रूप में व्यक्त किया गया है वह अपने समय को देखते विशिष्ट है।[27]

इस उपन्यास में शांतिसुधा घोष ने स्त्री के अस्तित्व और स्व की अभिव्यक्ति से संबंधित प्रश्नों पर विचार किया है। नीत्शे ने कहा था कि 'आत्म' का निर्माण एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है वह कोई एक सुस्थिर, स्थाई पहचान नहीं है इसे शांता के चरित्र में आत्म के निर्माण की प्रक्रिया के नैरन्तर्य में देखा जा सकता है। शांता एक प्रगतिकामी चेतना से समन्वित चरित्र है जो ब्रिटिश शासित भारत में अपने परिवार के साथ रहती है, पिता के मरने के बाद बहन के साथ चाचा के पास चली जाती है जो उसके व्यक्तिव के विकास में बाधा बनते हैं। वह थोपी नैतिकताओं और आचरण नियमों का अंध-पालन करने का विरोध करती है लेकिन उसकी बहन लोलिता नयी स्थितियों से समझौता कर लेती है जबकि शांता विवाह को जीवन की चरम परिणति के रूप में अस्वीकार कर देती है। इस उपन्यास को आत्मकथात्मक टेक्स्ट के रूप में पढ़ने से शांतिसुधा की वैचारिक और मानसिक संरचना को समझा जा सकता है, लेकिन आत्मकथा में वे विवाह और यौनिकता संबंधी मसलों पर मौन हैं।

मणिकुंतला सेन '(1911-1987) की आत्मकथा- 'शे दिनेर कथा'[28] अभिव्यक्ति और प्राक् एवं उत्तर औपनिवेशिक बंगाल के कम्युनिस्ट आंदोलन को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमें मणिकुंतला सेन ने आधुनिकता के अवधारणा को कम्युनिस्ट विचारधारा से जोड़कर देखने का प्रयास किया है। उन्होंने जीवन के प्रारंभ में ही पिता को खो दिया था। वह अपनी माँ के साथ बहन बहनोई के अभिभावकत्व में रहीं। राष्ट्रीय आंदोलन के संपर्क में आना उनके समय और माहौल को देखते हुए स्वाभाविक ही था। कम्युनिस्ट साहित्य में उसकी गहरी रुचि थी, नास्तिकता की अवधारणा ने उन्हें आकर्षित किया जबकि बहनोई उन्हें ईश्वर में आस्था रखने के लिए कहते थे। आत्मकथा में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिन्हें वैचारिक टकराहटों के प्रमाणस्वरूप देखा जा सकता है। उन्हें परिवार की अपेक्षाओं पर खरा उतरना चाहिए या राष्ट्रीय आंदोलन में शिरकत करनी चाहिए-यह द्वंद्व कई जगह व्यक्त हुआ है। विधवा माँ की आज्ञा से उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण की। माँ ने समझाया था कि मानवता के उद्धार के लिए कार्य करना भी धर्म ही है, इसलिए यदि मणिकुंतला ने कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता

भी ग्रहण की तो वो भी एक तरह से धर्म-पथ पर ही अग्रसर होना था। लेकिन मणिकुंतला को अन्य परिवारजनों का असहयोग और आक्रोश झेलना पड़ा। मणिकुंतला के लिए आधुनिक होने का अर्थ था सामाजिक समानता की ओर अग्रसर होना, जड़ रूढ़ियों का विरोध। इसके लिए वह नीची कही जाने वाली जातियों से जुड़े कार्यकर्ताओं के घर ठहरती हैं, पुरुष साथियों के साथ पूरे बंगाल का भ्रमण करती हैं। यद्यपि वैचारिक तौर पर कम्युनिस्ट होने के बावजूद वे पार्टी के सभी क्रियाकलापों से सहमत हो पाने में सक्षम नहीं हो पायी। अंतिम दिनों में वह बहुत बेज़ार थी, पार्टी के कुछ निर्णय उसे ज़बरदस्ती स्वीकार करने पड़े। वह आत्मकथा में यह ज़िक्र करती है कि उसे इस बात का अफ़सोस है कि उसे कई बार अपनी आत्मा की आवाज़ की उपेक्षा कर जबरन पार्टी की बात माननी पड़ी। पार्टी के भीतर के तापमान को लेकर मणिकुंतला की अवधारणाएँ राजनीतिक नेतृत्व के क्षेत्र में जेंडर के सवालों को समझने में मददगार हो सकती है। वे नेत्रकोना में हुई एक खुली सभा का ज़िक्र करती हुई बताती हैं कि गाँव-गाँव जाकर आम आदमी के बीच काम करने के बावजूद स्त्री कार्यकर्ताओं की वैचारिक प्रतिबद्धता पर पी.सी.जोशी द्वारा उठाये सवाल इतने बेधक थे कि मणिकुंतला समेत कई स्त्री कार्यकर्ताओं ने अपने-आप को सार्वजनिक तौर पर बेहद अपमानित महसूस किया। वे इस बात का भी ज़िक्र करती हैं कि कैसे पार्टी के भीतर लैंगिक भेदभाव किये जाते थे और स्त्रियों को दोयम दर्जे का समझा जाता था।[29]

रेडिकल कही जाने वाली पार्टी के भीतर लैंगिक असमानता का प्रमाण मणिकुंतला की आत्मकथा देती है कि कैसे आधुनिकता ने उसे परिवार और सामाजिक संरचना पर टिप्पणी करने की छूट और क्षमता तो दी परंतु पार्टी के फ्रेमवर्क में वह बाध्य थी और पार्टी के बारे में स्वतंत्र टिप्पणी करने की छूट उसे नहीं थी। हालाँकि आत्मकथा में मणिकुंतला ने विशिष्ट तौर पर स्त्रीवाद पर ज्यादा नहीं लिखा, लेकिन जीवन के एक मोड़ पर उसे लगता है कि उसका किसी पार्टी से संबद्ध होना कई प्रश्न खड़े करता है और साथ ही इस वजह से उसके स्त्रीत्व को कई समझौते करने पड़े वो भी ऐसी संरचना में जो समानता और वर्गविहीन विचारधारा की उर्ध्वबाहु घोषणा करती है।

मणिकुंतला कई समझौते करती है जिनका ज़िक्र यह किताब करती है। 1952 के पहले आम चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से एकमात्र महिला उम्मीदवार के तौर पर नामांकित की गयी, जबकि पार्टी में बहुत सी अन्य योग्य महिला उम्मीदवार थीं। मणिकुंतला को इसलिए भी अवसर मिला कि उस संसदीय चुनाव क्षेत्र से कोई पुरुष उम्मीदवार खड़ा होने को तैयार नहीं था। मणिकुंतला यह भी कहती हैं कि स्त्रियों के लिए पूर्णकालिक कार्यकर्ता होना कितना कठिन होता है। हालाँकि इस प्रसंग पर आत्मकथा में वह मौन है परंतु जो विवरण दिए गए हैं उनसे यह ज़ाहिर हो जाता है कि पार्टी अपनी महिला कार्यकर्ताओं की विशिष्ट समस्याओं को कोई तरजीह नहीं देती थी, पार्टी का समर्थन महिलाओं को इतना नहीं था जिससे वे पूर्णकालिक कार्यकर्ता बन सकें। मणिकुंतला ने बहुत दिनों तक विवाह नहीं किया और एक समर्पित कार्यकर्ता की तरह वह 'कम्यून' में ही रहती रहीं। आगे चलकर एक कामरेड से उसने विवाह कर लिया। पति जौली कौल के साथ मिलने और विवाह के प्रसंग के चित्रण का अभाव आत्मकथा में है। तपन रायचौधरी का कहना है कि आत्मकथ्य में ऐसे किसी प्रसंग का अभाव दुर्भाग्यपूर्ण है। वे यह भी लिखते हैं कि "मणिकुंतला यह तो बताती हैं कि वह जौली कौल के साथ एक ही घर में रही और पार्टी से त्यागपत्र देने के बाद वह दिल्ली चली गयी। यह पुस्तक पढ़ते हुए आप यह अनुमान नहीं लगा सकते कि जौली कौल उसके पति थे।"[30]

मणिकुंतला की आत्मकथा पढ़कर यह लगता है कि संभवतः कम्युनिस्ट पार्टी के प्रति वैचारिक प्रतिबद्धता ने मणिकुंतला को यह अवकाश नहीं दिया कि वह पार्टी के भीतर स्त्री की स्थिति पर विस्तार से प्रकाश डाले। संभवतः इसीलिए संवेदनाओं और परिवार के प्रसंग उसके लिए इतने महत्वपूर्ण नहीं रहे। यह भी हो सकता है कि मणिकुंतला यह बताना चाहती है कि जहाँ आम बंगाली स्त्री के लिए परिवार, संबंधी एवं निजी जीवन की घटनाएँ महत्वपूर्ण होती हैं वहाँ अपने आप को विशिष्ट दिखाते हुए उसने परिवार, पति और निजी जीवन के ब्यौरों से आत्मकथा को बचाया और अपनी छवि एक राजनैतिक कार्यकर्ता के तौर पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया। हालाँकि, इस पुस्तक में कुछ चित्र भी हैं जिनमें मणिकुंतला जौली कौल के साथ हैं लेकिन वे इस पुस्तक का अविभाज्य अंग बनकर नहीं आते। संभवतः, जौली कौल जिन्होंने पुस्तक के अंग्रेज़ी अनुवाद की प्रेरणा दी उन्होंने ये चित्र बाद में लगवा दिए हों। मणिकुंतला की आत्मकथा इस प्रसंग पर बिल्कुल मौन है कि अपनी ही पार्टी के कार्यकर्ता और सहकर्मी को जीवनसाथी बनाने के अनुभव क्या होते हैं, बाद में चलकर उनके आपसी संबंध कैसे रहे और यह भी कि क्या ऐसे विवाह संबंध को चलाये रखने के लिए मणिकुंतला को विशेष तौर पर प्रयास करने पड़े तथा उसके ससुराल पक्ष के सदस्यों का व्यवहार उसके साथ कैसा रहा। पूरी आत्मकथा में माँ क्षीरोद बाला के साथ संबंधों की बात ही मिलती है जिन्होंने आजीवन मणिकुंतला का समर्थन किया चाहे वह राजनीतिक पार्टी की सदस्यता ग्रहण करने का मुद्दा हो या कष्टकर यात्राएँ। क्षीरोद बाला ने अपनी बेटी को हमेशा बिना शर्त समर्थन दिया और इसके लिए मणिकुंतला अपनी माँ के प्रति कृतज्ञता भी दिखाती हैं। ध्यातव्य है कि सरलादेवी चौधरानी भी आत्मकथ्य में अपनी माता के प्रभाव और समर्थन का ज़िक्र बारम्बार करती हैं। माता का समर्थन और सहयोग इन स्त्रियों के व्यक्तित्व को मज़बूत बनाता है जो इस बात की ओर संकेत करता है कि बंगाली समाज में माता पुत्री के पारस्परिक संबंध की मनोसामाजिकी और पुत्री की उन्नति में माता की सकारात्मक भूमिका अन्य पितृसत्तात्मक समाजों से अलग और जटिल थी।

इन तीनों स्त्रियों के राजनीतिक विश्वासों में परस्पर वैविध्य था, बावजूद इसके कि ये तीनों ही सुशिक्षित और प्रचंड जागरूक स्त्रियाँ थीं। लेकिन इन तीनों पर राजनीति, शिक्षा और समाज के अलग-अलग प्रभाव पड़े। सरलादेवी बंगाल के राष्ट्रवादी दौर की गवाह रहीं, कांग्रेस भी अभी शुरूआती दौर में अभिजात्यवादी पहचान के साथ राजनीति में अपनी पहचान बनाने के दौर में थी। सरलादेवी 'भारती' पत्रिका में युवा बंगाली पुरुषों को अपनी मानसिक और शारीरिक ताकत बढ़ाने का आह्वान कर रही थीं। आगे चलकर वे क्रांतिकारी संगठनों के संपर्क में आयीं जिन्होंने युवाओं को आर्थिक, भौतिक और नैतिक समर्थन दिया। सरलादेवी का परिवार प्रारंभ से ही कांग्रेस से जुड़ा था, बाद में सरलादेवी पर गाँधीवाद का प्रभाव गहरा पड़ा। इसके बरक्स शांतिसुधा की कोई राजनैतिक पृष्ठभूमि नहीं थी। लेकिन शिक्षा ग्रहण करने के लिए कलकत्ता जाने पर उन्होंने कांग्रेस के अधिवेशन देखे, क्रांतिकारियों से जुड़ीं और जेल भी गयीं। वे शिक्षा से ही जुड़ी रहीं और बाद में चलकर गाँधी से प्रभावित हुईं। उन्हीं की तरह मणिकुंतला भी राजनीतिक पृष्ठभूमि से नहीं आतीं थीं, पर उनपर कांग्रेस और गाँधी के संपर्क का गहरा असर पड़ा। शांतिसुधा के जेल जाने के बाद मणिकुंतला साम्यवादियों के संपर्क में भी आयीं और कम्युनिस्ट दल की सदस्य बनने को तैयार हो गयीं। वे जीवन के अंतिम समय तक साम्यवादी विचारधारा की पक्षधर रहीं हालाँकि उन्होंने सन् 60 में कम्युनिस्ट दल के विखंडन के बाद सक्रिय राजनीति से संन्यास ले लिया था।

इन तीनों के लिए आधुनिकता के अर्थ अलग-अलग थे। सरलादेवी बहुत बोल्ड थीं और

उन्होंने युवकों और युवतियों पर खूब प्रभाव डाला, आत्मकथा में उन्होंने बताया है कि उनके बहुत-से पुरुष मित्र थे, लेकिन वे सार्वजनिक तौर पर भाषण देने और साथ ही बाहरी लोगों के सामने आने से भी बचती थीं। आत्मकथा में उन्होंने गाँधीवाद के प्रभाव में आने और गाँधी जी के साथ संपर्क की चर्चा छोड़ दी है (आत्मकथा पूरी होने के पहले ही उनकी मृत्यु हो गयी थी)। अपनी कथा में उन्होंने अपनी माँ स्वर्णकुमारी से पृथक अपना व्यक्तित्व रचने का प्रयास किया है। 'जीबनेर झरापता' में वे यह बताती हैं कि जन्म से ही परिवार में उनका कोई बहुत स्वागत नहीं हुआ था। वे स्वयं को अवांछित संतान के रूप में चित्रित करती हैं। वे रबींद्रनाथ ठाकुर को अपनी संगीत प्रतिभा से चकित करती हैं और उनकी कोशिश यह रही है कि उनके माता-पिता उन्हें मेधावी और योग्य समझें। दूसरी तरफ वे अपने-आप को विद्रोहिणी के रूप में भी चित्रित करती हैं। आत्मकथ्य में वे इस बात पर बल देती हैं कि वे अपने माता-पिता से कभी निर्देशित नहीं हुईं फिर भी विवाह के मसले पर वे स्वर्णकुमारी देवी के निर्णय के समक्ष हथियार डाल देती हैं। कुल मिलाकर आत्मकथा में जो उनका व्यक्तित्व उभरता है वह परस्पर विरोधी तत्वों और खंडित आकाँक्षाओं से निर्मित हुआ है।

उधर शांतिसुधा घोष भी सरलादेवी की तर्ज़ पर ही आत्मकथ्य को अपने संक्रमणकालीन समाज की घटनाओं और अपनी टकराहटों का प्रतिफलन मानती हैं। वे भूमिका में ही लिखती हैं कि, "यदि मैं यह आत्मकथा न लिखती तो मेरे जीवन रंगमंच के तमाम रंग परदे के पीछे से निकल कर आत्मप्रकाशन का सुअवसर नहीं पाते।" वे आत्मकथ्य को लेखकीय सृजन के रूप में कहती हैं या यों कहें एक ऐसे टेक्स्ट के रूप में ले आती हैं जिसका विवेचन एक कृति के रूप में किया जाना चाहिए।

मणिकुंतला देवी के आत्मकथ्य में भी हमें आत्मविश्वास की कमी दिखती है। वह पार्टी के जन-प्रसार कार्यक्रमों के संदर्भ में भी लिखती हैं कि ऐसी संस्थाओं में यदि पुरुष की दिलचस्पी होती थी तो संभवतः कुछ उपलब्धियाँ मिलती लेकिन अपनी स्त्रियोचित सीमाओं में हम औरतें कर ही क्या सकती हैं।[31] याद रहे कि यह वही मणिकुंतला है जो पुरुषों के साथ बंगाल का दौरा करती है और कई बड़ी सभाओं को संबोधित करती है और ग्रामीण तथा औद्योगिक कामगारों को संबोधित करती है। उसे भारत के प्रतिनिधि के तौर पर कई देशों में जाने का अवसर भी मिला ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि स्त्रियों ने सदियों से चले आते हुए संकोच और हीनताबोध त्याग दिया और पुरुषों ने समान अधिकार की माँग को स्वीकृति दे दी लेकिन यह दोनों ही बातें सच नहीं है। तीनों के अवचेतन में अपनी स्वयं की क्षमताओं के बारे में ही संदेह रहे कदम-कदम पर जिन्हें बलात हटना पड़ा। साथ-ही पुरुष भी स्त्रियों को समान मनुष्य के रूप में स्वीकार करने के लिए उत्सुक नहीं थे यहाँ तक कि कम्युनिस्ट पार्टी में भी एक साधारण पार्टी-कार्यकर्ता की हैसियत से मणिकुंतला की स्थिति दोयम दर्जे की थी। मन में पार्टी को लेकर कुछ पूर्वग्रह थे। 1952 के विधानसभा चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से मणिकुंतला अकेली स्त्री प्रत्याशी थी जबकि पार्टी सीटों पर चुनाव लड़ी महिलाओं का प्रतिनिधित्व का मात्र 1% होने पर मणिकुंतला देवी का कहना था—"क्या पार्टी को लगता है कि स्त्री कार्यकर्त्ता चुनाव लड़ने के योग्य नहीं है।" कालीघाट सीट को लेकर एक लंबा विवाद चला और अन्य कोई उपयुक्त पात्र न मिलने के कारण मणिकुंतला देवी को कालीघाट की सीट मिली। पार्टी किसी भी अन्य स्त्री प्रत्याशी के विरोध में थी क्योंकि बाकी सब सीटों के लिए पुरुष प्रत्याशी थे।[32]

इससे इस बात की पुष्टि होती है कि स्त्रियों के बड़े पैमाने पर राजनैतिक क्रियाकलापों में हिस्सा लेने पर पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर चलने पर भी पुरुष ही सत्ता के केंद्र में थे।

संदर्भ

1. सीता राम सिंह, नेशनलिज्म एंड सोशल रिफॉर्म्स इन इंडिया : 1885-1920, दिल्ली, पृष्ठ 206 एवं मेद्रिथ बोर्थविक, द चेंजिंग रोल ऑफ़ वूमेन इन बंगाल, 1849-1905, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984, पृष्ठ 341
2. मेद्रिथ बोर्थविक, द चेंजिंग, रोल ऑफ़ वूमेन इन बंगाल, 1849-1905, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984, पृष्ठ 339
3. सुतनुका घोष, एक्स्प्रेसिंग द सेल्फ इन बंगाली वूमन आटोबायोग्राफीज़ इन द ट्वेंटिएथ सेंचुरी, साउथ एशिया रिसर्च www.sagepublications.com खंड 30 (2) पृष्ठ 105-123
4. ज्योतिर्मयी देवी, मेरे लेखन का प्रारंभ-चिरंतन नारी जिज्ञासा : सेकालीन दिनेर स्मृति, अनन्या प्रकाशन, कलकत्ता, अंग्रेजी अनुवाद रिमली भट्टाचार्य, 1995
5. सरलादेवी-जीबोनेर झरापता, द मेनी वर्ल्ड्स ऑफ सरलादेवी : अ डायरी, अंग्रेज़ी में अनुवाद सुखेंदु राय, सोशल साइंस प्रेस, 2010
6. एम.ई कुजिंस, ए इंडियन वूमनहुड टुडे, किताबिस्तान 1947, पृष्ठ 56
7. सुमित सरकार, द स्वदेशी मूवमेंट इन बंगाल 1903-8, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृष्ठ 305
8. द मेनी वर्ल्ड्स ऑफ़ सरलादेवी : अ डायरी, अंग्रेजी में अनुवाद सुखेंदु राय, सोशल साइंस प्रेस, 2010, पृष्ठ 3
9. द मेनी वर्ल्ड्स ऑफ सरलादेवी : अ डायरी, अंग्रेजी में अनुवाद सुखेंदु राय, सोशल साइंस प्रेस, 2010, पृष्ठ 35
10. जीवनस्मृति, रबींद्र रचनावली, खंड 10, बंगाल सरकार, 1368, विक्रम संवत, पृष्ठ 915
11. द मेनी वर्ल्ड्स ऑफ़ सरलादेवी : अ डायरी, अंग्रेजी में अनुवाद सुखेंदु राय, सोशल साइंस प्रेस, 2010, पृष्ठ 36
12. व्हाटेवर हैपंड टू वैदिक दासी, उमा चक्रवर्ती : रीकास्टिंग वीमेन, एसेज इन कोलोनियल हिस्ट्री संपादन-कुमकुम सांगरी और सुदेश वैद, जुबान प्रकाशन 1989, पृष्ठ 82-83
13. रामचंद्र गुहा, गांधी-द इयर दैट चेंज्ड द वर्ल्ड पृष्ठ 144
14. सरलादेवी चौधरानी, जीबोनेर झरापता, देश पत्रिका में प्रकाशित, सन् 1944-45
15. गांधी का पत्र—नवम्बर 1920 को, गाँधी वाङ्मय, खंड 18 में संकलित
16. व्हाटेवर हैपंड टू वैदिक दासी, उमा चक्रवर्ती; रीकास्टिंग वीमेन, एसेज इन कोलोनियल हिस्ट्री संपादन, कुमकुम सांगरी और सुदेश वैद, जुबान प्रकाशन 1989, पृष्ठ 86
17. प्रवर्जिका आत्मप्रण, सिस्टर निवेदिता ऑफ़ रामकृष्ण-विवेकानंद, पहली बार प्रकाशित 1961, पुनर्मुद्रण कलकत्ता; रामकृष्ण शारदा मिशन 1992, पृष्ठ 245
18. गाँधी का पत्र सरलादेवी को, 30.4.1920, गाँधी वाङ्मय खंड 17 पृष्ठ 358-59, गाँधी-द इयर दैट चेंज्ड द वर्ल्ड, रामचंद्र गुहा, पृष्ठ 162
19. गाँधीजी का पत्र हर्मन कैलेनबैक को 10 अगस्त 1920 को, गाँधी वाङ्मय खंड 18, पृष्ठ 142 इस पत्र में गाँधीजी लिखते हैं—''...और अपने बारे में क्या लिखूं? फिलहाल तो कुछ नहीं लिखूँगा। देवदास मेरे साथ है। वह हर दिशा में निरंतर प्रगति कर रहा है। अभी मैं देवदास और एक दूसरे विश्वस्त साथी के साथ यात्रा कर रहा हूँ। उसे देखोगे तो उस पर मुग्ध हो जाओगे। बात यह है कि इस महिला से मेरा बहुत घनिष्ठ संपर्क हो गया है। वह अक्सर यात्रा में मेरे साथ रहा करती है। उसके साथ मेरे संबंधों को बौद्धिक विवाह कहा है। मैं चाहता हूँ तुम उससे मिलो। मैं अपने लाहौर और पंजाब के निवास काल में कई महीने उसी के घर ठहरा था...।
20. गाँधी को राजगोपालाचारी का पत्र, 16 जून 1920, संकलित गोपालकृष्ण गाँधी की पुस्तक माई डियर बापू, नयी दिल्ली पेंगुइन 2012, पृष्ठ 37-39
21. राजगोपालाचारी का पत्र गाँधीजी को 16 जून 1920, गोपालकृष्ण गाँधी द्वारा सम्पादित माई डिअर बापू, नयी दिल्ली, पेंगुइन 2012, पृष्ठ 37-39
22. 'गाँधी-द इयर दैट चेंज्ड द वर्ल्ड' पृष्ठ 162 Almost all of Sarala's own letters to Gandhi were destroyed by Gandhi's family. But even from one side of the correspondence we can see how intimate the friendship was.

23. गाँधी का पत्र सरलादेवी को, 1.5.1920 को ''...और अब तुमसे एक चीज़ माँगूगा। मैं जानता हूँ तुमने मुझे बहुत कुछ दिया है। लेकिन जैसे जैसे प्राप्त होता गया है वैसे वैसे भूख बढ़ती गयी है। तुमने कहा कि आश्रम में काम करते हुए तुमको संकोच होता है। क्या तुम वहाँ घरेलू काम-काज करना शुरू करके इस संकोच भाव से छुटकारा पाने की कोशिश नहीं करोगी? अगर सिर्फ मेरी ही खातिर तुम ऐसा करो तब भी कोई हर्ज़ नहीं। यहाँ हमारे दृष्टिकोण में परिवर्तन होने का सवाल का सवाल नहीं उठता। सवाल सिर्फ अपनी अनिच्छा पर काबू पाने का है। तुम महान हो नेक हो, लेकिन जब तक तुममें घरेलू काम-काज करने की क्षमता नहीं आती, तब तक तुम स्त्री के रूप में पूर्ण नहीं हो सकती। तुमने औरों को इसका उपदेश दिया है। अतः जब लोगों को यह मालूम होगा कि तुम्हारी उम्र और हैसियत की महिला भी घरेलू काम-काज करने में बुरा नहीं मानती तो तुम्हारे उपदेश का ज्यादा असर होगा। सस्नेह, तुम्हारा विधि-प्रणेता। महादेव देसाई की हस्तलिखित डायरी (अंग्रेजी से) से, सौजन्य नारायण देसाई संकलित, सम्पूर्ण गाँधी वांङ्मय, खंड 17, पृष्ठ 400-401
24. भारती रे, अर्ली फेमिनिस्ट इन कोलोनियल इंडिया, चित्रा देब, वूमेन आफ द टैगोर हाऊसहोल्ड-नयी दिल्ली पेंगुइन इंडिया 2016, सुनील गंगोपाध्याय का फर्स्ट लाइट, बंगाली से अंग्रेजी अनुवाद चक्रवर्ती अरुणा चक्रवर्ती, नयी दिल्ली पेंगुइन इंडिया 2001 cited on 1.1.2021
25. https.//mainehumanities.org/lets-talk/the-journey-inward-womens-autobiography/cited on 1.1.2021
26. इज़ाडोरा इंकन द जर्नी इनवार्ड, वूमन ऑटोबायो ग्राफी, माय लाइफ https://mainehumanities.org/lets-talk/the-journey-inward-woments-autobiography/cited on 1.1.2021
27. सुतनुका घोष : इमेजीनिंग लव इन अर्ली ट्वेंटिएथ सेंचुरी बंगाल; गोलोकधांधा एंड साबित्री राय स. मेघना-पद्मा : इंटरनेशनल जर्नल ऑफ़ बंगाल स्टडीज, वॉल्यूम; 2-3-2011-2012, पृष्ठ 244-258
28. मणिकुंतला सेन, शे दिनेर कथा, नबपत्र प्रकाशन, कोलकाता, 1982
29. मणिकुंतला सेन, इन सर्च ऑफ़ फ्रीडम : एन अनफिनिश्ड जर्नी, कलकत्ता, स्त्री 2001, पृष्ठ 23
30. मणिकुंतला सेन, इन सर्च ऑफ़ फ्रीडम : एन अनफिनिश्ड जर्नी, कलकत्ता; स्त्री-2001, पृष्ठ 120
31. मणिकुंतला सेन, इन सर्च ऑफ़ फ्रीडम : एन अनफिनिश्ड जर्नी, कलकत्ता, स्त्री-2001, पृष्ठ 2
32. मणिकुंतला देवी, शेदिनेर कथा, पृष्ठ, संख्या 83

संपर्क : हिंदी विभाग, भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, मो. : 8985708041

समकालीनता और नाटक

नरेन्द्र मोहन

यह बात शुरू में ही समझ लेनी चाहिए कि नाटक को रंगमंच से और रंगमंच को नाटक से जुदा नहीं किया जा सकता। जब ऐसा करने की कोशिश की जाती है तो न नाटक रह जाता है न रंगमंच। यह इस माध्यम की ज़रूरी माँग है और जो नाटककार इस माँग के अर्थ को समझे बिना यानी रंगमंचीय अपेक्षाओं को पूरा किए बिना नाट्य-लेखन में प्रवृत्त होते हैं, वे चाहे कितना अच्छा 'साहित्यिक' नाटक लिखते रहें, सही अर्थों में उनकी कृति 'नाटक' नहीं होगी। हिंदी में, दुर्भाग्य से, नाटक को 'साहित्यिक' और 'रंगमंचीय' वर्गों में बाँटने की जो अस्वस्थ प्रवृत्ति रही है, वह नाटक जैसे माध्यम की सही पहचान में बाधक बनी है। इस प्रवृत्ति की ओर हम इसलिए संकेत कर रहे हैं कि अब भी ऐसे नाटककार है जो नाटक में रंगमंच को समाहित किए बग़ैर रंगमंच के अनुभव से गुजरे बिना नाटक लिखते हैं और उसे साहित्यिक-कृति के तौर पर छपवाकर गौरवान्वित महसूस करते हैं, यह सोचते हुए कि कभी-न-कभी किसी निर्देशक की नज़र उनके नाटक पर पड़ेगी और वह उसे खेलेगा—नाटक को रंगमंच के अनुकूल ढालेगा। शिक्षण-संस्थानों, विश्वविद्यालयों का भी यही हाल है। वहाँ नाटक को पाठ्य पुस्तक के तौर पर ही पढ़ाया जाता है—ऐसी पुस्तक जिसके लिए विद्यार्थियों को रंगकर्म संबंधी जानकारी देना ज़रूरी नहीं। दूसरे शब्दों में इसे नाटककार और रंगकर्मी, नाट्यालेख और रंग-कर्म संबंधों की समस्या भी कह सकते हैं जिससे निपटना आज के पाठक, नाटककार, रंगकर्मी और नाट्य-समीक्षक के लिए ज़रूरी है। दूसरा पहलू है जहाँ रंग-कर्म ही रंग-कर्म, थियेटर ही थियेटर की मौज़ूदगी है और नाटक ग़ायब रहता है। कई बार नाटक के आधार को ग्रहण किए बिना लोग-बाग़ रंगमंच की कल्पना में तल्लीन हो जाते हैं। नाटक के लिखित रूप के बग़ैर कई निर्देशक एक काम-चलाऊ रूपरेखा बना लेते हैं और मंचन कर लेते हैं। न रंग-शब्द की परवाह, न रचना-प्रक्रिया का बखेड़ा! नाटक की रचना-प्रक्रिया को मंचीकरण की प्रक्रिया से जोड़कर देखने की इन्हें फ़ुरसत कहाँ? ध्यान दें नाटक की रचना-प्रक्रिया में समस्याओं, स्थितियों और चरित्रों को जिस संश्लिष्टता

से पेश किया जाता है वह शब्द और रंग के अंतर्संबंधों और ध्वनियों के साथ है। रचना-प्रक्रिया के दौरान नाटककार का ध्यान दृश्य पर ही नहीं, शब्द पर भी रहता है, शब्द भी ऐसा जिसमें क्रियात्मकता हो। नाटक की रचना करते वक़्त नाटककार को इस क्रियात्मकता का जितना ध्यान रहेगा उतना ही उसका नाटक सफल होगा। इस क्रियात्मकता का एहसास उसे तभी होगा जब वह पूरी रंग-प्रक्रिया के बीच उसका एक अंग बनकर जीये। रचना-प्रक्रिया और रंग-प्रक्रिया एक-दूसरे के विरोधी नहीं, एक-दूसरे के सहयोगी है, ऐसा इधर के लगभग सभी नाटककारों ने अनुभव किया है।

हिंदी में रंगमंच को 'थियेटर' के पर्याय रूप में गढ़ा गया है। रंगमंच में वस्तु-पक्ष के साथ-साथ नाटक, रंग-भवन, रंग-शिल्प और अभिनय आदि सभी पक्ष शामिल हैं। यह बात भारतीय और पाश्चात्य रंगमंच संबंधी अवधारणाओं और इतिहास से भी स्पष्ट है। संस्कृत का 'नाट्य' शब्द रंगमंच के इस व्यापक अर्थ को बेहतर व्यंजित करता है। जयशंकर प्रसाद इसी 'नाट्य' शब्द से परिचालित हैं। ग़ौर करने की बात है कि अपने समय की रंग-संस्थाओं के प्रसाद जी के अनुभव अच्छे नहीं थे। बनारस में अपने नाटक *'चन्द्रगुप्त'* के मंचन को देखकर वे रो दिए थे। तभी उन्होंने *'रंगमंच'* नामक अपने निबंध में लिखा था 'नाटक रंगमंच के लिए नहीं, रंगमंच नाटक के लिए है।' कारन्त जी को यह श्रेय जाता ही है कि उन्होंने प्रसाद जी के नाटकों को दृश्य-विधान के संयोजन और नाट्य-संगीत द्वारा नयी रंग-शैली में ढाल कर उनकी शानदार प्रस्तुतियाँ कीं।

हमारे पास एक ओर भारतीय रंगमंच तो दूसरी ओर पाश्चात्य रंगमंच की शानदार, समृद्ध और सुदीर्घ परंपराएँ मौजूद हैं। हम जानते है कि कालांतर में नाटक का विभिन्न दृष्टियों और धरातलों पर जैसे-जैसे विकास होता गया वैसे-वैसे रंगमंच का भी विकास होता गया। यह विकास सामाजिक ढाँचे में उत्तरोत्तर घटित होने वाले बदलाव से भी जुड़ा हुआ है। सामंतवादी व्यवस्था से पूँजीवादी व्यवस्था तक और पूँजीवादी व्यवस्था से समाजवादी व्यवस्था तक पहुँचने में सामाजिक और राजनीतिक पद्धतियों में जिस तरह परिवर्तन होते गए, वैचारिक दृष्टिकोण उभरते गये, उनकी छाप नाटक के कथ्य पर ही नहीं, पूरी नाट्य-संरचना पर पड़ती गयी। सामंतवादी व्यवस्था में नाटक में नायक की परिकल्पना हावी रही मगर पूँजीवादी व्यवस्था में नायक की परिकल्पना खंडित हुई और ढाँचा भी बदला। प्रसाद में ढाँचे और नायक दोनों का तनाव है। समाजवादी व्यवस्था में एंटी हीरो, प्रतिनायक सामने आया और ढाँचा कोरमकोर बदल गया। इस आधार पर थियेटर या रंगमंच का स्वरूप भी बदलता गया। उत्तर आधुनिक उपभोक्तावादी व्यवस्था में संबंधों और सरोकारों में तेज़ी से परिवर्तन हुआ है हालाँकि बाज़ार की घुसपैठ से विकृतियाँ भी खूब आयी हैं तो भी नाटकीय ढाँचा अधिक खुला और लचीला हुआ है। थियेटर ऑफ फैक्ट, थियेटर ऑफ एब्सर्ड, टोटल थियेटर, लिविंग थियेटर, अंडर ग्राउंट थियेटर, गोरिल्ला थियेटर, हेपनिंग, स्ट्रीट थियेटर, 'कहानी का रंगमंच', 'कविता का रंगमंच' आदि जो विभिन्न दृष्टियाँ, शैलियाँ और प्रवृत्तियाँ उभरी, वे इस बात का गवाह हैं कि सामाजिक संरचना में परिवर्तन नाट्य संरचना में भी कई रूपों, और शैलियों में प्रकट होता है। इससे रंगमंच संबंधी बुनियादी परिवर्तन हुए हैं जिसकी छाप नाटक के विभिन्न दौरों में देखी जा सकती है।

नाटक ने लोकजीवन के साथ साधारण आदमी के सुख-दुःख के साथ जुड़ने का जब भी प्रयत्न हुआ है तभी प्रचलित रंगमंचीय व्यवस्थाओं में तब्दीली हुई है। भारतेंदु काल में इस बात के प्रमाण मौजूद है। इस काल में जन-जागरण के साथ नाटक को जन-जीवन के साथ संबद्ध करने के जो प्रयत्न हुए उसके ज़रिये रंगमंच के क्षेत्र में नये ढंग की गतिविधियाँ शुरू

हुई। भारतेंदु काल की रंगधर्मी सक्रियता, जो भारतेंदु के *'अँधेर नगरी'* और *'भारत-दुर्दशा'* से शुरू हुई, से यह बात स्पष्ट है। पर जैसे ही लोकजीवन के साथ नाटक का संबंध शिथिल हुआ, रंगमंच का विकास भी अवरुद्ध हो गया, यहाँ तक कि नाटककारों के लिए रंगमंच का व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना भी ग़ैर ज़रूरी समझा जाने लगा। रंगमंच नाटककारों के सरोकार का विषय न रहा। नाटकों को अभिनीत करने, उन्हें रंगमंच पर खेलने की चिंताएँ अब उन्हें नहीं सालती थीं। हिंदी में ऐसे नाटक एक लंबे समय तक धड़ल्ले से लिखे जाते रहे और उसी तरह पढ़े-पढ़ाए जाते रहे जिस तरह उपन्यास या कहानियाँ पढ़ी-पढ़ाई जाती रहीं। यह समय नाटक और रंगमंच के एक-दूसरे से कट जाने का, अलगाव का था। नाटक और रंगमंच को एक-दूसरे के संदर्भ में, एक-दूसरे के आमने-सामने रखकर देखने की समझदारी उन दिनों कम दिखती थी। नाटक और रंगमंच को जितना नुकसान उन दिनों उठाना पड़ा उतना शायद कभी न उठाना पड़ा होगा।

समकालीनता-बोध के तीन दौर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं - पहला, स्वतंत्रता-प्राप्ति से लेकर 1965 तक, दूसरा 1965 से लेकर 1980 तक और तीसरा 1980 से लेकर आज तक। ये तीनों दौर समकालीनता-बोध के अंदरूनी सूत्रों से परस्पर जुड़े हुए हैं। हिंदी में नये नाटक की शुरुआत छठवें दशक में हुई। 1950-60 के दौर में कुछ ऐसे नाटक लिखे गये जिनमें रंगमंच को बुनियादी निष्ठा के रूप में ग्रहण किया गया। इन नाटकों में स्वच्छंदतावादी भाव-भूमियों की अपेक्षा, यथार्थ के तकाज़ों की पहचान अधिक थी। ऐसे नाटकों द्वारा पाठ्य-नाटकों की धारणा टूटी और वे रंगमंच की अपेक्षाओं के अनुरूप ढले। जगदीशचंद्र माथुर आज़ादी/विभाजन के सन्नाटे और सूनेपन की गहन अनुभूति को गहराने वाले, उस अनुभूति को रंग-कर्म में ढालने वाले पहले बड़े नाटककार हैं और *कोणार्क* एक बड़ी रंगकृति। *कोणार्क* में भारतीय और पाश्चात्य रंग परंपराएँ एक हो गयी हैं। भारतेंदु और प्रसाद के बाद, जगदीशचंद्र माथुर और उनका नाटक *कोणार्क* मानवीय मूल्यों की टकराहट को व्यक्त करने वाला समकालीनता का प्रारंभ करने वाला नाटक है। एक कलाकार की कला प्रतिबद्धता को, कलाकार और राज्य के द्वंद्व और संघर्ष को सृजित करने वाले नाटक के रूप में इसकी ध्वनियाँ आगे चलकर शंकर शेष के 'एक और द्रोणाचार्य', भीष्म साहनी के *'हानूश'*, सुरेंद्र वर्मा के *'आठवां सर्ग'* और प्रताप सहगल के 'अन्वेषक' में सुनी जा सकती है। धर्मवीर भारती और मोहन राकेश की नाट्य-कृतियों में नये नाटक की पहली बानगी प्राप्त हुई। तब तक हिंदी नाटककार इब्सन, बर्नाड शॉ, चेखव, ब्रेख्त और बैकेट से अच्छी तरह परिचित हो चुके थे और इनका प्रभाव भी नये नाटकों की संरचना पर दिखने लगा था। धर्मवीर भारती के काव्य-नाटक *'अंधा-युग'* में नयी नाट्याभिरुचि के संकेत बहुत स्पष्ट है। दिल्ली के फिरोज शाह कोटला के खँडहर और प्रकृति के मिले-जुले प्रभाव से रचित रंगमंच पर जब *'अंधायुग'* खेला गया था तो इसने लोगों को तेज़ी से अपनी ओर आकर्षित किया था - युद्ध की विभीषिका, मूल्यगत त्रासद विघटन या संघर्ष के प्रश्नों के कारण ही नहीं, नाटक में व्याप्त रंगमंच की वजह से भी। इसी बीच दुष्यन्त कुमार का काव्य नाटक *'एक कंठ विषपायी'* सामने आया जिसमें शिव और पार्वती जैसे पौराणिक पात्रों के ज़रिये समकालीन यथार्थ को मूल्य धरातल पर व्यक्त किया गया। अज्ञेय के नाटक *'उत्तर प्रियदर्शी'* में भी इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है।

यह तो सभी मानेंगे कि नये नाटक की रचना और नये रंगमंच को विकसित करने में मोहन राकेश का विशेष हाथ है। उनकी नाट्य कृतियाँ (*'आषाढ़ का एक दिन', 'आधे-अधूरे', 'लहरों के राजहंस'*) के मंचीय प्रस्तुतीकरण के माध्यम से यथार्थ जीवन की नाट्य परिकल्पना

को अत्यधिक बल मिला। *'आषाढ़ का एक दिन'* और 'लहरों के राजहंस' में पौराणिक कथा-सूत्र को बेशक ग्रहण किया गया है, तो भी इन नाटकों के मूल में तत्कालीन युग की त्रासद स्थितियों की झलक देखी जा सकती है। 'आधे-अधूरे' में आज के व्यक्ति की कई तहों में लिपटी मानसिकता को, उसके खण्डित व्यक्तित्व को गार्हस्थ्य जीवन की संक्रांत स्थितियों में रखकर देखा-पड़ताला गया है। मोहन राकेश के नाट्य-विधान की एक विशेषता है उसका 'नाटकीय शब्द' जिस पर उन्होंने विशेष बल दिया है। एक स्थल पर उन्होंने कहा है : 'थियेटर को अपना निश्चित मुहावरा शब्द से लेना होगा, दृश्य से नहीं। शब्द ही उसका आधारभूत चरित्र है।' मोहन राकेश शब्द की अनुगूँज को अभिनय का मूल आधार मानते थे। उनके नाटकों में इस अनुगूँज को कई स्तरों पर सुना जा सकता है। यह अनुगूँज पैदा हुई है शब्दों में हरकत की वजह से। हरकत की यह भाषा और भाषा की यह क्रियात्मकता समकालीन नाटक को एक अलग पहचान और हैसियत प्रदान करती है। स्त्री-पुरुष संबंधों की तलाश का, नारी मुक्ति की क्रमिक विकास यात्रा का मोहन राकेश के बाद कई दृष्टियों से अगला पड़ाव हैं सुरेंद्र वर्मा के नाटक, ख़ास तौर से *'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक'*। 1980 के बाद स्त्री-पुरुष संबंधों की चीर फाड़ करते हुए उन्होंने नया रंग मुहावरा तलाशा है।

एक अरसा बीत गया जब नाटकों में विसंगति या विसंगतिपूर्ण जटिल अनुभवों का काफी बोलबाला रहा। इस विसंगति की जड़ें तब एक ओर लक्ष्मीकांत वर्मा के नाटकों में दिखायी दी थी तो दूसरी ओर विपिन कुमार अग्रवाल के नाटकों में जिन्हें लक्ष्मी नारायण लाल जैसे नाटककारों ने आगे बढ़ाया। यह विसंगति केवल कथ्यगत नहीं एब्सर्ड थियेटर से जुड़कर आई थी। लक्ष्मीकांत वर्मा के नाटक *'आदमी का ज़हर'* *'रोशनी एक नदी है'* और विपिन कुमार अग्रवाल के नाटक *'तीन अपाहिज'* में एब्सर्ड थियेटर के प्रभाव को लक्षित किया जा सकता है। ये नाटक भुवनेश्वर के विसंगति-बोध और एब्सर्ड थियेटर के नाटकों के क्रम में देखे गए थे। परंपरागत रूप के बजाए ये नाटक नए मंच की ज़रूरत का एहसास पैदा करते हैं। नाटकों में विसंगति और विद्रूप का चित्रण कथ्य और थियेटर दोनों रूपों में समकालीन नाटक का ज़रूरी हिस्सा प्रतीत होता है जो व्यंग्य नाटकों और इधर के नाटकों तक चला आया है। व्यंग्य और विसंगति में से अस्तित्व और विद्रोह के प्रश्नों की गुंजाइश निकाल लिए जाने को लक्ष्मीनारायण लाल, मुद्रा राक्षस, सुरेंद्र वर्मा और रमेश बक्षी के कई नाटकों के रंग विधान में देखा जा सकता है। लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक *'अब्दुल्ला दीवाना'* में एब्सर्ड थियेटर और अस्तित्ववादी भावबोध का सम्मिश्रण अद्‌भुत है।

सामाजिक धरातल पर विद्रोह और संघर्ष को नाट्य-विधान का हिस्सा बनाने वाले कई महत्त्वपूर्ण नाटक विभिन्न नाट्य शैलियों में खेले गए हैं - *'बकरी'* का नौटंकी शैली में, *''सैंया भए कोतवाल'* का तमाशा शैली में और *'चरणदास चोर'* का छत्तीसगढ़ी बोली में प्रदर्शन आज भी लोगों को याद है। ये ऐसे नाटक हैं जो थियेटर ऑफ एब्सर्ड का निषेध करते है, साथ ही जनचेतना से संबद्ध मंच की संभावनाओं को खोलते हैं। इस दृष्टि से दयाप्रकाश सिन्हा का नाटक *'कथा एक कंस' की* कई बार खेला गया है और निर्देशकों द्वारा मिथकीय पात्रों की अलग-अलग व्याख्याएँ स्वतः होती गई हैं। इन नाटकों की एक मुख्य प्रवृत्ति रही है कि मिथकीय कथा और चरित्र के ज़रिए विद्रोह और संघर्ष को व्यक्त किया जाए। शंकर शेष के नाटकों, ख़ास तौर पर एक और द्रोणाचार्य में मिथकों के ज़रिये समकालीन यथार्थ को गहराई और मार्मिकता से उघाड़ा गया है, जो उनकी नाट्य क्षमता का परिचायक है। इसकी प्रासंगिकता दिनोंदिन बढ़ रही है। पिछले दिनों समीप सिंह के निर्देशन में इसकी प्रस्तुति देखी तो दृश्यों

के संयोजन में से दलित और आदिवासी पीड़ा के संदर्भ दर्शकों की चेतना में उभरते चले गए। विनय के '*पहला विद्रोही*' में रमेश बक्षी के *'देवयानी का कहना है'* और मणि मधुकर के '*रसगंधर्व*' में भी इस क्षमता को देखा गया जहाँ पौराणिक पात्रों के ज़रिये शोषण और दमन के खिलाफ़ विद्रोह व्यक्त किया गया है। कुछ नाटकों में व्यंग्यात्मक रवैया भी उभरा है जैसे शरद जोशी के नाटकों *'अंधों का हाथी'*, और '*एक था गधा*' में तथा कुसुम कुमार के नाटकों जैसे '*संस्कार को नमस्कार*' और '*दिल्ली ऊँचा सुनती है*' में। विभाजन की त्रासदी की नयी निर्देशकीय परिकल्पनाओं के साथ असगर वजाहत का नाटक '*जिस लाहौर नहीं देखया ओ जन्मया ई नईं*' और नरेंद्र मोहन का नाटक *'नो मैस लैंड'* खूब चर्चित रहे हैं। इधर जन नाटक और नुक्कड़ नाटक भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। इस बीच अन्य कई नाटकों ने भी ध्यान खींचा है जिनमें से मुख्य हैं रमेश गौड़ का '*एक और चक्रव्यूह*', नाग बोडस का *'कृति-विकृति'*, सुरेंद्र तिवारी का *'एक था राजा'*, प्रताप सहगल का *'रंग बसंती'*, रामेश्वर प्रेम का *'चारपाई'*, जयवर्धन का '*किस्सा मौजपुर का*', गिरिराज किशोर का *'प्रजा ही रहने दो'*, मृणाल पाण्डेय का *'जो राम रचि राखा'*, सुशील कुमार सिंह का *'सिंहासन खाली है'*, और नंद किशोर आचार्य का *'गुलाम बादशाह'* आदि।

'कहानी का रंगमंच' नाम लेते ही देवेन्द्र राज अँकुर याद आते हैं और डेढ़ सौ के क़रीब उनकी प्रस्तुतियाँ। अँकुर की कहानी मंचन की अवधारणा से हटकर भी कई रंगकर्मियों ने कहानियों के मंचन किए है। इस तरह के रंगमंच का एक पैटर्न-सा बनता जा रहा है। नए प्रयोगों के अभाव में सब रुका-रुका सा है। कहानी के रंगमंच पर चूँकि अलग से लिख चुका हूँ, इसलिए *कविता के रंगमंच* पर थोड़ी बात कर लें। इधर कविता का रंगमंच तेज़ी से अपनी पहचान बना रहा है। विजय सोनी शायद पहले रंगकर्मी थे जिन्होंने लगभग 50 वर्ष पहले मुक्तिबोध की लंबी कविता '*अँधेरे में*' त्रिवेणी प्रेक्षा-गृह (दिल्ली) में रंगमंच की साइको फिजिकल (मनोशारीरिक) पद्धति से मंचित की थी। इससे पहले बादल सरकार ग्रोतोव्स्की के थियेटर के ध्वनि प्रभावों को लेकर *तीसरे रंगमंच* की परिकल्पना ज़रूर कर चुके थे मगर ग्रोतोव्स्की से प्रभावित होने के बावजूद विजय सोनी ने मनोशारीरिक रंगमंच द्वारा अमूर्त मन और देह-भाषा के अंतर्संबंधों की प्रस्तुति *'अँधेरे में'* जिस प्रकार की वह अलग और विलक्षण थी। तब यह उम्मीद जगी थी कि कविता के मंचन में नए-नए प्रयोग होंगे, लेकिन कविता के रंगमंचीय प्रयोगों का वैसा सिलसिला न बन पाया जैसा कहानी के रंगमंचीय प्रयोगों का। तो भी, छिट-पुट प्रयोग होते रहे। सुमन कुमार ने *'अँधेरे में'* का नाट्य रूपातंरण 1996 में किया और कंवल नयन ने 2007 में कविता के पाठ को बरक़रार रखते हुए *'अँधेरे में'* की प्रभावशाली प्रस्तुत दी। तीन लंबी कविताओं '*एक अदद सपने के लिए*' (नरेंद्र मोहन) 'शिशु होकर' (कँवल नयन कपूर), *'जलावतन'* (पाल कौर) जैसी लंबी कविताओं की संयोजन और निर्देशन में यह अभिनय और सारे मंच विधान का अद्‌भुत विन्यास नज़र आया। कविता को लेकर अभिनय और अभिनय में कविता का यह माध्यम बड़ा चुनौतीपूर्ण है जहाँ एकल अभिनय के लिए बड़ी स्पेस है। इस स्पेस को तीनों कविताओं की प्रस्तुति में खूब निभाया गया। इसी तरह शशि बरहानपुरकर ने औरंगाबाद में धूमिल की लंबी कविता *'पटकथा'* के पाठ को एकल अभिनय द्वारा बड़ी मार्मिकता से प्रस्तुत किया। आर. एस. विकल ने जहाँ *मि.* जिन्ना और *मंच अँधेरे* में नाटकों के केंद्रीय विचारों को मनोशारीरिक शैली में प्रस्तुत किया वहीं उन्होंने कविताओं और लंबी कविताओं का भी मचित किया हैं। विकल और विभा रानी ने *'शर्मिला इरोम'* जैसी कविता को रंग पाठ की ध्वनियों के साथ अभिनयात्मक पाठ की जो शैली अपनायी कविता के रंगमंच में एक अलग ढंग का

प्रयोग था। इन दिनों कलकत्ता में उमा झुनझुनवाला भी कविताओं/लंबी कविताओं के मंचन में जुटी हुई है। *'एक अग्निकांड जगहें बदलता'* और *'एक अदद सपने के लिए'* जैसी लंबी कविताओं को एक दूसरे में घुलाकर उन्होंने एक रंगमंचीय पाठ तैयार किया और लिटिल थेस्पियन रंग-मंडली द्वारा खेला तो शब्द, रंग और अभिनय का ऐसा अनूठा कोलाज़ बना कि उसकी रंग ध्वनियों को दर्शकों की चेतना का हिस्सा बनते देर न लगी। कविता और रंगमंच को एक वेवलेंथ पर तानने की, शब्द की ध्वनियों से बिना कोई छेड़छाड़ किए, अभिनय में, रंग-शब्द में ढालने से कविता का पाठ रंग-पाठ में बदलता गया। कविता के रंगमंचन की यह शैलियाँ और प्रयोग रसास्वादन की अलग-सी प्रक्रिया का आभास देने लगी है और उनकी प्रस्तुतियों के अलग-अलग रूप सामने आ रहे हैं।

नाटक और रंगमंच, संगीत और गायन अगर नाटकीय कथ्य और अभिप्राय से जुड़ा हुआ न होगा तो वह अपने उच्च स्तर और चमक के बावजूद किसी काम का नहीं है। ज़रूरी है कि वह नाट्य व्यापारों और चरित्रों पर एक मार्मिक टिप्पणी के रूप में हो। उसका महत्त्व बढ़ जाता है जब वह शब्द और रंग में घुला हो। 'कबिरा खड़ा बाज़ार में' (भीष्म साहनी) कबीर के पदों की गायकी मुख्य हो गयी है और *'कहै कबीर सुनो भाई साधो'* में पदों की गायन प्रस्तुति व्याख्यात्मक टिप्पणी के रूप में है। अपनी कई विशेषताओं के बावजूद *'ताजमहल का टेंडर'* का संगीत और गायन नाटक की प्रस्तुति का हिस्सा नहीं है बल्कि फिल्मी गीतों और ट्यूनों के ऊपर से थोपे होने की वजह से अस्वाभाविक है और रंग विरोधी भी। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' का मंचन भारी-भरकम सेटों के नीचे दब कर रह गया है। देवाशीष मजूमदार के नाटक *'रंगमाटी'* में स्टेडियो में अभिनेत्री की इंटरव्यू का संदर्भ स्वाभाविक है। वहाँ प्रकाश, अंधकार और संगीत परस्पर नाट्य-वस्तु में घुल-मिल गए हैं, उसके साथ संश्लिष्ट होते गए हैं।

रंगमंच और ललित कलाओं की पहचान के आधार, उनकी रचना पद्धतियां, उपकरण और प्रवृत्तियाँ अलग-अलग हैं, पर वे अपनी-अपनी दुनिया में बंद नहीं हैं, खुली हुई हैं। अपनी पहचान में सिकुड़ी हुई नहीं हैं बल्कि हर बार एक पहचान में से दूसरी पहचान को जन्म देती हैं। देवेश राय के नाटक *'समय असमयेर वृत्तांत'* में विडियो का प्रस्तुति प्रयोग नयी नाट्य ध्वनियों का संचार करने लगता है। बनाते और ढहाते हुए, पाते और मिटाते हुए, लीक से हटकर प्रयोग करते हुए निरंतर अन्वेषित होते रहना उनकी प्रकृति है। छाज की तरह सार-सार को ग्रहण करती हुई कलाएँ, 'थोथे', ऊपरी और कृत्रिम को उड़ा देती हैं। समय के अनुरूप नवीनीकरण का यह उनका अपना ढंग है।

समकालीन-बोध के नए सवाल, नयी चुनौतियाँ सामने हैं और नाटककारों, रंगकर्मियों की नयी पीढ़ियाँ इन सवालों और चुनौतियों से जूझ रही हैं। अस्मिता थियेटर द्वारा मंचित, अरविंद गौड़ द्वारा निर्देशित महेश दत्तानी का नाटक *'फाइनल सोल्यूशन'* और राजेश कुमार का नाटक *'अम्बेडकर और गाँधी'* राजनीतिक विमर्श को रंगमंचीय दृश्यों और गतियों में जिस तरह तानते हैं उससे पक्ष-प्रतिपक्ष, पवांइट काँउटर पवांइट बनते जाते हैं और देर तक दर्शकों की चेतना में विचारों और अभिप्रायों को गूँजाते रहते हैं। ऐसा ही तब हुआ था जब अरविन्द गौड़ के ही निर्देशन में *'मि. जिन्ना'* नाटक का मंचन हुआ था, बैन होने के बाद जे.एन.यू. के ओपन एयर थियेटर में जो मेरे लिए यादगार रंगमंचीय अनुभव बन गया।

इधर के दौर में चित्रकला और नाट्य कला के सरोकारों अभिप्रायों और सरोकारों के अन्तरावलंबन को लेकर महत्त्वपूर्ण प्रस्तुतियाँ हुई हैं जिनमें से सत्यव्रत राउत का नाटक *'तुम्हारा*

विन्सेंट' वॉन गॉग की जीवनी पर आधारित है। पढ़ने में ही नहीं, मंच पर देखने योग्य भी है। जीवनी के उद्वेलनकारी अनुभवों को गहरे आत्मीय रंग देने के लिए वान गॉग के पत्रों का रंगमंचीय उपयोग पूरे नाटक और प्रस्तुति को जीवंत बनाए रखता है। इसी तरह स्वदेश दीपक के 'कोर्ट मार्शल', कृष्ण बलदेव वैद के '*भूख आग है*' मछिन्द्र मोरे के *नाटक 'जानेमन'* और दानिश इकबाल के *'दिल्ली जो एक शहर था'* नाटकों में समकालीनता बोध के तीसरे दौर के संबंधों और सरोकारों में सभ्यतामूलक परिवर्तनों और संकटों की आहटें सुनी जा सकती हैं। उमा झुनझुनवाला का नाटक '*रेंगती परछाइयाँ*' (निर्देशन : अजहर आलम) और अजहर आलम का नाटक *'रूहें'* (स्वयं नाटककार द्वारा निर्देशित), मीराकांत का नाटक *'उत्तर-प्रश्न'* (निर्देशक सतीश आनंद), घनश्याम कुमार देवांस का नाटक '*हस्तिनापुर की निर्वासित स्त्री'* (निर्देशक सुरेश शर्मा) और ऋषिकेश वैद्य का नाटक '*मार्फोसिस'* (निर्देशन बापी बोस) पढ़ने, देखने लायक हैं। *'मार्फोसिस'* नाटककार अभिनेता-निर्देशक के अंतर्संबंधों की, उनके बीच के गहरे तनावों और संतापों की बेहद झकझोरने वाली प्रस्तुति है - कई स्थलों पर अतिरेक की हदों को छूती हुई - मुक्तिबोध की लंबी कविता *'अँधेरे में'* को रूपांतरण की दृष्टि से कुछ ज़्यादा ही खींच दिया गया है।

समकालीनता बोध के जिन दौरों के साथ जिस मोड़ पर हम आ खड़े हुए हैं वह उपभोक्तावाद का विकट दौर है जिसके साथ बाज़ार बड़ी तेज़ी से आ जुड़ा है और बाज़ार की विकृतियाँ भी। रंगतंत्र के बाजारवाद में रंगकर्मी पर, अभिनेता पर, प्रकारांतर से नाटककार पर कई तरह के दबाव है। जितनी चुनौतियाँ नाटककार के सामने हैं, उससे कहीं ज़्यादा रंगकर्मी (निर्देशक) के लिए हैं। बड़ी संस्थाओं के बड़े खेल हैं और छोटी-छोटी रंग-संस्थाएँ जैसे-तैसे जी रही हैं और नाटक कर रही हैं। अनुदानों के जाल-जंजाल में फँसती है, तो मरती हैं, नहीं फँसती हैं तो आख़िरी साँसे गिनने लगती हैं। रंगमंच के लिए जज़्बा ही हमें इस स्थिति से उबार सकता है, रास्ता बता सकता है, हमें बचा सकता है, हमारे चेहरे की धूमिल पड़ती स्मृति को लौटा सकता है, रंगमंच की प्रतिरोध क्षमता के प्रति हमें सजग रख सकता है।

(इस लेख के प्रकाशन से पूर्व ही नरेन्द्र मोहन जी का कोरोना बीमारी के चलते निधन हो गया। उनकी स्मृति को नमन।)

संपर्क : 239-डी, एम.आई.जी. फ्लैट्स, राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-110027, मो. 9818749321

सत्याग्रही भारत में एक फ्रांसीसी पत्रकार : अल्बर्ट लाँद्रेज

शिवज्योति गुहा
अनु. : रामशंकर द्विवेदी

महात्मा गाँधी के नेतृत्व में जब असहयोग आंदोलन की शुरुआत हुई तो इसे ब्रिटिश गुलामी के प्रति भारत के लोगों द्वारा महत्वपूर्ण प्रतिरोध के रूप में दुनिया भर में देखा गया। इसी समय एक फ्रांसीसी पत्रकार अल्बर्ट लाँद्रेज (Albert Lowdres) भारत में रहते हुए, यहाँ के प्रतिदिन की घटनाओं पर फ्रांसीसी अखबार 'एक्सेलसियर' (Excelsior) में रोज कॉलम लिखकर भेजता रहा। 1922 में, पूरे नवंबर महीने भर, यह कॉलम 'एक्सेलसियर' में प्रकाशित होता है। महात्मा गाँधी के जन्म के डेढ़ सौ साल पूरे होने पर हम ***पक्षधर*** *के पाठकों के लिए इसे उपलब्ध करा रहे हैं।* ***संपादक***

[दुनिया में अनेक समाचार पत्रों के अनेक देशों में निजी संवाददाता होते हैं। इसके अलावा भी कुछ संवाददाता ऐसे होते हैं, जो किसी भी देश के संकट के समय वहाँ पर उपस्थित होकर, जो कुछ घट रहा होता है, उस पर नियमित रूप से किसी पत्रिका के लिए अपना कॉलम लिखते रहते है। उनमें से कई संवाददाताओं ने युद्ध क्षेत्र की खबरें भेजकर कीर्ति अर्जित की हैं। उन्हीं में से एक विशेष संवाददाता फ्रांसीसी अल्बर्ट लाँद्रेज (Albert Londres) है। उसका जन्म 1884 ईस्वी में फ्रांस देश के विशी शहर में हुआ था। माँ-बाप दोनों ही फ्रांसीसी थे। 19 वर्ष की उम्र में उसने पत्रकारिता का क ख ग सीखा था। 1920 ई. में उसकी घुमक्कड़-संवाददाता की शुरुआत हुई थी। उसके कॉलम की ख्याति सिर्फ उसकी लेखनी के कारण नहीं, बल्कि विषयवस्तु चुनाव के कारण थी। कठोर कारादण्ड की सजा पाये फ्रांसीसी गायना के Cayenne केयने में भेजे गये कैदियों के (हमारे देश के अण्डमान में कालेपानी में भेजे गये कैदी भी उसमें शामिल हैं) अल्बर्ट द्वारा लिखे गये कॉलम 'जेलखाना में' (1923) और 'फरारी' (1928) में इसके उल्लेख हैं। एक निरपराधी भगोड़े कैदी के पक्ष के समर्थन में मंत्री को भेजी गयी उसकी खुली चिट्ठी ने फ्रांसीसी सरकार को द्वीपान्तर में स्थित कारागार में सुधार करने के लिए बाध्य

कर दिया था। उसकी मृत्यु के कुछ दिन पहले वह कारागार बंद कर दिया गया था। इसके आलावा उसके लिखे गये कॉलम 'जेलखाना में' के आधार पर लिखा गया एक नाटक बहुत ही लोकप्रिय हुआ था।

इससे यह समझ में आ जाता है कि उसके जीवनकाल में उसका प्रभाव कैसा था। उसके अलावा 1921 से 1932 ई. तक चीन समेत दक्षिणी अमेरिका के अनेक देशों से (जिसमें उसका देश भी अलग नहीं था) जो सब कॉलम लिखकर उसने अपने अखबार को भेजे थे, उनमें उल्लेखनीय है, 'पागलखाने में' (1925) और सेना के कैदखाने के ऊपर लिखा "दांते ने नरक का कुछ भी नहीं देखा। (1924)। वेश्यावृत्ति के लिए जो लोग लड़कियों की तस्करी करते हैं उनके ऊपरी भी उसने लिखा था (1927) में, अफ्रीका के फ्रांसीसी औपनिवेशिक-शासन व्यवस्था के ऊपर 'आबलूस के देश में (1929) और 1928 ई. में फिलिस्तीन के यहूदियों के संबंध में लिखे कॉलम से यह समझ लेना चाहिए इस विषय में अरब-यहूदी संघर्ष निश्चित है। बहरीन से मुक्ति खोजने वाले हिब्रूओं के ऊपर (उस देश में उस समय भी तेल निकालना शुरू नहीं हुआ था) लिखे हुए उसके कॉलम ने पाठकों को बहुत विचलित कर दिया था। उसका कोई भी लेख पाठकों को बिना प्रतिक्रिया के नहीं रहने देता था। उसके ये सब कॉलम प्रकाशित हुए थे। Petit Journal पत्रिका में।

1962 में चीन से लौटने के रास्ते में जहाज में आग लग जाने के कारण अन्य यात्रियों के साथ लोन्द्र की भी मृत्यु हो जाती है। उसकी बेटी सोचती थी कि लोन्द्र शायद किसी लाइफ बोट पर चढ़ जाने से बच गया हो। वह आशा जब उसकी नहीं रही, तब बेटी के प्रयास से 1933 ई. में फ्रांस में Albert Londres पुरस्कार का प्रवर्तन किया गया। हर वर्ष किसी श्रेष्ठ घुमंतू पत्रकार को उस पुरस्कार से सम्मानित किया जाता है। वह पुरस्कृत पत्रकार लोन्द्र की तरह ही महान संवाददाता अथवा Grand Reporter की तरह गिना जाता है। फिर 1985 ई. से रेडियो-टेलीविज़न (Audio-Visual) संवाददाताओं के लिए अलग से उसी एक नाम से महान पत्रकार पुरस्कार का प्रवर्त्तन किया गया।

1922 ई. में असहयोग आंदोलन के बाद भारतीय जनता आशा-निराशा का मार्ग खोज रही थी। असहयोग आंदोलन अभी ताजा-ताजा थम गया था। किंतु, स्वराज का आह्वान और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार आंदोलन में जनता उस समय भी सक्रिय थी। उसके कॉलमों में उस समय की तस्वीर विद्यमान है। जलियाँ वाले बाग का हत्याकांड, जेल में गाँधी और उनके असहयोग आंदोलन की नीति, कलकत्ता में नये जन नायक मोतीलाल नेहरू और देशबंधु चित्तरंजन दास, रवींद्रनाथ के साथ शांतिनिकेतन में साक्षात्कार, अमृत बाजार पत्रिका में पत्रकारों के साथ चर्चा आदि का जिक्र उसके कॉलम में है। उस समय साम्राज्यवादी देशों मन में यह प्रश्न उठ रहा था कि क्या यह आंदोलन बोल्शेविक आंदोलन है? लोन्द्र भी यह प्रश्न मन में रखकर भारत आया था। उसका जवाब भी उसने भारत के ऊपर लिख अपने अंतिम कॉलम में लिखा था। उसके लेखों में जो भूल अथवा कमी है वह नगण्य है। फिर सभी कुछ सहानुभूतिपरक बातें हैं ऐसा भी नहीं है। फुटपाथ पर सोते लोग, कूड़े में पड़े बच्चे तथा रेलयात्रियों का उसने जो वर्णन किया है उसकी भाषा व्यंग्यात्मक और विद्रूप से भरी है। फ्रांसीसी से सीधे बाङ्ला में यह अनुवाद 'देस' पत्रिका में 2006 में छपा था। **अनुवादक**]

भारत में क्या घटित हो रहा है?

पहला कदम, पहला विस्मय

कलकत्ता, अक्टूबर 1922

भारत में चिंगारी। यह खबर पूरी दुनिया में फैल गयी हैं जो देखना पसंद करते हैं, उनके लिए यह अग्निकांड एक भयंकर दृश्य है। उस दिन शाम को हिचकोले खाते हुए जहाज की वर्षा से भीगी हुई डेक पर बैठकर मैं भी ऐसा ही सोच रहा था। हठात् सामने दिखाई दिया कोलम्बो के लाइट हाउस के शिखर पर चक्रवात जैसा आलोक है।

गत तीन वर्षों में, मैं चाहे जिस देश में उतरा होऊँ, ज्वलंत अक्षरों में वहाँ एक ही खबर है 'गाँधी'। भारतीय जनता में विद्रोह। ब्रिटिश साम्राज्य डगमगा रहा है। गंगा के तट पर बोल्शेवों जैसी क्रांति। मुसलमानों का जागरण। आँखें खुली रखकर बढ़े चलो।

पहले जहाज पर से उतर जाता हूँ। सामने अंग्रेज-भारतीय पुलिस। (भारतीय नाटक यदि समझना चाहते हो तो Police- पुलिस शब्द भूलने से काम नहीं चलेगा, इसके अलावा बाकी सब कुछ संस्कृत अर्थात् सुधरा हुआ है); यह पुलिस जरा भी भली नहीं है। ऐसा लगता है मानो उन लोगों का यह विचार है कि आपके खाने-पीने की व्यवस्था जैसे ये लोग ही करते हैं। जैसे ही उन्हें यह पता लगेगा कि आपकी इच्छा इस देश में उतरने की है, वैसे ही वह अपने सर्चलाइट की तरह दोनों नेत्र आपकी आँखों में गड़ा देंगे।

अच्छा यह पुलिस, अंग्रेज-भारतीय पुलिस। अन्य झमेले भी इसकी अपेक्षा कम असहनीय हैं। आपको भनक लगे इसके पहले ही यह आप पर ठप्पा लगा देगी। मद्रास, कलकत्ता, बनारस, आगरा अथवा बम्बई, पंजाब मेल अथवा साउथ इंडियन रेलवे किससे जाना है। भ्रमण करते समय, दिन में, रात में, सोते हुए अथवा चलते हुए—सभी समय आपको उसकी सत्ता का बोध होता रहेगा। सवेरे-सवेरे परोसने वाले की तरह वह आपको चाय दे जाएगी। स्टेशन पर सहृदयता पूर्वक आपका सूटकेस कंधे पर लाद लेगी, होटल दरवाजे पर भिखारी को दिये हुए आपके दो आने की ओर नजर न डालते हुए, आप किस दिशा की ओर नजर न डालते हुए, आप किस दिशा की ओर जा रहे हैं इसी पर नज़र रखे रहेगी। ऐसा लगता है कि अगर आपके बाबा भी आपके साथ सोते तो वे भी उन्हीं में से एक होते। भारतीय पुलिस शासन-तंत्र की मात्र एक पुर्जा नहीं है। यह एक मकड़ी की तरह आपको अपने जाल में फँसाने वाली है। आप अपने हाथ और सिर के आसपास सदा एक जाल का अनुभव करेंगे। भूतों जैसे कांड को भी ये अंजाम दे सकते हैं। ऐसे किसी देश के बारे में क्या आप यह बात जानते हैं, जहाँ कानून-व्यवस्था के रक्षक प्रतिनिधि रात में आपके होटल के बंद दरवाजे वाले कमरे में घुसकर तकिये के नीचे से कागज-पत्र वाले बैग से पाँच कागज निकालकर फिर बैग को तकिये के नीचे रखकर भाग जाएँ। मुझे पता है, उस देश का नाम है भारत (Room-96, Great Eastern Hotel, Calcutta).

भारत में विद्रोह की परिस्थिति का जितना पता चला है, वह उससे भी आगे बहुत बढ़ चुका है। यह क्या बोल्शेविक जैसी क्रांति है। अगर वैसी क्रांति हो, तो यह गत आठ महीने में घटित हो गयी है। किंतु इसका ठीक-ठीक पता किसी को भी नहीं है। गत वर्ष कोलम्बो में जहाज रुकने के समय में सिंहलियों के लिए एक कैप्टन था।

— कैप्टन मेरी दुकान देखो। चीजों के दाम यहाँ कम है। कैप्टन, मुझसे सिगरेट खरीद

लीजिए। कैप्टन मैं बहुत अच्छा गाइड हूँ।

आज सवेरे ब्रिटिश साम्राज्य की सारी प्रजा के सामने मैं एक कॉमरेड हूँ।

– कामरेड, यहाँ से पोस्टकार्ड खरीद लीजिए। आओ कामरेड आओ।

– यहाँ पर गन-कमिश्नर कहाँ रहते हैं?

– कमिश्नर, मैं जानता है कामरेड मैं आपको ले जाएगा। कामरेड, मुझे गाइड बना लो। मैं सच्चा कैथोलिक हूँ। ठीक है, उसकी छाती के बाईं और क्रूश बिद्ध ईसा की एक मूर्ति है और दाईं और एक काली-काली लास्यमयी नारी की मूर्ति है।

– यह क्या है?

– यह जैसे साइगन में होता है (वह यह बताना चाहता है कि फ्रांसीसी उपनिवेशों के बारे में वह अच्छी तरह से वाकिफ है)। वह जिस कमीशन के पास मुझे ले गया वह गन-कमिश्नर नहीं है पुलिस कमिश्नर है। पर अच्छा ही रहा, उसके पास जाने की मुझे जरूरत थी। वह एक कठोर चेहरे का जुल्फों वाला अंग्रेज अफसर था। उसने मेरे ऊपर दूसरी बार ठप्पा लगा दिया। मैं समझ गया मेरी कल्पना ने अपनी लगाम छोड़ दी है। ये सब कामरेड मास्को से नहीं आते हैं। यह सिर्फ सिंहली लोगों के शब्दों का खामख्यालीपना है। एक घंटा बाद कोलम्बो के रास्ते में मैंने अपनी कप्तान पदवी पुनः पा ली।

सिंहल (आज का श्रीलंका) भारत नहीं है। अंततः अग्निशिखा वाला भारत नहीं है। वह तो और भी दूर है, समुद्र के उस पार। देखना होगा फिर से ट्रेन अथवा जहाज पकड़ना होगा। उसके लिए उसी दिन स्टेशन पर अन्य यात्रियों के साथ मुझे भी धक्का-मुक्की करनी पड़ी।

1921 में 54 करोड़ भारतीय ट्रेन से यात्रा करते थे। इस संख्या से अनुमान लगाया जा सकता है कि स्टेशन का चेहरा कैसा होगा। घूमना इस जाति का मानो परम आनंद है। 36 घंटा तक 20 व्यक्तियों के कमरे में लथपथ 100 व्यक्तियों के चेहरों की भंगिमा में जो सुख की अभिव्यक्ति होती दिखती है उसके क्या कहने। पान चबाते-चबाते और पैर मटकाते मटकाते उनके गतिशील सुख की अनुभूति अवर्णनीय है।

स्वस्थ विचार से, किसी भी देश में लोग स्टेशन यात्रा के लिए तो बहुत-से बहुत एक घंटा पहले जाते हैं। पर यहाँ भ्रमण के बहुत दिन पहले से ही वे लोग रेल पथ के रहस्य का अनुभव करने लगते हैं। हाथ में छाता लिये भारतीय उसके पीछे मालिक का हुक्का और कोसे की घंटिया हाथ में लिये स्त्री और उसके पीछे एकदम नंगा लड़का South Indian Railway अथवा अन्य कम्पनी के प्रतीक्षालय पर कब्जा जमाते हैं। वहाँ पर दूसरे लोगों की तरफ पीठ फेरकर खाना-पीना निपटाते है, कारण इन लोगों में जाति-भेद है। इसे भूलने से उनका काम नहीं चलेगा। वहीं पूजा-अर्चना होती है। वहीं पर पैर धोना। पूरी जगह पर चिड़ियाखाना जैसी गंध। वहीं पर शांतिपूर्वक सो जाते हैं, इस आशा से कि एक दिन ट्रेन पकड़ लेंगे।

बात-बात में ही स्टेशन आ पहुँचा (जो विदेशी, एक पुरुष, दो स्त्रियों, चार बच्चों की बिना रौंदे हॉल पार कर लेता हो, उसे बहुत कुशल समझना चाहिए)। भारतीय लोग भारतीयों के पक्ष में नहीं हैं। कुछ भारतीय अन्य भारतीयों के विरुद्ध कठोरता पूर्वक अंग्रेजों के कानून की रक्षा करते हैं। दाँत-आँख निकालकर वे भारतीय जहाज से उतरने वाले अभागे भारतीयों से कहते हैं–'खोलो अपनी पोटली-ओटली, खोलो हाथ, दिखाओं अपने कपड़े और प्रमाणित करो कि तुम राजा के हित के विरूद्ध कुछ भी नहीं ले जा रहे हो। इसके अलावा और हम सब तुम्हारे भाई है।"

हम लोग सोच रहे थे अंग्रेज लोग अपनी झंझटें खुद ही निपटा रहे है। जैसा कि मैंने

यहाँ से हजार किलोमीटर दूर हांगकांग में चीनियों को आमने-सामने देखा है। खलासी, व्यवसायी, ब्वॉय, कुली सभी पीली जातियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध हाथ समेट लिये थे। वहाँ प्रश्न डॉलर का नहीं था, मुखरक्षा का था। पीली जाति ने श्वेत जाति को दृढ़ कर दिया था। दो मास की विशृंखलता के बाद मजदूरों की माँगें मान ली थी अंग्रेज सरकार ने।

भारत में घुसते ही क्या देखता हूँ। जो भारतीय यह सोचते हैं कि कुछ लोग दूसरों की पोटली में आजादी के हथियारों की तस्करी कर देंगे, उनका व्यवहार देखिये। हे! सरकारी चाकर लोग, गाँधी के काम में क्या यही तुम्हारा अवदान है?

अभागे हैं तुम्हारे भाई-बहन लोग, जो तुम्हारी ही तरह ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं और भी अन्य देवताओं की पूजा करते हैं, और तुम्हारे ऊपर ही निर्भर है, उनसे तुम यह आशा लगाये हुए हो कि वे अंग्रेज़ों के कानून का उल्लंघन नहीं करेंगे।

दो घंटे तक भारतीय पुलिस (एक भी अंग्रेज पुलिस हुजूर की नज़र में वहाँ नहीं थी) रिवॉल्वर, बम, बंदूक इत्यादि खोजती रही। मुझे, प्रमाण देना पड़ा और तीन बार शपथ लेनी पड़ी कि मैंने अपनी पॉकेट में कोई मशीनगन छिपाकर नहीं रखी है।

– ये आपके सूटकेस हैं।

– हाँ

– उनकी तलाशी ली।

– बन्दूक तो नहीं है?

– शपथ ले रहा हूँ कि नहीं है।

लार्ड रीडिंग भारत के वायसराय हैं, वे निश्चिन्त होकर घूम-फिर सकेंगे। उनकी सुरक्षा व्यवस्था चाक-चौबंद हैं। गत दो वर्षों से राष्ट्रीयतावादी आंदोलन चल रहा है। गाँधी के दो हथियार हैं एक असहयोग, दूसरा कानून अवज्ञा आंदोलन। वे सब आंदोलनकारी गये कहाँ? इस समय क्या पुरानी चीजों की दुकान पर जमा हो गये हैं।

[Excelsior, 3 नवम्बर 1922]

गाँधी का आविर्भाव और तिरोभाव

(कलकत्ता, अक्टूबर 1922)

हर जगह एक न एक दिन शुरुआत होती है। भारत में वह शुरुआत हुई नवम्बर के महीने, 1919 ई. में। शुरुआत का कारण है एक कानून, रौलट एक्ट। इसके अनुसार तीन लोगों से अधिक भारतीयों का एक जगह एकत्र होना निषिद्ध है। यह आज्ञा उस समय जारी हुई जब भारतीय सोच रहे थे कि उन्हें कोई तोहफा मिलेगा। महायुद्ध में (पहला विश्वयुद्ध) जिन भारतीयों ने सफलता पूर्वक सहायता की थी उसके बदले उन्हें मिला रौलट एक्ट।

पाँच नदियों के देश पंजाब में, लाहौर और अमृतसर में, खिलाफत आंदोलन की अंतिम स्थिति में मुसलमानों का मन फुत्कार कर रहा था। और पंजाबी लोगों ने जिनका रंग गोरा और काली दाढ़ी है, एक शस्त्रहीन जुलूस इस कानूनी बाधा के प्रतिरोध में निकाला। वह जुलूस जब एक बैंक के पास से निकल रहा था, तब बैंक की बालकनी से किसी ने जनता के ऊपर ईंट फेंक कर मारी। पंजाबियों ने बैंक में धावा बोलकर अंग्रेज मैनेजर को खिड़की से बाहर फेंक दिया। चार मंजिला से नीचे गिरकर मैनेजर घायल हो गया। इसके अलावा उसी शाम को शहर में कई स्थानों पर और भी दस अंग्रेज परलोक सिधार गये।

इसके बाद निर्ममता पूर्वक जनता का दमन किया गया। मुसलमान लोगों ने देखा उनका समय अब भी नहीं आया है। और एक शाम को शहर में स्थित एक मैदान में पाँच हजार पंजाबी लोग अपनी भूल स्वीकार करने के लिए एकत्र हुए। वह जमावड़ा गैरकानूनी था। वे लोग शांति की बातें करने आए थे विद्रोह का नहीं। जनरल डॉयर ने अपनी बात कहने के लिए स्थान लिया, ठीक उल्टी तरफ एक टीले पर। उसके बोलने का चोंगा था बंदूक की नली। जनता को सावधान किये बिना उसने गोली दागना शुरू कर दिया। भारत के मृतकों की संख्या की गिनती नहीं की जा सकी। फिर भी एक अनुमान के अनुसार और इसमें सभी एक मत हैं कि सात-आठ सौ लोगों के ऊपर लोग मारे गए। जनरल डॉयर का अभिनंदन करके। पंजाब के गवर्नर ने अपने गोरे हाथों से उस आग में पेट्रोल डाल दिया था। आग और भी तेजी से दहकने लगी। मुख्य सेनापति ने भीषण स्थिति जानकर पहला काम यह किया कि जनरल डॉयर को वहाँ से हटा दिया। तब तक देरी हो चुकी थी। लंदन के मंत्रिमंडल ने आग फैलने की आशंका से जनरल डायर को दोषी करार दिया। इसी संकटपूर्ण अवस्था के परिदृश्य में गाँधी दिखायी दिये। भारत में गाँधी गाँधी नहीं हैं, वे महात्माजी Mahatmaji हैं। Mahatmaji एक उपाधि नहीं है, लोकप्रिय नामकरण है। जिसका अर्थ है संत, अवतार, महान आत्मा Mahantmaji (फ्रांसीसी पत्रकार ने यही वर्तनी लिखी है) राजनीति में कोई नये-नये नहीं आए हैं। दुनिया की अन्य जगहों पर भी उन्होंने अपना संतत्व से पूर्ण आचरण किया है। दक्षिण अफ्रीका के नाडाल में बूअर और अंग्रेजों के विरुद्ध दस वर्ष तक लागातार पीड़ित भारतीयों की मर्यादा की रक्षा के लिए उन्होंने लड़ाई लड़ी थी।

पाश्चात्यों की परिभाषा के अनुसार ये विप्लवी नहीं हैं। इनकी शक्ति का स्रोत विद्रोही चेतना में नहीं है, शांति में है। अपने लोगों से उन्होंने कहा है, छलाँग लगाकर अपनी सीमा के बाहर जाकर फल पाने की चेष्टा मत करो। उनका मंत्र है, सहिष्णुता, उत्कर्ष और आशा। उनका कहना है, कुछ पाने के लिए पहले योग्यता अर्जित करो, जो अपना पड़ोसी है, उसे चोट मत पहुँचाओं। वैसे तो वे हिंदू हैं, किंतु, उनका नीतिबोध दो और भिन्न धर्मों से आया है– बौद्ध और ईसाई धर्म से। हमारा प्रतिरोध हिंसा के माध्यम से नहीं है, प्रेम के द्वारा है। संभवतः पहले किसी जन्म में इन्होंने यीशु के धर्मोपदेश सुने होंगे। इसके अलावा वे टाल्सटॉय के मित्र हैं।

ट्रान्सवाल में बूअर लोग उन्हें कोड़े मार रहे थे, तब उन्होंने कहा था, भाइयो बूअरों पर दया करो। उन लोगों ने मुझे अपनी अपेक्षा और भी ऊँचा उठा दिया है। प्रसिद्ध वकील, वर्ष में साठ हजार रुपये की आय और अपनी अचल संपत्ति सब छोड़कर चले गये बिहार और उड़ीसा। वहाँ पर उनकी स्त्री चाय-बागान के तीन सौ मजदूरों की रसोईदारिन हो गयी और स्वयं बन गये, मजदूरों के मजदूर। छह हजार हड़ताली कारखानों के मजदूरों की पुकार पर बम्बई चले गये। उनकी तरफ से मुकदमा लड़ा। किंतु, हार गये। तब शुरू किया अनशन। अनशन के चौथे दिन मजदूरों की माँगें मान ली गयी। फिर क्या था, महात्मा जी, महात्मा जी हो गये।

ऐसा लगा जैसे अब भारत का समय आ गया है। उन्होंने स्वराज्य देने की माँग कर दी। पूरे भारत ने एक विराट प्रतिध्वनि के रूप में उस माँग का समर्थन किया। सभी ने माँग की स्वराज्य चाहिए, स्वराज्य।

उनके दो अस्त्र हैं, असहयोग आंदोलन और सविनय अवज्ञा आंदोलन।

असहयोग आंदोलन में भारतीयों के मन का भाव ऐसा था मानो इस दुनिया में अंग्रेज हैं ही नहीं। छात्र पढ़ाई करना बंद कर दिए, वकीलों वकालत छोड़ दिया, न्यायाधीश अपना

पद त्याग दिए और सरकारी कर्मचारी नौकरी छोड़ रहे हैं। भारत की नाव अपने स्थानीय सत्तर हजार अंग्रेजों को लेकर लगता है अब दिशाहीन हो जाएगी। उन लोगों से भारतीय कुछ भी नहीं खरीदेंगे। और उन्हें कोई चीज़ बेचेंगे भी नहीं। गाँधी का कहना है वस्त्रों की आवश्यकता के लिए सभी बुनाई करो जैसे हमारे पुरखे किया करते थे। खद्दर और स्वराज दोनों शब्द पूरे भारत में फैल गये। गाँधी ने अंग्रेजों का गला नहीं दबाया किंतु उनकी जेब पर जबरदस्त चोट की है।

कानून अवज्ञा आंदोलन में कानूनों का अब पालन नहीं किया जाएगा। लगान देना बंद। अंग्रेज, हम तो उन्हें पहचानते ही नहीं हैं। अगर वे अपनी पहचान बताते हैं, तो उनसे पूछो, 'आप कौन है?' अगर वे क्रोधित होते हैं और जनता के ऊपर मशीनगन चलाते हैं तो वह भी अच्छा है।

महात्मा जी की सार बात यह है कि "प्रतिरोध नहीं करोगे। उन्हें प्रहार करने दो।" उनका विश्वास है "ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो अपने संकल्प में दृढ़ जनता को कारागार में बंद कर उसका दमन कर सके।" उनके प्रेरक वाक्य सुनिये, 'देखते हैं दमन कहाँ तक संभव है।'

बहुत-से लोगों का कहना है कि अंग्रेजी राज में भारत का उत्थान है। यह ठीक नहीं है। यह तो भारत का अपसरण है। सौ बरसों से अंग्रेजों की जो नाव उपमहादेश के भरे जल में बहती जा रही थी, वह आज टापू में ठहर गयी है। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ों को चिंता हुई कि जहाज डूबने से पहले उसकी तैयारी बहुत जरूरी है। अंग्रेज लोग भारत में (अन्य देशों से अधिक) इस भाव से चलते हैं मानो वे देवदूत हैं। इस समय चिंता के कारण उनके पैर काँप रहे हैं।

महात्मा गाँधी का प्रभाव दो वर्ष से चल रहा है। इस महात्मा के आह्वान पर अंग्रेजों की आँखों के सामने दो अलौकिक घटनाएँ घट गयी। गाँधी ने गाय और अछूत की समस्या का नाश कर दिया। एक बात में उन्होंने हिंदू और मुसलमान, छोटी-बड़ी सभी जातियों को इकट्ठा कर लिया।

भारतवासियों के आचरण में एक नीति है और वह है गो-ब्राह्मण में भक्ति। हालाँकि हिंदू लोग गाय की भक्ति करते हैं और मुसलमान लोग गाय खाते हैं। और जातिभेद की बात यह है कि आज भी ऐसे बहुत-से लोग है जो अस्पृश्य हैं। इतने भेदभावों में क्या एकता ले आना संभव है? अंग्रेज इस बात को अच्छी तरह जानते हैं। यही उनकी बहुत बड़ी चाल है। गाँधी ने उनकी उस चाल पर टक्कर मार दी है।

इस समय किसी भी गौरांग का कोलकाता अथवा बम्बई में अली-गली में घूमना खतरे से खाली नहीं है। किसी विद्रोह के उठने पर हो सकता है कोई भारतीय उसकी देह में छूरा भोंक दे। गाँधी तो सभी स्थानों पर रह नहीं सकते हैं। जब खून-खराबा होता है, तो महात्मा जी अनशन करने लगते हैं। पर उससे जो मर गया है उसे तो जीवन नहीं मिल सकता है।

खद्दर की जय-जयकार हो रही है। विद्रोह के परिणाम स्वरूप इंग्लैंड के कल-कारखानों में मंदी आ गयी। लाखों भारतीयों ने अन्य कोई आक्रोश देश में न फैलाकर, सिर्फ देश में तैयार कपड़ों को पहनकर अंग्रेजों से कहा देश छोड़कर चले जाइए। पूरा भारत एक व्यक्ति के प्रभाव में था। उसने उन्हें न तो ताकत दी और न उन्हें सम्मोहित किया।

तब गाँधी ने स्वयं ही अपनी वेदी को उलट-पलट दिया। उन्होंने एक ऐसी भूल कर दी जिसका कोई संशोधन नहीं हो सकता था। उन्होंने भारत की आजादी का दिन निर्धारित कर दिया। पहले कहा 15 नवम्बर को भारत आजाद हो जाएगा। 15 नवम्बर को सबेरे अंग्रेजों

से आजाद भारत जाग उठेगा। गाँधी एक अवतार हैं, उनसे भूल कैसे हो सकती है। भूल नहीं हो सकती। आराधना में रत भारत प्रतीक्षा करने लगा। 26 नवम्बर, अंग्रेज टस-से-मस नहीं हुए। अपनी जगह अटल।

तब महात्मा जी ने कहा, 1 दिसम्बर को आजादी 2 दिसम्बर का दिन आ गया, अंग्रेज उस समय भी भारत से हिले नहीं।

तब जनसामान्य ने ऐसा कुछ कहा कि महात्माजी कठिन परीक्षा का सामना कर रहे हैं। उन्हें यंत्रणा भोगनी पड़ रही है, यंत्रणा भोगना भी आवश्यक है। वे भगवान का दिया हुआ हलाहल पान कर रहे है।

गाँधी जी अनशन करने लगे और अनशन के समय उन्होंने कहा—आओ, पीड़ा और यंत्रणा के द्वारा अपने को शुद्ध करो दुःख, वेदना ही हमारा हथियार है।

उन्होंने और भी कहा—भाइयों, सब कुछ हो जाएगा 31 दिसंबर को।

1 जनवरी को अंग्रेज नव वर्ष के उत्सव में मग्न थे। कोई अलौकिक घटना नहीं घटी।

गाँधी की आभा गंगा में डूब गयी। अब उन्हें गिरफ्तार करने से ही काम बनेगा ऐसा अंग्रेज सोच रहे हैं।

[Exceilsior, 4 नवम्बर 1922]

नये राष्ट्रवादी नेता आ गये कलकत्ता में

(कलकत्ता, अक्टूबर 1922)

सबेरा होते-न-होते कलकत्ता में भारतीय लोग अपने गरीब घरों को छोड़कर, लाखों की संख्या में निकल पड़े जाने लगे कई किलोमीटर दूर हुगली नदी की ओर। वहाँ पर उनका प्रथानुसार पर्व स्नान है। गंगा में पैर अगर डुबा सकें तो और भी अच्छा रहे। किन्तु, गंगा तो सब जगह रहती नहीं है और हुगली तो गंगा की ही एक शाखा नदी है। गंगा की तरह ही मैली और गंगा की तरह ही पवित्र।

भारतीय लोग आँख खुलते ही तैयार हो जाते हैं। फिर घर से निकलने की जरूरत ही नहीं पड़ती है। कारण, वे फुटपाथ पर ही लेट जाते हैं। रात में कलकत्ता में घूमना-फिरना कब्रिस्तान में घूमने-फिरने जैसा है। फर्क सिर्फ इतना है यहाँ कि मृतक व्यक्ति माटी के नीचे नहीं सोता है, जमीन के ऊपर सोता है। रास्ते में जो सो रहे हैं, उनमें कोई तो नग्न है, कोई चादर में लिपटा हुआ है, मानो कफन का कपड़ा हो, बस उसमें फिनाइल की गंध नहीं है। फिर भी ये शव नहीं है क्योंकि इनकी नाक बज रही है।

हावड़ा के पुल पर घुसते ही यह स्नान का दृश्य है। फ्रांस में है आईफेल टॉवर और जर्मनी में है कीलों से तैयार हिडेनबर्ग की मूर्त्ति और भारत में यह हावड़ा का पुल। ऐसा पुल दुनिया में और कहीं देखने को नहीं मिलता है।

बंगाली, पंजाबी, हिमालय अंचल के गोरे चेहरे और समतल मैदान के बादामी चेहरे। कोई बोलता है हिन्दुस्तानी, कोई तमिल, कोई बोलता है उर्दू। इस देश की चौवालीस भाषाएँ अथवा उनके साथ एक हजार चार बोलचाल की भाषाओं में से किसी एक में बात करते हैं। इस देश के बाइस करोड़ हिन्दू, सात करोड़ मुसलमान, एक करोड़ एक लाख बौद्ध एक करोड़ प्रकृति के पुजारी, चालीस लाख ईसाई, तीस लाख सिख, तीस लाख भिखारी और एक करोड़ छयालीस लाख पालतू पशु सभी हावड़ा के पुल के ऊपर से निकलते हैं।

उस दिन सवेरे हावड़ा पुल के ऊपर से देखा था हुगली नदी में स्नानरत स्त्री-पुरुषों को, वे लोग अपने हाथों को जोड़कर हथेली में जल लिये हुए हैं और उनके मुख आकाश की ओर हैं। हठात् एक शोभा यात्रा पुल के ऊपर से निकल पड़ी।

लाल और हरे रंग का बैनर, खूब चमकदार पताका और खद्दर का फेस्टून। शोभायात्रा के सामने खद्दर के फेस्टून के ऊपर कुछ लिखा हुआ है। किन्तु जिस लिपि में लिखा हुआ है उसे पढ़ने का प्रयास किया जाए तो किसी भी यूरोपियन के पागल हो जाने की संभावना है। शुरुआत में ऐसा लगा था कि यह एक जुलूस मात्र है। पर यह सारी जनता का एक अभियान है। देखने से ऐसा लगता है मानो मूशा के नेतृत्व में हिब्रू जाति का मिस्र से पलायन है। ये लोग जा रहे थे रेलवे स्टेशन की तरफ।

सभी गर्जना कर रहे हैं। एक व्यक्ति दूसरे से और अधिक गरज रहा है। सभी लोग स्टेशन में घुस पड़े। सात नवम्बर प्लेटफार्म पर भारी भीड़ थी। सहसा बड़े जोर से शंख बज उठा। आखिर क्या हो रहा है? गाँधी ने फरार होकर क्या फिर से आंदोलन शुरू कर दिया। चलिए साहब मेरे साथ चलिए।

यह देखिए कैसा अद्‌भुत व्यक्ति है Samuel (सैमुएल)। सैमुएल पाँडिचेरी का आदमी है, फ्रांसीसी नागरिक, शरीर का रंग एकदम बादामी और वह जितनी भाषाएँ जानता है, बहुत से लोग उन पर अधिकार नहीं कर पाते हैं। मैं परिचय कराए दे रहा हूँ, सैमुल मेरा एक मात्र अनन्य अनुवादक है। बात थी आज सवेरे सात बजे हावड़ा पुल के सामने मिलने की। किन्तु, उसने सही अन्दाजा लगा लिया था कि मैं जुलूस के पीछे-पीछे जरूर चलूँगा। सैमुएल सब कुछ सोच लेता है, सब कुछ जानता है, और उसके पास सभी चीजों की व्याख्या है।

उसके माध्यम से मैं सब कुछ जान सकूँगा।

– क्या हो रहा है सैमुएल?

– मुझे पता नहीं है साहब।

जरूर कोई विराट घटना होने जा रही है। पाँच मिनिट में जाँच कमीशन के सदस्य कलकत्ता पहुँचने वाले हैं। गाँधी की गिरफ्तारी के बाद से ही यह कमीशन पूरे भारत में घूमकर क्रांति का नया रास्ता खोज रहा है।

मोतीलाल नेहरू की जय।

सात नम्बर प्लेटफार्म पर उत्तेजना से जनता थर-थर काँप रही है। महात्मा गाँधी की जय।

यह कैसा गाँधी है। नहीं तो, वह गाँधी नहीं है। जनता जिसके नाम को जयकारा बोल रही है वह तो प्रथम दर्जे के कंपार्टमेंट में है। गाँधी तो सामान्य जनों के डिब्बे में यात्रा करते हैं। ये तो मोतीलाल नेहरू है गाँधी के उत्तराधिकारी। उन्हें मैंने पहचान लिया। उनकी रंगीन तस्वीर हर दुकान पर टँगी हुई हैं। पंजाब मेल की खिड़की पर मोतीलाल नेहरू का आविर्भाव होता है। जनता उनकी तरफ अपना हाथ बढ़ाती है।

वन्देमातरम्, वन्देमातरम्।

वन्देमातरम् एक नयी आवाज। इसका अर्थ है देशमाता को नमस्कार। गाँधी के पहले राष्ट्रीयता बोध नहीं था। अब है, सिर्फ अनुभूति उत्पन्न होने से ही राष्ट्रीयता बोध होने लगता है। झंडा, बैनर, बन्दनवार, स्त्री-पुरुष सभी का भूषण खद्दर है और सिर पर गाँधी टोपी (खद्दर के नीचे सफेद फेज, पत्रकार के वर्णन में) सभी उछल रहे हैं और चिल्ला रहे हैं। यह मानो खद्दर का उद्दाम नृत्य है। साहब, सैमुएल ने कहा, आप सिर्फ मोतीलाल नेहरू को ही देख रहे हैं। आप सी.आर. दास अथवा मौलाना अबुल कलाम आजाद अथवा श्यामसुंदर को नहीं देख रहे हैं।

– नहीं, वे कहाँ है?

– वे लोग अगर जेल में हैं तो मैं उन्हें कैसे देखूँगा?

– सारी जनता उन्हें देख पा रही है, उन्हीं का नाम उच्च स्वर से पुकार रही है।

– किस भाषा में?

– सभी भाषाओं में।

– गौरव भारत में सिर्फ खाली बातें नहीं हैं। जब मोतीलाल नेहरू प्रथम दर्जे के डिब्बे से नीचे उतरे, तब जनता श्रद्धा से एकदम चुप हो गयी। चिल्लाना रुक गया। सिर्फ सुदुर समुद्र की तरह एक दबी हुई ध्वनि जैसी सुनायी देती है। मोतीलाल के माथे पर चंदन लगाया गया गले में चम्पे की कई मालाएँ पहनायी गयीं। सभी उनके पैर छूकर आँखों में लगाने के लिए दौड़े पड़े। यदि मोतीलाल इस जनता से कहते कि तुम लोग लेट जाओं जमीन पर मैं तुम लोगों के ऊपर से होकर निकल जाऊँगा, तो शायद सभी लोग उल्लासपूर्वक मोतीलाल के पैरों के दबाव को अपनी पीठ पर अनुभव करने के लिए राजी हो जाते। एक गाड़ी उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। कैसा भीषण व्यापार है। यह जो अंग्रेजों की बनायी हुई गाड़ी है। खैर जाने दो, मामूली घटना है। मोतीलाल को गाड़ी पर चढ़ाया गया। शोभायात्रा फिर से शुरू हो गयी।

आज तो फिर राष्ट्रीयतावादी आंदोलन देखने का सुअवसर मिल गया।

जादुई मंत्र से मानो एकाएक कलकत्ते की सड़क पर लोगों की बाढ़ आ गयी। मनुष्यों की इस बाढ़ और कई पशुओं के बीच से होकर मोतीलाल की गाड़ी आगे बढ़ने लगी। हावड़ा का पुल पार कर गाड़ी हेरिसन रोड पर आ गयी। शोभायात्रा के शंखों के साथ घरों की बालकनी और छतों पर बजने वाले शंख योग देने लगे, सभी घरों की बालकनी में असंख्य लोग। उनके बदन उघारे और आँखें उज्ज्वल हैं।

वन्देमातरम्।

इस वक्त सुबह के नौ बजे हैं। कई लोग फूल फेंक रहे हैं। कुछ लोग आतिशबाजी कर रहे हैं।

एक मन्दिर। वहाँ गाड़ी रुक गयी। साधु लोग मोतीलाल को आशीर्वाद देंगे, एक पात्र में फूलों की पंखुड़ियाँ, फल और अक्षत है। हिन्दू महिलाएँ (क्या वे देवदासी हैं?) प्रदीप हाथ में लेकर आगे आकर मोतीलाल की सुन्दर रूप से प्रदक्षिणा कर रही हैं और भी कई मालाएँ उनके गले में उन्होंने पहना दीं। शोभायात्रा इस बार आगे नहीं बढ़ी। फिर से रुक गयी। एक साधु के इशारे से पीछे से एक छोटा-सा साधु पीतल की एक थाली हाथ में लेकर आया। बड़े साधु ने मोतीलाल के माथे पर और भी चंदन लगा दिया।

– इन्हें तो स्टेशन पर ही काफी चन्दन लगाया जा चुका है।

– आप रुकिये, सैमुएल का हुकुम है, यहाँ पर आप अकेले ही गौरांग व्यक्ति हैं। यही बहुत है।

एक बात कही जा सकती है। इस जाति की एक आत्मा है। अंततः आज सवेरे तो उनकी आवाज एक है। वह आवाज है वन्देमातरम्। इस आवाज के साथ बहुत कुछ समानता है। काहिरा अथवा अलेक्जेंड्रिया की सड़कों की आवाज के साथ एहिआ-अल-वतन (अरबी भाषा में इसका अर्थ हुआ–जय स्वदेश की)। सैमुएल, अंग्रेज लोग घर चले गये? यहाँ पर उनमें से एक व्यक्ति को भी मैं नहीं देख पा रहा हूँ।

–साहब, वे लोग मैदान में फुटबॉल खेल रहे हैं।

[Excelsior, 5 नवम्बर 1922]

गाँधी की गिरफ्तारी के बाद राष्ट्रीयतावादी आंदोलन

(कलकत्ता, अक्टूबर, 1922)

प्रिय चार्ली,

मुझे अभी-अभी आपकी चिट्ठी मिली (यह पत्र कारागार से गाँधी जी ने सी. एफ. एण्ड्रूज को लिखा था)। अपना काम न छोड़कर आपने अच्छा ही किया है। मुझे लगता है कि आपके लिए उचित है गुरुदेव के पास जाना (रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जिन्हें भारतीय लोग गुरुदेव कहते हैं, जैसे गाँधी जी को महात्मा, गुरुदेव एक परम श्रद्धा का शब्द है, श्रद्धापूर्ण संबोधन, फ्रांसीसी भाषा में इसका अनुवाद होगा (maitre) और जितने दिन इच्छा हो उतने दिन वहाँ रहना।

मेरी इच्छा है कि सत्याग्रह समाप्त हो जाने के बाद, कुछ दिनों के लिए आप आश्रम में आ जाएँ। किन्तु मेरी इच्छा नहीं कि आप जेल में मुझसे भेंट करने आए। मैं यहाँ छत पर बैठे पक्षियों की तरह सुखी हूँ। अपने आदर्श के अनुसार कारागार के जीवन में बाह्य-जगत के साथ किसी भी तरह का संबंध रखना उचित नहीं है। बाहर से आए हुए व्यक्तियों के जेल में आने की अनुमति पाने जैसी सुविधा मेरे जैसे असहयोगी व्यक्ति के लिए चाहना और पाना अनुचित है। कारागार में नैतिक संयम का मूल्य है। सारी छूटें और अनुग्रह बिना लिये। मुझे लगता है कारावास मेरी आध्यात्मिक उन्नति में सहायक है। राजनैतिक उन्नति से यह बढ़कर है। यह आत्मदान हो जाए तो फिर जहाँ तक संभव है आत्मा शुद्ध हो जाएगी, मैं यही चाहता हूँ।

भवदीय

मोहनदास करमचंद गाँधी

दुनिया के इस विराट प्रवाह में जितने लोग बहे जा रहे हैं, उनकी देह का रंग श्वेत, श्याम, हल्दिया कुछ भी क्यों न हो, वे लोग बौद्ध, मुसलमान, कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट सभी धर्मों के हैं, और वे धोती या पतलून कुछ भी क्यों न पहनें, वे सभी लोग एक ही आवेग से परिचालित होते हैं और वह है व्यक्तिगत स्वार्थपरता पर यह व्यक्ति अलग है, परे है।

इस तरह की घटनाएँ जब घट रही थीं तब गाँधी जेल में थे। भारत एक ऐसा देश है जहाँ पर किसी काम की कोई योजना नहीं है। पूरब के किसी भी देश में नहीं है, है सिर्फ उद्देश्य मानो उद्देश्य होने से ही सब कुछ हो जाता हो। फिर और किसी चीज़ की दरकार नहीं है। भारत का उद्देश्य था सिर्फ क्रांति।

गाँधी क्या कहते थे? प्रर्थाना कीजिए। (यह जाति दुनिया में सबसे ज्यादा धर्म परायण है)। लड़ेंगे नहीं, अन्याय सहते जाएँगे। अंग्रेजों की सहायता मत करो। शताधिक सालों के शासन के दौरान अंग्रेज भारतीयों के मन में एक मात्र जो भाव पैदा कर सके, वह है घृणा। लंबी, चौड़ी सिर्फ घृणा। पूरी-पूरी घृणा।

प्रयास तो है नहीं, किन्तु परिणाम की आशा है। मानो परिणाम आकाश से गिरेगा अमृतवर्षा की तरह। किन्तु, आकाश से कुछ भी नहीं गिरा। अब उनका पथ प्रदर्शक जेल में है। मानो सब कुछ बंधन रहित होकर बिखर गया। जनता दिशाहीन हो गयी, छोटे नेताओं के मन में द्विविधा जाग गयी और क्रियाशील जनता के शौर्य में दुर्बलता दिखाई देने लगी।

हिन्दू-मुसलमान का यह मिलन काँच की तरह टूटने वाला है। हिन्दुओं का राष्ट्रीय आदर्श मुसलमानों का नहीं है। मुसलमान हिन्दुओं के साथ जो एक्यबद्ध हो गये हैं वह हिन्दुओं के

प्रति प्रेम के कारण नहीं। कारण, यह है कि ठीक उसी समय अंग्रेज लोग इस्ताम्बुल में मुसलमानों के विरुद्ध लड़ रहे थे। भारत के मुसलमान शक्ति की दृष्टि से अल्पसंख्यक (सात करोड़) हिन्दू लोग (बाईस करोड़), सिर्फ भीड़ बढ़ाने के लिए बहुसंख्यक। मुसलमान लोग हिन्दू भारत नहीं चाहते हैं। वे लोग वाचाल हिन्दुओं का नेतृत्व पाने में सहायता नहीं करेंगे। अगर दे जाए तो यह देखने को मिलेगा कि मुसलमानों के धर्मगुरु, शाहंशाह, सर्वशक्तिमान आगा खाँ ने लण्डन को प्रस्ताव दिया था कि इंग्लैंड के एक राजपुत्र को भारत का सम्राट बनाकर इस देश को स्वतंत्र उपनिवेश का दर्जा दे दिया जाए। इस तरह की भिन्न मनोवृत्तियों वाले दो सम्प्रदायों को मिलाने के लिए बहुत मजबूत सीमेंट की जरूरत हैं। एकमात्र संत गाँधी ही अपनी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा इस दरार को भर सकते थे। इस समय वे कारागार में (पक्षी की तरह सुखी हैं) और यह दरार मुँह बायें ताक रही हैं।

असहयोग और कानून अवज्ञा आंदोलन, इन दोनों को चलाने के लिए एक महान आत्मा की जरूरत है। जनता को चलाने वाले यह क्यों सोचते हैं कि उनमें जो गुण हैं, वे गुण जनसाधारण में भी होंगे? नेताओं में शौर्य जन्मजात हैं। दूसरों में वह क्यों होगा?

डॉक्टर, वकील, न्यायाधीश, सरकारी कर्मचारी सभी वास्तव में तरह-तरह के लोगों से संपर्क रखकर अपनी निश्चित दिनचर्या में एक थैली रुपयों का रोजगार कर रहे थे। असहयोग आंदोलन के कारण वह रुपया आना बंद हो गया। गाँधी ने अपना व्यवसाय, अपना घरबार सब छोड़ दिया था, अनशन करते थे, दलितों के साथ तीसरे दर्जे में भ्रमण करते थे। यह सब उनके निजी मामले थे। किन्तु, डॉक्टर, वकील, न्यायाधीश, सरकारी कर्मचारी, इन सब में शहीद की आत्मा नहीं है। इन लोगों ने देखा राष्ट्रीय पताका की पुकार कुछ दिन और प्रतीक्षा कर सकती थी किन्तु प्रतीक्षा नहीं करती है रोटी (और मक्खन) की माँग। कलकत्ता, मद्रास, बम्बई के अखबारों में विशिष्ट व्यक्तियों ने यह बताया कि उन्होंने क्यों आंदोलन में भाग लेना छोड़ दिया। कारण रुपया कमाना बंद हो गया था इसलिए।

खद्दर को सभी ने आनंदपूर्वक स्वीकार कर लिया था। किन्तु, उसका प्रयोग करने में उसकी कभी पकड़ में आ गयी। पहले इंग्लैंड का बना सूती कपड़ा कितना मुलायम था। लंकाशायर की साड़ी कितनी सुंदर थी। गुप्त रूप से लोगों ने वह कपड़ा खरीदना शुरू कर दिया।

उसके बाद, उसके बाद दुनिया में सब कुछ ठंडा हो गया। भारतीय महिलाओं ने आवेश में आकर तब अपने गहने भी दान कर दिये थे। किन्तु आंदोलन के ठंडे पड़ जाने पर तब उन्होंने एक चीज देखी। उनके पतियों ने फिर उन्हें नये आभूषण नहीं बनवाये।

पुरुषों की स्वार्थपरता, स्त्रियों की वेश-भूषा के प्रति दुर्बलता और उपनेताओं के विचारों में भ्रम की स्थिति, इन तीन आघातों के कारण गाँधी द्वारा प्रज्वलित अग्निशिखा बुझने-बुझने को आ गयी थी। किन्तु वह अग्निशिखा पूरी बुझी नहीं थी। भारतीय लोग स्वतंत्र नहीं हुए थे किन्तु स्वतंत्रता के प्रति उनमें भावना जाग गयी थी। इस समय गाँधी के आविर्भाव से आध्यात्मिक भारत दिखायी दे रहा है। प्रतीत हो रहा है कि स्वाधीनता संभव है।

गाँधी ने स्वाधीनतावाद के जिस यंत्र को छोड़ा था, वह बीच रास्ते में ही रह गया। अंग्रेजों ने उसके चालक को पकड़ भी लिया था किन्तु, उस यंत्र को वे हटा नहीं सके। उसके नीचे गड्ढा खोद दिया गया, उसे हाथी से ठेला गया, राजबन्दियों को रिहा कर दिया गया, सरकारी कर्मचारियों का वेतन बढ़ा दिया गया, किन्तु किसी भी तरह से उस यंत्र को हटाया नहीं जा सका।

एक राष्ट्रीयतावादी कमेटी (अनुरोध के कारण नाम नहीं लिख रहा हूँ)

यह छह सिद्धांत दे गयी।

1. भारतीय मानसिकता जिस पथ पर आगे बढ़ गयी है, अब उससे पीछे नहीं लौटेगी।

2. भारत के आपात शांतियुद्ध में कोई विराम नहीं है, सिर्फ विचारों में थोड़ा विराम या अवकाश है।

3. दुर्बल, निःसहाय जाति, जो भिक्षा पर निर्भर करती है, उनपर भी करुणा की जा सकती है। भारत को उसकी जरुरत नहीं है, कारण भारत अंग्रेजों का नहीं खाता है, भारत अंग्रेजों को खिला रहा है।

4. जिस पुलिस ने हमें बाँध रखा हैं, उसका खर्चा हम लोग वहन करने को राजी नहीं है और देश की प्रचुर सम्पदा टेम्स नदी के तट पर भेजने की हमारी इच्छा नहीं है।

5. हमारे प्रति अंग्रेजों की भावना सिर्फ अवज्ञा की है। हमारे संपर्क से दूर रहने की उनकी जो भावना है हम उन्हें उससे मुक्ति देना चाहते हैं।

6. उनके प्रति हमारी घृणा की कोई सीमा नहीं है।

ठीक उसी दिन सी.आर. दास को जेल से आजादी मिल गयी और मोतीलाल नेहरू बड़े समारोह के साथ कलकत्ता पहुँच गये। दास और नेहरू राष्ट्रीयतावादी आंदोलन के नये नेता हैं। गाँधी ने उन्हें शक्ति या सत्ता तो अर्पित कर दी पर महिमा नहीं दी। भारत में नेता ही सब कुछ हैं। जनता की क्या चिंता। यह प्रश्न एकदम ही अवान्तर है, यह मानो महिषों की हड़ताल में घोड़ों का मतामत लेना है।

वे लोग एक साथ हैं, कलकत्ते की भीड़ छोड़कर रसा रोड के छोर पर, काली के द्वार पर। काली के मंदिर में हिन्दू लोग एक-एक कर छोटे-छोटे बकरों की बलि देते हैं। यह जैसे काली का आदेश हो। हिन्दू लोग नहीं चाहते हैं कि मुसलमान लोग गाय मारें। किन्तु वे पूरे दिन बकरों को मारते हैं। उस रक्त को वे अपने माथे से भी लगाते हैं, उसी तरफ दास और नेहरू रह रहे हैं।

गुप्त रूप से (किंतु मैंने पहचान लिया) पुलिस के पीछे लगे होने पर भी मैंने घर को ढूँढ लिया। घर दल के लोगों से भरा हुआ है। मैंने दास और मोतीलाल को तुरंत पहचान लिया, कारण वे कमरे के बीच में दो कुर्सियों पर बैठे हुए थे और अनुयायी लोग उनके गले में चम्पा फूलों की माला पहना रहे थे। मैंने उन दोनों के हाथों में अपना परिचय पत्र दिया। पहले उन्होंने सोचा, शायद यह गिरफ्तारी का नया परवाना है।

नहीं। यह सिर्फ मेरा परिचय पत्र है और इसका प्रमाण है कि मैं अंग्रेजी शासन का कोई अंग नहीं हूँ।

दोनों लोगों ने खड़े होकर कहा, 'हाँ बताइए।'

मैं आपके आनंद में किसी तरह की बाधा नहीं देना चाहता हूँ। मेरा केवल एक ही प्रश्न है। मेरे सामने भारत के दो राष्ट्रवादी नेता हैं। एक व्यक्ति पूरे भारत का भ्रमण कर आ रहा है और एक को जेल में चिंतन करने का सुअवसर मिला है। आंदोलन क्या समाप्त हो गया?

नहीं, अभी तो शुरू हुआ है, दोनों एक स्वर से, विश्वास के साथ बोल उठे।

[Excelcior, 6 नवम्बर, 1922]

कलकत्ता में अजीब पिकेटिंग

(कलकत्ता, अक्टूबर 1922)

उस दिन कलकत्ते की सड़क पर निकल पड़ा। बात थी मिलने की एक अंग्रेज जज और एक भारतीय वकील से। जज साहब यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि यहाँ क्रांति शुरू हो गयी है और भारतीय वकील की युक्ति उसके विरुद्ध है। मैं नाराज हूँ। मेरी जरूरत थी अन्य कुछ होने की, युक्ति-विमुक्ति के बाहर। असल में मैं एक पिकेटिंग देखना चाहता था। पिकेटिंग भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की संतान, एक दुरन्त ढीठ बच्चा। पिकेटिंग करते हुए भारतीय लोग अन्य भारतीयों को अंग्रेजों द्वारा तैयार सूती कपड़ा खरीदने से रोकते हैं। पिकेटिंग करने वाले सभी खद्दरधारी होते हैं।

कलकत्ता आज भी एक ऐसा शहर है, जिसका वर्णन अगर न किया जाए तो काम चलेगा नहीं। पता है, कलकत्ते में कौवों की संख्या कितनी है? प्रति व्यक्ति तीन। हिसाब लगाने पर कलकत्ते में कौवे की संख्या है उनतालीस लाख और पूरे भारत में छियानवे करोड़। कौन कहता है कौये बिना उद्देश्य के उड़ा करते हैं? ये लोग मेहतर का काम करते हैं। ये म्युनिसिपेलिटी के सफाई कर्मचारी हैं। तीन दल में इन्हें बाँटा जा सकता है। बड़े, मझोले और छोटे और बाकी जो हैं वे शेष में आते हैं। ये सिर्फ बाहर ही नहीं, घर के भीतर भी सफाई करते हैं। इन्होंने ही तो उस दिन मेरी टेबिल से कैंची चुरा ली थी। कैंची लेने से कौवे को क्या लाभ, इसे मैं नहीं समझ सका।

सड़क पर हर तरह के कुष्ठ रोगी हैं, जो दो आना भिक्षा की आशा में हाथ बढ़ाए हुए हैं। फीलपाँव वाले लोग स्वस्थ पैर की सहायता से चलते हुए घूम रहे हैं। रास्ते के आधे लोगों के चेहरे पर ईस्टर के अंडे जैसा रंग पुता हुआ है। कुछ लोगों के माथे पर तिरछे-तिरछे तीन चिह्न बने हुए हैं, क्यों इसका मुझे पता नहीं है। जिन लोगों के माथे पर दो भौहों के बीच में सफेद बिन्दियाँ हैं, वे लोग प्रलय के देवता शिव के उपासक हैं, लाल बिन्दी वाले सृष्टि के देवता ब्रह्मा के उपासक हैं, पीले रंग के बिन्दुओं वाले स्थिति के देवता विष्णु के उपासक हैं और जो लोग हनुमान के उपासक हैं, उनके माथे पर कोई तिलक नहीं है। हृदय पर सिर्फ बंदर बना हुआ है। और हैं योगी तथा साधु लोग ये लोग विषय चिन्तन से ऊपर हैं। इनमें कई अंतर हैं। पहले व्यक्ति का आसन काली के द्वार पर है, एक नग्न साधु लगे हुए एक तख्ते पर लेटा हुआ है। काँटे उसकी पीठ में छिदे हुए हैं। निर्विकार उसके दोनों हाथ सिर के पीछे हैं, मानो ईसा की मूर्ति हो। चेहरे के भाव से आसपास के लोगों के प्रति अवज्ञा प्रकट हो रही है। ये लोग चूँकि खाँटी साधु नहीं हैं। और एक व्यक्ति ने; उस दिन हुगली की एक शाखा नदी (आदि गंगा?) के किनारे चलते-चलते एक व्यक्ति को पैरों से धक्का दिया था, वह व्यक्ति बुद्ध की भंगिमा में बैठा हुआ था। नग्न देह ममी की तरह सूखा हुआ। उसका शरीर मानो तना सूखने की सीमा पर और उसके हाथ-पर मानो निर्जीव डालों जैसी हों। यह एक सच्चा साधु है। पाँच वर्ष से इसी तरह निश्चल है। वह हुगली की शाखा नदी का जल बहता हुआ देख रहा है।

गाय यहाँ सड़क की देवी है। वे तुम्हारे साथ फुटपाथ पर चढ़ जाएगी और निगाह डालेगी दुकान में सजी चीजों के ऊपर। जब वे सड़क पर बैठी हों तो गाड़ी का मालिक श्रद्धा से उसकी बगल से निकल जाएगा। अगर जरूरत हो तो भी मनुष्य के ऊपर से निकला जा सकता है किन्तु गाय की पूँछ के ऊपर होकर नहीं। जब कोई हिन्दू एक गाय की बगल से निकलता

है, तब उसे छूकर हाथ माथे पर लगाएगा। गाय इनके धर्म में ईसाइयों की आशीर्वादी रोटिका (eucharistic wafer) की तरह है। संभव होने पर जिसे ईसाई प्रतिदिन जीभ पर रखकर खाते हैं। गाय को सिर्फ सब्जी बेचने वाले भगाते हैं, कारण ये सब्जी खा जाती है।

यह हेरीसन रोड है, बंगाल का बाजार, रहस्य भरा। कोई अगर मुझसे यह कहे कि किसी गुप्त शहर का गुप्त रास्ता यहाँ पहुँचता है, मैं उससे कहूँगा, निश्चय ही। जो खोजकर्त्ता समुद्र के नीचे डुबकी लगाता है, उसे समुद्र की तलहटी देखकर जो विस्मय होता है, कलकत्ते की अलियों-गलियों में घूमकर एक गौरांग व्यक्ति को उससे कम विस्मय नहीं होता है। अवाक् होने पर यदि तुम्हारी साँस बंद हो जाए तो यहाँ तुम्हारी प्रचंड आघात से अपमृत्यु हो जाएगी।

नग्नप्राय बच्चे कूड़े को छाँट रहे हैं। अधखाये आम अथवा नींबू मिल जाने की आशा में उकडूँ बैठी हुई स्त्रियाँ, जिनकी नाक नकली हीरे से छिदी हुई है, पान बेच रही हैं। पूरा शहर पान की लाल पीक से गंदा है। ऐसा लगता है मानो शहर वासियो की क्षय रोग से अंतिम अवस्था है। फुटपाथ की बगल में कुछ लोग अनेक तरह के घावों का उपचार कर रहे हैं। कोई-कोई गीली मिट्टी लेकर अपने खुले घाव को बंद कर रहे हैं। वे लोग मौन, उनकी आँखें आकाश की तरफ और मुख पर गंभीर वेदना है।

रास्ते में मानो मेला लगा हुआ है और नीलामी का शोरगुल मचा है। जब कोई महिला पैरों में नुपूर पहने हुए निकलती है, तब ऐसा लगता है जैसे कोई रूपहला साँप उसके पैरों के साथ-साथ टेढ़ा-मेढ़ा होता हुआ चला जा रहा है। Garise (जिसका चेहरा हमारे यहाँ मुर्दा टीन वाली गाड़ी की तरह है) रथ, मोटरगाड़ी और गायें सभी मिलकर मानो एकाकार हो गए हैं। भैंसा गाड़ी पर लोहे के सरिया लदे हुए है। भैंसों को गाड़ीवान लगातार पनैठी मारता रहता हैं जैसे घोड़ा का जॉकी अपने घोड़े की जल्दी पहुँचने के लिए चाबुक मारता रहता है। और भारतीय पुलिस लठियाती है गाड़ीवान को कानून की रक्षा के लिए। शांति-व्यवस्था कायम रहे इसलिए।

भारतीयों को जैसे ही ताकत मिल जाती है, वैसे ही वे अपनी जाति को ही लठियाने लगते हैं। अंग्रेज उसमें बाधा नहीं देते हैं। उनकी धारणा हैं, कि जो लोग जिस चीज को पाने के आदी हैं उसे वही देनी चाहिए। पिंजड़े के तोते को सूर्यमुखी के बीज देते हैं और छोटे पक्षी को अन्न के दाने। जब जो खाना होता है, भारतीय लोग वही खाते हैं। अंग्रेज लोग भारतीय रोटियों को एकबार भी नहीं छूते हैं।

यह तो एक पिकेटिंग है।

गाँधी की टँगी हुई तस्वीर के नीचे व्यवसायी लोग (वे पहले व्यवसायी हैं, बाद में भारतीय) बिलायती मिल के सुंदर कपड़े महिलाओं को बेच रहे हैं। इन महिलाओं को गहनों का आकर्षण राष्ट्रीयता बोध से अधिक है। पिकेटिंग करने वाले दिखायी देने लगे। ये सभी छात्र हैं। एक भारतीय के नेतृत्व में वे साठ के लगभग हैं। प्रत्येक पिकेटर एक-एक खरीददार को पकड़ता है। शुरुआत में तर्क देकर खरीदने से मना करने का प्रयास। क्या कहते हैं पिकेटिंग करने वाले? यह तो हर पिकेटर की वाक्पटुता पर निर्भर करता है। फिर भी उनकी बातचीत का मोटे रूप में भाष्य इस प्रकार है, ''बहनो, जिन लोगों ने हमें दबा रखा है पुलिस के बूटों के नीचे, अपने रुपयों से उनकी सहायता मत करो। तुम नारी हो, किन्तु तुम्हें पता नहीं है, इस क्षण तुम्हीं हमारी पीठ में छुरा भोंक रही हो। खद्दर पहनिये जैसा कि महात्मा जी ने हमें निर्देश दिया है। पश्चिम दिशा के आह्वान को सुनो।'' गाँधी उस समय पश्चिमी भाग के एक कारागार में थे। अधिकांश महिलाएँ चली जाती हैं, दूसरी जगह खरीदने की आशा से।

किन्तु आज विक्रेताओं ने ऊँची आवाज में कहना शुरू कर दिया। पिकेटिंग करने वालों ने आज उनकी दुकान के सामने टँगी गाँधी जी की तस्वीर दिखायी। उन्होंने बड़े निश्चय से कहा—'अरे, दुकानदार तुम्हारा क्या साहस होगा कि पवित्रता के प्रतीक के सामने तुम विश्वासघात करो। दुकानदार और भी ऊँची आवाज में अपने व्यवसाय के अधिकार का दावा करने लगा। थोड़ा वह बढ़-चढ़कर बोलने लगा। तब बीस पिकेटिंग करने वालों ने दुकान पर धावा बोल दिया कपड़ों के बोरे बाहर निकाल कर उनमें आग लगा दी।

यह हुआ एक नम्बर की पिकेटिंग का दृश्य।

जब हम झंझट और हंगामें के इस बाजार को छोड़कर चले जा रहे थे, तब एक अनोखा घुड़सवार मेरी निगाह में आया यह भी एक तरह की पिकेटिंग है, एक भारतीय को एक गधे पर बैठाया गया है। उसके छटपटाने के बाद भी पास में खड़े कई लोग उसे गधे पर से उतरने नहीं दे रहे हैं। वह पुराने जूते, गंदा चिथड़ा और कटोरियों की माला पहने हुए है। इस अद्‌भुत घुड़सवार के दोनों तरफ दो रक्षक हाथ में ह्विस्की की बोतल लिये हुए हैं। अपराधी एक निर्लज्ज, हृदयहीन, राष्ट्रीयता की भावना से शून्य बंगाली है, जिसने पिकेटिंग करने वालों के अनुरोध और मना करने के बाद भी दो बोतल ह्विस्की खरीदी है।

— सैमुएल, अपने विश्वस्त पाण्डिचेरी वासी से मैंने पूछा—

पिकेटिंग करने वाले प्रार्थना की तरह हाथ जोड़कर क्या कह रहे है?

— कह रहे हैं गाँधी की पुकार सुनो।

[Excelsior, 8 नवम्बर 1922]

स्वाधीनता का होता, गाँधी जी के विरुद्ध

[भारतीय कवि टैगोर]

(कलकत्ता, अक्टूबर, 1922)

ठीक चार बजे ट्रेन की खिड़की से मुँह निकाला। छः घंटे से बंगाल की हरियाली की प्रचुरता के बीच ईस्ट इंडियन रेलवे की ट्रेन चली जा रही है। अंत में यह क्या बोलपुर स्टेशन है? हाँ यही बोलपुर है। यहीं पर मेरी यात्रा का अंत है।

स्टेशन पर जिस गाड़ी की प्रतीक्षा करने की बात थी, वह नहीं है। एक हाथी तक दिखाई नहीं दे रहा था। आसपास इसके अलावा बोलपुर एक ऐसी जगह है, जहाँ सभी लोग दल बाँधकर गाँव से दूर-दूर काम करने जाते हैं। एकमात्र बंदर को छोड़कर और कोई जीवित प्राणी दिखाई नहीं दे रहा है। वह निश्चय ही मुझे शांतिनिकेतन का रास्ता नहीं बता सकेगा।

बंगाल में खड़े होकर अगर मुझे दुःख भुगतना पड़े तो इसके लिए जिम्मेदार हैं रवीन्द्रनाथ ठाकुर। दो दिन पहले, जब मुझे यह पता चला था कि कवि थोड़े समय के लिए कलकत्ता आये हैं, मैं उनसे भेंट करने जाता हूँ। भारतीय रीति के अनुसार यथा समयानुसार अर्थात् सुबह के सात बजे। वे थे चित्तपुर रोड वाले पैतृक घर में। कलकत्ते का चित्तपुर मोहल्ला खोज पाना मेरे लिए एक असंभव कार्य था। यूरोप में उसे एक निषिद्ध पल्ली कहा जा सकता था। घर के भीतरी आँगन में उनके वादक लोग बाँसुरी तथा अन्य वाद्ययंत्र के सुर में प्रभात संगीत प्रस्तुत कर रहे हैं। असल में रवि ठाकुर ने इस समय अपनी आराधना समाप्त नहीं की है। सभी गुणवान हिन्दू लोग हर प्रभात में सवेरे-सवेरे संगीत के सहयोग से प्रार्थना करते हैं।

आनंद के आवेग से भरे, सरल, विशाल आँख वाले ब्राह्म बच्चे बरामदे से आ रहे हैं।

उन लोगों को अब गुरुदेव को प्रणाम करने की अनुभूति मिल गयी है। और भी अभ्यागत ढीला-ढाला कुर्ता पहनते निकलते आ रहे हैं। मेरे जैसे एक विदेशी को एक खाली बैठक कमरे में बैठा दिया जाता है। सहसा जैसे भगवान का आविर्भाव हो गया हो। अपरूप सुंदर। यही रवि ठाकुर हैं। उन्होंने कहा था :

—'आप दो एक दिन के लिए शांतिनिकेतन आइए ना, आप ईस्ट इंडियन रेल से बोलपुर उतर जाएँगे। वहाँ आपकी कोई प्रतीक्षा करता मिलेगा।'

भारत में आज और कल कहने में एक ही शब्द का प्रयोग होता है। किसी विशिष्ट व्यक्ति ने आपको समय दिया सुबह सात बजे और वह अस्तव्यस्त होकर हाजिर होगा शाम को नौ बजे, इसीलिए मैं बंदरों के बीच में बैठा-बैठा प्रतीक्षा करने लगा। नहीं, वे मुझे भूले नहीं हैं। हाथी के आने की घोषणा हुई। अवाक् होने का कारण यह है कि इसके दाँत नहीं है, है एक हॉर्न। हाथी एक छोटी-सी लारी है।

शांतिनिकेतन रवीन्द्रनाथ ठाकुर का विश्वविद्यालय है। यूरोप के किसी भी विश्वविद्यालय से इसका अंतर धूप और वर्षा की तरह है। शांतिनिकेतन माने शांति का अवास, आश्रम, संयत साधना का स्थान। जो अट्टालिकाएँ शिक्षा विभागों की आश्रय स्थल है, वे हैं वृक्ष। विज्ञान के वृक्ष, संस्कृति के वृक्ष, इतिहास के वृक्ष, शुभ वृक्ष यहाँ अगर नहीं है तो कोई अशुभ वृक्ष। पूरे दिन वहाँ गाने का सुर बहता रहता है। वहाँ के निवासियों में से किसी की उम्र पंद्रह और किसी की चालीस। सभी एक साथ रह रहे हैं। यहाँ न तो लिंग-भेद है, न जाति-भेद है। यहाँ सिर्फ बुद्धि की ही विजय है। ठाकुर का उद्देश्य हैः एक बुद्धिशाली वर्ग की सुष्टि करना, जो भारत को शक्ति के द्वारा प्रबुद्ध कर देंगे।

कुछ दिन पहले गाँधी-ठाकुर की भेंट ने इस विशाल देश में उत्तेजना फैला दी थी। चार घंटे तक यह रहस्मय भेंट होती रही थी। काफी दिनों तक इसका फलाफल कोई जान नहीं सका।

एक आँधी-सी बह गयी थी महात्मा जी और गुरुदेव के बीच में। गाँधी ने अपने अतिप्राकृतिक दर्शन के द्वारा भावी भारत का रूप प्रस्तुत किया था, जिसके अनुसार दुनिया से यह देश अलग है। जिसमें सभ्यता की अनुगति का स्थान नहीं है अज्ञान के ऊपर ज्ञान की विजय का स्थान है। जिसमें रेलमार्ग नहीं होगा, न स्कूल, न डॉक्टर, न अदालत। उन्माद से भारत लौट जाएगा मध्ययुग में अब से उनका एकमात्र यंत्र होगा चरखा।

— ठाकुर ने गाँधी के चरखे को पैरों से ठेलकर एक ओर कर दिया। आपकी भारतीय राष्ट्र के भावी रूप की अवधारणा क्या है? कोई क्या पीछे मुड़कर भविष्य की ओर बढ़ सकता है?

— गुरुदेव, गाँधी ने कहना शुरु किया।

किंतु ठाकुर ने पहले ही हाथ जोड़कर नमस्कार कर गाँधी को बात पूरी नहीं करने दी।

बंदरों को हताश करते हुए, यद्यपि उनके साथ मित्र जैसा व्यवहार करते हुए भी, गाड़ी मुझे बिठाकर ले गयी। गाड़ी चार किलोमीटर खाली सड़क पर चलने के बाद मुझे एक बंगले के सामने उतार कर चली गयी। घर के दरवाजे पर ताला लगा हुआ था। दिगन्त में किसी भी प्राणी का नामो निशान नहीं था। यह क्या किसी साधना का स्थल है? हो सकता है हो, तो मुझे साधना में बैठना चाहिए।

थोड़ी देर में सफेद चादर ओढ़े एक व्यक्ति मैदान के उस छोर पर दिखायी दिया। साफ समझ में आ रहा है कि एक भारतीय मुझे लेने आ रहा है। अवाक् कर देने वाली घटना। यह भारतीय नहीं हैं, अंग्रेज हैं, नंगे सिर, नंगे पाँव, लटकती हुई दाढ़ी, ढीला-ढाला कुर्ता। ये

मि. एण्ड्रूज हैं। इन्हें मैं पहचानता हूँ। प्रत्येक सुबह, समाचारपत्रों में, 'मि. एण्ड्रूज का वक्तव्य, एण्ड्रूज कहाँ गये है, आदि रहता है। इन्होंने वायसराय के पास जाकर कहा था, 'माननीय महोदय, आप जो कर रहे हैं वह जरा भी अच्छा नहीं है।' इन्होंने मोपलाओं की हत्या बंद करायी थी। रेल पथ पर जब कोई सत्याग्रह होता, ये वहाँ हाजिर हो जाते। मजदूर उनके नाम की जय-जयकार बोलते हैं। पूर्वी अफ्रीका, फिजी, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड जहाँ पर भी भारतीय मजदूर काम करते हैं, वहीं पर उनकी उपस्थिति। ये मानो गरीब निवासियों के संत माइकल हैं जो बर्छी से बींध कर गोरे अजगर को धराशायी कर देते हैं। ये जोरदार आवाज़ में दावा पेशकर सकते हैं। कारण ये अंग्रेज हैं। अंग्रेज लोग इनकी बात सुनते हैं, कारण भारतीय लोग इनके वश में हैं। उनकी शक्ति महान है किन्तु उनकी आत्मा एक संत की है। यही मुझे शांतिनिकेतन का मार्ग दिखाएँगे।

भारत जादू से भरा हुआ है। इस वृक्ष के नीचे क्या देख रहा हूँ? नंगे सिर, नंगे पैर और सभी की तरह रंग-रहित ढीला-ढाला झूलता हुआ कुर्ता पहने क्या, सिलवाँ लेवी है? College de France (कॉलेज दे फ्रांस) के सम्मानित अध्यापक। उनकी बाँहों में एक तीन महीने का बच्चा है और वे इसके साथ संस्कृत पढ़ रहे हैं। उनको क्या मैं ठीक-ठीक पहचान रहा हूँ? निस्संदेह वह सिलवाँ लेवी ही हैं।

यहाँ पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक देवता की तरह हैं। उनकी आभा क्षितिज पर्यन्त फैली हुई। कई घर मिट्टी से बने हैं और कई तम्बू की तरह विराट प्रांतर में फैले हुए हैं। यही हैं विश्वविद्यालय के भवन उसी के एक घर में कवि लेटे हुए हैं इसी चेयर पर। उनके सुन्दर मुख को घेरे हुए हैं घूसर वर्ण के घुँघराले केश। दोनों पर नंगे हैं, पोशाक श्वते रंग की है, किन्तु खद्दर की नहीं है। आगन्तुक की अभ्यर्थना करने के लिए उठकर आ गये। भगवान के पुत्र यीशु भी यदि अपने आसन से उठकर मेरी ओर आते तो भी मेरा इससे अधिक भक्ति भाव नहीं जागता। उन्होंने मुझे हाथ जोड़कर तीन बार सिर हिलाकर नमस्कार किया। भारतीय रीति के अनुसार। मैंने भी उन्हें उसी तरह से नमस्कार किया। फिर भी उसमें न सौष्ठव था, न सौन्दर्य था। उनके मिट्टी से बने घर के भीतर से आ रहा था बाँसुरी का करुण सुर। शायद कोई शिष्य कवि की नयी कविता की सुर-रचना कर रहा है।

बंगाल की इस जगह को खोज की थी उनके ब्राह्म पिता ने। उन्होंने पालकी पर बैठकर भारत भ्रमण किया था। सहसा उन्होंने पालकी ढ़ोने वालों से कहा था, रुको यहाँ।

इस प्रांतर की विराटता ने उन्हें मुग्ध कर दिया था। वे एक वृक्ष तले बैठ गये। भ्रमण का अंत हो गया यहीं पर। वे विचार करने में मग्न हो गये।

मैं कवि के साथ शांतिनिकेतन में चलने लगा। चादर धारण किये लड़के दौड़कर आए और उन्होंने उनकी पग धूलि ली। उनका भक्तिपूर्ण कूजन था गुरुदेव, गुरुदेव। उन्होंने हाथ उठाकर उन्हें आशीर्वाद दिया। हम लोग एक वृक्ष के पास पहुँच गये। उसके नीचे पक्की बँधी हुई वेदी है। वहाँ पर महान टैगोर ने अपनी जलधारा की तरह सुरीले सुर में कहा—

—एक दिन मेरे पिता भ्रमण करने—

उस दिन सांध्यवेला में आकाश बहुत ही साफ था। दक्षिण की ओर क्षितिज पर तारों का पुंज, Southern Cross त्रिशंकु खिला हुआ था। चमगादड़ों का झुण्ड मेरे सिर के ऊपर चक्कर लगा रहा था। कवि ने उस दिन शाकाहारी भोजन के लिए मुझे आमंत्रित किया था। श्रीयुत् और श्रीमती सिलवाँ लेवी के साथ। एक विशाल टेबिल बिछा हुआ था। रात्रि की बंगाली पृष्ठभूमि में।

हाँ, मैं भी देश की स्वाधीनता चाहता हूँ तो भी किसी अजीब साधन के द्वारा नहीं।

राष्ट्र की स्वाधीनता ला देना एक एडवेंचर नहीं है। गाँधी? उनकी सब तरह की झाड़-फूँक, उनकी शक्ति जनता के कुसंस्कारों की भीत पर उठी है। भारत की सृजन-शक्ति के ऊपर निर्भर न कर वे सहायता ले रहे हैं काले जादू अर्थात् टोना-टोटका का। यह मानो एक जादूगर की टोपी है। वे इस समय अपने को एक दैवी शक्ति के रूप में चला रहे हैं। छोटे-बड़े, मछली या पक्षी, जो खुशी हो इच्छा करते ही हो सकते हैं उस दैवी शक्ति के द्वारा। गाँधी की बातें सुनकर ऐसा लगेगा कि स्वाधीनता पाने के लिए भारत को जिस प्रयास की आवश्यकता है वह सिर्फ दो उपायों से ही संभव है—एक चरखा दूसरा अछूतों की ओर हाथ बढ़ाने से। अपने कपड़े स्वयं बुनना और अछूतों की ओर मुस्कराना। इनसे ही आ जाएगा स्वराज। यह सब बचपना है। मैं समझता हूँ ये सब उनके लिए प्रतीक मात्र हैं। अंततः मुझे तो ऐसा ही लगता है। किन्तु, इतने सूक्ष्म प्रतीकों के साथ जनता का कोई परिचय नहीं है। उनकी दृष्टि में प्रतीक सहज ही यथार्थ का रूप धारण कर लेते हैं। यह बात भूलने से काम नहीं चलेगा कि एक दिन गाँधी ने स्वयं समझ लिया था कि वे अपनी ज्योतिषी शक्ति से अंग्रेजों के भारत छोड़ने के दिन को निर्धारित कर सकते हैं। उनकी आध्यात्मिक महिमा की इतनी शक्ति है कि विवेकशील तक बिना किसी द्विविधा के उनकी अलौकिकता पर निर्भर करने लगे हैं। मैं गाँधी के विरुद्ध हूँ, उसका कारण यह है कि उन्होंने जो रास्ता चुना है वह ग़लत है और उनका नैतिक अत्याचार असत्य है। ऐसे सरल मन भी हैं जो ऐसा सोचते हैं कि सुख कहने से ही आ जाता है बिना कोई प्रयास किये। खद्दर का कुर्ता पहना नहीं कि स्वतंत्रता, ना क्या यह सत्य है? भारत के पास सम्पदा है। वह स्वाधीनता का मूल्य दे सकता है। स्वतंत्रता रूपी संतान को बाजार में नहीं खरीदा जा सकता है।

और कुछ न कहकर रवि ठाकुर ने उँगली के संकेत से त्रिशंकु तारा दिखाया। फिर गाँधी के प्रसंग पर आ गये।

— उनके समाज में आने वाले युग का, सभ्यता का कोई स्थान नहीं है। मुझे अगर पागल कुत्ता काट ले तो मैं चिल्लाकर डॉक्टर को बुलाऊँगा, यह जो सभ्यता है इसे मैं अस्वीकार नहीं कर सकता। गाँधी एक संत पुरुष हैं वे जिस आकाश में उठ गये हैं वे वहीं रहें, वहीं पर उनका स्थान है, किन्तु भारत नीचे आ जाएगा नीचे धरती पर।

— किन्तु, गुरुदेव कौन-सा पथ लेना होगा?

— रास्ता लंबा और कठिन हैं, सिर्फ प्रयास करने से ही स्वाधीनता आएगी।

[Excelsior, 9 नवम्बर 1822]

भारत में अंग्रेज

(कलकत्ता, नवम्बर, 1922)

आभास मिल रहा था कि सैमुएल मुझसे कुछ कहना चाह रहा है। किन्तु, उसे रोज ही द्विविधा होती है। एक सप्ताह मन खोलकर उसने कुछ कहा नहीं। उसके बाद अंततः एक संध्या को :

— माँसियो (महाशय) मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ। बाहर हम लोग साथ-साथ नहीं चलेंगे। मैं आपके थोड़ा पीछे चलूँगा।

— अच्छा, ऐसा है? सैमुएल, आपकी जैसे चलने की इच्छा है, आप उसी तरह से चले।

— और आपके साथ लिफ्ट पर नहीं चढ़ूँगा।

— मैंने आपके साथ ऐसा क्या किया है, सैमुएल?

– माँसियो, मैंने ही आपको नुकसान पहुँचाया है। मेरी वजह से अंग्रेज लोग आपकी अवज्ञा करते हैं। इसके पहले जब हम लोग एक साथ होटल के हाल से होकर जा रहे थे तब वे लोग आपको लेकर मजाक बना रहे थे। मेरे कारण आपकी मर्यादा को धक्का लग रहा है, आप अपनी मर्यादा मेरी वजह से खो रहे हैं।

– मर्यादा। वह तो मेरी है ही नहीं। खोऊँगा कैसे, सैमुएल।

– हाँ, माँसियो, इसी वजह से आज Bengal Club में आपकी अभ्यर्थना नहीं की जाएगी।

– सैमुएल, क्या आप फ्रांसीसी नागरिक हैं? बताइए, हाँ या ना। आपने क्या फ्रांसीसी पार्लियामेंट में भारत के सदस्य माननीय माँसियो ब्लुइसेन को वोट दिया है?

– हाँ, मैंने पोंडिचेरी के शासक के चुनाव में भी वोट दिया है।

– तो फिर सैमुएल, तुम मेरे साथ लिफ्ट लोगे।

– ना माँसियो।

– क्यों?

– कारण, मेरी त्वचा का रंग।

सैमुएल, एक नेटिव (देसी व्यक्ति) है। किसी भी अंग्रेज के मुख से जिसने नेटिव शब्द का उच्चारण नहीं सुना है, वह कभी यह नहीं समझ सकेगा कि इस शब्द में किस परिमाण में अवज्ञा का भाव छिपा होता है। ऐसा लगता है कि अंग्रेजों की दृष्टि में सबसे पहले हैं अंग्रेज, उसके बाद घोड़ा, उसके बाद अन्य सब गौरांग लोग, उसके भी बाद जुएँ और मच्छर और सब के अंत में नेटिव।

इस समस्या पर अगर प्रकाश न डाला जाए तो काम नहीं चलेगा। अंग्रेज हमारे बंधु और मित्र इस बहाने से अगर भारत में अंग्रेजों की नीति के संबंध में मैं चुप बना रहूँ, तो यह एक बहुत बड़ा तमाशा होगा। इस संबंध में भारत के विषय में लिखना उचित होगा, कारण, इससे अंग्रेजों का चरित्र समझ में आ जाएगा। संभवतः कोई यह कह सकता है कि भारत अगर और किसी देश के अधीन होता तो शायद कहने को कुछ नहीं रह जाता। अंग्रेजों के खिलाफ भारतीयों का क्या आरोप है? वे अत्याचारी हैं? नहीं। जो अन्य देश कर सकते थे वह उन्होंने क्यों नहीं किया? नहीं, वह भी नहीं। अंग्रेजों के विरुद्ध यह अभियोग हैं कि वे अंग्रेज हैं। अगर आज बत्तीस करोड़ भारतीयों की दबी हुई गर्जना के कारण को समझना हो तो अंग्रेज और भारतीयों के व्यक्तिगत संबंधों को समझना होगा। इन संबंधों की बात याद रखनी होगी।

भेद की जो दीवार भारतीयों और अंग्रेजों के बीच में है, वह हैं उनकी चमड़ी का रंग विशेष और उसके कारण भारतीयों के प्रति विद्वेष। भारत क्या स्वराज पाने के योग्य है? स्वाधीनता में क्या पराधीनता से अधिक सुख है? इसके पक्ष-विपक्ष में नेटिव लोग चर्चा करते हैं। सिर्फ रंग विद्वेष के प्रसंग में एकमत देखे जाते हैं।

मान लिया गया है कि अंग्रेजों के आदर्श में समझौते के लिए कोई स्थान नहीं है। वे अपनी अनुभूति को किसी भी प्रसाधन के माध्यम से दफनाना नहीं चाहते हैं। गौरांग के अलावा उन्हें और किसी रंग के व्यक्ति पसंद नहीं हैं। इसे वे छिपाकर नहीं रखते हैं। अगर ऐसा है तो वे भिन्न रंग वालों के देश में जाते क्यों हैं? यह हुआ अन्य मामला।

भारत की जमीन पर अंग्रेज मानो एक जनहीन ग्रह पर हैं। जहाँ पर वे एकाकी हैं। ऐसा लगता है जेसे वह टूटी हुई बोतल के टुकड़ों से घिरा हुआ है और उसके आघात से। वह अपनी देह और मन की रक्षा कर रहा है। जैसे हमारे देश में कुछ लोग ऐसे हैं जो बीस

बरसों से एक ही घर में बने हुए हैं, उन्होंने घर के किसी दरवान के चहेरे की ओर ताक कर भी नहीं देखा है। ठीक उसी तरह से। ये लोग चिर-दिन के लिए बँधे हुए विदेशी है।

भाग्यशाली वे विदेशी हैं जो जीवन में एक बार तीन महीने के लिए भारत में आते हैं। मृदुल आबोहवा के लिए, नवम्बर मास में आ गये दिसम्बर और जनवरी बिताकर, फरवरी में जब धूप तेज होने लगी तब वे पर्यटक लौट जाते हैं। अपने श्वेत देश में लौटकर भावावेश से उनका श्वासारोध हो जाता है। अहा! भारत कितना सुंदर है।

पर्यटक, जहाँ पर लगातार दस रस तक काम करते हैं। दुनिया के हर हिस्से का गुणगान होता रहता है। किन्तु, गौरांग लोगों की गाथाओं में गरम देश के सुर में नहीं बजते हैं। इंडोचाइना के श्वेत लोग फ्रांसीसी हैं, और भारत के अंग्रेज। उनके प्रति कृतज्ञता की भावना नहीं है। यद्यपि उनका निर्माण देखते हुए अवाक् होना पड़ता है। उसे बिना देखे रहा नहीं जा सकता है। लॉर्ड नार्थक्लिंफ ने लौटकर घोषणा की थी कि इंग्लैंड को फ्रांस से कुछ सीखने के लिए नहीं है। अंग्रेज लोग भी कुछ बैठे नहीं रहे हैं, सिंचाई प्रणाली से लेकर हिलामय की चोटी के बर्फ तक। कलकत्ता, दिल्ली, कितने अद्भुत शहर है। क्या रेलवे, क्या बंदरगाह। कितने प्रयास किये जा रहे है। मैंने सुना है भारतीय जनता ने उच्च स्वर से घोषणा की है कि ये सब चीजें तो हमारे परिश्रम, हमारे धन से अंग्रेजों ने खुदाई की, लाइन बिछायी और निर्माण कर रहे हैं, इत्यादि। यह तो ठीक है, किन्तु, अगर वे न करते तो यह सब कुछ भी नहीं होता। आज तुम इन्हीं साधनों से दूर देशों में जा रहे हो, टेलीग्राम भेज रहे हो। तुम लोग अंग्रेजों को विदा करना चाहते हो यह तो तुम्हारा अधिकार है किंतु उनके पटचित्र के सामने अगर कभी धूप-अगरबत्ती नहीं लगायी तो तुम्हारा कर्त्तव्य पूरा नहीं होगा।

एक घटना बता रहा हूँ। मद्रास की एक सड़क पर कुछ अधिक लोगों, भैंसों और भैंसा गाड़ियों ने ऐसा जट बाँध रखा था, उससे ऐसा लगा रहा था कि एक सप्ताह में भी वह रास्ता साफ नहीं हो पायेगा। इसकी कोई आशा नहीं है, एक अंग्रेज वहाँ से जा रहा था। वैसे भी अंग्रेज ऐसे चलता है जैसे मार्च कर रहा हो। अपने को आड़ में रखकर अदृश्य रूप में घूमता-फिरता है। उसने उस दृश्य को देखा और एक स्पोर्ट्समैन की तरह सड़क पर उतर गया। उसने जो इस बार किया वह देखिए। थोड़ी देर में ही वह उस सड़क को साफ कर गया। किन्तु, उसने न तो एक शब्द किसी से कहा और न किसी की तरफ उसने देखा। उसने जो किया वह मुसीबत से छुटकारा दिलाना नहीं था। उसने सिर्फ व्यवस्था बना दी। उसका काम देवता के वरदान की तरह था। एक मनुष्य की तरह नहीं। वह अवज्ञा के साथ चला गया। भारतीयों ने हमें अवाक् होकर देखा किन्तु उन्होंने कोई उत्साह नहीं दिखाया। वे जरा भी भावावेश में नहीं आए।

इसी एक दृश्य की कल्पना आप साइगन में कीजिए। उस समय का फ्रांसीसी उपनिवेश, वियतनाम का एक शहर।

– Nakue (किसानः वियतनाम की भाषा में) कहाँ का बेवकूफ न हो ऐसा नहीं हो सकता।

– एक फ्रांसीसी हंगामें में घुस गया। भैंस को दाहिने ले जाओ। अब भी दाहिने-बाँए का अंतर नहीं जानते हो। ऐसे, ऐसे।

मुस्कान के साथ ही उस दृश्य का अंत हो गया।

जिस मुखभंगिमा पर हँसी आ जाती है वह भारत में अनजानी है। भारतीय लोग हँसते नहीं हैं, अंग्रेज भी नहीं हँसते है। बाहर बहुत गरम हों किन्तु मन में सभी बहुत ठंडे रहते हैं। यह बात किसी भी तरह नहीं कही जा सकती है कि भारतीय और अंग्रेजों में संबंध टूट गया है। कारण, कभी संबंध था ही नहीं। भारतीयों और अंग्रेजों में आत्मीयता एक झुण्ड भेड़ों

अथवा एक झुण्ड मछलियों की तरह है। अंग्रेजों के संबंध में एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि भारतीय लोग उनकी नजर में पड़ते ही नहीं हैं। अगर कलकत्ते की सड़क पर किसी को रोक कर मैं पूछूँ–

– मिस्टर भारतीयों के संबंध में आपकी क्या धारणा है? वह जवाब में कहेगा।

– भारतीय? यही तो। वे लोग रहते कहाँ हैं?

– और एक कहानी कहता हूँ। उस दिन शाम को कलकत्ता के Great Eastern Hotel में ठीक आठ बजते ही सैमुएल ने मुझे एक राष्ट्रीयतावादी इश्तहार दिया। यह राष्ट्रीय कमेटी का इश्तहार बाजार में बाँटा जा रहा था।

– सैमुएल, आपका क्या रात्रि का भोजन हो गया?

– नहीं, अभी नहीं हुआ है।

– तो फिर चलिए मेरे साथ।

हम दोनों लोग खाने वाले कमरे में गये। सैमुएल के शरीर का रंग यदि गहरा बादामी न होता, तो फिर मैं इसका फीका स्याह चेहरा देख पाता। वह काँपता हुआ बैठ गया।

अरे, सैमुएल को भीतर क्या सर्दी लग रही है। हॉल में भोजन करते हुए अंग्रेज स्त्री-पुरुष थमक कर खाना रोककर हमारी तरफ देखने लगते हैं। यदि अपनी मेज पर एक सफेद हाथी बैठालता और वह अगर गले में नेपकिन पहनकर भोजन के पहले आशीर्वाद देता तो शायद हॉल में बैठे लोगों में इतनी उत्तेजना न होती ।

पता है, सैमुएल किन्तु मजदूर नहीं है। उसका भाई चन्दन नगर का जज है और उसके खुद के पास भी कानून की एक डिग्री है। एस्क (Aisk) विश्वविद्यालय की। किन्तु, वह एक नेटिव है।

– ओ! माँसियों। मैंने फिर आपके सम्मान को नष्ट कर दिया, वह कहने लगा। बेचारा सैमुएल और एक छोटी-सी कहानी कहता हूँ। उसे सुनकर आप समझ जाएँगे कि अंग्रेज लोग क्यों एक बड़ी जाति के रूप में गिने जाते हैं। घटना हावड़ा स्टेशन की है। मैं दक्षिण की ओर जा रहा था। साउदर्न इंडियन रेलवे के कमरे में पंखे के नीचे मैंने अपने शरीर को फैला दिया था। तब एक शर्ट पहने बालक मेरी उल्टी दिशा की बेंच पर बैठ गया, उस पर उसने कब्जा कर लिया। उसके पिता ने मुझे देखकर पूछा, मैं कहाँ जा रहा हूँ?

– मद्रास।

– आप दया कर क्या इस बच्चे पर नज़र रखे रहेंगे?

– मैंने कहा–जी।

उस बच्चे के माँ-बाप प्लेटफार्म पर प्रतीक्षा कर रहे थे। लड़का बिस्तर बिछाकर खिड़की से गर्दन निकालकर देखने लगा।

गुडलक माँ-बाप ने उस लड़के से कही।

गुडबाय, अच्छा विदा, लड़के का जवाब था।

लड़का बंगलौर जा रहा था। Royal Artillery Boys Depot में तीन दिन का रास्ता है। अकेला ही जा रहा था इस विक्षुब्ध भारत में। ट्रेन चलने लगी। लड़के ने अपनी पीछे की जेब से कुछ निकाला और तकिये के नीचे रख लिया। वह एक रिवोल्वर थी, लड़के की उम्र थी बारह वर्ष।

[Excelsior, 10 नवम्बर 1922]

आराधना का शहर वाराणसी

(वाराणसी, नवम्बर 1922)

मेरा पड़ाव है वाराणसी, धर्माचरण के लिए प्रसिद्ध पवित्रतम शहर। यहाँ पर आराधना, प्राचीनतम दुनिया के पवित्रतम स्थल पर की जा सकती है।

उस दिन सवेरे-सवेरे गंगा के ऊपर से होकर भागता चला जा रहा था। हिन्दू मक्का के सम्मान्य महाराजा ने अपने आठ माझियों के द्वारा खेयी जाने वाली नाव मेरे लिए भेज दी थी। अन्य सब राजा-महाराजाओं के महल भी गंगा स्नान कर अपनी भक्ति को प्रकट कर रहे हैं। यह सुरक्षित शहरों की तरह है देखने में किन्तु एक प्रासाद ग्वालियर महाराज का, भरभराकर गिर पड़ा है। विराट खंभे लुढ़कते हुए गंगा के जल में गिर पड़े हैं। महाराजा ने जरूर गंगा के पास कोई अपराध किया था। पड़ोसी नादपुर के महाराज के प्रसाद से भी ऊँचा प्रसाद उन्होंने बनवाया था। किन्तु गवालियर महाराज की जात नादपुर के महाराज की जात के तलवों तक भी नहीं पहुँचती है।

सवेरे के सात बजे हैं। किन्तु यहाँ पर इतने बजे ही जनारण्य। विराट शहर वाराणसी के लोग दौड़ते आ रहे हैं, पुण्यार्जन की आशा में। नदी के किनारे बाजार जैसी भीड़ है। मेढ़क की तरह छतनार सरपक्ष से बने छाते फैले हुए हैं। उनके नीचे बैठे हुए कुछ लोग दाढ़ी बनवा रहे हैं, कुछ लोग नाखून काट रहे हैं। और कुछ लोग अपने रोंयें निकलवा रहे हैं। सब कुछ गंगादेवी के पवित्र जल में घुसने के पहले की सजावट है।

– महात्मा गाँधी, महात्मा गाँधी।

– यह क्या यहाँ भी, उनकी छाया क्या पवित्र जलधारा में भी पड़ने लगी। इन लोगों ने क्या यहाँ भी राष्ट्रवाद को आयातित कर लिया है। एक व्यक्ति पूरी देह में भस्म रमाए बुद्ध की भंगिमा में बैठा हुआ इतनी जल्दी-जल्दी मंत्रोच्चारण कर रहा है कि उसके ओठ एक प्रार्थना-चक्र बन गये हैं। स्त्री-पुरुष सभी लोग जल में आधे डूबकर, एक-एक कर बड़े जतन से अपनी पंच इंद्रियों के द्वारों को साफ कर रहे हैं। संभवतः सभ्यता की देन, छठी इन्द्रिय, नकली बँधे हुए दाँतों को भी साफ कर रहे हैं। सभी अपनी-अपनी आस्था के अनुसार प्रार्थना कर रहे हैं। कोई सूर्य की ओर देखकर चार बार अपनी बाँहों को उठा रहा है। जैसे साक्षी रख रहा हो और एक व्यक्ति अँजुरी में जल लेकर उनके प्रति अपनी प्रार्थना निवेदित कर रहा है। जिनकी स्थिति अच्छी है उन लोगों के हाथ में काँसे का लोटा है, देखने में कैथोलिक पादरी ईसाई के Wafer रोटी रखने के वजन की तरह। सबसे ज्यादा अचरज तीन लोगों को देखकर होता है, निश्चल सारस पक्षी की तरह वे एक पैर से खड़े हुए हैं। जिस तरह से मछली पकड़ने वाला पक्षी निश्चल होकर मछली पकड़ने की प्रतीक्षा करता रहता है। लोगों का एक दल एक बड़ी नाव में जैसे दूरदेश की यात्रा पर जाने को तैयार हो। किन्तु वे कहीं जा नहीं रहे हैं। दो विशाल शरीर वाले व्यक्ति, मानो पीतल की मूर्ति हों, सूर्य की आराधना में ध्यान मग्न हैं। ये दोनों प्रसिद्ध पहलवान हैं।

श्मशान में दाह करने वाली चिताएँ हैं। लाशें, जिनके पैर जल में डूबे हुए हैं। चिता पर रखे जाने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। लकड़ी के टुकड़ों से सजी हुई तैयार चिता के भीतर शवदेह की नाप की थोड़ी जगह बनी हुई है। वहाँ पर शवदेह को घुटने पसार कर लिटाया जाता है। उससे लकड़ी का खर्चा बच जाता है और छाती पर और भी लकड़ी रख दी जाती है। उसके बाद आग जलने लगती है और धुआँ होने लगता है। जब तक सिर की खोपड़ी

नहीं फटती है तब तक किसी तरह की गंध नहीं मिलती है। कोई अपने को आश्वस्त करता हुआ कहेगा यह कुछ नहीं, खोपड़ी तो फट गयी।

– महात्मा गाँधी, महात्मा गाँधी।

अर्धनिमज्जित मंदिर के सीढ़ियों के पीछे एक प्राचीन पुरुष की जानकारी मिल रही हैं। वह इतना शुद्ध है कि लग रहा है एक सौ सात बरस से जैसे कारागार में है। उसके बारे में जानना शेष हो गया। अब मेरी बारी है। हम लोग उसे पिंजड़े के भीतर देख रहे हैं किन्तु, वह हमें देखना नहीं चाहता है। एक थैली से एक जप माला निकालकर उसने जप करना शुरू कर दिया।

मंदिर की सीढ़ियों के नीचे हिन्दुओं की एक युवती दिखाई दे रही है। यहाँ पवित्र नदी कुमारियों की इच्छापूर्ण करती है, वर्तमान और विगत युग की सीढ़ियों से होकर। सुनयना, नवीन ब्राह्मणियाँ, नाना रंग की ओढ़नी ओढ़े जल में उतरती जा रही हैं। जल में उतरने से पहले उनकी माएँ अंतिम बार उनके बाल सँभार देती हैं। उसके बाद ही उनका नदी के साथ मिलन होता है। भीगा वस्त्र उनके शरीर से लिपट जाता है ये बड़ी ही भक्तिमती हैं। हे! तरुण देवता लोग, सुनो उनकी प्रार्थना सुनो।

बंदर, वृक्ष और मंदिर के खंभों से लटकते रहते हैं। अनानास के फल के अलंकरण की तर वाद्यों की ताल पर मंदिर के घंटे बजते रहते हैं। घाट की सीढ़ियों पर नौ निश्चल मूर्त्तियाँ सूर्य की ओर ताकती रहती हैं। वे किस पत्थर से गढ़ी गयी हैं? वे जरा भी पत्थर से बनी हुई नहीं हैं। हमारी ही तरह वे मनुष्य हैं। इच्छा हो रही है सुई चुभोकर देखें कि वे हिलते हैं या नहीं। किसी ने मुझसे कहा वे हिलेंगे नहीं।

इस बार एक हिन्दू, जिसके शरीर से पानी गिर रहा था, दानव की तरह मेरी ओर दौड़कर आया–

– Get out of here (भागो यहाँ से)।

– वह फिर जोर से बोला।

म्लेच्छ, लौट जाओ अपने देश। भारत हिन्दुओं का है। मेरे लिए इक्का पर बैठना बड़ा कष्टकर है। कारण, बुद्ध की मूर्ति की तरह आसन मार कर बैठना पड़ता है। हम लोगों ने उस दिन बड़ी चौकी पर एक मोटर गाड़ी किराए से करेंगे, यह निश्चय किया था। गाड़ी वाले ने हमसे पूछा, आप फ्रांसीसी हैं या नहीं, जवाब सुनकर वह खुश हो गया ऐसा लगा, फिर वह बोला–तो फिर पन्द्रह मिनट बाद आइए, गाड़ी तैयार मिलेगी।

पन्द्रह मिनट बाद हमारी गाड़ी के ऊपर फ्रांसीसी झंडा लगा हुआ था। किंतु, हम लोग फ्रांस देश के प्रेसीडेंट नहीं हैं, इसीलिए वह प्रतीक हम लोगों ने हटा दिया था। गाड़ी वाले ने फिर से वह झंडा लगा दिया और हमसे कहा–

– इस तरह से आप लोग जहाँ खुशी हो वहाँ जा सकेंगे और यह मेरे आनंद के लिए है।

– यहाँ पर इस झंडे के रंग को पहचानेगा कौन?

– आप लोग दाहिनी जेब में फ्रांसीसी झंडा और बायीं जेब में अंग्रेजी झंडा लेकर मुस्लिम मोहल्ले में जाएँ। जब खाने की इच्छा हो फ्रांसीसी झंडा निकाल लेंगे। आपको खाना मिल जाएगा। और जब आपको अपने जीवन का कोई मोह न रहे तब अंग्रेजी झंडा निकाल लेंगे, वे लोग आपका खून कर देंगे?

– आप क्या मुसलमान हैं?

– ना, हिन्दू। फिर भी मैंने बहुत जमाना देखा है।

बाजार में आया। यहाँ पर वाराणसी पुराने यरुसशम की तरह है। गलियाँ पतली होने लगी हैं और घर झुके पड़ रहे है सामने की ओर। खिड़की पर लटकते हुए कपड़े मानों गहरे रंग की भाषा कह रहे हैं। लोग चलते-चलते प्रार्थना कर रहे हैं। कई लोग एकाएक अपना काम रोककर मूर्ति के सामने माथा टेककर फिर अपने काम पर जा रहे हैं। एक उसी मूर्ति के सामने कुष्ठ रोगी भी माथा टिकाता है। प्रार्थना से सभी पवित्र।

यहाँ पर किनारे की गली में गंगापार की अपेक्षा अधिक बेचैनी का अनुभव कर रहा हूँ। यह एक छोटी हिन्दू लड़की, जिसकी उम्र निश्चय ही सात वर्ष से ऊपर की होगी, एक मूर्ति के सामने घुटने मोड़कर, दाहिना हाथ उठाकर शरीर हिलाकर, जोर-जोर से कह रही है, जय विष्णु, जय ब्रह्मा, जय शिव, जय हनुमान, जय पशुपति और हर बार धरती पर अपनी उंगली टिकाती है। स्वर क्रमशः ऊँचा होता जाता है। अंत में अपना माथा धरती पर टेकती है।

प्रत्येक दिन जनता की ऐसी ही भक्ति की उन्मत्तता है। चाल देखने से ऐसा लगता है जैसे किसी काम से जा रहे हैं पर जा रहे है अपने इष्ट देव के पास। लिये जा रहे है फूलों की पँखुड़ियाँ, चावल और छोटा-सा बकरा। मन्दिर को अपवित्र चबूतरा, जहाँ म्लेच्छों का जाना सहन किया जाता है, वहाँ से दिखाई देता है, वे फूलों की पंखुड़ियाँ देते हैं और साष्टांग दण्डवत् करते हैं दीपक से गिरे तेल अथवा बलि दिये गये छोटे-से बकरे के रक्त के ऊपर। पूजा के अंत में, जब वे मन्दिर से बाहर निकलते है, तब भी इनके हाय प्रार्थना में काँपते रहते हैं। चलने के रास्ते में फिर बाधा। इस बार एक महिला प्रणिपात कर रही है लाल पत्थर के एक बैल को। एकदम निश्चल होकर। उसका शरीर ढका हुआ है एक सफेद आवरण से। उसके ऊपर काले-काले छींट के दाग हैं। आगे बढ़कर दखेने को यह मिला कि वे छींट के दाग नहीं मक्खियाँ हैं। एक शुष्क प्राय मुख, सिर पर जादूगर जैसी टोपी, मंदिर के दरवाजे पर बैठा-बैठा मेरा चुपचाप अपमान कर रहा है। पाँच मिनट एकटक देखता हुआ, जैसे कुछ चबा रहा हो इस तरह अपने जबड़े चला रहा है। जीवन में यह पहली बार किसी ने बिना मुझसे कुछ कहे हिंस्रभाव से मेरा अपमान किया है। यह कह क्या रहा है? क्या महात्मा जी का नाम ले रहा है? वह क्या राष्ट्रवादी है या सिर्फ एक विद्वेषी? सावधान। सामने खतरा है। एक साँड़ आ रहा है इस तरफ। अगर उसने मुझे अंग्रेज समझा तो वह सींगों द्वारा मुझे फाड़ डालेगा।

इस दिन के अंतिम दृश्य ने मुझे अचंभे में डाल दिया।

विद्वेष की अली-गली पार कर एक खुली जगह में आया—जहाँ पर मेरी गाड़ी खड़ी की गयी थी—आकर देखता हूँ एक उद्भट हिन्दू गाड़ी की सीट पर बैठा हुआ है और उसका चेला फुटबोर्ड पर बैठा हुआ हारमोनियम बजा रहा है। उद्भट के हाथ में कागज की बनी कई गुड़िया हैं, जिन्हें वह शक्ति को उपहार में देगा उस शक्ति को जिस देवी के गले में मुण्डमाला है और हाथ में हँसिया, गला काटने के लिए। उसे घेर कर भीड़ जमा हो गयी है। उसके माथे पर हल्दी का टीका है, निश्चय ही वह विष्णु का भक्त है। मेरी किराये की गाड़ी को उसने अपने प्रचार का मंच बना लिया है। उसकी सिर्फ एक ही बात समझ सका, महात्मा गाँधी की बात कर रहा है। वह कभी तो हारमोनियम बजा रहा है और कभी कथा कह रहा है।

— क्या कह रहा है, पूछा होटल में दा पारी (पेरिस) के गाइड से?

— कह रहे है मुझे निःसंग रहने का आह्वान मिला हैं मैं पहाड़ पर जाऊँगा अबाध एकाकी रहने के लिए। अंतिम बार यह तुम लोगों को बता रहा हूँ। महात्मा जी की वाणी सुनो। उनका आदेश, उसकी क्या मैं उपेक्षा कर सकता हूँ?

– कौन है यह अजीब व्यक्ति?

– उसने एकान्त निर्जन का आह्वान पाया है। देखिए उसका चीता का चमड़ा, कमण्डलु और छाता। वह पवित्र हिमालय पर जा रहा है। उसने फिर से गाना शुरू कर दिया है।

वह अपने चीता के चमड़े का आसन (बाघम्बर) कमण्डलु और छाता को लेकर पवित्र हिमालय पर क्यों जा रहा है?

– मरने के लिए साहब।

[Excelsior, 12 नवम्बर 1922]

आज भारतीय नाटक का सिर्फ प्रारंभ है

(कलकत्ता, नवम्बर 1922)

क्रान्ति का दृढ़ संकल्प किन्तु, वह किस तरह शुरु होगी, इसे न जानना बड़े दुर्भाग्य की बात है। आज भारत के राष्ट्रवादियों की यही हालत है। वे लोग रास्ता ढूँढ रहे हैं।

एक महीने से ऊपर हो गये, गौरांग जाति के ऊपर, घृणा, इस विराट देश में मैं क्रांतिकारियों को खोजता फिर रहा हूँ। अपनी शर्ट की जेब में उन्नीस जनों के परिचय लेकर घूम रहा हूँ। इनका पावना Order of British Empire नहीं अर्थात ये ब्रिटिश साम्राज्य की शासन-व्यवस्था नहीं पाना चाहते इनका उद्देश्य कारागार है। 14 सील लगे लिफाफों के पाने वालों को मैंने खोज लिया है। उनमें से कई लोगों के अलावा कुछ लोगों को पाने के लिए जेल के दरवाजे पर प्रतीक्षा कर रहा हूँ, बाकी कई लोगों ने प्रायः नग्न स्थिति में अपने घर में मुझसे भेंट की। उनमें से दो लोगों ने सिर्फ नाव पर बैठकर बात करने की सहमति दी। बाकी पाँच चिट्ठियाँ मैंने अनेक टुकड़े कर फाड़कर चलती मद्रास प्रेसीडेन्सी ट्रेन की खिड़की से हवा से उड़ा दीं। इन पाँच विद्रोहियों की खोज मैं नहीं कर सका।

साउथ रसा रोड पर सी. आर. दास के घर पर, जहाँ मोतीलाल नेहरू अतिथि थे। मैंने एक सप्ताह लगातार चक्कर लगाया है। मैं कोई षडयंत्र करने नहीं गया हूँ। मैंने सिर्फ अनुभव किया है विराट दबी हुई आग के धुएँ की गंध। दास और नेहरू, घोषणा सहित तथा सुगन्ध युक्त गौरव के साथ रह रहे थे। भारत में गौरव की अवधि पूरे पन्द्रह दिन। सिर छिपाने का जुगाड़।

आज एक जगह भारत की विद्रोही आत्मा को देखने का सुअवसर मिला। वह राष्ट्रीय पत्रिका, अमृत बाजार पत्रिका में। वहाँ पर विप्लवी तो कोई नहीं, सभी राष्ट्रीयतावादी हैं। गंगा के किनारे बोलशेविज़्म? उसका कोई चिह्न नहीं है। वह व्यर्थ का धोखा है। अमृत बाजार पत्रिका को घर बदलना पसंद है। पहले और दूसरे ठिकाने पर वे लोग नहीं मिले। पत्रिका को अंत में खोज पाया, आधे अँधेरे से युक्त एक पतली गली में छोटा-सा कमरा। छापे की स्याही की गंध से भरा हुआ। एक नग्न व्यक्ति (जिसके बदन पर सिर्फ चादर है, उसे क्या पोशाक पहने व्यक्ति कहा जा सकता है?)

बरामदे में बैठा हुआ प्रबंध लिख रहा है मनोयोग पूर्वक। उसी समय मैंने उसे अपना परिचय-पत्र दिया। उसका सिर चील की तरह है। ऐसा लगता है जैसे मुझे ठोकर मारना चाहता है। उसने कहा-यह चिट्ठी उसके भाई को दिखाऊँ।

– ठीक है, पर आपका भाई है कहाँ?

– अस्वस्थ, मृत्यु शय्या पर।

– तो फिर आप ही पढ़ डालिए। मैं आपके साथियों से मिलना चाहता हूँ।

– उसने वह चिट्ठी पढ़ी, दुबारा फिर से पढ़ी।

– आप मेरे सहकर्मियों से मिलना चाहते हैं?

चिट्ठी उसने एक बार फिर पढ़ी।

आप कल सवेरे सात बजे यहाँ आ सकते हैं। मेरे साथी यहाँ मौजूद रहेंगे।

दूसरे दिन सात बजे उस पतली गली में फिर पहुँचा। एक भिखारी (छद्म वेश में पुलिस का ही कोई आदमी होगा) मेरे सामने खड़ा हो गया। रुआँसे जैसे चेहरे से मेरी ओर हाथ बढ़ाया adevala odavadi! इसका शायद कोई अर्थ नहीं था। सिर्फ वह अपनी वेदना बताना चाहता है। दो आना फुटकर दे दिये। देना ही पड़ा। पुलिस से उसे जो वेतन मिलता है, इससे क्या उसका पेट भरता है? बेचारा! मृत्यु शैया पर लेटा हुआ भाई मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। मुझे जिस कमरे में ले जाया गया, उसमें एक मेज, तीन कुर्सियाँ और छह साथी। मुझसे जिरह शुरू हो गयी।

– हमारे काम में आपकी उत्सुकता क्यों है?

– आप लोग पत्रकार हैं, दुनिया में क्या घट रहा है उसे जानने के लिए आप लोगों में कौतूहल नहीं है?

– नहीं।

– अफसोस।

– हमारे काम में आपको अगर इतना कौतूहल है तो अमृत बाजार पत्रिका खरीदिये। बस इतना ही काफी है।

– आप लोगों ने मोहहीनता की जो पराकाष्ठा स्वीकार की है, उसे तो मैं समझ ही सकता हूँ। मैं उससे कुछ अन्यथा नहीं सोच रहा हूँ। अगर कभी आप फ्रांस आएँ और मेरे साथियों से मिलें तो हम लोग आपके काम में सहायता करेंगें। अपने काम में आप हमारी सहायता प्राप्त करेंगे।

मेरा परिचय-पत्र एक हाथ से दूसरे हाथ में घूम रहा था। मुझे उठकर खड़े होने की जरूरत नहीं पड़ी। कारण, मुझे किसी ने बैठाया ही नहीं था। अंग्रेजों का गुप्तचर समझकर मेरी तरफ सभी ने संदेह की दृष्टि से देखा।

सोच रहे थे कि किस तरह से मेरा नकली मुखौटा दूर होगा। चार लोग मेज पर बैठे हुए थे और दो लोग आड़े-तिरछे होकर एक कुर्सी पर। मैं एक मुजरिम की तरह कठघरे में खड़ा था। यह मानो एक वीभत्स नाटक का दृश्य था।

चिट्ठी को सूक्ष्म रूप से देखने का कुछ अनुकूल फल हुआ।

– तो फिर आप क्या जानना चाहते हैं? यह सभी का प्रश्न था। मुझे उनके बीच में जगह मिल गयी। चार घंटे रहा था उनके साथ। इन व्यक्तियों को दुनियादारी का बहुत अनुभव था, जिसे कहा जा सकता है बहत्तर घाट का पानी पिये हुए। जेल, जुर्माना, कालापानी इन सबका अनुभव इन सब लोगों को हो चुका था।

– तो फिर हम लोगों के बारे में यूरोप को पता है?

– उथला-उथला ज्ञान है।

– यह बात क्या सच है कि फ्रांसीसी लोग अंग्रेजों के विरुद्ध मुसलमानों का पक्ष ले रहे है?

– फ्रांसीसी मुसलमानों के पक्ष में हैं।

उन्होंने (क्रांतिकारियों ने) आपस में हिन्दुस्तानी (बाङ्ला भाषा) मे कोई बात की।

– इसका अर्थ है कि फ्रांस इस्ताम्बुल के पक्ष में है?

– हाँ।

सभी अत्यंत उत्सुक हो गये इस संबंध में और जानने के लिए। मुझे ब्यौरेवार बताना पड़ा कि ऐसा कैसे हुआ। उन लोगों ने हर बात बड़े मनोयोग से सुनी; बीच-बीच में सिर्फ हाँ-हाँ का शब्द, वह भी भारतीयों के उच्चारण में। मैंने उनकी परिस्थिति के साथ फ्रांस की परिस्थिति की तुलना की।

ये सभी लोग भावनाप्रवण हैं। अंग्रेज़ों के विरुद्ध बिना तोप, बंदूक लिये ये सभी लोग युद्ध के मैदान में उतर गये हैं। किन्तु इनका अनुसरण करने वालों में बिना हथियार वालों की संख्या धीरे-धीरे रोज बढ़ती जा रही है। ये लोग रास्ता खोज रहे हैं। प्रयोग करने की योजना बनायी जा रही है। आयरलैंड के रास्ते की तरह हिंसात्मक। उन्हें यह मार्ग एकदम पसंद ना हो ऐसा नहीं हैं। किन्तु इनके पास बारूद का पीपा मौजूद नहीं है। एक क्रांतिकारी का मंतव्य था कि असंख्य जनता की धारा इन्हें बहाकर फेंक सकती है। जनता का उठकर खड़ा होना और रक्त का प्रवाह, क्या बात कही कुर्सी पर आड़े-तिरछे बैठे एक युवक ने।

और एक व्यक्ति ने कहा–

अगर जरूरत हुई तो फिर से अण्डमान चला जाऊँगा।

उसके साथ के व्यक्ति ने बताया कि वक्ता ने अण्डमान में कारा दण्ड के रूप में सश्रम बारह वर्ष बिताए हैं, यद्यपि वह ब्राह्मण है।

–उनकी क्रूरता की कोई सीमा नहीं है। सब भारतीयों को अण्डमान जेल का अनुभव करना चाहिए, उस ब्राह्मण लड़के ने कहा। यह मानो गाँधी का कथन हो।

उनके एक साथी ने कहा–"जब किसी अंग्रेज से बात करता हूँ, वह मानो सोने का एक टुकड़ा है। हमारी बात पर वह कान ही नहीं देता है। सिर्फ अपनी कीमत के द्वारा वे हमें पीसकर फेंक देते हैं।"

सच! महत्वपूर्ण नाटक है भारत का। यह उसका सिर्फ प्रारंभ है। भारतीयों की आँखों की भाषा ही बताएगी कि उनके मन में क्या उथल-पुथल हो रही है। इस समय भारत के पथप्रदर्शक चालकों की आँखें थमी हुई हैं।

[Excelsior, 15 नवम्बर 1922]

(शारदीय 'देस' 1413 तद्नुसार 2006 के पूजा अंक से साभार)

संपर्क : 1260, नया रामनगर, पाठक का बगीचा, उरई-285001 (उ.प्र.), मो. 9839617349

महाप्रस्थान

कविता

जाग में नींद

अजोरिया रात थी पर बिमली को लगा जइसे चारों तरफ अन्हार छितराया हो...मन-तन सब बेलग, कहीं अझुराये हुए से। छोर-अछोर कोई बस में नहीं।

सुरजा और सुरजा के बाबू खा-जँचा के एक नींद भी ले चुके होंगे, पर उसकी क्षुधा उठी ही नहीं थी अभी। उसके हिस्से की रोटी-तरकारी थरिया में पड़े कबसे टटा रहे थे। सुबह की वह घटना जैसे रह-रहकर उसे परेशान कर रही थी। बहुत सोच-समझकर उसने सुरजा के बाबू से कुछ नहीं कहने का सोचा था। जैसे भी हो उसे थोड़ा धीरज धरना होगा। बस सुरजा का नाम लिखा जाए ऊ बड़का स्कूल में। फिर सोचेगी कि कहना है तो कब और कइसे कहना है? कहना है भी कि नहीं... पर इस अभी नहीं बताने भर के खयाल से उसके मन में जइसे उदासी भर आया हो... सुरजा के बाबू उससे कुच्छो और कभियो नहीं छुपाते। कौनो भेद-भाव नहीं रहा कभियो उनके मन में। यह सोचने से उसका दुःख जैसे और गहरा होता जा रहा था...जबकि भोर तक तो बहुत खुश थी वो, सुरजा के एडमीशन में कोई हील-हवाला नहीं लग रहा था। गदहा जनम छूटने वाला था उन सबका। एक नहीं पढ़े-लिखे होने से ही तो ये सारा दिक्कत था। नहीं तो किससे बुद्धि-विचार में कम थे ऊ चाहे सुरजा के बाबू? थोड़ा पढ़े-लिखे होते तो का एतना सबकुछ सहना पड़ता जिनगी में उन तीनों को?

उसने होश-हवास बटोरा। थरिया को ढाँक दिया दूसरे बड़े थरिया से। घईला का ढकना हटाया और एक लोटा पानी गटक लिया गटागट...।

ठंढी सिहरन की एक लकीर बिजुरी की नाई चिलकी थी भीतर...वह कँपकँपा गई थी। लेकिन सिरा गया था जैसे उसका पूरा देह। सुरजा के बाबू हमेशा मना करते हैं—ई भरल फागुन के महीना में घईला में पानी रखने का जरूरत है कोनो? पर बिमली को लगता है जरूरत है।

...उसका मन है कि ऊभ-चुभ होता रहता है...बड़का कठौती में घईला का पानी उझील देती है और उसी में दुन्नो गोड़ डाल के बइठी रहती है...आग जईसा लहरता रहता है तरुआ अउर हाथ-गोड़। बेचैनी ऐसी कि मन तो यही होता है कि गोड़े डाल के खाली का बइठना, घुसिए जाये जइसे ओमें...।

ऐसे ही बईठी थी भोरे कि ठीकेदार साहब आये थे, सूरजा के एडमिशन का कोनो कागज़-पत्तर लेकर। अब कोनो दरवाजा केवाड़ भी तो नहीं है ई घर में? अऊर दरवाजे होता तो कौन रोक लेता उनको आने से... अभी तो उसका पूरा परिवार उनके किरपा पर आश्रित है। और घर भी ई कौन है उसका, रहम करम है ठीकेदार साहब का...।

सुरजा के बाबू उससे कहते हैं हर हमेशा 'ई कठौती कौनो गोड़ धरके बइठने का चीज है? ऐसे गोड़ धरके बईठ जाती हो जईसे कोनो सीमिंग पूल हो ई। वह हँसकर कहती 'अऊर का हम गरीबों का सिमिंग पूल तो इहे है। शहराती हो गए हैं ढेर त अब नाहर, तालाब, नद्दी नहीं याद आता है, सीमिंग पूल बुझाता है खाली।' इत्ती बेचैनी में भी हँसती है ऊ अपने इस बात पर।

ऊ भोरे से सोच रही है ठीके कहते हैं सुरजा के बाबू। गोड़ धरके नहीं बैठी होती त ठीकेदार साहब को ऊ बोलने का बहाना तो नहिये मिला होता एकदम...।

बिमली विचार के क्रम को सुबह की उस घटना से भटकाना चाहती है, काहे उहे एगो बात सोचते रहना। वह जबरन सोच की दिशा को मोड़ती है—'इहाँ कहाँ मिलेगा इत्ता-बड़ा परात-कठौती कि वह धँस के बईठ सके उसमें?'

हाँ था...माई के घर में कठौती और परात दुन्नो...बाबू के तिलक में माई के बड़का भैया ने दिया था...गाँव-टोला-मोहल्ला जिसके यहाँ जरूरत होती, भोज-भात होता, माँगकर ले जाता। बरिस में छौ महीना पित्तर का ऊ बड़का परात और कठौती सैरे करता रहता गाँव के घर-घर का। बचे दिन माई उसको चमकवाती रहती, चमकाती रहती। राख और इमली से माँज-माँजकर... बिमली को लगा जैसे ऊ परात तो नहीं, पर उस कठौती में जरूर ऊब-डूब बैठी है और लहर जइसे सिराने लगा है। ...दिमाग का, देह का, मन का। ...

वइसे माई के घर में उसे बाल्टी, परात में पैर धरने की इजाजत भी कहाँ मिलती? माई देखती ई करते त बढ़नी उठाके मारने दउड़ती—'मुँहझौसी एक नंबर के कुलच्छिनी है, लछमी जी को गोड़ लगाती है।'

और जरूरत भी कहाँ पड़ती उसे यह सब करने की, जब तब वे गाँव के पोखरे पर इकठ्ठा हो जाती सब सहेलियाँ। गप्पे मारती, कपड़े धोती, ओट करके और साड़ी ओढ़नी से घेर-घूरकर नहा आती सब, तैर आतीं देर तक और दूर तक। किसी तरह की रोक-टोक नहीं थी उनके ऊपर।

वैसे तब कभी ऐसी कोई लहर उठती भी नहीं थी तन-मन में। जिनके उठती थी, मतलब माँ, ताइयों, गाँव की चाचियों के, उनके पास इतना वक्त और सहूलियत तब भी नहीं था कि वे अपना तन-मन और उसके दुःख सिरा पातीं। इसीलिए वे भी बच्चियों पर कोई ख़ास रोक टोक नहीं करती थी, न जबरन घर-गिरस्ती के चक्की में उन्हें पेरे रहने की जुगत- 'यही तो इनके खेलने-खाने के दिन हैं, बाद में...।'

वह सोचती- 'बाद में भी ऐसा क्या होना है। ससुराल ही तो जाना है? सब जाती हैं, इसमें ऐसा कौन सा पहाड़ टूट जाना है? माँ लोगों को भी तो बस बेवजह डराना आता है।

उम्र ऐसी थी कि दिन भर की कूँद-फाँद, भाग-दौड़ के बाद भी मन नहीं थकता था।

कभी माँ का काम करा रही है तो कभी सहेलियों के संग बाग-बगीचों में आम-इमली, केले-जामुन, अमरुद तोड़ के खा रही है। उन दिनों उनके झोले में नमक मिर्ची की पुड़िया संग-साथ होती ही होती। माँ के हाथ का पीसा काला नमक, हरियर मर्चाई और गोल-मिर्च मिलाया हुआ। जहाँ मन हुआ छीला, खा लिए मौसमी फल और कुछ झोलियों मे समेट लायें घरवालों के लिए भी। वो अक्सर माँ के लिए थोड़ा भी जरूर समेट और बचा के ले आती। उसे बहुत पसंद था इसलिए। और इन चीजों को देखकर माँ की आँखों में उतर आनेवाला हुलास और बचपन उसे भी बहुत भाता था कुछ इसलिए भी।

गाँव का एक भी परिवार उन्हें रोकता-टोकता नहीं था। 'लड़कियाँ ठहरीं, आज यहाँ की हैं, कल अपने ससुराल की होंगी। यही सुख के दिन तो बस याद करने को बचे रह जायेंगे' सेमियाँ चाची कहती। और देखो कि सच्ची वही थोड़े मौज-मस्ती के कुछ दिन उसके भी मन की झोली के किसी कोने में अटके हुए हैं आजतक। जिसे जब तब वह झाड़कर निकालती है, हँसती-मुस्काती है और फिर उन्हें सहेजकर वहीं रख देती है। काश! लड़कियों की जिंदगी में इन छोटी-मोटी खुशियों के बदले शिक्षा के अवसर और साधन डाले होते उस गाँव के लोग! काश! उन्हें इन तथाकथित आजादियों के बदले अपने ही गाँव में स्कूल की एक सरहद, एक बंद कोठरी, एक छत मुहैया करवा पाते! पूरे दिन की उस आजादी में से कुछ हिस्सा उस कैद का, उन्हें जिंदगी भर की आजादी याकि अपने पैर पर खड़े होने लायक उन्हें बना जाता। बिमली के मन में एक हूक सी उठती है।

पीछे छूट गए का मोह-छोह भी कम होता है भला? मन तिरपित होता है, उसमें घूम-भटककर। आत्मा को चैन तो इसी में मिलता है...।

ससुराल में उसका परिवार कोई कम बड़ा न था। सात ननदें, सास ससुर, अट्टीदारों-पट्टीदारों से भरा हुआ घर। वो तो धीरे-धीरे सब अपना-अपना मतलब निकालकर अपने हीले लगते गए... गाँव भी उसके गाँव से खूब बड़ा। जहाँ एक नदी भी बहती थी। पर कभी वो वहाँ के खेत-खलिहान नहीं घूमी, बाहर बिना गज भर घूँघट के कभी निकलना न हो सका उसका, वह भी देवता पूजने और मंदिर जाने भर के लिए, पूरे परिवार और उनके लाव-लश्कर के संग-साथ। घूँघट से ही उझककर उसने कभी उस नदी के जल को क्षण भर देखा होगा तो देखा होगा।

तब उसे अपना गाँव खूब-खूब याद आता। माँ, चाची-ताइयों का जीवन, उनका दुःख भी तभी समझ में आने लगा था। लगता आगे बढ़कर उनके कुछ काम करवाने चाहिए थे उसे। उनका जीवन कुछ तो आसान बनाना चाहिए था, जो उसने कभी नहीं किया, न सोचा।

दिल्ली आई तो एकबारगी उसे लगा वो आजीवन कारावास की सजा से छूटकर आई हो जैसे। सब कुछ नया और सब कुछ सुंदर। सुरजा के पप्पा उसे कभी राजघाट घुमा लाते, कभी सरोजिनी नगर बाजार। एकाध बार मॉल भी ले गए होंगे पर उहाँ घबड़ा जाती थी वो, उसे तो छोटे बाजारों में घूमना, छोटी-मोटी चीजें खरीदना ही पसंद था। इस सबमें वह कितनी खुश होती थी याद है उसे। पानी वाला आईसक्रीम खाना, चाट-पकौड़ी खाना, इसी में कितना खुश हो जाया करते थें वे सब। बेमतलब घूमना खूब पसंद था उन तीनों को, उस कैद से निकलने के बाद। घर-गाँव छूटने का दुःख तब उसे कम ही जान पड़ता था...उस वक्त अपने मन का करने और जीने का सुख उसके चेहरे पर हर घड़ी दमकता रहता। कोई भी काम तब कहाँ मुश्किल जान पड़ता था। पर...

पैसे ख़त्म होने लगे थे धीरे-धीरे। चिंताएँ घेरने लगी थी बहुत तेजी से और सुख वाले

सारे दिन झटपट बीत गए थे।

जब काम शुरू कर लिया तो फिर वक्त कहाँ था। देहतोड़ मेहनत के बाद रात बस सोना चैन भर, यही एक आखिरी ख्वाहिश बचती। लेकिन नाली गन्हाता रहता हरदम मजदूरों की उस बस्ती का। उससे भी ज्यादा गन्हाता लगता उहाँ के लोग का विचार। रात भर मारपीट-गाली गुफ्ता की आवाज चैन नहीं लेने देती। ...समझाने जाओ, बीच में बोलो कुछ त लोग कहेंगे- 'ज्यादा मेम साहेब बनने का बहुत शौक है त अपना घर में बनिए न, इहाँ नहीं चलनेवाला। चली आती हैं हर बात में टाँग अड़ाने।'

कोई छुट्टी का दिन हो तो बस उहाँ के शोर सराबा में ही बीत जाए। बिमली सांती चाहती थी, अपने बच्चे के लिए ठीक-ठाक माहौल चाहती थी, उसे स्कूल भेजना चाहती थी, लेकिन जहाँ देखो सब तरफ बस अंधकार। सब तरफ बस उलझन दुःख। दिल्ली की ई माटी तब उसको एकदम अजनबी जान पड़ती।

वो सारा सपना उसका पूरा हुआ था, इस ठीकेदार के साथ काम करने पर...बिमली के पति पढ़ लिखे भले बहुत न हो, पर स्वभाव से अच्छे हैं, समझदार भी बहुत... पढ़े-लिखे लोगों जैसा मन-मिजाज रहा है उनका हमेशा से। गाँव घर में पूछ थी रामधार महतो के परिवार की... रामधार महतो मतलब उसके ससुर जी ठीक-ठाक रसूख रखते थें गाँव में। सात लड़कियों के बाद उसके पति इकलौते बेटे थे अपने पिता के। पढ़ने में उनका कोई ख़ास मन नहीं लगा, पिता अपने भरसक इतना अरज कर गए थे कि अगर उड़ाया नहीं जाए तो कुछ पुश्तों तक आराम से चल जाए। पोता का मुँह देखते ही बोले थे- इसको पढ़ाना दुल्हिन, बड़का आदमी बनाना। बाप जैसा नहीं... कहकर थोड़ा चिहुँक गए हों जैसे, जीभ काट ली थी अपनी।... ना, रामपरिखन से हमको कोनो शिकायत नहीं है, वैसा बेटा भगवान सबको दें। ...लेकिन तनी पढ़ लिख लिया होता तो बाते दूसर होता। हम तो बहुत कोशिश किये लेकिन...।

खैर अब जो नहीं हुआ सो नहीं हुआ। आगे का ध्यान रखना है। ... तुम समझदार हो तो...।

बिमली के पति दुनियादारी के काम काज में खूब सधे हुए थे। खेती-बारी सब खूब अच्छे से संभालते। लोक-व्यवहार में निपुण। फिर भी उनकी बुद्धिमत्ता और लोक-व्यवहार में निपुणता कोई खासी काम न आ पायी तो सिर्फ इसलिए कि अपने बाबूजी के बाद अपनी सात बहिनों का शादी और व्यवहार निबटाते-निबटाते वे एकदम खाली हो गए थे। बहिनों की शादी में उन्होंने कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। खूब अच्छे परिवारों में ब्याहा उन्हें। वैसे परिवारों में जहाँ ब्याहने की उनकी औकात तो बिल्कुल नहीं थी। लेकिन बाप की कमाई इज्जत और उनकी हिम्मत से कहीं यह सब संभव हो सका था। उनके मन में बस एक ही बात चलती रहती- 'कोई ये न कहे कि बाप नहीं थे तो...।

घर में छोटे थे सबसे... तो भी बहनों के लिए न्योता, संदेस भेजना, बुलऊआ भेजना, त्यौहारी भेजना कुछ भी कभी वो भूले नहीं। ...बिमली से ज्यादा उन्हें इस बात की फ़िक्र रहती। घर की खस्ता हालत देख जो वो कभी कुड़बुड़ाई भी तो वे उसे चुप करा देते- 'बहनों का हक़ होता है यह। उनका संबंध तो इसी से जुड़ा रहता है नैहर से। तुम चिंता न करो, सँभल जाएगा सब धीरे-धीरे।'

वे यह नहीं चाहते थे कि बहनों को यह लगे कि बाप नहीं है तो...।

दो साल जब लगे-लगे सूखा पड़ा, दाने-दाने की जब मुहताजी होने लगी, तब तक आधे से ज्यादा खेत बेचे जा चुके थे, आधे रेहन और आधे बटाईदारों के पास। जब कुछ उपज

ही नहीं रहा तो बेचारे बंटाईदारों का भी क्या दोस?

बिमली ने ही तब कहा था उनसे—'ऐ जी दिल्ली चलते है न...बगल वाले परगास भैया घर पीट लिए दिल्ली में रह के। अपने जेतना खेत पथार भी नहीं था उनको, अब तो खेत भी सोना उगल रहा उनका, अबकी के सुक्खा की बात जाने दें तो...। ...पूरा परिवार सँभर गया एक उनके बाहर जाने से। मिलजुल के उहें कुछ कर लेंगे...।'

वह अपनी करिया जबान को यह सब याद करते हुए कोसती है—कौन घड़ी आया था उसको ई ख्याल। ...कि ऊ भी मान लिए थे चुपचाप उसकी बात। तभी एकदम से गाँव से चल ही तो दिए थे परिवार के साथ दिल्ली।

रात अधियाने को आई है, पर उसको चैन नहीं, नींद का कहीं नामो निशान तक नहीं आँख में, कल फिर जाना होगा मजूरी पर, बिना खाए पीये, भर नींद सोये, कल कइसे काम कर पाएगी?

कल फिर सुरजा की चिंता रहेगी दिन भर। ...कल फिर काम करते हुए मन भटकेगा सुरजा के पीछे-पीछे। कहाँ है, किसके साथ घूम रहा। लहेंगा लड़कों के साथ भटकता रहता है दिन भर। ई नहीं की दू गो किताबे पढ़ लें। कुछ तैयारिये कर लें। परिच्छा है कि माथा पर है, पर बबुआ को चिंता नहीं तनिको। पास कर लेगा त निम्मन स्कूल में नाम लिखा जाएगा। पढ़-लिख लेगा त उसके मन में सांति रहेगा। एक चिंता कम जायेगा उसके माथा का। ई स्कूल जाएगा, त निम्मन संगत में रहेगा। कहाँ छिछिया रहा है दिन भर ई चिंता तो नहीं सताएगा उसको।

बिमली मेठ है अपने ग्रुप की। ग्रुप में रेजा, कुली अउर मिस्तरी की गिनती काम के हिसाब से रोज घटती बढती रहती है। जब रेजा थी तो दिन भर में पचास साठ बार ईंट-गारा, सीमेंट नीचे से ऊपर ढोकर ले जाती थी, सातवें-आठवें तल्ले तक। ठीकेदार बाबू लाख कहते रहे, बीस फुट, चालीस फुट, अस्सी फुट पर उसको तो इहे बुझाता है आजतक, एकतल्ला, दुतल्ला, तीनतल्ला। ...इतना बूझके ही उसका काम चलता गया अब तक। अब उसको ई सब जादा बूझने की कोनो जरूरत भी नहीं है कि अब बस ढलाई का काम है उसका। उसकी एस्पर्ट है ऊ, ई ठीकेदार बाबू कहते हैं। ठीकेदार बाबू के हर काम में होना निश्चित है उसका, तो फिर तो निश्चित ही है। मेठ भी ऊ उन्हीं के आने के बाद से तो हुयी है... पहले ऊ भी रेजा ही तो थी, काम करनेवाली सब औरतों की तरह, सुरजा के बाबू के अंदर में काम करती थी, राज मिस्तिरी का काम करते हैं उसके सूरजा के बाबू। कभी उसके साथ, तो कभी किसी दूसरे ग्रुप में। आजकल अधिकतर दूसरे ही ग्रुप में, कि उनको नहीं पसंद है, उसके अंदर में काम करना। ई ठीकेदार बार-बार उनको उसके अंडर में काम करने को कहता है।

वह भी नहीं चाहती कि ऊ उसके अंडर में काम करें। बात-बेबात मुँह फुला रहता है उनका। मतलब बेमतलब गुस्सा। जब बाहर काम नहीं मिलता तब वो उनका घर में बैठना जादा पसंद करती है, अपने साथ काम करने से कहीं। इसी बहाने सुरजा पर नजर रखेंगे। उसको नहीं घूमने देंगे लुक्का लईकों के साथ। आमदनी कम होगी उस रोज की तो कोई बात नहीं... दू पईसा कम भले मिले पर दिमाग का सांति बहुत जरूरी है। वह सोचती है भीतरे-भीतर।

नयका ठीकेदार का जहाँ काम चल रहा है इस समय, उसके ठीक सामने वाले उस बिल्डिंग में जिसमें आगे का काम बंद है, रहने भर की जगह दी है उसने, दूसरे तल्ले पर। हरियर जाली लगा हुआ है, अइसे कितने बिल्डिंगों पर। लोग कहते हैं अवैध रूप से बन रही थी यह इमारत। 'अवैध मतलब गैर-कानूनी।' सूरजा के बाबू ने बताया था उसको।

ठीकेदार कह रहा है साल-दो साल आराम से रह सकती हो यहाँ। आगे का फिर आगे देख लेंगे। कुछ-न-कुछ तो जोगाड़ हो ही जाएगा। बहुत पहुँच वाले हैं ठीकेदार साहब, तभिये न कोई उन लोगों को एक बार भी नहीं रोकता-टोकता। गलतियो से नहीं पूछता काहे रह रहे हो यहाँ? किसके परमीशन से...?

मजूरी भी उसको जादा मिलता है इनके इहाँ। ...उनके कहे से ही सूरजा के नाम लिखाई के तैयारी में है वो... साहबे ने बात किया... मान गया ऊ बड़का स्कूल वाला लोग। ...ई जरूर है कि अभी छोटी क्लास में लेंगे। फीसो बहुत कम करवा दियें है, अब ई सुरजा खाली परिच्छा पास कर जाए, गाँव घर का पढ़ा-लिखा कुछो काम आ जाए उसके... तो सब ठीक हो जाएगा। वह मन ही मन सोचती है याकि गुहराती है सब भगवान से -'बस पास कर जाए सुरजा, तो सब ठीक हो जाये...।'

मन तब से जादा घबड़ाता है उसका, जबसे आठ साल के सुरजा के पौकेट में ऊ सिगरेट देखी। खूब कूटी उसको, पूछती रही 'कहाँ से पैसा आया उसके पास? कौन दिया उसको सिगरेट, बित्ता भर का लड़िका एकदम से दम्मी साधे रहा। मुँह सीए रहा अऊर कुटाता रहा।

बाप जब आये उसके तब ऊ बताई सब बात, तबतक सुत गया था सुरजा। ...ऊ चुप रहे बहुत देर तक फिर बोलें कि पीटना नहीं चाहिये न इतना। भाग गया होता कहीं घर से तो क्या कर लेती? सयाना हो रहा है, उलटा उसी पर हाथ उठा देता तो क्या कर लेती? जीत जाती उससे?

बोले ऊ कि 'सिगरेटवा दिखाओ तनी।' तो उसका दिमाग ठनका-' उ त हम उसी बखत फेंक दिए नीच्चे...।'

दिमाग खराब हो गया है तुम्हारा। ...लोग निशा का सिगरेट बेचता है, लड़का सब को पहिले इसका आदत दिलाता है, फिर उसका इस्तेमाल करता है गलत काम में। गरीब का बच्चा सब कहाँ से पईसा देके खरीदेगा, तो बेचने के धंधा में लगा देता है। ...डर लगता है कहीं कोई नशा बेचने खरीदने में इसका इस्तेमाल न कर रहा हो...।

बिमली इतना सुनते दौड़ के नीचे भागी थी, पर सिगरेट फेंके न जाने केतना घंटा बीत गया था। सिगरेट नहीं मिला उसको वापस। हाँ दू तल्ला से नीचे जाने और ऊपर आने में ऊ जरुर हाँफ गयी थी।

सुरजा के बाबू जब उसको लोटा से पानी निकाल के दिए त उसका मन हुआ, न जाने केतना पान पी जाए गटागट इसी बखत। ...सुरजा के बाबू उसे लड़िका सब की तरह इस तरह हुलस-किलस के पानी पीते देख के खूब हँसे थे। वह उन्हें इस तरह हँसते देखके लजा गयी थी एकदम से—'का हुआ...?'

न जाने क्या हुआ एकदम से कि उसको भोरे का ठीकेदार साहब का आना याद हुआ... जब ऊ कठौती में दोनों पैर धरे बैठी थी। ...उनका एकटक्के उसको देखे जाना भी। यह कहना- 'काम जो कर रही हो, करती रहो। हम कोई बाहर के तो नहीं...' बाकी बात तो मन में याद करते, दोहराते हुए भी वो लाज-गुस्सा और शरम से भर जाती है- 'पानी में गोड़ धरके बैठने से देह की आग कहाँ बुझ पाती है? उसके लिए संग साथ की, प्यार की जरूरत होती है। सूरज के बाप को तुम्हारा तनिक भी खयाल नहीं। देखता हूँ तुम पर उसका एकदम भी ध्यान नहीं। ...तुम्हारे सोने से देह को मिट्टी बना रहा है। तुम्हें इस तरह देखकर बहुत तकलीफ होती है... किसी और की होती तुम तो वो तुम्हें रानी की तरह सहेजकर रखता।'

थोड़ा रुककर ठीकेदार फिर बोले थे—'इसीलिए मुझसे जो भी बन रहा, कर रहा हूँ।

बस तुम्हारे लिए। तुम्हारी खुशी के लिए। तुमसे भी कह रहा हूँ कि सोचो कुछ अपने बारे में। ...भविष्य के बारे में... निकलो इस नरक से। ...मैं कुछ न कुछ रास्ता निकालूँगा तुम्हारे लिए जरूर...।

यह कहते हुए आधार कार्ड लेने के बहाने वे उसका शरीर छू लिए थे और चले गए थे कार्ड लेकर। वो देर तक सोचती रही थी, अनजाने में छू गयी होगी देह...लेकिन उनकी कही बातें?

वह एकदम से भौचक रह गयी थी। जुबान तालू से सट गया हो जैसे उसका। मन में कितना कुछ बोलने को इकट्ठा था पर जुबान साथ नहीं दे रही हो जैसे। ...विरोध की सारी आवाजें कहीं कंठ में अटक कर रह गई थी उसके। बस आँख से आँसू बह रहे थे लगातार।

उसके चुप रहने से ठीकेदार साहब को और बल मिला होगा। उसकी देह एकदम से ठंढी पड़ गयी थी...उनके चले जाने तक एकदम जड़वत् सी...।

उनके चले जाने के बाद भी वो देर तक हिलकती रही। काहे नहीं रोक पायी ऊ उनको? कुछ बोला क्यों नहीं उसने? कैसे एकदम से चुप मार गयी? बोलना था उनसे कि वो सुरजा के बाबू से बहुत प्यार करती है। मरद है ऊ उसके, जिससे उनका एक बेटा है सुरजा। ऊ उनके साथ हर हाल में खुश है, चाहे ऊ जइसे भी रखे उसको...।

तब से सोचे जा रही है, ठीक है बहुत मदद किये ऊ उसका, जरूरत-बखत बहुत काम भी आये, पर इससे ऊ कोई घर के आदमी त नहीं हो गए? घर का सवाँग त अपना मरद होता है, या फिर अपनी संतान। तनी सा मदद करके ऊ कइसे अपना हक़ बूझ लिए उस पर? उसको सलाह देने चले आये...।

हाँ जानती थी ऊ उनका मन। औरत निगाह पहचानती है मरद लोगों को। पर न जाने कइसे उसको ई भरम था, ऊ कभी उसको हानि नहीं पहुँचायेंगे? यही भरोसा उसका काल बन गया...।

देह केतना जगह लेता है औरत के मन में, ई नहीं बूझ पायेंगे ई ठीकेदार साहब। मेहनत-मजूरी करके दिन भर थका-माँदा आया आदमी को देह-नेह केतना सूझेगा? अऊर कब? नहीं तो इहे सुरजा के बाबू...।

कौन समझाए ई बात ठेकेदार साहब को?

ऊ नहीं जानते कि औरत मन देखती है पहिले मरद का... और सोना का मन है सुरजा के बाबू का, बिमली ई खूब जानती है। सुरजा के बाबू उसको बहुत मानते हैं। वश चले तो ऊ सारा दुनिया लाके धर दें उसके पैर में, पर मजबूरी और लाचारी...।

बिमली ई भी समझती है-'ठेकेदार साहब भी खराब आदमी नहीं ओतना...नहीं तो फायदे उठाना होता उसका तो बहुत मौक़ा था...कभी आज तक कुछ नहीं कहा उसको, न कोई गलत व्यवहार... पर आदमी का मन।

ई एडमीशन का काम हो जाये बस...।

एकदम से उसका मन हुआ सुरजा के बाबू को सब बात बता दें सुबह वाला। पर रुक भी गयी एकदम्मे से। ...अइसे ही चिंता में लग रहे, मुँह सुक्खा हुआ है एकदम से, ऊपर से ऊ काहे कोई बम गिराए उन पर। ...सुरजा का अच्छे स्कूल में पढ़ाने का सपना धरा का धरा रह जायेगा फिर...।

माँ कहती थी उससे थोड़ा गम खाना सीखे, कि औरत के लिए ई बहुत जरूरी है। कोई देह में लग तो नहीं गया जो ऊ बोले? कुछ लोगों का मजाकिया सोभाव भी होता है... ऊ

जानती है कि ठीकेदार साहब मानते हैं उसको, पर उसके काम के लिए। मानते रहें अपने मन में उसे इससे क्या, ऊ तो नहीं मानती? इतना काफी नहीं है का? कि अपने से डर लग रहा अब?

बर्दाश्त करना होगा सब, जो सुरजा की भलाई चाहती है। अपने परिवार का भला चाहती है। गम खाना ही होगा उसको...पर उ कहाँ बर्दाश्त कर पाती है कुछ भी? न गाँव घर का जीवन बर्दाश्त हुआ उससे, न झुग्गी-झोपड़ी के माहौल में जम के टिकना। ये अच्छा रहा कि सुरजा के बाबू हमेशा उसका मन समझे, उसका दर्द भी।...ऊ कहेगी तो और परेसान हो जायेंगे।

कहीं कहने लगें फिर उसी टीनाही छत वाले मोहल्ला में रहने को तो उससे नहीं होगा अब? उस गंदगी में, अउर जाहिल लोग के बीच रहना अब उससे नहीं होने वाला... वह पुराने नरक में नहीं लौटना चाहती, सो उसने महटिया देना ज्यादा उचित समझा...।

एतना बुरा मानती रहेगी त जीना मुस्किल हो जाएगा। जब अपने हाथ में कुछ है ही नहीं, जब गाँव में स्कूल न होने के कारण माई-बाप उसे गाँव से बाहर पढने नहीं भेजें तभी सोचना चाहिए था। बोलना और जिद मचाना चाहिए था। अब सोच रही है तो क्या आखिर? थोड़ा बहुत पढ़ी लिखी होती तो इस शहर में क्या से क्या कर लेती...।

दूसरे दिन ढलाई बखत ही ठीकेदार साहब कहें—सुरजा का एडमिशन हो गया। अब तो खुश है न बिमली। अपने बरहम बाबा को आज परसाद चढाने तो जाएगी न? बिमली देखती रही कि उनकी हँसी कितनी निर्मल है। ऊ बेकारे....।

लेकिन आगे ऊ जइसे बोले उसका मन मुरझा गया- 'मेरे लिए भी रखना परसाद। हम परसाद लेने आयेंगे।'

बिमली का खुशी कपूर जैसा धुआँकर के उड़ गया था। इसी दिन का तो उसको इंतेजारी था। पर खुस काहे नहीं हो पा रही। मन हुलस नहीं रहा एकदम से।

पूजा में भी उसका मन एकदम्मे नहीं लग रहा था। कहीं आके पहिले से ही न बईठे हो ठेकेदार साहब। परसादी अईसन चीज है जिसके लिए ऊ मना भी नहीं कर सकी एकदम से। नहीं त कुच्छो झूठ-मूठ का बहाना बना लेती। घर अटकते-भटकते ऊ बहुत देर से आई, कहीं ठेकेदार साहब न बईठे हों, परसादी के इंतजार में। सुरजा के बाबू के आने का बखत हो जाए, तभिये घर जायेगी ई सोचकर। सुरजा एकदम से परेसान हो रहा था, अम्मा घर चलो न किताबो लेना है, दोकान बंद हो जाएगा तब घर चलोगी? पप्पा को बताना भी है कि हो गया एडमिशन। उसने जोर से डपट दिया था उसको। निम्मन से पूजा तक नहीं करने देता ई जंत। अरे तुम्हरे पूजा है, पूजा करके चलबे करेंगे...।

घर आते आते वो निर्णय ले चुकी थी, बता देगी ऊ सुरजा के बाबू को सब साफ़-साफ़। गुस्सायेंगे त सुन लेगी दू गो बात। देह में नहीं लग जायेगा। जो कहेंगे ऊ फिर वही करेगी... सुरजा का नाम त अब लिखा चुका है, बाकी देखा जाएगा। आखीर सवाँग है सुरजा के बाबू घर के, उनसे कुच्छो काहे छिपाना?

घर पहुँची तो सुरजा के बाबू नहीं पहुँचे थे। ठीकेदार भी नहीं आये थे, कि आयें भी होंगे त लौट गये होंगे। उसने चैन की सांस ली थी। मन-मन भूमिका बना रही थी कि कइसे कहेगी सूरजा के बाबू से...।

सुरजा के सुत जाने का इंतजार तो करना ही होगा। चाहे जैसे भी...।

सुरजा के बाबू का मन बहुत खुस था, नाम लिखा जाने से। ठेकेदार साहब के लिए जो एक दबा-तोपा चिढ़ दिखाई देता था, उनके बात से, वह भी आज नहीं समझ आ रहा

था। बिमली सोच रही थी, ऊ कहे भी तो कइसे आखिर? कहाँ से शुरू करे?

सुरजा खर्राटा ले रहा था। उसके सोने का राह देखती-देखती बिमली भी अउघाने लगी थी अब कि सुरजा के बाबू ने उसको हौले से जगाया था। उ कुनमुनाई थी नींद में-का हुआ?

कुछ नहीं तुमसे कुछ बात करना है। चुपचाप सुनो मेरी बात। नहीं तो बाबू उठ जाएगा। उ उसको कलेजे से सटाकर बोले थे-'बिमली सुन न। ...एगो काम मिला है स्कूल का। ... मतलब स्कूल अभी बनिए रहा है... उहाँ रहने का रूम भी देंगे, केमाड़ी खिड़की वाला। बाथरूम-लैट्रिन सब होगा उसमें।

डेरा-लुका के रहने का भी नहीं होगा... हम उसमें आराम से रह सकते हैं, हाँ इहाँ एतना फईल जगह नहीं होगा। लेकिन जो होगा, सो अपना होगा। दोनों को काम भी देंगे। हाँ ई हो सकता है, तुमको इहाँ जितना पइसा न मिले। कहकर उनकी आवाज सकुचाई थी ज़रा... चलना चाहोगी उहाँ?

बिमली ने पूछा था... लेकिन ई स्कूल बन जाने के बाद?

सुरजा के बाबू की आवाज ज़रा मुरझाई थी- 'तभियो काम रहेगा हमारे पास। हमको पियून के लिए बोले हैं, तुम भी कुछ कर लेना साफ़-सुफाई चाहे आया का काम?'

बिमली चुप थी देर तक...।

'हम जानते हैं तुम्हारे मन का नहीं ई सब। छोटा काम है। पर कब तक ढो पायेंगे हम ई ईंटा-रोड़ा? ओतना पढ़े-लिखे भी नहीं कि...।'

'जानती है, कभी-कभी तो गाँव लौट जाने का मन करता है, एतना काम अगर उहाँ किये होते तो...।'

'नहियो है तो भी खेती बारी कुछ तो बचा हुआ है... पर उहाँ लगता है कि नाम-इज्जत है परिवार का। ...ई सब उहाँ नहीं कर सकते...।'

'खैर अभी तो ऊ स्कूल के काम की बात है... कुछ दिन करके देखने में कोई हर्जा नहीं बुझाता हमको...।'

बिमली ने कहा था, बिना कुछ सोचे-समझे-'हाँ...त ठीक है न...।'

'लेकिन उहाँ से सुरजा का ई स्कूल? ई स्कूल नहीं छूटना चाहिए उसका। केतना पइसा लगा है उसमें। सब जमा-पूँजी झड़ा गया एकदम से।'

'चला आयेगा टैम्पो से रोज... कर देंगे टैम्पो? निम्मन हुआ तो बाद में उसी स्कूल में ऊ भी पढ़ लेगा। ...अगर तुमको दिक्कत नहीं लगा... नहीं तो तुम जइसा समझना।'

'कब से शुरू होगा काम?'

'दस दिन में...।

'इहाँ बताना भी होगा—'हम बता देंगे ठेकेदार को... तुम चिंता नहीं करो...'

सुरजा के बाबू का मन खुस था। बेकारे डेरा रहा था वह, बिमली मना कर देगी... ऊ तो एक्के बार में मान गयी।

बिमली असमंजस में थी... अभी मौक़ा है, अभी बता सकती है ऊ उनको ठेकेदार साहब वाली बात। पर शुरु करे तो कैसे करे आखिर?

सुरजा के बाबू उसको गला से लगा लिए थे... बहुत दिन बाद उन दोनों की देह एक साथ, एक दूसरे में इस तरह समाई हुयी थी...पर बिमली का मन कहीं और भटक रहा था—कइसे बताये ऊ सुरजा के बाबू को...केतना खुस हैं अभी वो...।

उसने सोचा लेकिन कभियो त बताना ही होगा... अभी बता देना अच्छा है।...वह कुछ

कहने को उद्धत हुयी थी- 'सुनिए कि हमको भी कुछ बताना है आपको...।'

कि अचानक सुरजा बोला था- 'हाँ पप्पा हमको भी बताना है कुछ।

'तू जगा हुआ था अब तक। खाली सुतने का छाव धर रहा था? बिमली सुरजा के बाप से छिटककर अलग हुयी थी एकदम से।'

नहीं अभी नींद टूटा। पियास लग रहा था कि सुने तुम्हारी बात...।

'माँ हम सब चलेंगे उसी स्कूल, इहाँ हमको भी नहीं रहना।'

'का हुआ, अइसे काहे कह रहे हो...?'

'कुछ हुआ? कोई कुछ बोला तुमको।...दोनों एक साथ हड़बड़ा के बोले थे बेटा को...'

'माँ ऊ जो ठीकेदार साहब है न...'

बिमली का कलेजा एकदम से धक्क से हो गया था...।

'हाँ। बोल बाबू। ...उन दोनों की आवाज जैसे किसी अतल कुएँ से निकल कर आ रही थी...सहमी डरी हुयी सी, एकदम मद्धम आवाज- 'क्या हुआ, क्या ठेकेदार साहब?'

बिमली का चिहुँकना एकदम से उसके खुद को बुझा रहा था -

'कुच्छो नहीं... ठीकेदार साहब नहीं...'

'ऊ जो ठीकेदार साहब के दोस्त है न... उहे जो उनके साथ घूमते हैं हमेशा... चश्मा वाले... हीरो जैसा बाल वाले। ...'

बिमली की आवाज थोड़ी थिराई थी—हाँ... बोल...फिर...

उहे दिए थे हमको ऊ सिगरेट पीने को। बोले थे रोज देंगे... पीना इसको बहुत निम्मन है...'

अउर।

अउर?

'अउर क्या...' बिमली की आवाज एकदम से डरी हुयी थी...

'बोले थे पप्पा-मम्मी को नहीं बताएगा त सिगरेट और चौकलेट दुन्नो देंगे...'

'फिर।'

'लेकिन...'

'लेकिन क्या।...'दोनो का दिल बैठा जा रहा था एकदम।'

लेकिन हमरे साथ चलना होगा। हमरे घर रहना होगा।

सोना भी... हमरे साथ। ...कहकर सुरजा एकदम से सकपका गया था।

मतलब...?

सुरजा एकदम से चुप था।...कुच्छो नहीं बोल रहा था...नजर एकदम नीचा किये हुए।

बिमली रोने लगी थी।

उसने बेटे को गले लगा लिया था- 'ना रे बाबू। ...हम इहाँ नहीं रहेंगे एकदम।'

'तुम्हारे पप्पा जहाँ कह रहें हैं वही रहने चलेंगे...।'

'तुम अब कभियो उनसे न बतियाना... अउर कुछ बोले ऊ त हमको जरूर बताना।

मेरा बबुआ।...उसने बेटे को कलेजे से लगा लिया था।

हम पूछेंगे ठेकेदार साहब से?

'माँ। ...पूछना मत। ...ऊ भी तो उन्हीं के संगी है न?' बच्चे की आवाज कँपकपाई थी...

वे दोनों उसे समेटे हुए थे अपने में... इस तरह की वो तीनों एक देह-एक प्राण हों जैसे।

रोते-बतियाते कब आँख लगी। नींद कब आई, सुबह कब हुई, उन्हें इसका एकदम कोई गुमान नहीं था...।

वे बहुत दिनों बाद सोये थे ऐसी निश्चिंत और बेसुध नींद।

दिन चढ़ने तक उनमें से किसी एक की भी नींद नहीं टूटी थी।

नींद में जाग

नींद अब नहीं खुलती बिमली की, देर तक सोती रहती है, जैसे बरसों की नींद स्थगित पड़ी थी, जो अपने घर-आँगन में ही आकर पूरी होनी थी। दिन आधा जागरण और आधी नींद में बीतता है। यह गुमान ही नहीं होता कि जागते हुए सोये कब और नींद में भी न जाने कैसी जाग। यह सिर्फ उसके हिस्से की नींद नहीं सुरजा के बाबू के हिस्से की नींद भी हो जैसे।...जो कहते रहते थे—'अपने घर पहुँच कर पहले आराम से खूब सोयेंगे।

यहाँ बेटे की चिंता भी उसे नहीं सताती, जानती है वह अपने परिवार के संग है, उससे भी कहीं ज्यादा ख्याल रखेंगे उसके फुआ-फुफ्फा लोग।

नींद में ही निबटाया उसने सुरजा के बाबू का क्रिया-करम। .. लोगबाग बहुत कम बुलाये, उससे भी कम का आना हुआ... कुछ परिवार के, कुछ अगल-बगल के, समाज के...।

आये वे इतना ही बहुत था...।

एक निश्चित दूरी से निबटाया गया सारा क्रिया-करम... नहीं तो ये ही वो लोग थे, जो गाँव के अंदर घुसने नहीं दे रहे थे, बीमारी लेकर आने वालों के लिए गाँव के सीवान पर ही खड़े थे लट्ठ लेकर...।

सुरजा के बाबा की मौत की खबर ने उन्हें चुप करा दिया हो जैसे... यह उनके लिए सम्मान था गाँव वालों का, उसके परिवार के लिए स्नेह।

कोरोना महामारी फैली थी ठीक बबुआ के एडमिशन के बाद। लगा था कुछ दिन-सप्ताह की बात होगी। पर नहीं... खिंचता जा रहा था बखत इलास्टिक जैसा। गुजरता ही नहीं था एकदम से। बिना काम-काज के घर बैठे वो तीनों। एकाध दिन अच्छा लगा, आराम से चुपचाप पड़े रहना। फिर धीरे-धीरे बिमली कोफ्तियाने लगी थी- 'अइसे बईठ के घर में काम कइसे चलेगा? जमा-पूँजी सब झड़ा के रह गया था सुरजा के नाम लिखाई में... बड़का शहर, बिना काम धाम के घर में पड़े रहना लगातार, कुछ नहीं समझ में आ रहा था एकदम्मे उसे। ..

ऊपर से सप्ताह बीतते-न-बीतते सुरजा के बाबू का जिद पकड़ लेना- 'घर चलते हैं न... ई बंदी न जाने कब तक चलेगा। तब तक खायेंगे का अउर रहेंगे कइसे?'

कोई आया किसी दिन त निकाल देगा इहाँ से... फिर कहाँ जायेंगे सोच बिमली?

'कइसे चल दें मुँह उठा के? पास में पइसा-कौड़ी कुच्छो नहीं... टरेन बंद है अलगे... गोड़ घिसिया के चल देंगे का? बगल में हैं हाजीपुर न... उहों से गाँव सवारी से जाने में तीन घंटा लगता है... अइसे बोल रहे हैं, जैसे घर पिछवाड़ा में हो एकदम...।

सब मजूर जा रहे हैं बिमली... चाहे जेतना बखत लगे, संग-साथ रस्ता कट जाएगा...।

अकेले बुझाता है रास्ता लंबा, जौड़े उतना कहाँ बुझाता है।'

बिमली हर बार बात टालती, रामपरिखन हर बार जिदियाते- 'आधा लोग निकल गया। ...तू बस रास्ता देखो, इहाँ रहके भुख्खे मरने का...।'

'ठीकेदार साहब आयेंगे त हम कहेंगे कोनो इंतजाम करवा दें... ठीक होगा बेमारी त आ जायेंगे हमलोग फेर।'

'आएंगे तुम्हारे ठीकेदार साहब? दस दिन से रोज फोन कर रही। आ गए? कल से त फोनवो नहीं उठा रहे, तभियो कुच्छो बुझाता नहीं न तुमको...?

'ठेकेदार साहब आयेंगे, ठेकेदार साहब आयेंगे, सुनते-सुनते कान पाक गया हमरा... आज बारह दिन से इहे सुन रहे... नहीं आयेंगे देख लेना तुम...।'

'बिमली भी चिड़चिड़ा गयी थी ओ दिन-' तुम करजीभ्भा हो, बोल दोगे त नहीये आयेंगे। सब तरफ बंदी है, आदमी का, चिरैया चुरमुन तक नहीं आ-जा रही कहीं... नीच्चे रहने वाला कुत्तो-बिलाई नहीं देखाई देता आजकल...।

'फिर भी ऊ एक्को बार मना किये का? कोनो उपाय में लगे होंगे... नहीं हो पा रहा होगा कुछ तो नहीं आ रहे होंगे। फोन भी कहीं इसीलिए नहीं उठाये होंगे...आदमी को आदमी पर भरोसा करना चाहिए।'

'ऊ चाहे जैसे हो झूठ नहीं बोलते, हमको एतना भरोसा तो है। नहीं होने वाला होता तो ऊ साफ़ कह दिए होते न? तनको धीरज नहीं ई आदमी में, जो सुर धर लिया सो धर लिया... बच्चा जईसा सुरिआता अउर जिदियाता है ई आदमी...।

सुरजा के बाबू दिन भर बड़बड़ाते रहते।

बिमली तकलीफ समझती है उनकी। पर ऊ भी करे तो का? उनके कहे मुँह उठाके अईसे कैसे चल दे एकदम से? अपना न सोचे, अपने नौ बरस के बच्चा का त सोचेगी? अपना कष्ट सहे होंगे दोनों लोग, बच्चा को कभी कोई तकलीफ नहीं होने दिए। कइसे चलेगा ओतना लंबा रास्ता, एकदम पैदल? का खायेगा, का पिएगा?'

सुरजा के बाबू अभी भी बड़बड़ा ही रहे हैं—'ई जो इतना बड़ा बिल्डिंग सब दिखाई दे रहा अगल-बगल। सब किसके दम पर है, हमरे सबके दम पर न? ई सब अपने घर में निश्चिंत होकर रह रहा, सूत रहा। अउर हम मजूर तरस रहे एक-एक रोटी को? दुरंगी दुनिया है एकदम से... मेहनत करके खाने कमाने वाले का कोनो भविस नहीं... जो हमरे सहारे जीता है, जिनका काम एक्को दिन हमरे बिना न चले, चौन से पड़ा है...अउर हम सब?

सब पैसा का खेल है।

हम मजूर लोग सामान जैसे होते हैं, अपने औजारों के जइसा। बेलचा, कडाही, कुदार, गाती बसुली है हम...काम के नहीं रहे, जंग लगा त निकाल के फेंक दिया... बिना ई समझे कि उनका घर भी इसी पर खड़ा हुआ है...।

बिमली पहले रोकती थी, अब चुपचाप सुनती है उनकी बात। झगड़ा-लड़ाई करने का कोनो फायदा है? ई समझती है कि आदमी परेशान है बहुत, इसीलिए बकता रहता है दिन-रात और ई भी जानती है, ऊ गुस्सा में भले बोल रहे हो, पर बात गलती नहीं बोलते कभी सुरजा के बाबू।

एक दिन आखिर चलिए पड़ी थी, सुरजा के बाबू के जिद के आगे हारकर। ...अंतिम में बचे-खुचे कुछ जो लोग थे, जाने को तैयार हुए थे, सुरजा के बाबू ने निर्णय सुनाया था- अब चल देना है, उसने भी ना नहीं किया था...किस इंतजार में, किसके भरोसे ऊ ना करती? किस बात के लिए रुकना था अब?

बीते सारे दिन-साल चलचित्रवत् चलते रहते हैं आगे... न जाने नींद में कि जागरण में।

किसी गहरी नींद में ही उसने देखा कि पूरे घर-खेती को उसके चौथे नंदोई कब्जाए बैठे हैं। जबकि उनके घर में धन संपत्ति की कोई कमी नहीं थी, फिर भी डेरा-डाले बैठे हुए थे दोनों उसी के घर...कभी उन्होंने कोई थाह नहीं दी कि उसके घर में ही रह रहे वे लोग...

हाँ सुरजा के पप्पा को हमेशा यह फोन जरुर जाता रहा-'फलाँ आनेवाले हैं, ढीमाक जानेवाले हैं, उनके संग फलाँ चीज भेज देना। ...'सुरजा के पप्पा किसी भी तरह जरुर खरीदकर भेजते वो सामान। ...कि उनकी लाड़ली बहन थी छुटकी। ...उसके लिए वो कुछ भी कर सकते थे।

उसी लाड़ली बहन ने।

उन्हें हाथ जोड़कर किसी तरह विदा किया गया था... काम-किरिया ख़तम होने से बहुत पहिले...।

गाँव वालों के संग साथ के बिना ये संभव नहीं था बिलकुल...।

साथ पत्थर की तरह अडिग खड़े रहे दूसरे नंबर के ननदोई... वरना औरत जात का कहा कितना मानते लोग...।

वह सोचती जिसके पास सबसे कम संपत्ति था वो ननदोई उसके साथ खड़े रहे हमेशा। जिनके पास अपार था उनकी लालच कितनी छोटी और बौनी थी...भरते जाओ सुख-संपत्ति से, लालच की वह गागर कभी भरती ही नहीं...।

और बहिनें मुँह फुलाए रहने लगी थी उसके बाद। ...छुटकी को इस तरह विदा कर देने के कारण। ...वो जैसे नींद में ही सुनती कभी—'भैया के चले जाने का कोनो दुःख है इनको। ...सोती हैं और खाती हैं, खाती हैं और सोती हैं...।

भइया को भी खाके ही चैन आया इनको।

'पहिले हमारे एकलौता भाई को हमसे ओतना दूर ले गई। ...फिर लौट के आई तो उसका लाश भी फूँक के।

पहिले रहती थी कभी अइसे? बड़ा-छोटा सबका मान-मर्यादा भूल गयी हैं, जहाँ मन होता है निकल जाती हैं, जब मन होता है घूम-घाम के आ जाती हैं... माथा पर अँचरा तक नहीं होता... पहिले इनका हिम्मत था एतना?'

'लगता है इनको देखकर कि इनका सेनुर हेराया है अभिये?'

'अरे लोग बूझ रहा है अभी विपदा में हैं, होश हवाश में नहीं हैं अपने...नहीं तो ई गाँवे के लोग तौर तरिका याद करा देगा?' बड़की ननद तनी ताव में बोली थी, जइसे सुना रही हो, उसी को।'

देखो न, हमारे ही घर में हम पर हुकुम चला रही हैं, कौन रहेगा, कौन जाएगा ई तय कर रही हैं? हम कहते हैं, ई सब तय करनेवाली ई होती कौन हैं? बाबूजी नहीं लगती हैं ई, न ही हमारे भईया की जगह हैं... कौन दे दिया इनको ई सब हक़ मुफ्ते में?

वह देखती हर-हमेसा, सबसे छोटकी पाँचवे नंबर वाली गुड़िया नहीं रहती ई बतकुच्चन में। ...उसके बराबर की ही तो है ई छोटकी। ...जब वो ब्याह के आई थी, रोज उसका बाल संवारती, चोटी बनाती, नोह पालिश लगाती और आलता से रँगती उसका गोड़...इस घर में वही तो सखी जैसी थी उसकी...।

अभी भी बस चौका-चूल्हा सँभालती है घर का। ... इतने लोग का सब काम सँभालती है, बाकी बहनें बस बईठ के बतकुच्चन करती रहती हैं जब-तब।

गुड़िया एक दिन रात में उसको सोया जानके उसके पैर में गरम तेल मल रही थी, जाग वाली अपनी नींद में चिहुँककर वो उठ बैठी थी—ई का कर रही हैं बबुनी? हमको काहे पाप दिला रही। कोई भौजाई के पैर में भी तेल मलता हैं कहीं?

कइसा हो गया है आपका गोड़, देखी हैं आप? लगता है जइसे जिनगी भर मजूरी की हो।...फोड़ा मवाद भरल ई पैर कहीं किसी अच्छे घर की औरत का हुआ है?

वह चिहुँक गयी है गुड़िया की बात से। ...नहीं खोलना वह राज कभी घर परिवार में, जिसे सुरजा के पप्पा जिंदगी भर छुपाते रहे थे अपने अपनों से।...बताते थे कोनो मिल में मैनेजर हैं... नहीं बाँटना उसे अपना दर्द किसी से, चाहे वह गुड़िया ही क्यों न हो...।

'आठ दिन, सात रात बिताकर पैदल चल के घर पहुँचे हैं बीबीजी, कोनो खेल ठठ्ठा है का... और आपने अपने भाई का गोड़ नहीं देखा, देख लेती करेजा मुँह में आ जाता...।

एतना पर भी कहाँ बचा के ले आ पायी उनको उनके घर... वही घर जहाँ आने के लिए ऊ छटपटा रहे थे, जिदियाते थे, लड़ते थे, बच्चा नियर।'

वह फफक पड़ी थी इस घर में आने के बाद पहली बार। ...फिर अपने आँसू पोछ लिए थे उसने एकदम से, आवाज एकदम से नीची कर ली थी। नहीं दिखना उसको कमजोर, सब सहना और सब सुलझाना है बहादुर बनकर। ...सुरजा के पप्पा से उसने वादा जो किया है।

पर मन के रजाई की तुरपाई खुल गयी हो जैसे, बंद खुलने-खुलने को हो रहे सारे। बाँधे भी अब कहाँ बँधेगा... यादों की रुई छितराई जा रही है—'पहुँचने के ठीक एक दिन पहिले, न जाने कौन सा गाँव था, न जाने कैसी रात बबुनी। भुक्खे थे हम सब दो दिन से, सुरजा भूख से कलप के सो चुका था, बहुत रात हो चुकी थी, गैलन में भरा पानी सब उसको धीरे-धीरे पिला दिया था, भोर होगी त देख लेंगे, हो जाएगा पानी का कोई इंतजाम, ऐसे भी रात में कौन पिएगा पानी?

पर रात में ही आपके भैया के छटपटाने और कराहने से आँख खुली थी। बुखार से जल रहा था देह उनका, दो दिन से कुछ खाए नहीं थे, जो कुछ एतना उतना कहीं मिल जाता, पहले सुरजा को खिला देते, उससे बचा कुछ तो हमको। ...बेसुधी में भी भूख नहीं पियास कह रहे थे, कि हम परेसानी में न पड़ जाएँ, लजाये नहीं, अपने मजबूरी पर।

पानी कहाँ था किसी के भी पास, सब उसी से तो भूख पिआस सब बुझा रहे थे... दूर दूर तक तलाशकर आ गये थे लोग। ...उ लोग हमको ढाढस देते, हम आपके भैया को—'मिल जाएगा अभी पानी, आ जायेंगे लोग पानी ले के। ...पर ऊ लड़खड़ाये आवाज में बोलें तो बस ऐतना—'घर जरूरे जाना... तुम अउर सुरजा अब उहें रहना, दिल्ली नहीं लौटना।

'कि हम तो अब...'

हम उनके मुँह पर हाथ धर दिए थे—'ऐ जी काहे अइसा असुभ बोलते हैं, चलेंगे न हम तीनों, उहें रहेंगे हर हमेसा...हम कह दिए सो कह दिए।'

पर उ कहाँ सुन पाए थे कुच्छो।

गैलन भर पानी ले आया था कोई दूर के चाँपाकल से, पर पीनेवाला चला गया था।

भर मन रो लेने के बाद बिमली फिर बोली रही थी—'सब लोग राय किये की लाश ईहे फूँक देना ठीक है, कौन उठा के ले जायेगा।...गाँव में लोग कहेंगे कि बीमारी से मरा था, कोईओ घुसने नहीं देगा भीतर।

हम धीरे से बोले थे—'एतना दूर आने के बाद भी घर नहीं जा पायेंगे... घर तक तो... पर कोई नहीं सुना मेरा बात...।

सुनते हैं बबुनी एगो बेटी अपने बीमार बाप को, साइकिल से घरे ले आई ओतना दूर से, एगो औरत रस्ते में जनम दी बच्चा को, अउर उसको लेके चल दी पैदल।...रास्ता भर सब कुछ सुनते और देखते आये थे बीबीजी।...पर हम सुरजा के बाबू को उनके घर वापस नहीं ले के आ सके... वही घर जहाँ आने के लिए ऊ तरस रहे थे...।'

बहुत देर को चुप रही थी बिमली...फफकी को दबा रही थी कि बोली थी गुड़िया—'रो

लीजिये भाभी। ...कि रो लेना जरूरी होता है। ...कोई चीन्हे की न चीन्हे, किसी को बुझाये कि न बुझाये हम बूझते हैं आपका तकलीफ...' उसने भर पँजरा भर लिया था उसको...

गुड़िया उसको फिर से कलेजा से लगा ली थी—'भाभी जो हो गया जो उसे जाने दीजिये, होनी को कौन टाल पाया है... ज़िंदा आदमी को दुनिया पूछती है, मरा कि माटी हो गया, अब माटी कौन ढोए भला? 'उसकी आवाज भी रुँध गयी थी।

अब आप और सूरज ही मेरे लिए भैया हैं, भाभी है, माई बाबू हैं...मेरा नैहर आपे दोनों से है। बने रहिये आपलोग।

सँभाल लीजिये आपन घर दुआर... किसी के भी बोली-कुबोली को मत सुनिये, एकदम्मे मत ध्यान दीजिये उस पर...।

सुबह होने को हो आई थी, वे दोनों बईठी बतियाये जा रही थीं अपना सुख-दुःख। गुड़िया उठने को हुयी—'चूल्हा जोड़ने का बखत हो गया, दिदिया लोग को निकलना भी है आज... खयाल नहीं रहा एकदम्मे।

उसने हाथ धर के बइठा लिया था उसको। हो जायेगा बबुनी। हम है न संगे। अऊर केतना दिन करेंगी आप? तेरही बीत चुका है। छू सकते हैं हम अब चूल्हा-चउका।

वैसे आप भी कब तक करेंगी अकेले ई सब... केतना दिन त्यागे रहेंगी अपना घर-दुआर? जाना त आपको भी है, आज न कल...।

कलेवा बना ही बना था। ननदें बटोर रही थी अपना सामान। गुड़िया ने ही दिया था सबको जलपान, रास्ते का कलेवा और खोइंछा। सब निकल रहे थे धीरे-धीरे... उसे ख्याल आया था सुरजा के पापा होते तो बहिनों कि विदाई में न जाने कितना कुछ दिये होते...।

घर बहुत खाली और बहुत बड़ा बुझाने लगा था बिमली को। देखकर जैसा भरोसा ही नहीं हो रहा हो, ये उसी का घर था...।

उसे वह जगह याद आ रही थी, जिसे दिल्ली में वो अपना घर कहती थी। ...पर उसका उसमें कहाँ था कुछ भी। ...एक पर्दा तक टाँग लेने की इजाजत नहीं थी... रहने भर को एक जगह थी, सिर छिपाने भर को एक छत।

वो सब इसे... इस घर को छोड़कर चल दिए थे। न जाने किस लालसा के पीछे।

रात को वे तीन ही बच गए थे। ...खाना निबटा के जब सब बइठे, दुसरे नंबर के नंदोई पूछे थे—'भौजी का सोची हैं, कहाँ रहना है, कइसे रहना है, अउर का करना है?

सोचना का है बाबू, अब इहें रहना है, जो अउर जइसे भी रहना-करना हो... अब इहाँ से कहीं जा नहीं रहे हम।'

खर्चा कैसे चलेगा भाभी, गुड़िया चिंता में डूबी बोली थीं—'कुच्छो करेंगे, जो कर सकेंगे... अभी सोचे नहीं कुछ... माथा पर छत है, घर है, तनी मनी, रूखा-सूखा खेत से जो मिलेगा, अभी उसी में चला लेंगे।'

पइसा-कौड़ी...?

'नहीं बचा है तनिको हमारे पास। ...जो था सब इसके एडमिशन में लगा दिए थे... कहाँ पता था आगे छूट जाना है ई जगह... ई सबकुछ।...जानते त...।'

अभी स्कूल खुलने में समय है, जब एडमिशन का बखत होगा त देखेंगे।

बहुत देर तक चुप रहने के बाद बिमली औचके बोली है फिर—

एगो बात आया है मन में। सुनिए पहिले, फिर आपलोग को भी जँचे तो...

बोलिए न भाभी, हमलोग कौनो दूसर है...।

अगर आप सबलोग का इजाजत हो तो चार गो-पाँच को कमरा रख के, पीछे के हिस्सा में स्कूल न खुल जाए... सुरजा को दुसरे गाँव नहीं जाना होगा पढ़ने। ...और दुसरे बच्चा लोग को भी आसानी हो जाएगा...।

सबका विचार हो तभिये। ...कि घर सबका है, आप सब बहिन का भी...।

किसी को क्या दिक्कत होगा इसमें? अगर दिक्कतों होगा त बतियाया-समझाया जाएगा... आप और सूरज दुई ये गो त लोग है इहाँ लगातार रहने वाले अउर घर बहुत बड़ा है...।

पर आसान नहीं होगा ई सब एतना। ...स्कूल का फर्नीचर... टीचर। ...तनखाह। बहुत चीज करना होगा।...कहाँ से होगा ऊ सब...।

पेड़ है बहुत अपने खेत में... गाँव में दूसरा लोग भी देगा... रामतोरण बढ़ई लौट के आया है दिल्ली से अपने परिवार के संग। ...और भी बहुत लौटे हैं लोग... बना देंगे कहने पर... उनका भी त बाल बच्चा होगा स्कूल जानेवाला।

टीचर के लिए केतना लइका-लइकी सब है, गाँव में, जो पढ़-लिखकर बियाह, चाहे नौकरी के इंतजारी में बैठा है, करेगा श्रमदान... पढ़ायेगा गाँव के बच्चा सब को... तनखाह अभी नहीं देंगे... चलने लगेगा स्कूल त दिया जायेगा। आखिर दूसरे गाँव के स्कूल में भी त पइसे दे के जाता है इहाँ का बच्चा सब...।

गुड़िया बड़े गौर से देख रही है उसका मुँह- 'बाबू ठीके कहते थे, बहुत दिमाग वाली है तोहर भौजाई। ...पढ़-लिख नहीं पाई बस, पर लछमी है बहुरिया...' घर में दूसरा कोई कहाँ दिया इनको मान?

गुड़िया जाते-जाते बार-बार पलट रही है। देख रही है उसको और सूरज को। कह रही है—'आपको अकेले छोड़के जाने का मन नहीं कर रहा... पर का करे। ...उहाँ आपके नंदोई हैं... बाल बुतरू सब है, रास्ता देख रहा होगा सब...एकाध दिन तभियो रूक जाते... पर लगा आज चले जायेंगे त बहनोई पहुँचा देंगे... अइसे अकेले ही जाना होगा।'

ऊ धीरज धराती है—'कोई बात नहीं बबुनी आज चाहे कल, जइबे कीजिएगा न आखिर। ...अउर कोनो डर नहीं है इहाँ...अप्पन घर में है, अपने गाँव में। ...कोनो जरूरत हुआ त फोन करेंगे न आप दुन्नो को...।'

दोनों जाते-जाते कह गए हैं—'कोई मुश्किल हो त बुला लीजियेगा हमको...।'

ऊ बोली है—'काहे नहीं। जरूर कहेंगे...।'

शाम आने के बाद पहली बार इतनी सन्नाटे में आई है... एकांत जइसे गूँज रहा हो चारो तरफ...खाना बहुत जल्दी बना के खिला के सुला दी है सुरजा को... अब घर अउर भायँ-भायँ लग रहा...।

आठ बजा है और गाँव में एतना सन्नाटा... दिल्ली में अभी साँझ सुरुये होती थी... इसी बखत लौटते थे, सुरजा के बाबू। ...इसी के आसपास लौटती थी वो खुद... हाथ पैर धो-धा के चाय पीते थे दुन्नो लोग... फिर खाना का तैयारी सुरू होता था...।

किलस उठता है उसका मन। ...शहर का चकाचौंध कइसा होता था इस बखत। ... अ उर ई गाँव है कि भरली साँझ एकदम सन्नाटा...।

उ समझाती है खुद को... भूल गयी जब आई उस समय का सहर। इहाँ भी बीमारिए के डर से सन्नाटा है...।

वह मन फेरने के लिए याद करती है ऊ दिन जब नयी-नयी आई थी शादी करके इस गाँव। ...काम निबटाते देर हो जाता था कितना... अनगढ़ हाथ से खूब लसरा के काम करती।

...फिर पैर दबाने जाना होता था सास का... सुरजा के बाबू देर से उसकी राह देखते रहते। ..कितनी देर होती थी तब सोते-सोते...।

बेटा सो गया था और उसकी नींद फिर से गुम हो गयी थी...कहाँ ढूंढें उसे पता ही नहीं था...जैसे चली गयी हो जाने वालों के साथ। सब लोग जब थे तो कितना सो रही थी वो... परिवार चाहे जईसा हो होता हो, होता त आखिर परिवार ही है। उनके होने की निश्चिंतता में आती थी नींद... अब अकेले...।

वह सोच नहीं पा रही थी, अब करे तो क्या...? कि तभी फोन की लाल बत्ती जलती-बुझती दिखी थी सुरजा के तकिया के नीचे। ...खेल खेलते-खेलते सो गया था बच्चा। ...उसको बहलाए रखने को ऊ दे देती है आजकल फोन उसको।...सुरजा के पप्पा का छोटका फ़ोन हर-हमेसा उसके पास होता है।

उसने फोन उठाया था, नंबर देखा था और मन न जाने कइसा हो गया था। मन को मुश्किल से संभार कर देर में बोली थी-'परनाम ठीकेदार साहब। ...

बिमली क्या हुआ कि फोन नहीं उठाती हो...?

नहीं बुझाया सुरजा खेल रहा था फोन से।

आज ही नहीं कल परसों भी, रामपरिखन के नंबर पर भी कॉल किया... उठाते नहीं तुम लोग...।

ऊ सोचने लगी सुरजा जान के नहीं उठाता क्या उनका फोन? बताता भी नहीं उसको?

'रामपरिखन को दो फोन। ...आज उसी के लिए फोन किये हैं। उसके लिए बहुत बड़ा काम मिला है...।'

'ऊ नहीं हैं अब..., ई 'अब' बिमली ने बड़ी मुश्किल से कहा है।

ऊ कहाँ गये हैं, बुला लो जल्दी, उसके फायदे की बात है...।'

और 'अब' मतलब?

'ऊ नहीं आ सकते... आते बखत रस्ते में ही। ...मतलब बुखार हुआ था। अउर...

बिमली न जाने क्या-क्या बोलते हुए सिसक पड़ी थी...।

'तुम बतायी भी नहीं।'

'इतना गैर बना दिया?'

'का बताते?'

'नाराज हो कि भेजने का उपाय नहीं कर पाए कुछ... बहुत कोशिश किये थे... लेकिन...'

देखो उसको जाना था, चला गया... गाड़ी से भी गया होता तब भी... कोई किसी का मौत नहीं रोक सकता... तुम भी नहीं। हम भी नहीं...।

सुनो तुम आ जाओ... काम शुरू हुआ है बहुत बड़ा... और सब तुम्हारे ही जिम्मे है अब।

हम नहीं आ पायेंगे साहब।

क्यों नहीं आ पाओगी...? गाँव में रहके सड़ना है, जिंदगी खराब करनी है अपनी और सुरजा की...?'

भूलो मत कि उसका एडमिशन कितनी मुश्किल से हुआ है, इतने बड़े स्कूल में।

कितना पैसा गया है तुम लोग का... खैर पैसे का उतना कुछ नहीं है, फिर से कमा लोगी...पर वहाँ रुक गयी तो बिगाड़ दोगी उसका जीवन?'

'खराब कर दोगी मेरा इतना मेहनत।'

'मैं कह रहा हूँ न, कोई तकलीफ नहीं होने दूँगा, तुमको और सुरजा को कभी भी...।'

मैं हवाई जहाज की टिकट भेज रहा हूँ, चली आओ कल ही... फोन पर ही टिकट होगा। आधार कार्ड रख लेना बस साथ...।

बिमली के आगे नाच रहा है अकेले घर का अंधकार। ... बिमली के आगे जगमगा रही है दिल्ली की जगमग...।

बिमली को याद आते हैं ससुर, जो कह रहे हैं उससे—'इसको पढ़ाना दुल्हिन, बड़का आदमी बनाना। बाप जैसा नहीं...।'

बिमली को दिखाई दे रहे हैं सुरजा के बाबू, अंतिम बखत के—'घर जरूरे जाना... तुम अउर सुरजा अब ऊँहे रहना, दिल्ली नहीं लौटना।

उसे चिलगोइयाँ करती ननदों का कहा याद आ रहा है, तो विदा के बखत घूरकर बार-बार आती गुड़िया, और दिलासा देते ननदोई भी।

गजब उहापोह में है वो, समझ नहीं आ रहा, सही क्या है और गलत क्या।

फोन की आवाज उसे कहीं बहुत दूर से आती सुनाई दे रही जइसे—'कोई दिक्कत नहीं होगी यहाँ। बस चल दो कल तुम लोग।'

बिमली सोये हुए सुरजा का मुँह निहार रही है, फोन पर लगातार बजती आवाज को अनसुना करके। ...जैसे वहीं लिखा हो सही और गलत का फैसला।

कुछ सोचकर फिर लौटती है फोन तक...।

'चुप क्यों हो इतना। ...हम कह रहे हैं न हम हवाई जहाज का टिकट भेज रहे हैं। आना है अब तुम लोग को।...समझ लो...' आवाज थोड़ी सख्त हो चली है मान-मनुहार करते-करते।

बहुत देर के सन्नाटे भरी चुप्पी को तोड़ती हुयी बिमली बोलती है 'साहब अब आना नहीं हो सकेगा वापस...।'

और कहकर उसने फोन काट दिया है।

कह लेने के बाद भी एक उथल-पुथल है बिमली के मन में... वह सही कर रही है कि गलत?

बार-बार फोन की जलती हुयी बत्ती को कुछ देर अपलक घूरते रहने के बाद उसने उस तरफ देखना महटिया दिया है एकदम से।

संपर्क : डी 4/6, केबीयूएनएल कॉलोनी, पोस्ट-काँटी थर्मल, जिला-मुजफ्फरपुर-843130, मो. : 9599017977

जापान लाइफ @ सच्चाई डॉट कॉम

राकेश मिश्र

निश्चय ही हमारे शहर में तब मार्केट एनालिसिस और सर्वे का जोर नहीं रहा होगा लेकिन हमारे देखते-देखते एक महीने के भीतर शहर के तीनों अखबारों ने अपने सांध्य संस्करण निकाले और तीनों की बिक्री उनके मुख्य संस्करणों पर भारी पड़ने लगी।

वैसे हमारा शहर सुस्त और शांत कभी नहीं था, लेकिन इन सांध्य अखबारों से निकलने से हमें अचानक पता चला कि कितनी उत्तेजना, कितनी गर्मी और कितने हंगामे से लबरेज था हमारा शहर। सुबह के अखबारों में जहाँ हम पहले पन्ने पर राष्ट्रीय स्तर के थके नेताओं को देखकर और सुनकर बोर हो चले थे और यह बोरियत इतनी ज्यादा तारी रहती थी कि अपने शहर की घटनाएँ भी जो तीसरे और पाँचवें पन्नों पर होती थीं, को भी उसी निपटाने के अंदाज में पढ़ते थे, हाँ कभी-कभी हमारे मुहल्ले की भी कोई खबर यदि उसमें आ जाती तो जरूर हम रोमांचित हो जाते और झुंड बनाकर कई दिनों तक उस पर चर्चा करते, लेकिन ये सब सांध्य अखबारों से पहले की बातें थी। हमें अच्छी तरह याद है हमारे मुहल्ले के बी. एन. साही, जिन्हें हम निठल्ला बूढ़ा समझते थे। उनका एक बयान शहर के अखबारों के पहले पन्ने पर छपा था। जब उन्होंने भाजपा के 'सोशल इंजीनरिंग' के खिलाफ जाकर सिटिंग एम. एल. ए. मन्ना पांडेय के पक्ष में पार्टी छोड़ी थी! अखबार की उस खबर के बाद 'साही बाबा' को देखने का हमारा नजरिया ही बदल गया था! पहले जहाँ हम छुपकर ताश खेलते या आपस में ...मजाक करते हुए उनकी उपस्थिति नजर अंदाज कर देते थे अब उनको देखते ही एक अतिरिक्त सम्मान मन में फुरहरी की तरह दौड़ जाता। उस फुरहरी में कुछ-कुछ आश्चर्य और भय का भी भाव होता! शायद इसी फुरहरी के भाव से हमने उस साल साही जी के पोते मन्नू साही को अपनी क्रिकेट टीम का कप्तान भी बनाया था। जबकि वह उसी साल सीवान से अपने गाँव से आया था! हिंदी नहीं बोल पाता था। आदमी को आमदी, और निकलना को इकलना कहता था, और तो और हम लोगों के सामने अपने बी. एन.साही, जिनका बखान

अखबारों के पन्ने पर था से झगड़ भी लेता था' ''ऐ बाबा तू कान खोल के सुन, अबकी जमीन बेचे में तोहार राजनीति न चली। गाँवे कवनो अतल जी आ अडवानी जी काम ना ऐहैं।''

साही बाबा पहले भुनभुनाते फिर धाराप्रवाह हिंदी में शुरू हो जाते बेहूदा, कमीना, शैतान, निर्लज्ज...। और ...जैसे शान से उन गालियों को अपने सर माथे लेता हुआ हम लोगों से मुखातिब होता चलो, इकला जाय! और आमरी खोजा जाय, तब तो खेल होखेगा'!

लेकिन जैसा कि मैंने पहले भी कहा। ये सब सांध्य अखबारों के निकलने के पहले की बातें थीं। इन अखबारों को निकलने के साथ ही हमें हमारा शहर दिल्ली, मुंबई, कोलकाता की तरह रोमांचित करने लगा। इन शहरों के प्रति जो एक गलीज़ भरा आकर्षण था, कैसे इन शहरों में संबंधों की कोई अहमियत नहीं है, कितनी हिंसा, कितना घिनौना यौनाचार है वहाँ, कितने मजेदार सड़ाँध है वहाँ जो अक्सर हम चोरी-चुपके सत्यकथा और मनोहर कहानियाँ पढ़कर जानते थे। इन अखबारों से हमें भी और सारे शहर को भी यह पता चला कि हमारे शहर में तो ऐसे यौनाचारों की भरमार है। ऐसा ही घिनौना, रोमांचकारी और मजेदार है हमारा शहर भी। आश्चर्य था कि इन अखबारों के पहले हमने शहर को इस रूप में कभी नहीं देखा था। जिन मुहल्लों में हमारे यार-दोस्त रहते थे, जहाँ हमारा आना-जाना था। इन अखबारों में इन मुहल्ले में चलनेवाले 'खेल' को प्रमाणिक ब्यौरा आता था। 'सांध्य लौह प्रभात', इस मामले में सबसे आगे था। आगे रहना भी था, क्योंकि ये 'लौह-प्रभात' वाले ही सबसे पहले थे। अपना संध्य संस्करण निकालने में। 'समरेश सिंह' जो पहले अखबार बेचने का धंधा करता था और जिसे अखबार पढ़ने तक का अक्षर ज्ञान नहीं था उसी ने इस शहर से पहला अखबार निकाला था! यह बिडम्बना हास्यास्पद हो सकती थी, लेकिन यह हमारे शहर और समय का यथार्थ था और यथार्थ को स्वीकार किया जाता है उस पर हँसा नहीं जाता। वैसे, क्या यथार्थ और क्या ख्याल, हँसना हमारी जिंदगी में एक निर्रथक क्रिया होती जा रही थी। विस्मय, आश्चर्य और कौतूहल भी लगभग इसी दायरे में थे। एक भयावह सी उदासी, एक अनाम सी छटपटाहट, एक गाढ़ा सा नैराश्य, एक रंगहीन लेकिन खूब ठोस सा भय हमारी रीढ़ की हड्डियों में सरसराता रहता। वैसे कहने को यह हमारे खाने-खेलने की उम्र थी लेकिन हम यह शिद्दत से महसूस कर रहे थे कि यदि कुछ दिन और यूँ ही खेलते रहे तो खाने के लाले पड़ना भी कोई मुहावरा भर नहीं रह जाएगा। हमारे सरों पर तो फिर भी पिताओं के नाम की आड़ थी। लेकिन मन्नू साही का सिर तो कब का नंगा हो चुका था, वह हमारे शहर में अपने बाबा के भरोसे था और चूँकि उसके बाबा नेता थे इसलिये वे खुद ही औरों के भरोसे थे। उसके बाबा पुराने जमाने के मशहूर किस्म के नेता थे, यूनियन में सक्रिय होने के कारण वे कारखाने से निकाले गये थे, तब से उन्होंने कारखाने की नीली ड्रेस छोड़कर ये धोती-कुर्ता पहना था। अब नेताजी के तौर पर यही उनका स्थायी पहनावा था। मुँह अँधेरे ही वे कलफ लगे कुर्ते और शफ़्फ़ाक धोती में घर से निकलते, फिर लौटने का उनका कोई भरोसा नहीं होता। वे क्या करते थे, कहाँ से खाते थे, कहाँ जाते थे, किनके नेता थे, यह दावे से कोई बता नहीं सकता था। लेकिन साही जी के इर्द-गिर्द कुछ अवश्य हाथ थे जिससे उनका निबाह बदस्तूर चल रहा था। वही हाथ मन्नू साही को भी सँभाल लेंगे, इसका कोई दावा साही जी के पास भी नहीं था।

यह बात साही जी से पहले मन्नू को पता थी। इसलिये कब वह हमारी क्रिकेट टीम से अलग हुआ, कब वह इकलने को निकलना बोलने लगा और कब आमदी को आदमी ही उच्चारित करने लगा हमें पता ही नहीं चला। और तो और एक दिन वह जब हमारे सामने था तो आश्चर्य से हमारी आँखें नेशनल हाइवे जितनी फैली थी। वह कोट-पैंट और टाई में

था। कोट पुराना और बदरंग भले ही दिख रहा था लेकिन था तो वह कोट ही और फिर टाई? टाई पहने हुए हमने अपने मुहल्ले में पहली बार ही किसी को देखा था। हम अपने संचित बुद्धि से जानते थे कि बहुत पढ़े-लिखे लोग ही टाई लगाते हैं। हाँ, शादी-विवाह की बात अलग थी जब कोई भी कोट-पैंट पहन सकता था। लेकिन अभी तो हमारी ऐसी कोई उम्र भी नहीं हुई थी।

हमारे पूछने से पहले ही वह हमें बताने लगा था। हम उसके पहनावे के प्रभाव में थे। उसके बताये हुए एक-एक हर्फ को पी जाना चाहते थे, लेकिन सच तो यह था कि हमारे पल्ले कुछ पड़ नहीं रहा था। वह हमें समरेश सिंह के बारे में बता रहा था। वही समरेश सिंह जो एक अखबार का मालिक था और अखबार पढ़ना तक नहीं जानता था। उसका कहना था कि ये अखबार वगैरह तो उसके दिखाने के दाँत हैं, समरेश सिंह का असली बिजनेस कुछ और है। इतना तो हम भी समझते ही थे कि एक बे पढ़े लिखे धनवान आदमी के ठेका-परमिट, हफ्ता वसूली, रंगदारी जैसे कई धंधे तो रहे ही होंगे। लेकिन मन्नू साही हमें बिल्कुल ही नये और अनोखे धंधे के बारे में बता रहा था। उसके अनुसार समरेश सिंह ने 'जापान-लाइफ' नाम की किसी कंपनी का ठेका शहर में लिया है। यह कंपनी एक जादुई रजाई बनाती है। जापान के किसी अनाम से प्रदेश में पाये जाने वाले किसी पक्षी के पंख के रेशों से इस रजाई का निर्माण होता है। यह कोई ऐसा वैसा पक्षी नहीं है, बल्कि हजार जादुई ताकतों वाला पक्षी है। उसके पंख में असंख्य गुण हैं। उस रजाई को ओढ़ने वाला कभी बीमार नहीं पड़ सकता। जिसे गठिया, जोड़ों का दर्द और पीठ-कमर दर्द की समस्या हो, वह इसे ओढ़ते ही छू-मंतर। और तो और, यदि इसे लगातार ओढ़ा जाय तो पोलियो, फालिज़ और लकवा जैसे केस भी ठीक हो सकते हैं।

ये बीमारियाँ हमारे लिये नहीं थीं इसलिये हम रजाई को लेकर ज्यादा उत्सुक नहीं हो पा रहे थे, तब उसने सिरों को जोड़कर फुसफुसाने वाले अंदाज में रहस्योद्घाटन करते हुए कहा कि ये सब बिमारियाँ तो प्रचार के लिये हैं, रजाई की असली ताकत तो कुछ और ही है। उस असली ताकत को सुनकर हमारे लब सुर्ख हो उठे, शर्म से हमारे चेहरे लाल हो गये। सांध्य अखबारों ने स्वच्छंद यौनाचारों की और स्वैर कल्पनाओं का जो संसार रचा था, उस संसार में यह रजाई बहुत उपयोगी और अनिवार्य साबित होने वाली थी। हम एक बार उस रजाई को छूने के लिये मचल उठे। उस रजाई को ओढ़ने की कल्पना मात्र से हमारे संचित अरमान बाँध तोड़ने की हद तक हिलोरें मारने लगे थे।

लेकिन रजाई कहाँ है? और यदि समरेश सिंह रजाई बेच रहा है तो मन्नू साही कोट-पैंट पहनकर उसके बारे में हमें क्यों बता रहा है? यही तो असली बात है। मन्नू साही अपने होठों को थोड़ा तिरछा कर हमें फुल सस्पेंस में डालते हुए मुस्कुराया।

उसकी मुस्कुराहट में उसके नये प्राप्त ज्ञान का आलोक और हमारी अज्ञानता का उपहास था। हम इसी शहर में पैदा होकर, चल-बढ़कर घोंचू रह गये थे और वह चढ़ती उमर में सीवान से यहाँ आकर हमें मुक्ति का मार्ग बता रहा था। यह रजाई किसी बाजार में नहीं बिक रही थी। इसे प्राप्त करने के लिए किसी खास तरह की क्रिया-प्रक्रिया से गुजरना था।

उस क्रिया-प्रक्रिया को मन्नू साही 'मल्टी लेवल मार्केटिंग' कह रहा था। इस भारी भरकम शब्द को समझना किसी ऐय्यारी से भरे महल में घुसने जैसा था। इसमें एक आदमी को रजाई खरीदकर उस व्यवस्था का अंग बनना था। फिर वह किसी दूसरे को रजाई खरीदने के लिये प्रोत्साहित करेगा। यदि दूसरे ने वह रजाई खरीद ली तो पहले को रजाई की कीमत का पच्चीस

प्रतिशत लाभांश मिलना था। दूसरा, फिर तीसरे को खरीदने के लिये प्रेरित करेगा। तीसरे ने यदि वह रजाई खरीद ली तो दूसरे को पच्चीस प्रतिशत और पहले को भी पंद्रह प्रतिशत वापस मिलना था। इस तरह लाभार्थियों की एक पूरी श्रृंखला बनानी थी, जिसमें मन्नू साही के अनुसार हरेक के हिस्से दो-तीन महीनों में ढाई से तीन लाख रुपये आ जाने थे। इतनी रकम तो हमारे बाप ने समूची जिंदगी बिताने के बाद भी नहीं सोची थी। यदि यह सच होने वाला था तो हम सब एक बड़ी वर्गीय छलांग लगाने वाले थे। ऐसी छलाँग! जिसका जिक्र आज तक इतिहास की किताबों में नहीं मिलता।

मनुष्य के भाग्य बदलने की बात इतिहास की किताबों में नहीं उसके हाथ की लकीरों में रहती है। मन्नू साही अपने वजन और औकात से ज्यादा भारी बात बोल रहा था। लेकिन 'अनैतिहासिक छलाँग' लगाने के लिये जितनी रकम की जरूरत मन्नू ने बताई हमारी उड़ानें वहीं रुक गईं। छलाँग लगाने को उद्धत हमारे पैर वहीं जम गये। इस पूरी व्यवस्था में घुसने की कीमत कम से कम एक लाख थी। इतनी बड़ी रकम का जिक्र भी अपने घरों में हमने शायद ही कभी सुना था। हमारी जिंदगी का सपना ही 'लखपति' बनने का था, यहाँ तो शुरुआत ही लाख रुपये से करनी थी। ना नौ मन तेल होना था और न ही राधा और न ही किसी और को भी नाचना था। हम अब मन्नू साही से इस पर कुछ और नहीं सुनना चाहते थे। जिस रास्ते जाना नहीं, क्यों उसका पता पूछकर अपना और दूसरों का भी समय बर्बाद किया जाय।

हमारा तो फिर भी ठीक था, हम तो इस परिकथा को सुनने वाले थे, खुद मन्नू साही जो हमें यह स्कीम समझा रहा था, उसका क्या? सुबह खाने के बाद जिसका शाम को ठिकाना न हो जो अपने बाबा के पुण्य-प्रताप के भरोसे इस बीहड़ शहर में अपने जिंदा होने का सबूत ढूँढता फिर रहा हो, वह कहाँ से लाएगा इतनी बड़ी जादुई रकम?

लेकिन हमारे सवालों और उलहानों में ही मन्नू साही का जवाब छुपा था। उसके ये एक लाख रुपये उसके बाबा से ही आने थे।

लेकिन, उसके बाबा 'साही जी' भले ही बड़े आदमी हों, नेता हों, हमारे शहर से निकलने वाले अखबार में मुख्य पृष्ठ पर उनका नाम छपता हो, लेकिन वे लाख रुपये के आदमी होंगे और यदि हों भी तो वे मन्नू साही को लाख रुपये दे देंगे इस बात पर संदेह करने का पर्याप्त आधार था हमारे पास।

हमारे संदेहों पर मन्नू साही ने कड़वा सा मुँह बनाया, लेकिन उसने हमें यह संकल्प की तरह सुनाया कि लाख रुपया तो वह अपने बाबा की लाश से भी वसूल करके रहेगा। जिंदगी हजार नेमतों के साथ बाहें पसारे खड़ी है और यदि बाबा ने इस बार कोई नेतागिरी दिखाई तो वह कुछ खेल कर गुजरेगा।

हम उसके हौसले, हिम्मत और संकल्प की सराहना करते हुए घर आये। काश! हम भी इतने हिम्मती होते अपने बाप का गिरेबान पकड़कर पूछ सकते कि अभी तक उन्होंने हमारे लिये क्या किया है? और यदि अभी तक कुछ नहीं किया है तो अभी एक मौका है, तो वे कुछ कर गुजरने की क्यों नहीं सोच रहे? लेकिन हमारे हौसले हमारे भीतर ही 'एसीडिटी' बनकर घुमड़ते रहे! अपने पिताओं में वीतराग चेहरे और लगभग बुझी-बुझी आँखों से न जाने हमें कौन-सा भय लगता था कि हमारी रीढ़ सुरसुराने लगती। हर रोज रातभर अपनी कल्पनाओं में अपने पिताओं से इस स्कीम की चर्चा करते, लाख रुपये जुटाने की जिद करते और सुबह उनको देखते ही हमारी जुबानों को लकवा मार जाता।

इसके उलट, मन्नू साही की बातें सुनकर उसके बाबा को लकवा मारा जा रहा था। लाख रुपये पाने का उसका सीधा सा गणित था। गाँव की जमीन बेचने के लिये बाबा को राजी करना! बाबा चाहे जितना बाप, दादा, पुरखे, खानदान, इज्जत की दुहाई दें, मन्नू साही का खूँटा वहीं गड़ा था। हमारा पूरा मुहल्ला इस नये इंटरनेटमेंट से रोमांच में था। सुबह होते ही मन्नू साही का ड्रामा शुरु हो जाता और देर रात तक बाबा गालियाँ उच्चारित करते रहते—कमीना...निर्लज्ज...बेहूदा...लेकिन बाबा की इन गालियों पर मन्नू साही का संकल्प भारी पड़ा। वो एक बात जो हमारी कल्पना तक में नहीं आ सकती थी, मन्नू साही ने उसे अपने लिए हकीकत में बदल लिया था। बाबा गाँव जाकर जमीन बेच आये और मरते-झींकते इस बात पर भी राजी थे कि वे जमीन के बेचे हुए पैसे मन्नू साही के 'जापान-लाइफ' में इन्वेस्ट कर देंगे। मन्नू इसे बाबा की जिंदगी का सबसे सही फैसला बता रहा था। बाबा के लिये, उन्होंने जीते जी अपना श्राद्ध कर लिया था। अपना भी, अपने पुरखों का भी और मन्नू साही समेत अपनी अगली पीढ़ियों का भी।

हमारी भूमिकाएँ समाप्त हो चली थीं। अब क्या था? मन्नू साही अब हमारे जैसों को क्यों मुँह लगाएगा? दो ढाई लाख रुपया महीना कमाने वाला था मन्नू साही। अब तो घर-घर में उसकी सफलता के गीत गाए जाएँगे। उसका जयकारा लगेगा। हमारी जिंदगी में हमेशा के लिये, एक उफ़, एक क़ाश को शामिल हो जाना था। हम सहमते सकुचाते और लगभग मायूस से मन्नू साही के दरवाजे पर थे। परंतु वाह रे मन्नू! उसने एक झटके में हमारी उदासी और लाचारी को धो डाला। कहाँ तो हम उसकी सफलता के नेपथ्य में भी खुद को खड़े पा रहे थे, और यहाँ वह हमें अपने साथ लेकर चलने की बात कर रहा था। लेकिन हम इसके लायक कहाँ? कहाँ थे हमारे पास लाख रुपये? लाख तो दूर, हजार या सौ भी कहाँ थे हमारे पास? लेकिन मन्नू हमारी हताशा से बेपरवाह था। उसके पास हमारी उपयोगिता के कई 'आइडियाज' थे। उसका मानना था कि 'जापान लाइफ' में उसकी इंट्री के बाद हम लोगों की जबरदस्त जरूरत पड़ने वाली थी। यह ठीक है कि उसका बिजनेस भावी लखपतियों से ही बढ़ना था। लेकिन लखपतियों तक पहुँचने के लिये पचास शोशों और दिखावे की जरूरत होती है। एक वास्तविक ग्राहम तक पहुँचने के लिये, उसके मन में अपने प्रोडक्ट के लिये भरोसा जगाने में नई 'डमी' किस्म के कस्टमरों से अपने आपको घिराये रखना जरूरी था। हम उसकी योजना में वही 'डमी' कस्टमर थे। हम अभी खेल से बाहर नहीं थे। हमारा भी कुछ उपयोग था, डमी ही सही लेकिन हम 'जापान लाइफ' के खेल का भाग इसकी खुशी हमें जमीन पर अपने पैर नहीं टिकने दे रही थी। वह अपनी इस नई भूमिका में आने को बेताब और बेचैन थे।

आखिर वह दिन आ ही गया। जब मन्नू साही को अपने बाबा के साथ 'जापान-लाइफ' के आलीशान दफ्तर में जाकर लाख रुपये जमा कर 'डायरेक्ट डिस्ट्रीब्यूटर' का पद हासिल करना था। 'पोटेंशियल कस्टमर' के नाते हमें भी अपने हिसाब से तैयार होकर उसके साथ चलना था। उसने हममें से तीन को इस महत्वपूर्ण आयोजन में चलने के काबिल माना। इस चयन में हमारी बुद्धि या मेधा का कोई योगदान नहीं था। योगदान था हमारे कपड़ों का। चुने गये हम तीनों के पास कुछ बेहतर और ढंग के कपड़े थे। जिन्हें पहनकर हमें मन्नू साही के इर्द-गिर्द रहना था।

बाबा बुझे मन से और हम हुलसते हुए 'जापान लाइफ' के चकाचौंध कर देने वाले दफ्तर के सामने थे। गेट पर ही हमें रोक लिया गया। मन्नू का सेंटर मतलब लाख रुपये जमा करने पर मन्नू जिसमें चेन का हिस्सा बनने वाला था, वह तत्काल वहाँ जिन्न की तरह हाजिर हुआ।

उस अहाते में घुसने के नियम बहुत कड़े थे। बिना टाई के वहाँ प्रवेश मिल ही नहीं सकता था। उस सेटर ने हम लोगों पर एक उचटती दृष्टि डाली, और मन्नू को अलग से ले जाकर कुछ समझाने लगा। मन्नू ने मायूसी से हम लोगों से क्षमा माँगी। सिर्फ बाबा और मन्नू ही अंदर जा सकते थे। मन्नू ने सेटर को समझाया भी कि ये लोग भी भविष्य में अपने बाप-दादाओं को लेकर आने वाले हैं, लेकिन सेटर ने काफी विवशता जाहिर की कि उसने दो ही टाई का इंतजाम किया है। इसलिये सिर्फ बाबा और मन्नू ही अंदर जा पाएगे। हम घोर मायूस थे, लेकिन मन्नू को बेहतर भविष्य का हौसला दे रहे थे। उस सेटर ने अपनी जेब से दो टाई निकाल कर मन्नू की ओर बढ़ाये! टाई गले में डालकर मन्नू अकबकाया सा बाबा को देख रहा था। बाबा धोती-कुर्ता पहने हुए थे। धोती-कुर्ता पर टाई! उसने लाचार निगाहों से अपने सेटर को देखा, सेटर ने दुगनी लाचारगी से कंधे झुका दिये। यही नियम है, बिना टाई के इंट्री मिलेगी नहीं; एक बार अंदर घुस जाएँ तो निकाल सकते हैं। बाबा कुछ समझ नहीं पा रहे थे। जब मन्नू ने उनके गले में टाई डाली तो वे हकबकाये से टाई को खींचने लगे। साला...कमीना ...बेहूदा...आदतन उनके मुँह से गालियाँ निकलीं, लेकिन ये गालियाँ कराह की तरह थीं। उसकी कातरता से मन्नू भी जैसे कुछ हिल गया। वह लगभग गिड़गिड़ा उठा—हे बाबा! षट्करम के बात बा। हाथ से छुपाए रखीं! केवल केहू पूछे तऽ देखावे के बा। अब हिंयाँ तक आ गएल बानी त...। गिड़गिड़ाने में उसके मुँह से साफ भोजपुरी निकल रही थी। हम गेट पर ही खड़े रहे। बाबा की किसी तरह समझाते हुए मन्नू अंदर गया! हम काफी देर तक खड़े रहे। फिर मन ही मन उस सेटर और मन्नू को गालियाँ देते हुए लौट आये।

लेकिन शाम होते-होते हमारी उत्कंठा हमारी नाराजगी पर भारी पड़ने लगी। हम फिर से मन्नू साही के दरवाजे पर थे। अंदर बैठक में बाबा अपने गले पर हाथ रखे बैठे थे। जैसे वो अपने हाथों से कोई चीज छुपा रहे हों। बैठक में ही एक आकर्षक पैकिंग में हमारी कामनाओं, हमारी आकांक्षाओं और तमाम तरह की कल्पनाओं का जिंदा आमंत्रण भी मौजूद था—वह रजाई जापान लाइफ की रजाई। हम जल्द-से-जल्द उसे देखना चाहते थे, उसे छूना चाहते थे, उसके भीतर के पंखों को सहलाना चाहते थे और यदि संभव हो तो उसे एक बार ओढ़ना भी चाह रहे थे। लेकिन मन्नू वहाँ था नहीं और बाबा जिस तरीके से एक हाथ माथे पर और दूसरा अपने गले को सहलाते हुए बैठे थे कि वह रजाई किसी कफन या ताबूत में लिपटी कोई हसीना लग रही थी। हम वहाँ से उठने ही वाले थे कि मन्नू वहाँ आ गया, उसके साथ वो सेटर भी था। हसरतों को भाँपते हुए मन्नू ने हम लोगों को बाहर चलने का इशारा किया। हम मायूस से बाहर निकले तो मन्नू ने बताया कि 'जापान लाइफ' के ऑफिस से लौटने के बाद बाबा को जैसे 'भक्क' मार गया है। अभी रजाई को खोलना ठीक नहीं। दो-चार दिन में बाबा नार्मल हो जाएँगे तब...। हम और मायूस हो गये। बाबा की स्थिति को देखकर तो लग रहा था कि वो अब कभी नार्मल नहीं हो पाएँगे। इतनी देर से हम खड़े थे और मन्नू को लेकर उनके मुँह से कोई गाली नहीं निकली थी। पैकिंग न खोलने को लेकर सेटर का तर्क दूसरा था। उसका मानना था कि जब तक मन्नू साही को कोई पार्टनर न मिल जाये। मतलब, जब तक वह किसी को अपने मार्केटिंग चेन में शामिल न कर ले। तब तक पैकिंग खोलना ठीक नहीं। अब इतनी जल्दी तो मुर्गा फँसने से रहा। हमारी मायूसी बढ़ती ही जा रही थी। हम दिल से चाह रहे थे कि मन्नू साही को जल्द-से-जल्द कोई ग्राहक मिल जाये। हम रोज तैयार होकर मन्नू साही के साथ-साथ घूमने लगे। उसके पोटेंशियल लेकिन डमी ग्राहक बनकर। एक लाख की चीज सड़क पर तो बेची नहीं जा सकती थी। हमारी तफरीह के अड्डे भी रातों रात बदल

गये थे। सेटर की सलाह के मुताबिक मन्नू अपने संभावित ग्राहकों को कभी बीयर बॉर तो अभी किसी महँगे रेस्टॉरेंट में बुलाता। हम भी शामिल बाजा की तरह साथ होते, कई बार बीयर के हल्के सुरूर में लगता कि मुर्गा अब फँसा तब फँसा। लेकिन अंतिम डील होने तक बात हाथ से फिसल जाती। सेटर लगातार हमारी गतिविधियों पर नज़र रखे था। वह धीरे-धीरे मन्नू का ही नहीं। हमारा भी मेंटर होता जा रहा था। कैसे बोलता है, कब बोलता है, कैसे पीना है, कैसे खाना है, चेहरे की भंगिमा कैसे रखनी है, क्या पहनना है, जैसे दर्जनों टिप्स उसके पास थे। जिससे हम लगातार टिप-टॉप होते जा रहे थे, लेकिन मन्नू साही के बैठक में रखी उस पैकिंग के खुलने का कोई मुहूर्त नहीं आ रहा था। धीरे-धीरे हम इस नाटक के अभ्यस्त होते जा रहे थे। बल्कि इस तरह हमारा अनुभव बढ़ने का दायरा हमें मजा आने लगा था। 'जापान लाइफ' की उस रजाई की कल्पना की जगह हकीकत के हमारे शोशों और सुरूर ने ले ली थी। हम डरने भी लगे थे कि कहीं यदि मन्नू साही को असली ग्राहक मिलने लगे तो कहीं हमें इस नाटक से बेदखल न कर दिया जाय। पंद्रह-बीस दिनों में ही यह झूठी दुनिया हमें इतनी आकर्षक, इतनी सच्ची और मोहक लगने लगी थी कि इससे निकलने की कल्पना, स्वर्ग से धक्का देने के ख्याल जितनी डरावनी लगती। हम किसी भी तरह इस नाटक में ही रमें रहना चाहते थे। लेकिन अंत तो हरेक नाटक का होता है; हमारा भी होना था। अंततः मन्नू साही को उसका एक पोटेंशियल, एक वास्तविक पोटेंशियल ग्राहक मिल ही गया।

हमारे बगल के छोटे शहर चकुलिया का एक चावल व्यवसायी था जिसकी इकलौती बेटी पोलियोग्रस्त थी। यह सेटिंग भी उसी सेटर ने कराई थी। हम सब भी मन्नू के साथ डील लॉक करने चकुलिया गये थे। हमारे वहाँ पहुँचने से पहले ही 'जापान लाइफ' की खूबियों के किस्से वहाँ मौजूद थे। उस व्यवसायी ने हमारा ऐसे स्वागत किया जैसे हम उसे रजाई बेचकर उस पर कोई अहसान कर रहे हों। उसकी लड़की को देखकर तो कलेजा मुँह को आ रहा था। इतनी सुंदर, इतनी गोरी लड़की हमने जीवन में कम ही देखी थी। ईश्वर भी कैसे विधान रचता है। यदि वह बैठी रहे तो कोई भी राजा-राजकुमार उस पर अपना दिल हार सकता था, लेकिन हा हंत, उसके चलने से कैसी लाचारगी और दया का भाव टपकता था। उसके बाप का वैभव देखकर लगता था कि उसने क्या कुछ कोशिश नहीं की होगी अपनी बेटी के लिये। अब पर 'जापान लाइफ' की रजाई जैसे उसकी उम्मीद थी, बुझती लौ को तेल की आखिरी बूँद थी। उस टिमटिमाती हुई उम्मीद की रौशनी में बेचारी उस लड़की का चेहरा दिप-दिप कर रहा था। भैया! क्या मैं सच में ठीक हो सकती हूँ? सच में भैया क्या मैं अपने पैरों पर चल सकूँगी? उत्साह, आश्चर्य और उत्तेजना में लरजते हुए जब वह लड़की मन्नू से, हमसे सवाल कर रही थी। तो अचानक हमने महसूस किया कि हमारे जुबान हमारे तालू से चिपक गये हैं। 'जापान लाइफ' की तमाम खूबियाँ हमें जुबानी याद थीं और उसके बाप के सामने हम कई बार इसका बखान भी कर चुके थे, लेकिन उस लड़की की आवाज की लरजिश हमारे भरोसे को डिगा दे रही थी। हम उससे नजरें चुराते हुए जल्द-से-जल्द वहाँ से निकलना चाह रहे थे। हमारा सेटर इन मामलों से बेपरवाह था, वह लगातार लड़की को, उसकी माँ को, उसके बाप को भरोसा दे रहा था कि एक बार यह बच्ची 'जापान लाइफ' ओढ़ना शुरू करेगी तो साल-दो-साल में ही यह अपने पैरों पर दौड़ने लगेगी। दरअसल उस रजाई में जिस पक्षी के पंख का इस्तेमाल होता है उसमें चुंबकीय गुण होते हैं। हमारे खून का आयरन उस चुंबक के कारण ज्यादा गतिशील ...सेटर के भाषण से हमारे ही कान जलने लगे थे, यह सब तो हम पहले भी कई बार कई लोगों को सुना चुके थे, लेकिन आज, आज यह सब सुनना भी अच्छा नहीं लग रहा था।

तय हुआ कि पहले मन्नू अपनी रजाई उस व्यवसायी को दे देगा, यदि पंद्रह दिनों में उसे कुछ अच्छा महसूस हुआ तो 'डील' फाइनल कर ली जाएगी। सेटर हमारे प्रस्ताव से खुश नहीं था। वह कम से कम पचास नहीं तो पच्चीस ही सही पेशगी के तौर पर लेना चाह रहा था। लड़की का बाप भी इस पर खुशी-खुशी तैयार था। लेकिन पता नहीं क्यों, मन्नू इस पर एकदम राजी नहीं हो पा रहा था।

वापसी के रास्ते हम चुप ही थे। सेटर हम पर बुरी तरह झल्ला रहा था। हमें भी कुछ-कुछ कचोट रहा था। आखिर हम बिजनेस करने यहाँ आये थे। बिजनेस में यदि इस तरह सेंटिमेंट आड़े आता रहा तो दो-ढाई लाख रुपये महीने की योजना का क्या होगा? यह पहली ही डील थी और हम इस तरह कमजोर पड़े!

हमें लोकल ट्रेन से लौटना था। ट्रेन आने तक मन्नू साही गुम-सुम ही था! सेटर के बहुत चिढ़ने पर उसने केवल इतना पूछा कि वाकई क्या 'जापान लाइफ' से उस लड़की को कोई फायदा होगा? सेटर अब हत्थे से उखड़ गया!'...तुमको क्या लेना है उसके फायदे-नुकसान से? साले जब अगला राजी है तो तुम क्यों हरिश्चंद्र की औलाद बन रहे हो? यह तो एक रजाई है। ऐसे कई रजाई बेचने हैं हमें...।

मन्नू ने कोई जवाब नहीं दिया। हम चुपचाप ट्रेन में बैठ गये। डिब्बे में खूब गहमा-गहमी थी। चाय-गरम, चिनिया बादाम, झालमुड़ी का शोर था। हम भी जुगाड़ जमाकर धीरे-धीरे 'एडजस्ट' हो गये। अपने अंदर की ठंडी चुप्पी तोड़ने के लिए हम 'गरम चाय' पी रहे थे। धीरे-धीरे मन्नू भी सामान्य हो रहा था। हम मना कहाँ किये हैं, रजाई बेचने को। हफ्ता-पंद्रह दिन की बात है...फिर तो...वह जैसे खुद को आश्वस्ति दे रहा था। तभी डब्बे में एक सुरीली तान ने जैसे हम सब को खींच लिया...'नाच मेरी बुलबुल कि पैसा मिलेगा...।

एक दस बारह साल का लड़का था जो खँजड़ी जैसी कोई चीज बजाकर लोगों का ध्यान खींच रहा था। उसके साथ कोई सात-आठ साल की उसकी बहन थी। जो अपनी कमर हिला कर लोगों से रुपये-दो-रुपये की उम्मीद कर रही थी।

हम सब उसकी कलाकारी में अपने भीतर के शोर को भूलने की कोशिश में लग गये। तभी हमारे सामने की सीट पर उसी लड़के की उमर का एक बच्चा अपने पिता से पूछने लगा—पापा यह बुलबुल क्या होती है? वह कैसे नाचती है?

उस बच्चे का बाप एक संजीदा-सा पढ़ा-लिखा शख्स मालूम हो रहा था। उसने अपने बच्चे को प्यार से समझाया—बेटा, बुलबुल एक चिड़िया होती है, वह नाचती नहीं गाती है।

बच्चे को शायद संतोष नहीं हुआ! वह असमंजस में उस लड़के को गाते देखता। कभी अपने पापा को। हम भी उस लड़के को भूलकर इस बच्चे में और उसके बाप में दिलचस्पी लेने लगे। उसके पापा ने अपने थैले से एक किताब निकाली। वह एक रंगीन जानकारियों वाली किताब थी। उस किताब का कोई पन्ना खोलकर उस शख्स ने बच्चे को यकीन दिलाया कि बुलबुल गाने वाली चिड़िया होती है नाचने वाली नहीं? बच्चा जानकारी से संतुष्ट हो गया। सच जानने का संतोष उसके चेहरे से साफ टपक रहा था।

उधर वह लड़का अपना गाना खत्म कर लोगों से बख्शीश माँग रहा था। माँगता हुआ जब वह हमारे पास आया तो अचानक अब बच्चे ने लड़के का हाथ पकड़ लिया। तुम गलत गा रहे थे, बुलबुल नाचती नहीं गाती है—यह देखो इस किताब में भी लिखा है, बच्चा उस लड़के को किताब खोलकर दिखाने लगा। लड़का भी दिलचस्पी से उस किताब को उलट-पुलट कर देखने लगा। अचानक लड़का जैसे किसी निश्चय पर पहुँचता सा दिखा। उसने उस बच्चे

से हाथ मिलाया थैंक यू दोस्त? मुझे सच्चाई बताने के लिये। बुलबुल सचमुच गाती ही है, नाचती नहीं।

वह वापस घूम-घूम कर डिब्बे में उन लोगों को पैसे लोटाने लगा जिससे उसने अभी-अभी अपनी कलाकारी के एवज में माँगे थे। लोग इस नये मनोरंजन से हैरत और कौतुक में थे। तभी एक छोटे से स्टेशन पर ट्रेन रुक गई। कुछ और लोग डिब्बे में चढ़े और अब जो चली तो लड़के ने फिर से गाना शुरू किया...

गाऽ मेरी बुलबुल कि पैसा मिलेगा...

उसका सुर नहीं बैठ रहा था, उसकी बहन भी उसकी इस नई ताल से अपने ...को एडजस्ट नहीं कर पा रही थी। लेकिन लड़के की आवाज में गज़ब की खनक थी। 'गाऽ मेरी बुलबुल कि पैसा मिलेगा...

—अबे क्या गा रहा है! ठीक से गा। नाच मेरी बुलबुल कि... किसी नये मुसाफिर ने उसे ठीक करना चाहा। लड़के ने उसकी तरफ दया के भाव से देखा—अपना नॉलेज ठीक करो साहेब : बुलबुल नाचती नहीं गाती है...क्यों दोस्त? इसे भी तुम किताब दिखा दो, उसने अपने नये दोस्त, उस बच्चे की ओर मुस्कुराते हुए कहा। 'लो, तुम ही दिखा दो' और यह किताब भी तुम रख लो। वह बच्चा इस बावत अपने पिता से इजाजत ले चुका था। लड़का फिर से किताब खोलकर उस मुसाफिर को दिखाने लगा—साहब सच्चाई जानो, झूठ गाकर पैसा नहीं कमाना है हमको...'गाऽ मेरी बुलबुलऽऽ...उसने फिर से आलाप लिया और रुपये-दो-रुपये की आस में लोगों को निहारने लगा। अचानक हमने महसूस किया कि कोई हमारे कंधे लगकर बेतरह और बेजार तरीके से हिचक रहा था। हम बिना मुड़े भी जान सकते थे कि यह हमारा दोस्त मन्नू साही ही है। डिब्बे के सभी लोग अचानक एक जवान-जहीन लड़के की इस तरह फूट-फूट कर रोते देखकर हैरत में थे; वे उसकी भाषा समझने की कोशिश भी कर रहे थे। जो उसकी हिचकियों के बीच से निकल रही थी—'आमदी के सच्चाई से जिये के चाहीं...ई लड़का झूठ बोल के रुपया-दो-रुपया नइखे चाहत और हमनी केऽऽ...

हम समझ रहे थे कि, वह जो कहना चाह रहा है उसे इस डब्बे में तो कोई नहीं ही समझ रहा होगा।

संपर्क : महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, गाँधी हिल्स, मानस मंदिर पोस्ट, वर्धा-442005 (महा.), मो. : 9970251140

तीन एकालाप

मनोज कुमार पांडेय

- **उमस भरी जुलाई में एक इलाहाबादी डाकिया**
- **सपनों वाला घर और मेरा झोला**
- **क्या पता बच ही जाऊँ**

1. उमस भरी जुलाई में एक इलाहाबादी डाकिया

आप इस कमरे को देखिए। छत से टपकते हुए पानी की टप-टप आवाज सुनिए। यह आवाज मेरे कानों में कुछ इस कदर रच बस गई है कि मौसम कोई भी हो पर यह टप-टप की आवाज मेरे कानों में हमेशा गिरती रहती है। लोग मुझ पर हँसते हैं पर मेरे ऊपर का यह छाता बारहों महीने टँगा रहता है। मुझे इसकी कोरों से टपकता हुआ पानी दिखाई देता है।

यह पानी इस कमरे की सभी जीवित या मृत चीजों में जज्ब होता रहता है। उमस बढ़ती रहती है। मेरी साँसों में भी इस कमरे जैसी ही उमस है। कागज खाने वाले कीड़े हैं जो धीरे-धीरे मुझे कुतर रहे हैं। सदियों से जमा धूल-मिट्टी है जो परत दर परत मेरा हिस्सा बनती जा रही है। दीमक हैं जिन्होंने घर ही बना लिया है मेरे भीतर। क्या आपने दीमकों का कोई चलता-फिरता घर देखा है?

मैं सपने में अक्सर उड़ती हुई चिट्ठियाँ देखता हूँ। वे जादुई ढंग से लहराते हुए हवा में खुलती हैं और कई बार अपने लिखने वालों में बदल जाती है। तब मुझे उनकी तरह तरह की आँखें दिखाई पड़ती हैं। मैंने इन्हीं चिट्ठियों में दुनिया भर की आँखें देख रखी हैं। उनकी गहराई, उनके भीतर के सपने या उदासी, भरोसा या मशीनी सांत्वना, उनकी कोरों पर अटके हुए आँसू, सूखे हुए कीचड़... सब कुछ मैंने इतनी बार और इतनी तरह से देखा है कि अब बेजार हो गया हूँ। मेरे भीतर की आग बुझ गई है। उसकी राख मेरी ही पलकों पर गिरती रहती है।

पता नहीं उन चिट्ठियों को पढ़ने वालों के भीतर कुछ बदलता या नहीं पर उनकी आँखों का टपकता हुआ लहू कई बार मेरी आँखों में टपक जाता और कई कई रातों के लिए नींद एक सपना बन जाती। मेरी पत्नी को लगता था कि मैं सनक रहा हूँ धीरे-धीरे। कि किसी खत में डाल कर मेरे ऊपर कोई भूत-वूत कर दिया है किसी ने। उसे कौन बताए कि कोई भूत-वूत नहीं होते कहीं। धीरे-धीरे हमीं भूत बनते जाते हैं। हर कोई हमसे, हमारी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाना चाहता है।

जाने दीजिए मैं भी क्या बात ले बैठा। वैसे भूतों के भी बहुत सारे किस्से हैं मेरे पास ...पर उनकी बातें फिर कभी। आप देख सकते हैं कि मैं कितना व्यस्त हूँ। आप से बेहतर यह बात चाँदी के वे कीड़े जानते हैं जो इस उमस को तार तार करने की कोशिश में चिट्ठियों के बीच बहुत सारे सूराख बना देते हैं कि उनके भीतर तक हवा जा सके। इससे चिट्ठियों की उमर बढ़ जाती है और उन्हें साँस लेने में कोई कठिनाई नहीं आती।

मुश्किल यह है कि लोग इस तरह से नहीं सोचते। लोग सोचते हैं कि ये खूबसूरत कीड़े चिट्ठियों और उसमें लिखी बातों को कुतर डालते हैं पर यह बात का सिर्फ एक पहलू है। दूसरा पहलू यह है चिट्ठियों से कुछ शब्द भर गायब होते हैं। इस बात से चिट्ठियों में नए नए अर्थ पैदा होने की संभावना बढ़ जाती है। खाली जगहों में पढ़ने वाला अपनी समझ और भावनाओं के अनुरूप कोई और शब्द भर सकता है। इससे चिट्ठियाँ कविताओं में बदल जाती है।

जी हाँ, यहाँ कई साहित्यिक पत्रिकाएँ आती हैं। मुहल्ले में कई लेखक रहते हैं। पहले एक बुजुर्ग लेखक भी रहते थे। उनकी आँखों पर मोटा चश्मा चढ़ा हुआ था। इस बुढ़ापे में भी उन्हें कितना पढ़ना पड़ता है यह सोचकर मैं उनकी कई पत्रिकाएँ चुपचाप अपने पास रख लेता था। अब रखता था तो पलट भी लेता था कभी कभी। नतीजा यह निकला कि जल्दी ही मैं भी कविताएँ लिखने लगा।

मैं अंतरदेशीय या पोस्टकार्ड पर सीधे कविताएँ लिखता और संपादकों के पास भेज देता। जब मेरी कविताओं में किसी संपादक ने कोई रुचि नहीं दिखाई तो मैंने संपादक के नाम गाली वाली एक कविता लिखी और एक बड़े संपादक के पास भेज दी। इसे पाठकों के पत्र वाले कालम में जगह मिली। इस बात से मुझे न सिर्फ इन पत्रिकाओं से बल्कि कविताओं से भी वितृष्णा हो गई। मैंने कविताएँ लिखना बंद कर दिया और इसी के साथ कविताएँ पढ़ने से भी मेरी रुचि जाती रही।

इसके पहले मेरे पास ऐसी चिट्ठियों का एक बड़ा बंडल था जिनके पते खो गए थे। या वे मुझे इतनी रोचक लगी थीं कि मैंने ही जान-बूझ कर उनके पतों पर पानी गिर जाने दिया था। जब भी मैं अपने काम से थक जाता या बोर हो जाता तो ऐसी ही कोई चिट्ठी खोलकर पढ़ना शुरू कर देता। यह ऐसा समय होता जब मैं पूरी तरह से अपने साथ होता और उनके साथ भी जिनकी लिखी चिट्ठी मैं पढ़ रहा होता। उमस थोड़ी कम हो जाती।

ऐसी ही उमस भरी जुलाई थी जब मैं एक प्रेम पगी चिट्ठी का जवाब लिखने बैठ गया था। लिखते हुए चिट्ठी के ऊपर छत पर से पानी की या मेरे पसीने की कुछ बूँदें टपक गई थीं जिन्हें पाने वाली ने आँसू समझ लिया था शायद। यह पहले से ही चल रहा एक सिलसिला था जिसमें चोर दरवाजे से मैं भी घुस गया था। उसके जवाबी खतों में ऐसी बहुत सारी बातें थीं जहाँ साझी स्मृतियों या कि साझे सपनों की याद दिलाई जाती थी। वहाँ जवाब लिखते हुए मुझे गोलमोल बातें लिखनी पड़ती थीं। उलजुलूल कल्पनाएँ करनी पड़ती थीं।

उसे खत लिखते-लिखते मैं कहानीकार बन गया होता पर जाने कैसे उसे अंदाजा लग

गया कि मैं कोई और हूँ। इसके बाद उसने जो जो गालियाँ लिखकर मुझे भेजनी शुरू की कि मेरा दिमाग ही उड़ गया। भला सुंदर-सुंदर प्यार भरी बातें लिखने वाली कोई औरत ऐसी भद्दी भद्दी गालियाँ कैसे लिख सकती थी! जवाब में मैंने भी गालियों से भरा एक पोस्टकार्ड उसे लिखा पर उसे भेजने की बजाय फाड़कर फेंक दिया। इस तरह से उस औरत ने मेरे भीतर के कहानीकार की भी हत्या कर दी। हर कोई हत्या ही क्यों करना चाहता है मेरी?

अब तो ज्यादातर चिट्ठियाँ रजिस्टर्ड होती हैं। उनमें आपसी बात कोई वैसे भी नहीं लिखता। पहले पोस्टकार्ड तक में न जाने कितनी पर्सनल बातें लिखी होती थीं। इस चक्कर में न जाने कितने खत खोलकर पढ़ डाले पर अब वह तृप्ति महीनों नहीं मिलती जो पहले दिन में कई कई बार मिल जाया करती थी। पति-पत्नियों के खत, माँ बाप के खत, ससुराल में रह रही बेटियों के खत, प्रेमी प्रेमिका के खत, बाहर पढ़ने गए लड़कों के खत और कभी कभार दोस्तों के खत।

हर खत का एक रूटीन बनता था। उनके एकदम अलग होने के बाद भी उनमें बहुत सारी बातें कामन होती थीं। फिर भी उनमें वह आवेग होता था कि मैं अक्सर उनमें बह जाया करता। कई बार मेरी आँखों में आँसू आ जाते। न जाने कितनी आँखों में उतरने वाले आँसू उन आँखों से पहले मेरी इन आँखों में उतर आते। इस मोबाइल फोन ने सब सत्यानाश कर दिया। चिट्ठियाँ खत्म हो गईं। हम भी एक दिन खत्म हो जाएँगे।

आप बड़े आदमी हैं। संतोष की बात है कि आपके पास अभी भी कभी कभी पत्र आ जाते हैं। सरकारी डाक से किताबें आ जाती हैं। उनकी तलाश में आप भी आ जाते हैं, वर्ना हमें कौन पूछता है आजकल? उधर क्या किया मैंने कि दो साल पहले एक कोरियर कंपनी से भी जुड़ गया था। गली-गली घूमना होता ही था तो सोचा कि चार पैसे और कमा लूँ। अभी छह महीने भी नहीं बीते थे कि न जाने किस करमजले ने शिकायत कर दी। साल भर सस्पेंड रहा। न जाने कहाँ-कहाँ से सोर्स लगाया, घूस देने के लिए दो भैसें बेची, तब जाकर दोबारा बहाल हुआ।

जी अभी भी चार भैंसें हैं। बच्चों को दूध दही मिल जाता है। दूध दही बेचकर चार पैसे भी मिल जाते हैं। अभी दो बेटियों की शादी करनी है। दो बेटे हैं जो ऐसे ही अपनी जवानी बर्बाद कर रहे हैं। उन्हें किसी काम से लगाना है। सो यह सब भी न करें तो खाएँ क्या और खिलाएँ क्या? एक समय वह भी था जब लोगों के पास मनीआर्डर आते थे। लोग नेग देते थे। उनसे हमारे संबंध घरेलू टाइप के हो जाते थे। एक तरह से हम उनकी परजा होते थे।

सब्जियाँ, आम, कटहल, दूध-दही, पुआल, जिसके पास जो होता था वह कई बार बिना माँगे ही मिल जाता था। अब लोगों के पास खुद के लिए ही कुछ नहीं है तो हमको क्या देंगे। आप खुद को ही देखिए। हर हफ्ते आते हैं पर कभी पूछते हैं कि हमारा घर कैसे चल रहा है? अब कोई नहीं पूछता। सबको जल्दी रहती है। लोग इतनी जल्दी में क्यों रहते हैं?

अच्छा सुनिए। आप जहाँ रहते हैं वहीं आपके पीछे शुक्ला जी रहते हैं। जज थे। अब रिटायर हो गए हैं। उनके एक बेटे कर्नल हैं दूसरे हाईकोर्ट में वकील हैं बहुत बड़े। उन्हीं के बगल में सिंह साहब का मकान है। आरटीओ में थे। बहुत पैसा बनाया। बच्चे विदेश में रहते हैं। वहीं सेटेल हो गए हैं। अब यहाँ पर मियाँ बीवी अकेले ही रहते हैं। आपकी इन लोगों से व्यवहार बनाने में रुचि है? कुछ चिट्ठियाँ हैं इन लोगों की। आप लेते जाएँगे तो आपका भी भला होगा और हमारा भी।

आप अभी नए हैं यहाँ। पड़ोसियों से जान पहचान बढ़ेगी। क्या पता कल को अच्छे

संबंध बन जाएँ। पावर वाले लोग हैं। कभी न कभी काम ही आएँगे। आदमी ही आदमी के काम आता है। पहले मुझे लोगों से व्यवहार बनाना बहुत अच्छा लगता था। फील्ड में निकलता तो वापस लौटते हुए रात ही हो जाती। पर मुश्किल यह थी कि साथ में बहुत सारी चिट्ठियाँ भी वापस लौट आती। मुझे बहुत गिल्टी फीलिंग आती कि उनको पढ़ने वाले लोग उनका इंतजार कर रहे हैं और वे मेरे झोले में एक दूसरे के साथ लिपटी पड़ी हैं।

सोचिए कि किसी की पत्नी की चिट्ठी उसके उस पड़ोसी की चिट्ठी के साथ लिपटी पड़ी है जिसकी शकल भी वह नहीं देखना चाहता पर सामने मिलने पर कहना ही पड़ता है। नमस्कार भाई साहब! कैसे हैं। बहुत दिनों बाद दिखे। कहीं बाहर गए थे क्या, बताइए। पर भाभी जी भी कम कर्मठ नहीं हैं। आप नहीं होते तब भी सब कुछ मैनेज कर लेती हैं। मैं तो इनसे कहता रहता हूँ कि कुछ सीखिए भाभी जी से।

पहले मैं बहुत कल्पनाशील था। खत की लिखावट देख कर या उसकी स्याही के रंग से भीतर के मजमून का अंदाजा लगा लेता था। पर बाद में मैं इन चीजों से बोर होता गया। जब खुद का जीवन सब तरफ से रूखा हो तो उसमें इस तरह से मिठास कब तक भरी जा सकती है। पर वह वक्त दूसरा था। डाकिए को लोग बहुत ही महत्वपूर्ण व्यक्ति मानते थे। वह कोई बाहर का व्यक्ति नहीं था। वह हर तरह से उनके जीवन में शामिल था।

उसकी खुशी या नाराजगी से लोगों की चाल और व्यवहार बदल जाता था। कई बार तो लोग हमसे डरते भी थे। समय पर चिट्ठी न पहुँचाई तो? मनीआर्डर देने में देर कर दी तो? या कोई बहाना बताकर वापस ही लौटा दिया तो? हालाँकि आप तो मुझे जानते ही हैं कि मैं किस तरह का आदमी हूँ। मैं यह सब करता नहीं था कभी पर लोगों को ऐसा सोचने से मैं कैसे रोक सकता था?

अब तो जमाना ही बदल गया। अब डाकिए की कोई कदर नहीं रही। यहाँ भी अब कोई नहीं आता जाता। जो आते हैं वे भी जल्दी में रहते हैं। जरा सी बात पर ही उखड़ जाते हैं। उस दिन आप ही उखड़ गए थे। बताइए कि आप जैसे पढ़े लिखे आदमी को इस तरह से उखड़ना शोभा देता है क्या? अरे हमारा क्या, पर आपकी तो इज्जत है। चार लोग जानते हैं आपको। अभी भी चिट्ठी लिखते हैं। आपकी तो मैं इस बात के लिए भी बहुत इज्जत करता हूँ कि इस जमाने में भी आपके पास इतनी चिट्ठियाँ आती हैं।

भाई साहब ये लिफाफा पकड़ेंगे क्या। इस पर यादव जी का नंबर लिखा है। उन्हें जरा फोन कर देंगे क्या कि आएँ और अपनी डाक ले जाएँ। बाँटने में देरी होगी तो बाद में मुझ पर चिल्लाएँगे। मुझ पर इस तरह से चिल्लाने से क्या होगा? मैं गरीब तो सुन ही लूँगा पर आदत तो आपकी खराब होगी ना। इस तरह की आदतें आपके लिए कितनी बड़ी मुश्किलें खड़ी कर सकती हैं कि आप अंदाजा भी नहीं लगा सकते। ये अलग बात है कि अपनी आदत के बारे में आप जानें पर मुझ गरीब पर चिल्लाने में भी कोई न्याय की बात नहीं है।

सोचिए कि इस इलाके में जब मुश्किल से चार सौ घर थे तब भी मैं अकेला ही चिट्ठियाँ बाँटता था। आज तो आप देख ही रहे हैं। चार सौ घर कब सोलह सौ में बदले और कब सोलह हजार में, खुद मैं भी नहीं जान पाया। अब अकेले मैं कितना भी चाहूँ, सब जगह तो नहीं ही पहुँच सकता। ये तो तब है जब चिट्ठियाँ आनी कम हो गई हैं। नहीं तो मैंने तो वह समय भी देखा है कि रोज आनेवाली ताजी चिट्ठियों से ही डाकघर गुलजार रहता था। पर बात यह भी है कि मैं हमेशा पहले के समय से तुलना करता रहता हूँ। बाकी चिट्ठियाँ अभी भी कुछ कम नहीं आती हैं।

खुद आपकी ही कितनी चिट्ठियाँ आती हैं। आप जैसे कुछ लोगों को छोड़ भी दें तो सरकारी या औपचारिक टाइप के लिफाफे तो अभी भी जीना हराम किए रहते हैं। पर अब रस नहीं है चिट्ठियों में। पहले बड़ा रस रहता था उनमें। ऐसे-ऐसे पोस्टकार्ड मेरे इन्हीं हाथों से होकर गुजरे हैं जिन्हें फ्रेम में मढ़ाकर रखने को जी करता था। लोग अपने आपको बिना किसी हिचक के खोल देते थे। अब तो फरेब ज्यादा है। आदमी कहता कुछ है, सोचता कुछ है और लिखता कुछ है।

आप तो लेखक हैं। खुद से ही पूछिए कभी। जो लिखते हैं उसमें आप खुद कितना भरोसा करते हैं?

2. सपनों वाला घर और मेरा झोला

मैं घर से खाली हाथ निकलना चाहता था। पर वो घर ही क्या जो खाली हाथ निकल जाने दे। जब मैं बाहर के लिए निकल रहा था तो घर ने कहा कि ये झोला लेते जाओ। इसमें तुम्हारे रास्ते का सामान है। मैंने घर की तरफ मना करने के लिए देखा पर घर के चेहरे पर इतनी तरह के भाव एक साथ थे कि मैंने कुछ नहीं कहा। मैंने झोला थाम लिया।

जब मैं झोले के साथ निकला तो घर देर तक मुझे देखता रहा था। अपनी पीठ पर घर की आँखें महसूस करते हुए मैंने पीछे की तरफ देखा। घर मुस्करा रहा था। उसकी मुस्कराहट की कोरों से आँसू टपक रहे थे। जो इतने गर्म थे कि जमीन पर गिरने से पहले ही भाप में बदल जा रहे थे। यह भाप मेरे चेहरे तक पहुँची और मैंने अपना चेहरा सामने, रास्ते की तरफ घुमा लिया।

झोला मेरे कंधे से लटक रहा था। कई जगहों से इसके रेशे उधड़ रहे थे। उन रेशों के भीतर से झोले के भीतर के बहुत सारे सामान बाहर झाँक रहे थे। वे पहली बार घर से बाहर निकले थे। बाहर की दुनिया उन्हें नई लग रही थी और वे बाहर देखने के लिए कूद फाँद मचा रहे थे। इस चक्कर में झोला नए सिरे से उधड़ रहा था।

झोले के भीतर से बहुत सारी दृश्य, सपने, अनुभव, पीड़ाएँ, चोटें, खुशियाँ और उदासियाँ बाहर की दुनिया से टुकुर टुकुर संवाद कर रहे थे। कई तरह की गरीबी और अभाव थे जिन्हें मैं घर पर ही छोड़कर आना चाहता था। वे झोले से बाहर कूद गए थे और मेरी उँगली पकड़ कर चल रहे थे। मेरे भीतर एक बेबसी भरी झल्लाहट उतरने लगी।

मैंने अपनी चाल तेज कर दी कि ये सब पीछे छूट जाएँ। तरह तरह से उछला कूदा कि झोला तितर-बितर ही हो जाए और उसके भीतर का सामान भी। झोले पर इसका उलटा ही असर हुआ। पता नहीं डर से या खुशी से झोले के भीतर के लोगों ने एक दूसरे का हाथ थाम लिया। वे तेजी से उधड़े हुए रेशों की मरम्मत में लग गए।

जल्दी ही झोला नया सा दिखने लगा। पर मैं झाँसे में नहीं आया। इसके सारे ताने बाने को मैं अलग से पहचानता था। यह पहचान इतनी गहरी थी कि मैं उन्हें कभी भी, कहीं भी देख सकता था। बिना किसी अतिरिक्त कोशिश के हवा में महसूस कर सकता था। जबकि मैं चाहता था कि यह न हो। मैं झोले को छोड़कर आगे बढ़ जाना चाहता था।

मेरे देखते-देखते झोला घर में बदल जाता है। घर में मैं भी हूँ। घर वह है जिसमें मेरा बचपन बीता। हालाँकि सच में वह घर आज कहीं नहीं हैं। उसकी जगह पर एक नया पक्का घर है। मैंने सपने में इस नए घर को कभी नहीं देखा। सपने में जब भी घर आता है तो यही पुराना घर आता है जो जैसे मेरे खून में बसा हुआ हो। क्या मैं किसी सपने में हूँ!

जब कभी मैं घर को याद करता हूँ तो हमेशा वही पुराना घर सामने आ खड़ा होता है। उसके एक एक कोने अँतरे से मेरी तमाम स्मृतियाँ जुड़ी हैं। न जाने कितने दृश्य हैं जो सामने आ जाते हैं। क्या मेरे सपने उन्हीं दृश्यों से बनते होंगे। जबकि अपने नए घर को याद करने के लिए सायास कोशिश करनी होती है तब कहीं जाकर उसकी छवि आँखों के सामने आती है।

जैसे आज के सपने में मैं अभी का हूँ पर घर पुराना वाला है। वह नीम का पेड़ है जिसको कटे कम से कम पच्चीस साल होने को आए। उसके चारों तरफ बना चबूतरा है जिस पर आजी बैठी हैं। मैं अम्माँ से रसोई का बचा खुचा खाना लेकर निकलता हूँ। पीछे से भैंस पुकार रही हैं मेरा नाम लेकर। उनकी बाँ बाँ में मुझे मेरा नाम साफ सुनाई दे रहा है।

वे उस जगह पर बँधी हैं जहाँ इस जमीन पर पुरखों का पहला घर रहा है। मैं उनकी तरफ जाने को होता हूँ कि आजी मेरे हाथ से बचा हुआ भोजन ले लेती हैं। आजी कह रही हैं कि उन्हें बहुत भूख लगी है। उस भोजन में बैंगन की बिना मसाले की सब्जी है... बासी रोटियाँ हैं और बाजरे का भात। मैं आजी से यह सब छीनना चाहता हूँ। आजी नहीं देतीं वह रिरियाने लगती हैं, खाने दो मुझे बहुत भूख लगी है। पीछे से भैंसें मेरा नाम लेकर पुकार रही हैं।

मैं करवट बदलता हूँ और बिस्तर पर अधजगी सी पत्नी से कहता हूँ कि अभी मैंने आजी को बासी खाने के लिए रिरियाते देखा। पत्नी कहती है कि यह सपना अच्छा नहीं है। यह तो वह सुबह बताएगी कि रात को उसने ऐसा कुछ भी नहीं कहा। मतलब यह कि रात को वह भी मेरे सपने में शामिल थी जबकि मैं उसे सपने के बाहर समझ रहा था। मैं सुबह उसे बताऊँगा कि उसने सपने से बाहर रहने का भ्रम रचते हुए कई बार मेरे सपने में हस्तक्षेप किया।

आजी जब से नहीं रहीं जब मन होता है सपने में चली आती हैं। जब तक जिंदा थीं कभी भूले से भी मेरे सपनों में नहीं घुसीं। यहाँ तक कि जब मैं अपने बचपन के घर को देखता था जिसमें आजी पूरी तरह से रची बसी हैं तब उन सपनों में भी कभी आजी नहीं दिखाई पड़ीं कुछ इस तरह कि जैसे वह सचमुच के घर में कहीं थीं ही नहीं।

जबकि सपने में भी मैं जानता हूँ कि घर में सबसे ज्यादा कोई था तो वही थीं। सपने में मुझे कभी उनकी शकल नहीं याद आती। कई बार मैं सपने में उनका चेहरा याद करने की कोशिश करता और तब सब कुछ दिखता बस चेहरा नहीं। कई बार चेहरे की जगह पर अँधेरा तो कई बार सपाट सतह... जो अक्सर रंग बदलती रहती।

झोला भी आजी के चेहरे की तरह रंग बदलता रहता है। मैं इसकी माया पहचानता हूँ। इसके बावजूद मेरे भीतर इससे मुक्त होने की कोशिश उतनी सघन नहीं है जितनी होनी चाहिए थी। मेरी मुश्किल यह है कि इस झोले के भीतर की बहुत सारी चीजें मुझे अपनी चमड़ी की तरह जरूरी लगती हैं। उनके बिना मैं अपनी कल्पना भी नहीं कर पाता।

पर झोले के भीतर ऐसी भी बहुत सारी चीजें हैं जो त्वचा पर फफोलों की तरह दिखती हैं। मैं इन फफोलों से मुक्त होना चाहता हूँ। चाहता हूँ कि मेरी त्वचा को कुरूप बनाने वाले ये फफोले गायब हो जाएँ। इस तरह कि उनका कोई निशान भी मेरी चमड़ी पर न दिखाई दे। मेरी मुश्किल यह है कि इस कोशिश में अक्सर मैं इन फफोलों को फोड़ देता हूँ। फिर देर तक इनके भीतर के लिसलिसे पानी में डूबता उतराता रहता हूँ।

मेरी साँस फूलने लगती है। फेफड़ों में यही लिसलिसा पानी भर जाता है। तब मैं देखता हूँ कि यह लिसलिसा पानी सब तरफ फैल गया है। जैसे प्रलय के समय सब तरफ पानी ही

पानी रहा होगा, उसी तरह। मुझे तैरना नहीं आता। जैसे मुझे ही बचाने के लिए इसी पानी में तैरती हुई बस आती है। मैं बस पर कुछ इस बेकरारी से बैठता हूँ कि बस में पहले से बैठी सवारियाँ अचरज से मुझे देखने लगती हैं।

बस चल पड़ती है। मेरा झोला मेरी गोद में है। मैं उठता हूँ और तिरछे खड़े होकर झोला अपने सिर के ऊपर बनी जगह में रखता हूँ। वहाँ पहले से ही बहुत सारे लोगों के झोले पड़े हुए हैं। मुझे ऐसा लगता है जैसे झोलों के भीतर से बहुत सारी आँखें मुझे देख रही हों। पल भर में वे आँखें बस की सवारियों की आँखों में बदल जाती हैं। मैं कोशिश करता हूँ पर उनमें से किसी से आँखें नहीं मिला पाता। बदले में अगला जो भी स्टॉप आता है उस पर उतर जाता हूँ।

उतरते ही बस आगे बढ़ जाती है। और इसी के साथ मैं अपने उस झोले के लिए व्याकुल होने लगता हूँ जिसे मैंने जान-बूझकर छोड़ दिया है। मैं अपने झोले के लिए बस के पीछे दौड़ने की कोशिश करता हूँ पर पूरी ताकत के बाद भी आगे नहीं बढ़ पाता। बस अपनी ही जगह पर बहुत भारी होता हुआ कूदता रहता हूँ। बस बहुत धीरे धीरे जा रही है। बस बहुत देर तक मुझे दिखाई देती रहती है।

अब मैं इंतजार करता हूँ कि कोई भला मानुस मेरा झोला बस के बाहर फेंक देगा। कोई नहीं फेंकता। मैं बस की खैरियत मनाता हूँ कि उसके साथ कहीं कोई दुर्घटना न हो। जैसे भी हैं अच्छे बुरे, उसमें मेरे सफर के साथी है। उसमें मेरा झोला है। झोले में वह सब सामान हैं जिन्हें लेकर मुझे अगली यात्रा पर निकलना है। यह झोला नहीं होगा तो मेरी यात्रा अनाथ हो जाएगी।

मैं अपनी ही जगह पर कूदता रहता हूँ। बस बहुत दूर निकल गई है पर मैं इतनी ऊपर तक कूद रहा हूँ कि दूर जाती हुई बस मुझे दिखाई दे रही है। और फिर एक ऐसा मोड़ आता है जब बस दिखाई देना बंद हो जाती है। बस के ओझल होते ही मैं अपने पुराने घर पहुँच जाता हूँ। घर पहुँचते ही मैं रोने लगता हूँ और रोता ही जाता हूँ। रोने के साथ मेरी उमर कम होने लगती है। मुझे समझ में ही नहीं आ रहा कि मैं रो क्यों रहा हूँ।

मेरे आँसू मेरे बचपन का एक साथी पोंछता है जो बचपन में मेरे बहुत पतला होने को लेकर मुझे चिढ़ाया करता था। मैं उसके माथे के घाव से उसे पहचानता हूँ। यह मेरा ही दिया हुआ घाव है जब उसके चिढ़ाने से आजिज आकर मैने एक दिन उसे ईंट के एक टुकड़े से साध दिया था। वह रोता और खून बहाता मेरे घर आया था। माँ ने उसके माथे पर फिटकरी पीस कर लगाई थी और पट्टी बाँध दी थी।

बदले में आजी ने वैसा ही घाव मेरे माथे पर हाथ पर पैरों पर बना देना चाहा था। जब मैं मार खाते हुए चिल्ला रहा था तब इसी चोट खाए दोस्त ने चिल्ला कर कहा था अबे सींकिया साले भाग... खड़े खड़े पिट क्यों रहा है। यह तह कर के भीतर जमा दिया गया तभी का अभ्यास है कि पिटता रहता हूँ पर भाग नहीं पाता हूँ।

दोस्त मुझे खींच कर बाहर ले जाते हैं। मैं दोस्तों के साथ जाता हूँ पर बहुत सारे दोस्तों के चेहरे नहीं पहचानता। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। वे अपने साथ मुझे डुबो देते हैं। उनके साथ डूबकर मैं सोचता हूँ कि अब मैं पहले जैसा नहीं रहा। अब मैं हमेशा के लिए बदल गया हूँ। अब मैं कभी नहीं रोऊँगा। अब मैं बड़ा हो गया हूँ। मैं यह बात दोस्तों से कह देता हूँ। वे मुस्कराते हैं पर मेरी बात पर कोई टिप्पणी नहीं करते।

फिर एक दिन आता है जब सारे दोस्त घर चले जाते हैं। तब मुझे भी घर की बहुत

याद आती है। मुझे अचरज होता है कि घर मुझे अभी तक याद है। इस हद तक कि मैं उसकी याद में बेचौन होने लगूँ। इसी बेचैनी में मैं घर पहुँचता हूँ। आजी वहाँ डंडा लेकर मेरा इंतजार करती मिलती हैं। मुझे डर लगे इसके पहले वह डंडा फेंक देती हैं। आजी मुझे गोद में लेती हैं और चूमती हैं। मैं टिटकारी मारते हुए सीटी बजाता हूँ।

अपनी ही बजाई हुई सीटी की आवाज मुझे सब तरफ से गूँजती हुई सुनाई पड़ती है। मैं अपने कान ढँकना चाहता हूँ। आजी को यह बात पसंद नहीं। वे मेरे कानों पर से मेरी हथेलियाँ हटाती हैं। हथेलियों के बाहर बहुत शोर है। इसी शोर में पगलाते हुए मेरी निगाह अपने झोले पर जाती है। झोला ओसारे में खूँटी पर टँगा हुआ है।

झोले के भीतर से बहुत सारी बातें झाँक रही हैं। बहुत सारे दृश्य झाँक रहे हैं जो कभी भी जीवित होने को तैयार बैठे हैं। आप भरोसा नहीं करेंगे पर झोले के भीतर मुझे अपनी ही आँखें दिखाई पड़ती हैं जो मुझे ही देखकर मुसकरा रही हैं। मैंने इस मुस्कान का जवाब आज तक नहीं दिया। आज भी दे पाऊँ यह संभव नहीं दिखता।

तभी मेरी निगाह दोबारा अपने झोले पर जाती है। न भी जाती तो इसे तो मैं बस साँस लेते हुए पहचान सकता हूँ। मेरी निगाह जिस चीज पर जाकर रुक जाती है वह एक बदसूरत लिखावट है। झोले के ऊपर बस के जले हुए तेल से लिखा हुआ है—सॉरी। बस वाला।

तभी मुझे बाहर हार्न की आवाज सुनाई पड़ती है। मैं बाहर झाँकता हूँ तो पाता हूँ कि बस मेरे इंतजार में खड़ी है। आजी और मेरे बहुत सारे दोस्त मुझे बुला रहे हैं कि मैं जल्दी से बैठ जाऊँ तो सफर शुरू हो। मैं तेजी से बाहर निकलता हूँ और भागना शुरू कर देता हूँ। बस मेरे पीछे लग जाती है।

बस में मेरे झोले के भीतर के सारे लोग बैठे हुए हैं और खिड़की के बाहर सिर निकाल कर ड्राइवर का उत्साह बढ़ा रहे हैं।

3. क्या पता बच ही जाऊँ

हम इंटर में साथ में पढ़ते थे। बाद में कुछ ऐसा संयोग बना कि बी.ए. और एम.ए. में भी साथ साथ रहे। हम दोनों की रुचियाँ एक जैसी थीं। इसलिए हमारे बीच लंबी निभी।

जब हम इंटर में थे तब दोनों ही वेदप्रकाश शर्मा, सुरेंद्र मोहन पाठक और ओमप्रकाश शर्मा के दीवाने थे। इनकी अनुपस्थिति में हम दूसरे लेखकों की किताबें भी पढ़ ही लेते पर जो मजा इनकी किताबों में आता वह कहीं और नहीं था। खासकर वेदप्रकाश शर्मा के थ्रिलर उपन्यासों का, जो जमीन से कई फुट ऊपर उठे होते। पढ़ते हुए दिमाग से भाप निकलने लगती।

बाद में दोनों को सुरेंद्र मोहन पाठक ज्यादा पसंद आए जिनके उपन्यासों के किरदार ज्यादा जमीनी थे। वेदप्रकाश शर्मा के किरदारों का गोली और बंदूक भी कुछ नहीं बिगाड़ पाते थे जबकि पाठक के किरदार अक्सर पिट जाते थे। वे बिल्कुल हमारी तरह थे। सारी स्मार्टनेस और बहादुरी के बावजूद हम भी अक्सर पिटते ही रहते थे। यह भी एक बात थी जो हम दोनों को जोड़ती थी।

पर बी.ए. के दौरान इस बात से निपटने के हमने अलग अलग तरीके ढूँढ़े। मैंने कुछ दबंग लड़कों से दोस्ती गाँठनी शुरू की। मैं अक्सर उनके साथ दिखता। मैंने हमेशा यह कोशिश की कि विश्वविद्यालय में हर कोई यह देखे कि मैं कितने बदमाश लड़कों के साथ उठता बैठता हूँ। लोग दब के रहें मुझसे। और काफी हद तक यह हुआ भी। लोग दबने भी लगे मुझसे।

पर वह कभी नहीं दबा। न मुझसे न किसी और से। अक्सर वह मेरे मुँह पर ही कह

देता कि ये जो तुम उन हरामियों के तलवे चाटते हो उससे क्या मिल जाता है तुम्हें! वह अभी नया-नया ही एक वामपंथी छात्र संगठन में शामिल हुआ था और तेजी से उनकी शब्दावली सीख रहा था। बुर्जुआ, सर्वहारा, बिचौलिया, छात्र एकता जैसे शब्द लगातार उसकी जबान पर बने रहते। मैं उस पर हँसता। वह मुझ पर तरस खाता। नाराज होता।

इसके बावजूद हम अक्सर एक दूसरे से मिलते टकराते रहे। बचपन से लेकर अब तक की न जाने कितनी साझा स्मृतियाँ थीं जो हमें जोड़ती थीं। इसकी बावजूद दोनों की एक ऐसी भी दुनिया बन रही थी जिसमें दूसरे की पहुँच नहीं थी। जैसे पहली बार किसी अखबार को पढ़ते हुए मैंने जाना कि वह कविताएँ लिखने लगा है। उसी तरह उसे भी मेरे एक प्रादेशिक चैनल में पत्रकार हो जाने की बात तब पता चली जब मैं उसके एक धरने की रिपोर्टिंग के लिए गया।

हम बहुत दिनों बाद मिले थे पर पुरानी पहचान की एक हल्की सी चमक दोनों के चेहरों पर थी। हम दोनों ने एक दूसरे को अपना नंबर दिया और जल्द ही बतियाने के वादे के साथ अलग हुए। जैसा कि होना था न उसका फोन आया न मैंने किया कभी। जल्दी ही मैंने राजधानी का सबसे तेज चैनल ज्वाइन किया और उस शहर से बाहर निकल आया। वह वहीं रह गया।

बहुत दिनों बाद जब उसका फोन आया तो मैं अपने चैनल की तरफ से पश्चिम बंगाल में चल रहे एक साम्प्रदायिक तनाव को कवर करने के लिए भेजा गया था। वहाँ पहुँचकर मैंने पाया कि वास्तविकता उसके ठीक उलट थी जैसी कि तमाम न्यूज चैनलों पर दिखाई जा रही थी। मैंने यह बात अपने संपादक को बताई तो उसने एक बनारसी गाली देते हुए कहा कि तू जो बता रहा है वह बात किसको नहीं पता है पर राष्ट्र का हित किस बात में है हमें यह भी देखना है।

मुझे इस तनाव में म्याँमार से भागकर आए रोहिंग्या शरणार्थियों की संलिप्तता खोजनी थी। मुझे रोहिंग्या मुसलमानों और स्थानीय मुसलमानों के बीच के छुपे हुए सूत्र तलाशने थे। संपादक को गृह मंत्रालय के कुछ सूत्रों ने बताया था कि रोंहिग्या मुसलमान, देश की एकता के लिए बहुत बड़ा खतरा साबित होने वाले हैं। वे कुछ बड़ा करने की योजना बना रहे हैं और पच्छिम बंगाल का ताजा तनाव तो एक बड़े सिलसिले की छोटी सी शुरुआत भर है।

तो जब उसका फोन आया तो मैं इस बड़े सिलसिले के सबूत खोजने में व्यस्त था। जल्दी जल्दी में मैंने जो सुना वह यह था कि वह और उसके लोग मुसीबत में थे। वे शहर के बाहरी इलाके में कृषि भूमि पर एक केमिकल प्लांट लगाने का विरोध कर रहे थे। एक दिन भीड़ बेकाबू हो गई और उसने उस बन रहे प्लांट में तोड़-फोड़ की। प्लांट के मालिकों ने उस पर और उसके साथियों पर घातक हथियारों के साथ डकैती का मुकदमा किया था।

वह अपने साथियों के साथ भागता फिर रहा था। उसे शक था कि पुलिस देखते ही इन सब का इनकाउंटर कर देगी। उसने सोशल मीडिया पर अपने कई वीडियो अपलोड किए थे और लोगों से समर्थन की गुजारिश की थी। बदले में उसका सोशल मीडिया एकाउंट फेक मानते हुए बंद कर दिया गया था। वह चाहता था कि मैं अपने चौनल में किसी तरह से इस बात की संभावना बनाऊँ कि उसके फेवर में एक पॉजिटिव खबर चलाई जा सके।

मैं जानता था यह संभव नहीं हैं। यह संभव होता तो मैं यहाँ बंगाल में जो चीज कहीं है ही नहीं वह न तलाश रहा होता। दूसरे मुझसे यह उम्मीद करते हुए वह चैनल में मेरी हैसियत को महत्वपूर्ण मान रहा था कि मैं उसके लिए कुछ संभव कर सकता हूँ। मैंने उसका भ्रम नहीं तोड़ा पर इस बारे में मेरे भीतर किसी भी तरह का कोई भ्रम नहीं बचा था। मैं जानता था

कि चैनल में मेरी कोई हैसियत नहीं थी।

मैं तो यह भी जानता था कि रोज रात को शेर की तरह दहाड़नेवाला मेरा मालिक किसका कुत्ता था। पर यह बात उसे नहीं बताई जा सकती थी। तब वह इस बुरे हाल में भी मुझसे पूछ ही लेता कि मैं किसका कुत्ता था। खैर मैंने उसे आश्वासन दिया कि मुझसे जो भी बन पड़ेगा मैं करूँगा और मैं उससे जल्दी ही संपर्क करूँगा। उससे यह कहने के साथ ही मैंने उसका नंबर ब्लॉक कर दिया। ऐसा करते हुए मुझे बुरा जरूर लगा पर जिन चीजों में उसने अपनी टाँग फँसा रखी थी, उससे मैं दूर ही रहना चाहता था।

फिर मैं उन तमाम कामों में व्यस्त होता गया जो मालिक मुझे सौंपता रहा। अपनी मेहनत और समर्पण के दम पर मैंने खूब नाम कमाया। दिल्ली में मकान लिया। कई शहरों में प्लाट लेकर छोड़ रखा है। दरअसल यहाँ सब कुछ अचानक से कई बार इतना अनिश्चित सा हो जाता है कि मैं नहीं चाहता कि इस अनिश्चितता की हल्की सी भी आँच मेरे परिवार पर पड़े। परिवार का मुझमें जो भरोसा है वह बचाए रखने के लिए मैं कुछ भी कर सकता हूँ।

मैं उसे भूल ही गया था। मुझे बस इतना पता चला था कि पकड़े जाने पर एनकाउंटर की उसकी आशंका गलत साबित हुई थी। उस पर बाकायदा डकैती का केस चला था और करीब पाँच साल बाद जब वह बाइज्जत बरी हुआ था तब तक पूरे पाँच साल वह जेल में बिता चुका था। अब उसकी और मेरी दुनिया की विभाजक रेखा इतनी साफ थी कि उसके बारे में सोचने का भी कोई मतलब नहीं रह गया था। यह अलग बात है मुझे सोचने के लिए कहा गया।

मालिक ने एक दिन मुझे खाने पर बुलाया और उस घटना के बारे में विस्तार से बताया। संभवतः यह उस घरेलू माहौल का ही असर रहा होगा कि मैं यह बताने की गलती कर बैठा कि कभी वह मेरा दोस्त रहा था। मालिक यह बात सुनकर उछल पड़ा। उसने कहा कि इसका मतलब यह है कि मैंने एकदम सही व्यक्ति को चुना है। अब यह काम तुमसे बेहतर कोई और नहीं कर सकता। अब अपने दोस्त को इंसाफ तुम्हीं दिलाओगे।

मैंने कहा कि इंसाफ तो हो चुका। मालिक ने कहा कि यह तो पुरानी बात है जो सबको पता है। पर अब अपराध और इंसाफ का यह खेल नए सिरे से खेला जाना है। अपराध भी नए होंगे और इंसाफ भी नया होगा। अबकी बार यह इंसाफ हमारा चैनल करेगा। तुम्हारे दोस्त की कुर्बानी को हम बेकार नहीं जाने देंगे। हम लोगों को दिखा देंगे कि लोकतंत्र में मीडिया की क्या हैसियत होती है।

जल्दी ही मैंने मालिक की इंसाफ वाली भाषा के पीछे के सूत्रों को खोज निकाला। केमिकल प्लांट लगाने वाला उद्योगपति पिछले मुख्यमंत्री का मुँहलगा था। नए मुख्यमंत्री चाहते थे कि वह सारी बातें नए सिरे से उछाली जाएँ जिससे कि उस उद्योगपति के साथ साथ पूर्व मुख्यमंत्री के खिलाफ भी माहौल बने। उस जमीन पर उनके अपने उद्योगपति की नजर थी। और इसमें हमारा वह पुराना दोस्त एक मोहरे की तरह इस्तेमाल होने वाला था।

मैं अपना काम शुरू करता इसके पहले ही उसके ऊपर कोई केमिकल फेंक दिया गया। वह जिसे बहुत पहले मैं जानता था वह मांस के एक गलते हुए बदबूदार लोथड़े में बदल गया। ज्यादातर अखबारों में यह पहले पेज की खबर बनी। इसी दिन सारे अखबारों में आधे पेज का विज्ञापन छपा कि कानून और व्यवस्था सूबे के मुख्यमंत्री के लिए सबसे आधारभूत चीज है। जो भी इसके रास्ते में आएगा उसके ऊपर कड़ी कार्यवाही की जाएगी, चाहे वह कितना भी प्रभावशाली व्यक्ति क्यों न हो।

कई अखबारों में इस केमिकल फेंके जाने की घटना के लिए इशारों-इशारों में केमिकल कंपनी और उसके मालिकान पर शक जाहिर किया गया था। कई अखबारों ने इस केमिकल कंपनी की शुरुआत से लेकर उसका अब तक का इतिहास भूगोल छापा था। बॉक्स में यह भी बताया गया था कि मेरा पुराना दोस्त कैसे शुरू से ही कंपनी के मालिकों की आँखों में गड़ता रहा है और उसे रास्ते से हटाने के लिए कंपनी ने अब तक किस किस तरह की गर्हित कोशिशें की।

सारा खेल एकदम साफ नजर आ रहा था। मालिक के फोन के साथ यह और भी साफ हो गया। मालिक ने बताया कि डाक्टरों का कहना है कि तुम्हारे पुराने दोस्त के पास दस-बारह घंटे से ज्यादा समय नहीं बचा है। इतने समय में उसके अंदरूनी अंग भी गलकर बहने लगेंगे। अब उसका मौत से बच सकना लगभग असंभव है। इसलिए यह जरूरी हो गया है कि हम इंसाफ की अपनी लड़ाई को तेज करें। वह तो अब मर ही रहा है पर इंसाफ का तकाजा यह है कि हम दोषियों को कठघरे में खड़ा करें। इसके लिए हमें जो भी करना पड़े बेहिचक करना चाहिए।

इसके बाद मालिक ने वह कहा जिसकी वह भूमिका बना रहा था। उसने कहा कि हम तुम्हारे दोस्त की मौत लाइव दिखाएँगे। इससे जनता के मन में एक विद्रोह पनपेगा और तुम्हारे दोस्त को इंसाफ दिलाने में मदद मिलेगी। मैंने हमेशा की तरह मालिक की बात का समर्थन किया। इस बारे में मैंने बहुत पहले से अपने भीतर यह बात बिठा ली है कि मालिक के खिलाफ तभी जाओ जब नौकरी छोड़ने का मन हो या कि नौकरी छोड़ने पर नौकरी करने की अपेक्षा ज्यादा फायदा होनेवाला हो।

मैं जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी उस मरते हुए आदमी के पास पहुँचना चाहता था। इसलिए मैं लाइव की रस्सी के सहारे सीधे उस कमरे में पहुँच गया जहाँ उसका इलाज चल रहा था। वह बहुत तकलीफ में था फिर भी मुझे देखकर तंज से मुसकराया। क्या पता यह मेरे ही मन का चोर हो जो कभी कभी न जाने कहाँ से प्रकट हो जाता है। जो भी हो पर मैंने उसकी मुस्कराहट का जवाब मुस्कराहट से दिया। यह मेरी पेशेवर ट्रेनिंग थी। इसमें किसी सचमुच की तंज भरी मुस्कान के लिए कोई जगह नहीं थी।

वह जिस तरह से साँस ले रहा था यह अपने आप में हॉरर था। उसका चेहरा बदल गया था। नाक के आसपास गाल इस तरह से सूजा हुआ था कि नाक सूजन में ही समा गयी थी। नाक की बस नोक भर दिख रही थी। पूरे चेहरे से चमड़ी गायब थी। उसका हाल लाइव करते हुए मुझे मालिक की बात याद आई कि यह इसकी आखिरी घड़ी है। यह अब कभी नहीं उठ पाएगा। शायद यह अब कभी बात भी नहीं कर पाएगा।

मुझे लाइव करते देखकर बहुत सारे लोग इकट्ठा हो जाते हैं। ज्यादातर तमाशा देखने आए हैं पर कुछ हैं जो मेरे दोस्त के साथी हैं। वे लाइव का तार तोड़ते हैं और उसे लाइव से बचाकर कहीं और ले जाना चाहते हैं। मैं कहता हूँ कि कहीं भी जाओ पर अब तुम्हारा खेल खत्म है। यह कहते हुए मैं उसका नंबर डिलीट करता हूँ।

अपने दोस्तों के कंधे पर कमरे से बाहर जाते हुए वह मेरी तरफ मुड़कर देखते हुए कहता है कि इतनी भी क्या जल्दी है दोस्त? क्या पता बच ही जाऊँ।

संपर्क : द्वारा–श्री बसंत त्रिपाठी, 302, बृजहरि अपार्टमेण्ट, ड्रमण्ड रोड, अशोक नगर, प्रयागराज-211001 (उ.प्र.)
मो. : 8275409685

चक्रव्यूह

आयशा आरफ़ीन

हमारा घर आम सरकारी मकानों जैसा ही था। बाहर आँगन के बीचोंबीच एक तुलसी का पौधा था। हम तुलसी की चाय बनाने में ही तुलसी का इस्तेमाल किया करते थे, मगर शायद हम से पहले इस मकान में रहने वाले लोग तुलसी की पूजा भी किया करते थे। बाएँ कोने में छियासी के मॉडल की आर. एक्स. हंड्रेड (RX100) दीवार पर सर टिकाये आँगन में पड़े-पड़े उँघती रहती। मैं इसकी पूजा तो नहीं करती थी और न ही ख़ुद इस्तेमाल करती थी मगर आर एक्स हंड्रेड के साथ मेरा रिश्ता जॉन कीट्स की इज़ाबेला और तुलसी जैसा था।

घर में हम सब बहस करते रहते कि आखिर आर. एक्स. हंड्रेड स्त्रीलिंग है या पुल्लिंग। मैं उसको हसरत भरी निगाह से देखा करती। घरेलू कामों के चलते उसे चलाने का मौक़ा मुझे न मिलता। उसको साफ़ करने के सिवा मैं कर भी क्या सकती थी? शौहर कभी-कभी बाहर ले जाते, मगर ज्यादा दूर तक नहीं। कभी-कभार तो मुझे ताना दिया जाता कि क्या मैं मरते वक़्त इसे अपनी छाती पर लेकर जाउँगी? साहब, एंटीक चीज़ें होती ही ऐसी हैं, क़ीमत ज्यादा-चाहे वो पैसे में हो या लोगों की नज़रों में, मगर इस्तेमाल में शायद ही लायी जाती हैं, उनको नसीब होता है तो घर का एक कोना। ऐसे ही कई सालों से एक बूढ़े को मैंने देखा है, घर से कुछ दूर एक शराब की भट्ठी में। वो वहाँ क्या काम करता था हमें नहीं मालूम। कहते हैं उसकी उम्र एक सौ बीस बरस से भी कुछ ज्यादा है। वो सफ़ेद कुर्ता पाज़ामा पहने एक छोटी सी कोठरी में जाते दिखाई देता, और बस। दरअसल भट्ठी चारों तरफ से आमों के दरख्तों से घिरी थी, इसलिए अंदर का कुछ ठीक से नज़र नहीं आता था।

मैं हस्बे मामूल आर.एक्स. हंड्रेड को साफ़ करने के बाद आर.के. बीच पर टहलने निकल ही रही थी, तभी मैंने देखा उस बूढ़े की कोठरी के बाहर कुछ लोग जमा थे। वो शायद मर रहा था। सुबह के 8 बजे थे। मैं साहिल पर पहुँची। वहाँ पर ज्यादा लोग मौजूद न थे। मन एक अजीब दौर से गुज़र रहा था। यूँ भी कुछ दिनों से मैं ख़ुद की तलाश में थी। एक नामानूस

सी बेचैनी ने कई रोज़ से मुझे घेरा हुआ है। उधर आस-पड़ोस के घरों में पुताई शुरू हो गई थी चूँकि दिवाली आने को थी। पेंट की मुश्क न जाने कब से और क्यूँ मुझे बैचैन करती रही है। ऊपर से आज उस बूढ़े का ख्याल भी रह रह कर आ रहा था जो इतने साल जी गया और अब भी मर नहीं पा रहा है। क्या जिंदगी से इतना प्यार है? मगर मैं उसके बारे में क्यूँ सोच रही हूँ? मेरे अपने मसले क्या कम हैं? शायद मिड लाइफ क्रायसीस इसे ही कहते हों। लड़के मेरे हायर सेकेंड्री में हैं। बड़े हो गए हैं, अपना ख्याल काफ़ी हद तक खुद रख सकते हैं। नौकरीपेशा मैं हूँ नहीं। शौहर सरकारी अफसर हैं, जो या तो दफ्तर में होते हैं और जब दफ्तर में नहीं होते तो अपने स्टडी रूम में खुद को बंद कर लेते हैं।

साहिल पर टहलते-टहलते मेरी कल्पनाएँ आदि से अंत तक के चक्रव्यूह में घिरने लगीं— कभी मैं बचपन में गश्त कर रही थी, तो कभी अपने आनेवाले बुढ़ापे में दाख़िल हो जाती थी। चलते हुए मुझे थकावट का एहसास नहीं हो रहा था, मगर मैं थकना चाहती थी, सो मैंने दौड़ना शुरू कर दिया। फिर इतना थक गई कि एक बार सोचा कि यहीं बालू (रेत) पर सो जाऊँ बिना किसी की परवाह किये, मौत की भी नहीं, पानी आये तो चाहे बहा ले जाए। मगर मैं दौड़ते-दौड़ते बहुत आगे तक निकल गयी थी और अचानक मैंने महसूस किया मेरे पीछे एक इंसानी साया भाग रहा है। मैं ज़ोर-ज़ोर से भागने लगी। इंसानी साया वैसे तो मुझसे धीरे ही भाग रहा था, मगर वो इतना बड़ा था कि लगा जैसे वो हाथ बढ़ाएगा और मुझे गिरफ्त में ले लेगा। और यही हुआ। उस इंसानी साये ने आख़िरकार मुझे ओढ़ लिया और जैसे ही वो खड़ा हुआ, मैं उसके अंदर मौजूद थी। वो खड़ा था और मैं उसके अंदर खड़ी थी। साया मुझसे दुगुना लंबा था। दफ़अतन ख्याल आया महज़ एक साया ही तो है, मैं थोड़ा किनारे हो जाऊँ तो शायद खुद को उस से बाहर पाऊँगी। मगर जो कुछ हुआ वो मेरी सोच के बिल्कुल विपरीत था। मैं साये में क़ैद थी। मैंने साये के एक हिस्से को धक्का दिया, मगर मेरा हाथ उसी साये के अंदरूनी ख़ाके से टकरा कर रह गया। अब मेरी घबराहट शुरू हुई। मेरा दम घुटने लगा या शायद मुझे घबराहट के मारे ऐसा महसूस हुआ कि मेरा दम घुट रहा है। मैंने अब पीछे मुड़ कर देखा। पीछे साये में हाथ मारा तो वहाँ भी बस ख़ाका या रूपरेखा ही थी, कोई रास्ता नहीं। मैंने घबराकर साये के अंदर हर तरफ हाथ मारा, फिर एक दरवाज़े जैसी चीज़ से मेरा हाथ टकराया। अब मेरी जान में जान आई। हाँ, ये तो दरवाज़ा ही है, मैंने खुद को तस्सल्ली दी। मैंने धक्का मारकर दरवाज़े को खोला, तो उसमें से एक और दरवाज़ा निकल आया। दूसरे दरवाज़े को खोला तो तीसरा दरवाज़ा सामने था। मैं दरवाज़े पर दरवाज़ा खोलती रही और यूँ मैंने देखा कि दरवाजों की एक कतार सी बनी हुई है।

एक दरवाज़ा खुलता तो बाएँ ऊपर की तरफ से हल्की सी रौशनी पड़ती जैसे अमूमन किसी रौशन दान से रौशनी आती है। ये रौशनी सिर्फ मुझे दरवाज़े दिखाती, फिर ग़ायब हो जाती। ऐसे अँधेरे में मैं सिर्फ दरवाज़े देखती, उनको खोलती और दरवाज़े खुलते ही फिर तारीकी!

आख़िरी दरवाज़े को खोलते ही मैं बड़ी ही तेज़ी से, जैसे अपने आप ही, बिना चले, लगभग उड़ते हुए या ज़ोर का धक्का खाते हुए एक खंडहर में दाख़िल हो जाती हूँ। इतनी तेज़ रफ़्तार से मैं खंडहर में गिरी कि कुछ पल के लिए होश गुम हो गए। हवास दुरुस्त होते ही खंडहर के एक कोने में मैंने एक बूढ़ी औरत को अपने घुटनों पर सर टिकाए हुए बैठे देखा। इस मंज़र को देखकर मैं अंदर तक काँप उठी। मगर मेरे पास अब कोई चारा नहीं था और मैंने अपने आप को सँभाला। मैं हौले-हौले क़दमों से उस बूढी औरत के नज़दीक पहुँची ही थी कि उसने धीरे से सर उठाया और कहा—

"आ गई तुम, मुझे मालूम था तुम मुझे तलाश करते हुए एक दिन यहाँ आ पहुँचोगी"।

मैंने बूढ़ी औरत को देखने की कोशिश की। नीम रौशनी में मैंने उसे देखा और मेरी चीख़ निकल आई। वो बूढ़ी खंडहर से भी गुज़िश्ता मालूम हो रही थी। मैंने हिम्मत कर उससे पूछा—

"आप कब से बैठी हैं यहाँ?"

तभी मुझे एहसास हुआ मेरी आवाज़ उस खंडहर में गूँज रही है और ये गूँज ऐसी थी जैसे कि कहीं दूर बड़े ही मद्धम सुर में घंटियाँ बज रही हों, मगर जब वो बोल रही थी तब उसकी आवाज़ नहीं गूँज रही थी। मैं फिर खौफज़दा हुई मगर...वो बूढ़ी औरत बोल उठी—

"तभी से बैठी हूँ जब तुम यहाँ छोड़ गई थी मुझे"।

मैं उसके पास गई और उसको छूने की कोशिश की। हाँ, वो वाकई मौजूद है, ज़िंदा है, कोई रूह नहीं, या ये मेरा कोई भ्रम नहीं। जब मैंने उसे उठाने की कोशिश की तो मेरी उँगलियाँ उसकी सूखी चमड़ी में धँस गई और उसकी खाल की कुछ परतें मेरी उँगलियों से चिपक गयीं। मैंने उसको उठाने का इरादा तर्क किया।

मैंने अपनी उँगलियों के पोरों को मसल कर देखा तो पाया बूढ़ी औरत की पतली, रूखी, पीली-सी चमड़ी मेरी उँगलियों से चिपक गयी थी और अब मैल की तरह मैंने मसलकर उसे उतार लिया। मुझे घिन्न आने लगी। मगर दूसरे ही पल ख्याल आया बूढ़ी औरत का असरार भी तलाश करना ज़रूरी है।

मैंने कहा आँखें तो खोलिए।

उसने जवाब दिया, "आँखों में अब रौशनी कहाँ, खोलकर क्या करूँगी इन्हें?"

मैंने पूछा, "फिर आपने मुझे पहचाना कैसे?"

वो बोल उठी, "तुम्हें पहचानने के लिए मुझे आँखों की ज़रूरत नहीं।"

मेरी हैरानी का ठिकाना न रहा, मगर फिर भी मैंने खुद को सँभाला और ज़ोर देकर पूछा—

"मगर...मतलब...फिर भी...कैसे पहचाना, बताइए?"

बूढ़ी औरत ने कहा, "जैसे तुम मुझे पहचान गई वैसे।"

मैंने कहा, "मगर मैंने आपको अब भी नहीं पहचाना"।

उसने बोला, "अगर न पहचानती तो मुझे तलाश कैसे कर लिया?"

बातों का ये सिलसिला अर्थहीन था। मेरा तजस्सुस वैसे का वैसा बना रहा। मैंने अचानक महसूस किया मौसम ठंडा हो चला है, मैंने बूढ़ी से पूछा, "ये अचानक ठंड कैसे होने लगी?"

उसने जवाब दिया, "मुझे तो हमेशा ठंड लगती रहती है"।

मैंने खंडहर में चारों तरफ निगाह दौड़ाई।

बाएँ तरफ कुछ दूर मुझे एक लाइब्रेरी दिखाई दी। मैंने बूढ़ी औरत से पूछा, "वो लाइब्रेरी ही है न?" उसने धीमे से कहा, "हाँ"। मैं लाइब्रेरी के पास पहुँची और किताबों का जायज़ा लेने लगी। ज्यादातर किताबों के नाम मेरे लिए अनजान थे...मैंने किताबों के नाम और सन् पढ़ना शुरू किया... फिर ग़ालिब की कुछ ग़ज़लें पढ़नी शुरू की। ..."न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता..."

तभी बूढ़ी ज़ोर से अपनी घरघराती आवाज़ में बोल उठी, "डुबोया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता?"

उसकी आवाज़ खंडहरों की टूटी-फूटी दीवारों जैसी थी। मेरे रोंगटे खड़े हो गए, जब

वो अचानक इतनी ज़ोर से बोल उठी। मगर फिर मैं सँभल गयी। किताब वापस रख दी और बूढ़ी की तरफ मुख़ातिब होकर उससे पूछा, "क्या आपने यहाँ से कभी निकलने की कोशिश नहीं की?"

उसने मुझे चारों तरफ निगाह ठीक से दौड़ाने को कहा। मैंने देखा वहाँ चारों तरफ चार दरवाज़े हैं। मैं कुछ कहूँ उससे पहले वो बोल उठी, "वही दरवाजों के अंदर दरवाज़े...कहीं कोई रास्ता नहीं निकलता...मैंने साँस घुटने की हद तक कोशिश की फिर वापस लौट आई...कई साल गुज़र गए...कोई रास्ता नहीं मिला..." बूढ़ी जहाँ बैठी थी, मैंने उसके दायें तरफ देखा, वहाँ एक जंगला था, जो दरअसल एक रौशन दान था जो वक़्त के साथ-साथ इमारत के कमज़ोर होने पर जंगले सा मालूम हो रहा था। मैंने कुछ हिचकिचाते हुए बूढ़ी से कहा, "ये जंगला..."

उसने कहा, "इसमें से देख लो"। मैंने बाहर झाँका तो बाहर बर्फ ही बर्फ थी। कोई दरख्त नहीं, कोई छोटा-सा पौधा या परिंदा या जानवर नहीं...सिर्फ बर्फ।

"मगर ये बर्फ पिघलती तो होगी कभी...", मैंने पूछा।

उसने एक सर्द आह भरते हुए बताया, "नहीं...ये बर्फ साल दर साल, मानों सदियों से इसी हाल में है, जिससे मुझे मुसलसल ठण्ड लगती रहती है। यहाँ मौसम नहीं बदलते"। और वो रुआँसी हो गयी।

मुझे अंदाज़ा हो गया था कि फिलहाल यहाँ से निकलने की कोई सूरत नहीं। और मैं अब ये भी समझने की कोशिश कर रही थी आखिर बूढ़ी है कौन, उस का मुझसे क्या ताल्लुक़ है, और पहले वो, उसके बाद अब मैं यहाँ कैसे पहुँचे?

"अच्छा, खाती क्या हो?", मैंने उस से पूछा।

उस ने बताया, "अपनी खाल"।

मैंने बूढी को गौर से देखा, और कहा, अब तक फिर ख़त्म कैसे नहीं हुई?

उसने कहा, "ये तो तुम्हारा पहला सवाल होना चाहिए था"।

मैंने 'हम्म' किया और फिर कुछ सोचने लगी या फिर सोचने का ढोंग करने लगी ताकि मैं उसे बेवकूफ न लगूँ। मैं वापस लाइब्रेरी के पास गई, वहाँ से एक किताब उठाई, लेखक का नाम पढ़ा और मैंने उस से कहा, "ये नाम कुछ जाना पहचाना लग रहा है। उसने बताया कि ये उसी का नाम है। "तो आप लिखती हैं...", मैंने कहा। "लिखती थी, पिछली सदी में, 100 बरस पहले शायद", उसने संवेदनहीनता के साथ कहा।

किताब का उन्वान था "ख़ला का तिलिस्म"। मैंने उस किताब की कहानी से जाना।

"एक बड़ा सा, बहुत बड़ा सा, देव हैकल सा मकान था, जिसमें ऐश-ओ-आराम की लगभग सभी चीज़ें मुहैया कराई गई थी। मकान में चंद अफ़राद थे। मकान, जो कभी घर न हो पाया, का वाहिद मर्द तिजारत के लिए अमूमन बाहर जाता था, यूँ मकान में सिर्फ एक औरत और उसके बच्चे रहते और मकान के बाहर दो हिजड़े दरबान हमेशा तैनात रहते थे।

इस तरह मकान चारों तरफ से बंद रहता था। मकान एक सुरंग की तरह था, न कि गोल या चौखुटा, और न ही कई मंज़िला। शुरू होता तो ख़त्म होने का नाम ही न लेता। एक रौशनदान था जिसमें से सर्दियों की धूप छन्न कर आती मगर वो जल्दी ही ग़ायब भी हो जाती। शामें लंबी होतीं और शामों से भी लंबी रातें। ऐसी रातों में सिर्फ कुत्तों के भोंकने की आवाजें आतीं। कुत्ते मुसलसल भोंकते रहते और भोंकते रहते और भोंकते ही रहते।

गर्मियों में धूप आती भी तो उसे वो नातमाम कैलुला निगल जाता, सपहर पंखी के सहारे हवा देने में और कहानियाँ कहने और सुनने में निकल जातीं। यूँ धूप का कोई ख़ास एहतराम

न होता। और गर्मियों की रात का क्या ही ज़िक्र करें, देर से आती और आप उसे महसूस करें इससे पहले ही ख़त्म भी हो जाती, पारिजात के फूलों की मानिंद।

अब बची बारिशें। घुँघरू बाँधे बारिश की बूंदें उस रौशन दान से ऐसे नाचती हुई मकान की दीवारों और फर्श से टकराती जैसे समंदर की तेज़ लहरें चट्टानों पर टकराती हों। हमारी आँखें सतरंगी ख्वाब देखती। न हमें नाचने की इजाज़त थी, न गाने की, न बाहर के लोगों से बात करने की, न बाहर जाने की, न जीने की और न ही मरने की।"

चूँकि कहानी लंबी है इसलिए मैं ये कहानी पढ़ने की बजाए सिर्फ सुना देना बेहतर समझती हूँ।

बात ये है कि मकान में रहनेवालों की सपहर और शाम को चलने वाली कहानियाँ ख़त्म होने लगीं, कहानियाँ कई दफ़ा दोहराई भी जाने लगीं और यूँ अब इन कहानियों में बोरियत का एहसास होने लगा। कहानियाँ भी मकान की वाहिद औरत के बचपन में सुनी कहानियाँ होती, मकान के बच्चों ने न कुछ देखा था और न ही कुछ मुख्तलिफ सुना था। बातें करने को कुछ रहा नहीं, आसमान दीखता नहीं था, न ही तारे और न ही चाँद, बात की भी जाए तो किसकी?

मकान की वाहिद लड़की अब जवान होने लगी, उसके अंदर का समंदर पहाड़ों को भी डुबोने को आतुर था। मगर क्या ये मुमकिन है? हाँ, हो सकता है जैसे कि प्लेटो के एटलांटिस में।

यहाँ तक पढ़ने के बाद मैंने ये राय क़ायम कर ली थी कि ये जो लड़की है इस किताब में, ये बूढी औरत वही है। तो क्या ये मुमकिन है कि वो समंदर अब बर्फ की सूरत में यहाँ बाहर जमा हुआ दिखाई दे रहा है? बहरहाल मैंने फिर पढ़ना शुरू किया और वो नीचे बयान कर रही हूँ–

एक रोज़ जब घर का मर्द तिजारत करने गया हुआ था तब कुछ डाकुओं ने बस्ती से दूर इस मकान में पनाह लेने की सोची। उन्होंने उन दरबानों को उस देव हैकल मकान के एक कमरे में क़ैद कर लिया। घर के बाक़ी चार अफराद को ये कहकर इत्मीनान दिलाया गया कि उनका इरादा लूट या डकैती का नहीं है, इसलिए औरत और बच्चों को मकान के एक अलग हिस्से में ही रहने की हिदायत दी गई। यूँ मकान का मरदाने वाला हिस्सा फैल कर घर के दो तिहाई हिस्से को ले उड़ा और ज़नानख़ाने में आया एक तिहाई हिस्सा।

डाकू सारा दिन चौसर खेलते, फिर शाम होते ही शतरंज की बिसात बिछती, और बारी बारी से वो लोग खाना पकाते, दिन में सिर्फ दो बार। फीके पकवान वाले घर में बिरयानी की खुशबू रूह तक उतर आती। यूँ दो महीने बीत गए। घर की लड़की जवान होने लगी थी और उसकी माहवारी शुरू हो गई थी। उसकी माँ ने उसे कपड़ा दिया और कहा छुपाकर गुसलखाने में ले जाना। लड़की को पहली माहवारी से घबराहट महसूस होने लगी। उसके रुखसार गर्म और लाल हो गए और हाथ पैर काँपने लगे। वो डरी सहमी जब गुसलखाने से निकली तो उन डाकुओं में से जो सबसे छोटा था उसको उस पर कुछ शुब्हा हुआ मगर फिर वो अपनी बीड़ी सुलगाने लगा। थोड़ी देर बाद लड़की फिर डरी सहमी निकली, गुसलखाने में गई और फिर छत की तरफ जा ही रही थी हाथ में कोई हाल ही में धुला हुआ कपड़ा लिए, कि वो डाकू लपक कर ज़ीने पर उसके सामने आ खड़ा हुआ। उसने लड़की को घूरना शुरू कर दिया। लड़की मगर पहली माहवारी से पहले से ही घबराई हुई थी, फिर अचानक ये डाकू उसके और क़रीब आ गया। लड़की की साँसें तेज़ हो गयीं और मुट्ठी और मज़बूत। अब डाकू को यक़ीन हो गया था कि लड़की कुछ लिखकर छत से फेंकने जा रही है। उसने लड़की के दोनों हाथों

को अपने दोनों हाथों में भींच लिया। उधर लड़की की आँखों में आँसू तैरने लगे। तभी डाकू को अपने हाथों में गीलापन महसूस हुआ। जब उसने वो कपड़ा देखा, कपड़े की मुश्क से वो समझ गया माजरा क्या है। उसे समझने में शायद इसलिए भूल हुई क्योंकि पिछले दो महीने में ऐसा कुछ नहीं हुआ था। उसे पता चल गया था कि लड़की को पहली बार माहवारी आई है। वो जल्दी से भाग कर नीचे आ गया। लड़की भी थोड़ी देर में नीचे आ गई।

उस दिन के बाद उस डाकू ने अपनी आँखें नीची ही रखीं। लड़की के दिल में मगर अब उसके क़रीब जाने की चाह जागने लगी। उसकी हालत तूफ़ान में फड़फड़ाते पत्तों की मानिंद हो गयी थी। बरसात का मौसम ख़त्म हो चुका था और उसका जिस्म इस क़दर जल रहा था जैसे वो अपनी ही तपिश से भस्म हो जाएगी।

उन दोनों में थोड़ी बहुत बात भी होने लगी थी। एक रोज़ लड़की ने उससे पूछा, "आप अपना सारा काम खुद करते हैं?"

डाकू ने कहा, "हाँ, और कौन करेगा? और क्यूँ?"

लड़की ने पूछा, "शादी के बाद भी आप अपने काम खुद करेंगे?"

डाकू ज़रा मुस्कुराया और बोला, "शादी होगी ऐसा तो नहीं लगता, मगर अगर हो भी गई तो अपने काम तो खुद ही करूँगा"।

लड़की ने बताया, "मगर मेरे बाबा तो अपना काम खुद नहीं करते, उनके काम तो माँ ही करती है"।

डाकू हँस पड़ा, फिर एक ज़हरीली सी हँसी के साथ बोला, "मोहब्बत नहीं बस अदाकारी है, अभिनय है"।

लड़की अब मोहब्बत के साथ-साथ अक़ीदत भी महसूस करने लगी थी।

उस डाकू को बाक़ी डाकुओं ने समझाया, "हमारा काम ख़त्म हो, कोई इंतजाम हो और हमें निकलना है, ये बात याद रहे, बाक़ी तुम समझदार हो।"

उस डाकू ने लड़की को फिर कभी आँख उठाकर नहीं देखा मगर लड़की किसी न किसी बहाने से चुपके से उसे देख ही आती।

एक दिन उस डाकू ने लड़की को बुलाया और पूछा, "कितने साल की हो?"

लड़की ने बताया, "तेरह"।

डाकू बोला, "और मेरी उम्र मालूम है?"

लड़की चुप रही। उसने अब डाँटने के लहजे में पूछा, "पता है मेरी उम्र क्या है?"

लड़की ने कहा, "नहीं"।

डाकू बोला, "छब्बीस, तुमसे दुगनी। पता है औरत और मर्द का रिश्ता क्या होता है?" लड़की चुप चाप खड़ी उसे देखती रही। और डाकू बिना कुछ कहे वहाँ से निकल गया।

एक महीना और बीत गया। पतझड़ का आगमन हो चुका था और दिवाली आने को थी। चूँकि घर उत्तर पश्चिम से आये पंडितों का था, घर में उन डाकुओं ने पेंट करना शुरू किया जो धनतेरस तक मुक्कमल हो गया। ये देख कर घर की मालकिन अचंभित हो गई। घर के लोग उत्तर पश्चिम से हिजरत करके पूरब के इस क़स्बे में आ कर बस गए थे। न यहाँ के लोगों की भाषा समझते थे, न ही खान पान एक जैसा था, और न ही रंग और लिबास एक जैसे थे। शायद यही वजह थी कि घर के मर्द को छोड़कर बाक़ी किसी को बाहर जाने की इजाज़त नहीं थी। खैर!

फिर डाकुओं के जाने का वक़्त आया। उन सबने अपना सामान बाँधा। जहाँ वो खुद

रहते थे, उस जगह की सफाई की और उन हिजड़ों को सख्त हिदायत के साथ कुछ पैसे भी दिए। घर की मालकिन से हाथ जोड़कर माफ़ी माँगी। वो लड़की भी अपनी माँ के पास खड़ी थी इस उम्मीद से कि शायद अब वो डाकू उसे देखे मगर उसने अब भी उसे नहीं देखा।

वो चले गए।

घर का मालिक वापस आ गया और घर जैसा था वैसा ही लग रहा था। बाहर से सब वैसा ही था मगर अंदर से सब बदल गया था, घर के बाक़ी अफ़राद के अंदर से। डाकुओं की ख़बर छुपा दी गयी इस तरह जैसे कुछ वाक़या पेश ही न आया हो। घर के बच्चों ने भी फ़रामोश के इस ढोंग को इस क़दर अंजाम दिया कि एक ज़माने बाद उन्होंने ख़ुद अपने आप को मना लिया कि वो कोई ख्वाब ही था।

लड़की ने जवानी की दहलीज़ पर क़दम रखा था और एक डाकू से इस कद्र मुतास्सिर थी की जब वो गए उसकी चीख, उसकी सिसकियाँ उसके अंदर घुट कर रह गयी। वो रो भी ना पायी, और यूँ उस वाक़्ये को अपने दिल के एक कोने में दफ़न किया जो वक़्त के साथ साथ उसके अंदर एक खंडहर की शक्ल में उभर आया।

डाकू कब के जा चुके थे बिना कुछ कहे। उस लड़की को सिर्फ उस डाकू के नाम के सिवा और उसके बारे में कुछ नहीं पता था। वक़्त बीतता गया और एक वक़्त ऐसा भी आया जब लड़की को तकिये के एक और इस्तेमाल का राज़ मालूम हुआ। ऐसी सूरत-ए-हाल में एक वो डाकू ही था जिस का तस्सव्वुर वो कर सकती थी। वो ख़ुद अब उस डाकू की सी होने लगी। आख़िरकार उसमें और उस डाकू में सिर्फ मर्द और औरत के जिस्म का ही फ़र्क़ था। बाक़ी सब एक जैसा।

आगे की कहानी मुझे कुछ ठीक ठीक समझ नहीं आई, इसलिए मेरी दिलचस्पी भी कम होने लगी और अंततः मैंने किताब को वापस किताबों की रैक में रख दिया।

मुझे फिर अपनी फिक्र हो आई। आखिर मेरा वजूद क्या है? और मैं यहाँ आई कैसे? मुझे कुछ याद नहीं आ रहा था। मुझे सिर्फ़ वो साया याद था जिसने मुझे ओढ़ लिया था। बाहर से जो सिर्फ साया नज़र आ रहा था, उसमें इतनी गहराई कैसे? कैसे वो साया अपने अंदर एक खंडर को छुपाये था?

मैंने अपने हाथों को गौर से देखा, फिर अपने काले पठानी कुर्ते के अंदर झाँक कर देखा। मेरे जिस्म से पता ही नहीं चल पा रहा था कि मेरी उम्र क्या होगी? क्या पीछे कोई मेरा इंतज़ार भी कर रहा होगा? क्या बच्चे हैं मेरे? हैं तो कितने बड़े? सोचते सोचते मुझे नींद आ गई। गहरी नींद। मगर मुख्तसर सी। मैं हड़बड़ा कर उठी, शायद कोई ख्वाब हो। मगर नहीं, मैं उसी खंडहर में मौजूद थी।

मैंने वापस वो किताब निकाल ली। कुछ पन्नों को दीमक चाट गयी थी। मैंने आखिर के कुछ पन्ने पलटे और पढ़ना शुरू किया—

"घर में जो हादसा पेश आया, उसके बाद घर की दीवारों पर गोह रेंगने लगे थे। घर की दीवारों पर काई जम गई थी। गहरे हरे से काले रंग में तब्दील हो जाने वाली काई जैसे हमें पुराने छोड़े हुए मकानों की दीवारों पर मिलती हैं। गोह की तादाद दिन-ब-दिन बढ़ती जाती थी। वो घर के हॉल के बाएँ तरफ स्थित कुएँ के रास्ते आते थे और दीवारों पर रेंगने लगते थे। वो सिर्फ रेंगते ही नहीं थे बल्कि दीवारों की काई को चाटते भी थे। और जैसे ही वो पीछे मुड़ते, वो घर के लोगों को देखकर गुस्से से साँप की तरह फिस्स-फिस्स करने लगते और थूक उगलने लगते। ये थूक जिस किसी पर भी पड़ता वो पत्थर में तब्दील हो जाता। यूँ एक

एक करके मेरे घर के सारे अफ़राद पत्थर में तब्दील हो गए और वक़्त के साथ साथ किन्ही मुजस्समे से मालूम होने लगे। मैं मगर किसी कोने में बैठकर ये तमाशा देखती रही। मेरी हिम्मत न हुई कि मैं उस कोने से उठ कर कहीं किसी कमरे में जा कर छिप जाऊँ। वो गोह कभी नहीं थकते और मुसलसल अपना काम करते रहते। मैं ऐसे ही इन जीवों को देख देखकर दिन काटती। कुछ वक़्त के बीतने के बाद, रात होने पर वो कुएँ में वापस चले जाते। एक रात मैंने कमरों का रुख किया मगर कमरों में दीमक भर आई थीं। ऐसे में मुझे वो कोना ही सुरक्षित मालूम हुआ...और मैं अपना जी बहलाने के लिए फिर उस डाकू के ख़यालों में चली जाती थी। बाहर जाने का ख्याल एक बार आया था, मगर फिर बाहर की दुनिया का अंदाजा न था, बस्ती भी घर से बहुत दूर थी और जिस दुनिया को देखा ही नहीं, उसकी चाहत भी क्या। मेरा वजूद सिर्फ अब उस डाकू के ख्याल से मुकम्मल था।

रफ़्ता-रफ़्ता मैं अपने ही जिस्म का एक तिहाई हिस्सा औरत थी और दो तिहाई हिस्सा मर्द"।

इतना पढ़ते ही मैंने फिर से उस सीलन भरे खंडहर की दीवारों को देखा। मेरे लिए वो सब नार्मल ही था क्योंकि खंडहरों की तो दीवरें ऐसी ही होती हैं। मगर यहाँ कोई दीमक या गोह नहीं दिखाई दिए। मैं बेचैन हो गयी आख़िर उस घर में ऐसा क्या वाक़या पेश आ गया था कि उसकी हालत ऐसी हो गयी। ये तो कोई बद्दुआ जान पड़ती थी, कोई अभिशाप। मैं सोचने लगी क्या उन पन्नों को दिमाक खा गयी या किसी वजह से ये पन्ने ख़राब कर दिए गए हैं। मैंने गौर से देखा, पन्नों को दीमक ने ही खाया हुआ था। ऐसा आख़िर क्या हुआ था जो सिर्फ उन्हीं पन्नों को दीमक खा गयी?

मैंने फिर किताब का रुख किया।

"वक़्त बीत रहा था। दिन से रात, रात से दिन हो रहे थे, मौसम बदल रहे थे मगर सिर्फ रौशनदान में। घर के अंदर तो सिर्फ सर्दी थी, एक शदीद किस्म की सर्दी, लंबी उदास सर्दियाँ जिससे घर की दीवारों पर काई भी जम गई थी। दूर कहीं से कभी कभी सुनसान रातों में टाँगे की आवाज़ या किसी बैल गाड़ी की घंटी सुनाई दे जाती थी। रौशनदान तक पहुँचने में मैं नाकामयाब ही रही। सच कहूँ तो मैंने पुरज़ोर कोशिश की भी नहीं, मुझे पत्थर में तब्दील जो नहीं होना था। और फिर रफ्ता-रफ्ता वो गोह मेरे घर के ही अफ़राद मालूम होने लगे। एक रोज़ जब वो रात को कुएँ में उतरे तो फिर दूसरे दिन बाहर नहीं आये, तीसरे दिन भी नहीं आये। और चौथे दिन मैंने जब कुएँ में झाँककर देखा तब एक शेषनाग सा दिखाई दिया जो शायद उन गोह को निगल गया था। मगर शेषनाग कुएँ से बाहर नहीं आया।

अब मैं आज़ाद थी। मुझे अब उस डाकू को तलाश करना था। मैंने घर का सदर दरवाज़ा खोला और बाहर निकल आई। थोड़े ही क़दम चली थी कि महसूस हुआ, लोग मुझे देख डर कर भाग रहे हैं। मैंने अपने हाथों को देखा, मेरे जिस्म पर पीली पीली दरारें पड गयीं थी।

मैं शायद किसी जंगली जानवर सी मालूम हो रही होऊँ या शायद कोई और ही जीव, मुझे ठीक से नहीं मालूम मगर लोग भाग खड़े हुए। इसलिए मैं फिर अपने घर में वापस आ गयी। अब कभी बाहर न जाने के लिए। कितने ही साल बीत गए थे इस बीच। और मैं उस डाकू को, जिसके नाम के सिवा मुझे कुछ नहीं मालूम था, अपने ही मकान के अंदर तलाश करने में लग गयी। मैं उस ख़ाली मकान में चीख़ चीख़ कर उसे पुकारती शायद उस तक मेरी आवाज़ पहुँचे।"

आखिरी के पन्ने ग़ायब थे। अब मुझे कुछ-कुछ समझ आने लगा था। ये पन्ने जान

बूझकर ग़ायब किये गए थे। मुझे दफ़अतन महसूस हुआ जैसे वो साया कोई साया नहीं बल्कि उस लड़की की चीख़ थी जो साये के रूप में मुझ तक पहुँची थी। मैंने अचानक पलट कर देखा, बूढ़ी अब वहाँ नहीं थी। उसकी जगह पर एक बड़े से साँप की केंचुली पड़ी थी। और मेरे पीछे एक साँप फन उठाये आ खड़ा हुआ जो मेरे क़द से दो गुना बड़ा था। मैंने अपनी कनखियों से साँप को अपने पीछे देखा और मैं शल पड़ गयी। साँप शेषनाग सा मालूम हो रहा था। अचानक मेरे अंदर से, मेरे अपने जिस्म के बायीं तरफ से एक मेरे क़द से दो गुना बड़ा साया बाहर निकला और एक मर्द में तब्दील हो गया और उसने मुझे, यानी मेरे बाक़ी बचे हिस्से को जो एक मुकम्मल औरत में तब्दील हो गया था, तेज़ी से अपनी बाँहों में समेट लिया और जैसे ही मैं अपने खुद के एक हिस्से की आगोश में थी, वो साँप वहाँ से ग़ायब हो गया। मेरे अंदर से निकले मर्द और औरत रौशनी में तब्दील होकर रौशनदान से बाहर निकल गए और रह गयी सिर्फ मैं। अब मुझे ये "मैं" का राज़ समझ में आ गया था। तभी मुझ पर नींद का ख़ुमार छाने लगा। मगर मैंने उसी दौरान देखा वो खंडहर धीरे-धीरे छोटा होता जा रहा था, और रफ्ता-रफ्ता गर्मी हो चली थी। मगर मुझे तो साहब नींद आ रही थी। गर्मी ऐसे बढ़ी जैसे की आग का गोला हो कोई, फिर अचानक से एक धमाका हुआ और खंडहर की दीवारें टूटने लगीं। इस दौरान मुझे नींद आ चुकी थी और कुछ ख्वाब सा भी महसूस हुआ था। खंडहर चकनाचूर हो चुका था, मगर मालूम नहीं मेरा क्या हुआ...।

मेरी आँख खुली। मैं हड़बड़ा कर घर की तरफ रवाना हुई।

मैंने अपने शौहर, जो अपनी स्टडी में बैठे काम कर रहे थे, को चुपके से प्यार भरी नज़र से देखा, उधर छत से देखा वो बूढ़ा वहाँ नहीं है, ना ही उसके गिर्द जो लोग खड़े थे वो, कोई नहीं हैं, जैसे कोई कभी था ही नहीं। बच्चे स्कूल से आ कर खेलने निकल गए थे, मैंने घर के कोने में पड़ी अपनी आरएक्स 100 उठाई, बालों को हवा से बातें करने के लिए खुला छोड़ा और सेवन हिल्स हस्पताल की तरफ से होते हुए आर. के. बीच को जाती हुई सड़क पर गाना गाते उतरने लगी, "ज़िंदगी एक सफ़र है सुहाना...यहाँ कल क्या हो किसने जाना।"

मग़रिब का वक़्त है। साहिल पर मैंने कई लोगों को किसी चीज़ के गिर्द इक्कठा होते देखा। मैं ठीक से देख नहीं पाई, लोगों की भीड़ ने उस चीज़ को गोलाई से ढका हुआ था। शायद वो कोई लाश थी जो समंदर से निकली थी। मगर मैंने रुक कर देखना ज़रूरी नहीं समझा आख़िर मरना कोई हैरान करने वाली बात तो नहीं। आये दिन कोई न कोई मरता ही है। वैसे भी मुझे अब फ़ुर्सत कहाँ कि ज़रा रुककर, भीड़ को हटा कर कुछ देखूँ। रोड के दायें तरफ समंदर था और बायें तरफ काली मंदिर से घंटियों की मद्धम सी आवाज आ रही है। उस वक़्त मैंने समंदर और आसमान को मिलते देखा। ऊपर बादलों में से दो साये निकल कर एक दूसरे की आगोश में आ गए। फिर जमकर बरसात हुई और बरसात में भीगे मैं और आरएक्सहंड्रेड।

संपर्क : 801, सी-ब्लॉक, पालम ग्रीन्स सुपरटेक, दिल्ली रोड, मुरादाबाद-244001 (उ.प्र.), मो. 7452005251

महाश्मशान में राग-विराग

रश्मि शर्मा

फरवरी माह... जाती हुई ठंड के दिन हैं। रोज की तरह मैं गंगा घाट के किनारे बैठी हूँ। उन घाटों से बहुत दूर... जहाँ शाम को आरती होती है। शुरू में उत्सुकता थी, तो जाती थी दशाश्वमेघ घाट गंगा आरती देखने। मगर अब...।

पानी से तो पुराना रिश्ता है मेरा। यह चनाब का हो, डल झील का या गंगा का... मेरे लिए तो आईना है जैसे। शाम ढलने लगी है। परछत्ते पर पसरी धूप सरक कर नीचे आ रही है। नीला आसमान शांत है। पीछे से कुछ आवाज़े आती हैं। देखती हूँ, एक बच्चा जमीन पर पड़े पत्थर को पैरों से उछाल कर खेल रहा है। उसी क्षण सामने खड़ी दीवार पर नजर पड़ती है मेरी... उस गुलाबी महलनुमा भवन की दीवार पर, जिसे किसी राजा ने अपनी रानी के लिए बनवाया था कभी... उसी दीवार पर तीन कबूतर एक दूसरे को चोंच मारने में लगे हैं... तभी एक खयाल कौंधता है भीतर, तो कबूतरों में भी तीसरा घुस आता है...? यह खयाल हो कि सवाल, पर उन तीन कबूतरों के साथ मिलकर मुझे अतीत की वीथियों में खींचे लिए जा रहा है...।

उन दिनों पापा की पोस्टिंग कश्मीर में थी। अक्सर रविवार को हम शिकारे में बैठकर घूमने निकल जाते। मेरी जिद पर कभी-कभी हाउसबोट पर भी ठहरते थे हमलोग। पानी की सतह पर तैरते किसी स्वप्न-घर की तरह लगते थे मुझे वे हाउसबोट। मुझे बहुत पसंद था तैरता घर, जैसे सपनों का घर। झील में लगने वाला सब्जियों का बाजार मेरे साथ-साथ मां को भी बहुत पसंद था। भले ही इसके लिए हमें बहुत सुबह उठना होता था मगर शिकारे पर बिकती ताज़ा सब्जियाँ माँ को लुभाती थीं।

हँस पड़ती हूँ...कैसा था जीवन, कैसा हो गया है जीवन।

सुहाती-सी धूप बदन को छू रही है। हल्का गुनगुना अहसास मन के खालीपन को भरने लगा है जैसे। मन में उतरी उदासी कुलबुला रही है बाहर निकलने को मगर कोई जरिया नहीं

मिल रहा। यूँ लग रहा है जैसे उदासी इस पल के लिए पहले से तय थी, कि इस वक्त उसे जाना नहीं है कहीं दूर मुझसे...।

चुबुक...सामने पानी में हलचल हुई। एक मछली सतह से उछलकर पानी में फिर डूबी। मेरी चौकन्नी नजरें देखने लगीं कि कहीं आसपास कोई बगुला इन्हें आहार बनाने की ताक में तो नहीं।

''चूम लो उठाकर....'' कानों में पापा की आवाज तैरी जैसे।

जिस हाउसबोट पर हम रुकते, उसके मालिक का नाम बिलाल था। पर वो हमारे लिए कभी महज हाउसबोट वाले नहीं थे। उनका शिकारा हमारे लिए घर का ही एक्स्टेंसन था। माँ कहती हैं, बिल्कुल अक्षय कुमार की तरह दिखता था बिलाल। मगर मेरा वास्ता तो जावेद से ही था। शिकारे वाले अंकल का लड़का जावेद मेरा हमउम्र था। जब भी हम हाउसबोट पर ठहरते, मैं उसके साथ खेलती रहती। सुबह बर्फ की परत बिछी होती पूरे बोट पर और माँ-पापा अंदर कहवे का आनंद उठाते होते, मैं जावेद के साथ कभी इस छोर, कभी उस छोर दौड़ती रहती।

बिलाल अंकल अक्सर अपनी छोटी-सी नाव लेकर मछली मारने निकल जाते। एक दिन हम हाउसबोट पर खेल रहे थे और अंकल ने मछलियों से भरा जाल हमारे सामने पलट दिया। छटपटाती मछलियों को देखकर जाने क्या हुआ कि मैं एक-एक कर उन्हें उठाती और चूमकर पानी में डालती जाती।

बिलाल अंकल लौटे तो यह देखकर मुझे डाँटने के बजाय हँसते हुए पापा के पास लेकर गए...।

''साहब, आपकी बेटी तो सबसे अलग है। हमलोग मछलियाँ खाते हैं, ये मछलियाँ चूमती है।''

बहुत देर तक मम्मी-पापा इस बात पर हँसते रहे थे। मैं बिलाल अंकल का शिकारा और डल लेक मे चार चिनार पर बिताया वक्त कभी नहीं भूलती। पतझड़ के मौसम में जब चिनार के पत्ते झड़कर पूरी धरती को लाल कर देते थे, तो जी करता था कि बस उन्हें देखती ही रहूँ। कश्मीर छोड़ते वक्त जितना दुख हमें हुआ था उतना ही बिलाल अंकल को भी। मुझे रोते से चुप कराने के लिए ही शायद अंकल ने कहा था—

''ओ बेबी, रोने का नहीं। क्या तुम जावेद से शादी बनायेगा? देखो, तब तुम्हें यहाँ से नहीं जाना होगा कहीं। बड़ी होकर लौट आना तुम...हमलोग इंतजार करेगा। आओगी न?''

जाने के बाद कब कौन लौटता है? बहुत सालों तक पापा चिढ़ाते रहे...जावेद इंतजार करता होगा, चलो कश्मीर चलते हैं। मछलियाँ नहीं चूमोगी?

शुरू में मैं चिढ़ जाती, फिर सोचती कभी-कभी, जावेद भी तो मेरी तरह बड़ा हो गया होगा। कहीं मिलेगा तो क्या एक-दूसरे को पहचान भी पाएंगे? क्या वो भी मुझे याद करता होगा? अक्सर जब डल लेक या मीनाबाजार जाती थी माँ, तो अलिफा आंटी को साथ लेकर ही जाती थीं। तब मैं और जावेद उनके साथ-साथ घूमते रहते, उन दुकानों में जहाँ कपड़े से लेकर आभूषण तक मिलते थे। वहीं एक अंकल ने हमारे सामने लकड़ी के दो नाव बनाकर दिए थे। मैं उसे अपने साथ लेकर आई थी, दूसरा जरूर जावेद ने सँभालकर रखा होगा।

उसके लिए मुझे ढूँढ़ पाना मुश्किल का काम है। मगर मैं तो उन्हें तलाश ही सकती हूँ। तब मैं अंकल के हाउसबोट को गुलाबी परदों में लगे बड़े-बड़े लाल फूलों के कारण दूर से ही पहचान लेती थी।

उस हाउसबोट का नाम आंटी के नाम पर था- 'अलिफा हाउसबोट'। बेशक अब भी होगा... कई बार सोचा था कि किसी दिन पापा से पूछूँगी कि उनके पास बिलाल अंकल का फोन नंबर है क्या?

''दीदी...आज नहीं चलोगी बीच नदी में...?'' नाव वाला लड़का रनधीर आवाज दे रहा था। वह जानता है कि अकेले नाव पर बैठकर मंथर गति से नदी के साथ बहते जाना पसंद है मुझे। "नहीं..." उसे तो यह भी पता है कि देर रात किसी के साथ नाव की सैर करना कभी बहुत प्रिय था मुझे। हमारे प्रेम का गवाह रहा है यह लड़का, मगर इसने कभी कोई सवाल नहीं पूछा।

मैंने भी कहाँ पूछा था कोई सवाल अयन से....? उस दिन भी नहीं, जब पहली बार गंगा किनारे हम बैठे थे। गहराती रात में पानी पर झिलमिल करती रौशनी की झालर थी। खाली किश्तियाँ किनारों से बँधी बस डोल रही थीं। पानी में काँपती उन रंगबिरंगी छवियों को मैं एकटक निहार रही थी कि तभी गूंजा था उसका स्वर—''मैंने जोग ले लिया...अब जोगी हो गया हूँ मैं।''

आँखों में सवाल था मगर जुबाँ चुप थी मेरी। जानती थी, खुद ही कहेगा वो जो कहना है। किसी से कुछ कुरेदकर पूछना मेरी आदत नहीं। हालाँकि हमें मिलते हुए एक महीना होने को आया था, मगर उसने जो बताया, जितना बताया, बस उतना ही सुना।

माँ की अस्थियाँ लेकर आया था अयन बनारस। उदास और दुनिया से बेजार-सा फिरा करता था गंगा घाट पर। वहीं किसी दिन टकराया था मुझसे। मैं गंगा आरती देखने अक्सर जाया करती थी। नदी का कलकल बहुत भाता था पर उदासी सख्त नापसंद थी मुझे।

एक खिलंदड़ और जीवन से भरपूर लड़की का सामना हुआ बेहद उदास और मायूस से लड़के से। फिर दोस्ती हो गई। तब लगता था मैंने उसे अपने रंग में रंग लिया है... पर अब उसके रंग में रंगी मैं सोचती हूँ—क्या वो रंग असली था, जो मुझे दिखता था उन दिनों? सच कहूँ तो पानी की तरह रंग भी बहुत पसंद हैं मुझे, पर रंगों का यह खेल कभी नहीं समझ पाई मैं।

उस दिन हम गंगा किनारे तुलसीघाट पर बैठे थे। जरा और करीब सरक आया था वह- ''हाँ, जोगी ही तो हूँ। सब छोड़ आया हूँ पीछे। वैसे भी माँ के सिवा कुछ और नहीं रह गया था जीवन में। मगर अब....''

कहकर ठहरा वो, मेरी आँखें ठहरीं उस पर...।

''सच कहता हूँ...बनारस को अंतिम ठिकाना मानकर ही आया था मैं। गंगा बहुत विशाल हैं। जी न लगा तो इस माँ की गोद में ही...'' गंगा की छोटी-छोटी लहरियाँ उसकी आँखों में किसी सागर-सी उतर आई थीं। निमिष भर खुद को सहेजने के बाद किसी गहरे इनार से आती-सी उसकी आवाज़ फिर से गूँजी थी- "आखिर बनारस में मोक्ष प्राप्त करने ही तो लोग आते हैं... तुलसीदास ने रामचरित मानस में लिखा है न—महामंत्र जोइ जपत महेसू, कासी मुकुति हेतु उपदेसू।''

उस क्षण उसके शब्दों में उतर आया वह वैराग्य मेरे लिए नितांत अपरिचित था... एक पल को बहुत अनजाना-सा लगा मुझे अयन, मगर दूसरे ही पल वही पहचाना हुआ लड़का मेरे सामने था-''आँखों में अब तेरे सिवा कोई नहीं अपरा। एक भी ऐसा चेहरा नहीं दुनिया में जिसे देखने का दिल करे। अब तो मैं किसी को देखकर भी नहीं देखता। मुझे हर तरफ बस तुम नजर आती हो। और मैं किसी को देखना भी नहीं चाहता। दुनिया से उदासीन हूँ,

इसलिए खुद को जोगी कह रहा हूँ।''

मैं हँस पड़ी थी। ''मेरे प्यार में आकंठ डूबने का दावा कर रहे हो और खुद को जोगी कहते हो?''

''जो ईश्वर में रम जाता है, सिवा उसके जिसे कुछ नहीं नजर आता, दुनिया उसे जोगी ही तो कहती है। मैं भी सिर्फ तुममें डूबा हूँ। जोग लगा लिया। सब कुछ मान लिया तुम्हें। अब बताओ तुम्हीं, ऐसे इंसान को और क्या कहेंगे, क्या कहते हैं?''

''चलो, आज गंगा की लहरों को नाप आएँ। तुम चप्पू चलाना और मैं नाव में लेटकर सुनूँगी जल-संगीत।'' मंत्रबिद्ध सी बोल उठी थी मैं।

पूर्णिमा थी उस रोज। लहरों पर हिचकोले खाती नाव में लेटकर नीले आसमान पर जगमगाते चाँद तारों के देखने का सुख अनिर्वचनीय था... अर्धचंद्राकार बनारस के घाट दूर से बेहद खूबसूरत लग रहे थे। चप्पू की नोक से निकलते जलसंगीत और आसमान से बरसती चाँदनी के मध्य किसी स्वप्नलोक में तैरते हुये मैंने उस दिन जाना कि अयन एक कुशल खेवैया भी है। मुझे याद नहीं कि रनधीर को क्या कहकर नाव से उतारा था अयन ने। पर दियारे की शीतल रेत को छूकर आती हवा ने जब मेरी नाभि को सहलाया तो जैसे किसी मीठी नींद से जागी थी मैं।

चाँदनी रात का वह नौका विहार महज एक सफर नहीं, सुरों के आरोह-अवरोह से भरा एक जिंदा अहसास था। गंगा पर तैरती हमारी अकेली किश्ती...झिलमिल..झिलमिल पानी की चादर, हवाओं का ओढ़ना, प्रेम का बिछौना और एकांत का संगीत। अयन का स्पर्श तो जैसे हमेशा के लिए मेरी काया का हिस्सा हो गया। बीच नदी में था वह रेत का द्वीपनुमा टीला, जहाँ रूकी थी नाव। उस जागरण के बाद देर तक मैं अयन के कंधे पर सिर टिकाये बैठी रही... मेरे कंधे को सहलाती उन हथेलियों का ताप मेरे अंतस को शीतल कर रहा था।

''दीदी, कुछ कहती क्यों नहीं...मैं रुकूँ या जाऊँ?'' एकदम चौंक पड़ी मैं। निमिष भर में नदी के उस द्वीप से किनारे पर आ लगना कुछ पल को अनमना कर गया था मुझे।

''आ...जाओ, आज मन नहीं मेरा कहीं जाने का। यहीं बैठूँगी मैं।''

''ठीक है दीदी, मगर देर तक मत बैठना। मैं सवारी लेकर जा रहा हूँ।'' यह छोटा-सा रनधीर इन दिनों मेरा बड़ा भाई बनता जा रहा है, शायद हमराज भी। कई बार वो मेरी आँखें पढ़ने की कोशिश करता है। जब नजरें मिलती हैं तो आँखें झुका लेता है वो।

आज यादों की नदी उफनाई हुई है। मैं बह रही हूँ...।

बनारस की गलियाँ हमारे साथ की गवाह हैं। ये सभी घाट हमारे साहचर्य के गीत दुहराते हैं। दूर लहरों पर कोई नाव डगमगाती नजर आती है तो लगता है, कोई दोनों हाथ हिलाकर मुझे बुला रहा है... पहली बार जब हम दोनों रनधीर की नाव में बैठे थे, उसने किसी कुशल गाइड की तरह हमारा परिचय बनारस के घाटों से कराया था। मणिकर्णिका घाट पर पहुँचते ही अयन भावुक हो आया था- ''उस दिन जब माँ की अस्थियाँ प्रवाहित की थी, दुख मेरे अंदर इतना पसरा हुआ था कि कुछ नजर नहीं आ रहा था। आज देखता हूँ तो लगता है कि वाकई जीवन का अंतिम सत्य तो यही है। एक दिन इसी घाट पर सैकड़ों जलती चिताओं के बीच एक चिता मेरी भी होगी।''

अनुराग और वैराग्य का एक मिलाजुला ताप उसके चेहरे पर दिखाई पड़ रहा था...धू-धू कर जलती चिताएँ... हवा में फैली चिरांध...मोक्ष की प्राप्ति के लिए लगी लाइनें... रोज़मर्रा के व्यापार की तरह तोल-मोल करते कुछ दलालनुमा पंडित... शवों से चटकती आवाज़ों के

बीच कपालक्रिया के दृश्य... मेरे लिए लगभग असह्य था सबकुछ, पर अयन लगातार उन्हें किसी निर्विकार भाव से निर्निमेष देखे जा रहा था और मैं उसे... उस दिन पहली बार मुझे अहसास हुआ कि विकर्षण में भी कहीं एक आकर्षण होता है।

अयन के चेहरे पर वैराग्य की छाया घनी हो गई थी। मैं उसके विराग को जीवन के राग में बदलना चाहती थी। शंकर ने पार्वती के खोए कर्णफूल ढूँढे थे यहाँ...पर मैंने तो जैसे खुद को ही खो दिया था।

चिताओं की लपट में सिंके गंगा घाट पर कब गुम हो गई मेरे धड़कनों की नमी, यह पता ही नहीं चला। अब मणिकर्णिका घाट पर धूनी रमाने का मन होता है। सोचती हूँ, औघड़ों की तरह शरीर पर राख लपेटकर बम शंकर का आह्वान करती रहूँ। डोम राजा की तरह लकड़ी लेकर जलती चिता को कोंचती रहूँ, निर्विकार...।

रोज ही फेरा लगाया करते थे हमलोग। पानी से मेरी मोहब्बत देखकर उसे भी प्यार हो गया था इनसे। कई बार मुझे आने में देर होती तो उदास-सा बैठा मिलता था अयन असि घाट के किनारे। कितनी मछलियाँ देख लीं मेरे इंतजार में या फिर किस तरफ से किस चिड़िया ने आवाज लगाई, सब कुछ बहुत तफसील से बताता था मुझे। अगर कोई मछली किंगफिशर का शिकार बन जाती, तो वह मेरी तरह ही दुःखी होने लगा था।

बनारस के घाटों पर बिताए वे दिन मेरे बहुत करीब आ गए थे... इतने करीब कि अतीत की तहाई चादरों को खोलते हुए मैं यह भी भूल गई कि घाट पर अकेली हूँ मैं... वह जैसे हमेशा की तरह मेरे साथ था... उसकी उँगलियाँ सहसा मेरी उँगलियों के साथ खेलती सी लगीं... खुद में डूबी जैसे मैं उसी से बातें कर रही थी... समय ने हम दोनों के बीच से अपनी चौहद्दियाँ करीने से समेट ली थीं—

''अपरा, तुम्हें मछलियाँ बहुत पसंद हैं न। बिना नागा तुम्हें इनको चारा डालते देखता हूँ।''

''हाँ, ये भी पूछने वाली बात है?''

''तब तो तुम जावेद को भी नहीं भूल पाई होगी?'' न जाने वो मुझसे पूछ रहा था कि बता रहा था।

''बचपन या कहूँ कि तरुणाई के शुरुआती दिनों का दोस्त था जावेद। भूली तो वाकई नहीं हूँ, मगर तलाशने की कोशिश भी नहीं की कभी।''

'' क्यों नहीं की? अगर वो किसी दिन सामने आ गया तो...?''

'' तो...तो उस दिन का उस दिन देखा जाएगा। वैसे तुम क्यों उत्सुक हो इतना जावेद के लिए?'' मेरे जवाब में एक सवाल भी शामिल हो आया था।

''मैं जानना चाहता हूँ कि तुम कितनी शिद्दत से किसी के साथ जुड़ती हो और बिछड़ने के बाद क्या रुख होता है तुम्हारा?''

अयन के इस अनायास प्रश्न से कुछ असहज हुई थी मैं पर खुद को सहेजते हुये प्रकटतः इतना ही कहा था-''कौन कितने दिन किसके साथ रहता है, यह कहना मुश्किल। हमराही भी अक्सर बिछड़ जाते हैं कुछ दूर चलने के बाद।''

नहीं जानती मेरे इस जवाब से कितना संतुष्ट हुआ है वह, पर मैं भीतर से जरूर अनमनी हो गई हूँ... मेरे बिलकुल करीब बैठा अयन जैसे कुछ इंच अलग खिसक गया है, पर हमारा संवाद अब भी जारी है...।

कितनी अजीब बात है न, अतीत का भी अतीत होता है और एक ही समय में वक्त

कहाँ से कहाँ पहुँचा देता है हमें। मैं असि घाट के किनारे बैठी हूँ। गंगा और असि नदी का संगम स्थल है यह। हालाँकि अब असि नदी विलुप्त हो गई है, बस गंगा ही गंगा है। जैसे मेरा अस्तित्व तुममें विलुप्त हो गया है फिर भी तुम मुझमें जिंदा हो। क्या तुम्हें मेरा नाम याद है? क्या तुम भी मुझे याद करते हो, जैसे असि नदी को लोग याद रखते हैं विलुप्त होने के बाद भी। सबसे अंतिम घाट है ये असि घाट। इसके बाद दूर-दूर तक है बस नदी का उफनता फैलाव...।

कितने उत्साहित हुए थे तुम इस घाट पर आकर, जहाँ तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना की...और हाँ, इसी घाट पर देह भी तो त्यागा था उन्होंने। दो नदियों का संगम स्थल असि घाट एक दिन हमारे संगम का भी गवाह बना था। मगर इस जगह की नियति है कि कोई एक ही रह सकता है, दूसरा विलीन हो जाएगा। असि और हमारी नियति एक ही कैसे हो गई अयन? महाराज बनारस के बनाए इस घाट पर हमने साथ-साथ डुबकी लगाई थी। तीर्थ के लिए नहीं...अपने साथ की कामना से। और देखो...मैं विलीन हो गई। विलीन तो पंडित जगन्नाथ भी हुए थे, मगर अकेले नहीं। लवंगी साथ थी उनके।

गंगा दशहरा के दिन 'गंगालहरी' सुनकर मुग्ध हो गए थे तुम। पहली बार मैंने भी जब सुना था तो इसके रचयिता के बारे में जानने को व्यग्र हो उठी थी।

मेरी जिज्ञासा ने मुझे एक अनोखी प्रेम-कथा तक पहुँचा दिया था... 17वीं शताब्दी की बात है जब पंडित जगन्नाथ को एक मुस्लिम लड़की लवंगी से प्यार हो गया था। शाहजहाँ की छत्रछाया में उन दोनों की ज़िंदगी लालकिले में सुख से गुजर रही थी। मगर जब औरंगजेब ने दाराशिकोह का कत्ल कर दिया और शाहजहाँ को कैद में डाल दिया तो पंडित जगन्नाथ लवंगी के साथ भागकर मथुरा चले गए। मगर वहाँ जब उनकी विद्वता की कद्र न हुई तो विद्वानों के गढ़ काशी पहुँच गए, जहाँ मुस्लिम कन्या से विवाह के कारण ब्राह्मणों ने उनकी निंदा करते हुए जाति से निष्काषित कर दिया। अवसाद की दशा में वह गंगा की शरण में गए। किंवदंती है कि अपनी पवित्रता का प्रमाण देने के लिए पंडित जगन्नाथ ने गंगा घाट की 52 वीं सीढ़ी पर बैठकर गंगाजी की स्तुति की थी। हर श्लोक पर गंगा एक-एक सीढ़ी ऊपर उठती गईं और इस तरह उनके पास पहुँच कर उनका उद्धार किया।

दो प्रेम करने वाले गंगा में समाहित हो गए, मगर उनकी गंगालहरी का पाठ अब भी होता है उसी गंगा किनारे। शताब्दियाँ बदल गईं, मगर क्या अब भी प्रेमियों की राह आसान हुई है? पर अब तो ये सवाल ही बेमानी है मेरे लिए। नहीं, कोई शिकायत नहीं तुमसे। तुम्हें जाना था...तुम चले गये।

बनारस से जीवंत कोई और शहर नहीं, यह तुम भी मानने लगे थे और यहीं बस जाना चाहते थे। बनारस की तंग गलियों से गुजरते हुये गंगा घाट पर घंटों साथ गुज़ारना हमारी दिनचर्या का जरूरी हिस्सा हो गया था। उस दिन कचौड़ी गली की कचौड़ियों का स्वाद लेने के बाद बहुत दूर तक पैदल चलते हुये हम केदार घाट की तरफ बढ़ चले थे। बड़ी सँकरी-सी गली से होकर जाता है वहाँ का रास्ता- ठीक तुम्हारे प्रेम गली की तरह। उस दिन दूर-दूर तक कोई नज़र नहीं आ रहा था... गली में गूँजता सन्नाटा मेरे भीतर किसी अनाम भय की तरह उतर रहा था... तुम्हारी उँगलियों पर मेरी पकड़ मजबूत हुई जा रही थी और तुमने बहुत एहतियात से मुझे अपनी भुजाओं का सहारा दिया था। कुछ ही देर पहले बहुत तेज बारिश हुई थी... तुम्हारी बाँहों में बंधी मैं केदार घाट की ऊँची-ऊँची सीढ़ियों पर फिसलने के भय से मुक्त एक अनोखे आत्मविश्वास के साथ उतर रही थी। ब्रह्मवैवर्तपुराण में केदार घाट को आदि मणिकर्णिका

क्षेत्र के अंतर्गत माना गया है, जहाँ प्राण त्यागने से भैरवी यातना से मुक्ति मिल जाती है और व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है। तब न तो मुझे भैरवी यातना की कोई समझ थी न ही मोक्ष के प्रति कोई जिज्ञासा। तुम्हारा अनुराग ही जैसे जीवन का एक मात्र प्राप्य था...।

अचानक एक हूक-सी उठती है मेरे भीतर... पर तुम तो मुझे जीते-जी भैरवी यातना दे गए, अयन! जाने अब इस जीवित अपराजिता को इस भैरवी यातना से कौन मुक्ति देगा?

तुम्हें पता भी है कि यह भैरवी-यातना कैसी होती है? काश! इस यातना की तीव्रता का अहसास पहुँच पाता तुम तक... पर कितना अजीब है न, तुम ही मुझे इस यातना में छोड़ गए और तुम्हारी ही यादें सुकून भी देती हैं।

तुमने बार-बार मुझे स्पेशल होने का अहसास कराया... कितना स्निग्ध है तुम्हारे स्पर्श का वह अहसास जैसे कोमल फूल की पंखुड़ियों को कोई इस एहतियात से छुए कि छू भी ले और दाग भी न पड़े कोई। तब तो पीड़ा में भी आनंद था पर अब कई बार उस आनंद की खुरचनें भी पीड़ा देती हैं। सोचती हूँ कभी मिल जाओ तो उसी तरह तुम्हारा हाथ थाम केदार घाट की सीढ़ियों पर बैठ तुम्हें सुकून और यातना के दुकूल का यह अनुभव सुनाऊँ...।

घर में मम्मी-पापा को सब पता था। यह भी कि तुम अपनी माँ को खोने के बाद नितांत अकेले हो गए हो। उन्हें कोई परेशानी नहीं थी इस बात से क्योंकि उनकी अकेली संतान थी मैं। मेरी खुशी में उनकी खुशी। मगर उनको भी खुश कहाँ रख पाई मैं। तुम तो मोक्ष प्राप्ति के लिए आए थे। मुक्त होने की आकांक्षा थी तुम्हारी, और तुम मुक्त हो गए। न बताया तुमने कि कहाँ हो, न कभी पूछा था मैंने कि किस शहर की किस गली में घर हुआ करता है तुम्हारा।

बनारस की भूल-भुलैया जैसी गलियाँ हों या सारनाथ की हरियालियों में फैली विश्रांति... चाहे जितनी भी बार हो आऊँ, वहाँ हर बार तुम्हारे साथ जाकर कुछ नया-सा अहसास होता था। उस दिन गंगा उस पार रेत के फैलाव पर तुम्हारे साथ दौड़ते हुये जैसे मैं अपने किशोर दिनों में चली गई थी... तुम आगे-आगे थे और मैं तुम्हारे पीछे-पीछे... दौड़ते हुए थक कर मैंने अपनी हाँफती साँसों के साथ तुम्हें आवाज़ दिया था- ''जावेद प्लीज स्टॉप। ...रुक जाओ, अब दौड़ा नहीं जा रहा...''

जब तक मुझे अपनी गलती का अहसास होता और मैं तुम्हें तुम्हारे नाम से पुकारती तुम वापस आ गए थे...'' क्या कहा.... जावेद?''

''जाने कैसे निकल गया मुँह से। कभी उसके साथ खूब लम्बी रेस लगाया करती थी। तुमने उन्हीं दिनों की याद दिला दी अयन!''

तुम मुस्कुरा कर रह गये थे।

हम वहीं बैठ गए रेत पर। दिन बीत रहे थे, माहौल में एक ऊमस थी, मैंने महसूस किया थोड़े अनमने से हो गए थे तुम... घाट पर पसरा सन्नाटा जैसे हम दोनों के बीच आ कर बैठ गया था... उस दिन हम जल्दी ही घर लौट आए थे। हमेशा की तरह मुझे तुम घर तक छोड़ने आए थे... पर हमारे साझे पदचापों के बीच उस दिन एक गाढ़ी चुप्पी ने डेरा डाल दिया था...।

जाने क्यों उसी दिन माँ ने पूछा था तुमसे- ''क्या सोचा है तुमलोगों ने?''

''आंटी, बस कोई नौकरी मिल जाए। अपराजिता को घुमाने लायक तो हो जाऊँ... इसने तो बनारस का चप्पा-चप्पा दिखा दिया मुझे।''

''कहाँ, कश्मीर न?'' माँ मुझसे मुखातिब हुईं फिर खुद ब खुद बताने लगीं...'' इसे कश्मीर

जाने का बहुत मन है। इसकी ज़िंदगी के शुरुआती सोलह साल वहीं गुजरे हैं...बहुत मिस करती है यह कश्मीर को... डल झील पर तैरते हाउसबोट, सेब के बगान, बर्फबारी... सबकी बहुत याद आती है इसे...।"

''और जावेद की?'' अयन मुझसे पूछ रहा था।

''ऑफकोर्स हाँ!" तुम्हारे सवाल से खीझी थी मैं। मुझे समझ नहीं आ रहा था कि तुम उन दिनों बार-बार जावेद का जिक्र क्यों करते थे। तुम्हारे इस रवैये के प्रति मेरी यह प्रतिक्रिया थी या कुछ और, कश्मीर जाने की मेरी इच्छा जैसे और तेज हो गई थी...। वैसे भी आए दिन मीडिया में कश्मीर की चर्चा होती ही रहती है। एक बार जावेद नामक एक आतंकी के मारे जाने की खबर पढ़कर बहुत ही घबरा गई थी मैं... न्यूज़ एंकरों द्वारा निर्मित कश्मीर की छवियों ने पल भर को मुझे एक आशंका से भर दिया था... कहीं वह वही जावेद तो नहीं। पर अगले ही पल मैंने बरजा था खुद को... नहीं, जावेद ऐसा नहीं हो सकता।

तुम्हारी आवाज़ में जावेद का नाम अब भी गूँजता है मेरे इर्द-गिर्द... कहीं से भी चलकर कोई बात आती है और लगता है, तुम बोल रहे हो मेरे आसपास कहीं। कितना अजीब है न यह कि कोई पंक्ति...कोई बात या कोई मुहावरा जो तुम कभी बोल चुके हो, वो अब मेरे सामने आता है तो तुम्हारी आवाज़ बनकर। शब्द बड़े पहचाने से लगते हैं और स्वर तो जैसे तुम्हारे अलावा कोई बोल ही नहीं सकता।

उस रात बारिश हुई थी बहुत तेज। गंगा घाट किनारे रोज की तरह बैठे थे कि अचानक बरस पड़े बादल। दौड़कर छतरी के नीचे छिप गये थे हम। भीगा बदन काँपने लगा था मेरा। तुम्हारी चढ़ती सांसों ने जता दिया था कि बाहर की सर्दी अंदर की तपिश से हारने वाली है। कोई नहीं था आसपास। हाँ, दूर दो-एक चिताओं की धुआँती लपटें जरूर बारिश के बूँदों से लड़ने की कोशिश कर रही थीं... जिसे जहाँ जगह मिला भाग गया। वैसे भी हमारी तरह का पागल कौन होता जो मणिकर्णिका के आसपास प्रेम की माला में साँसों की मोतियाँ पिरोता। घाट की नीरव शांति के बीच तुम्हारे बाँहों का कसाव हमारे लिए कोई नई बात नहीं थी... पर नहीं जानती कि पल के सौंवे हिस्से में मेरे अंदर क्या कौंधा था उस दिन और मैंने तुम्हें रोक दिया था... "चलो अयन, देर हो रही है... हम घर चलते हैं... सुबह ही कश्मीर के लिए निकलना है... मम्मी पैकिंग के लिए मेरा इंतज़ार कर रही होंगी...।"

तुमने झटके से बाहों के बंधन ढीले कर दिए और मेरी हथेली थाम उसे रगड़कर गर्म करने की कोशिश करने लगे थे... कुछ पलों के मौन के बाद नरमाई से कहा था तुमने - ''तुम्हारी खुशी में ही मेरी खुशी है...''

मैं जूझ रही थी खुद से। जाने क्या चाहिए था मुझे। शायद यह अतीत का आकर्षण था जो अपनी अनिश्चितताओं के बावजूद मुझे खींचे जा रहा था। जाने क्यों यह अहसास हुआ कि तुम्हारा हाथ ही नहीं, साथ भी छूट रहा है। मैं डर गई थी... ऐसा तो मैंने कभी नहीं चाहा।

किसी अंत की शुरुआत थी वह शायद... तुम साथ थे...प्रेम छूट रहा था। मैंने तो हर पल सहेजने की ही कोशिश की थी... पर नहीं जानती थी कि साथ रहते भी साथ छूटता जाता है...इस बात को समझने में बहुत वक्त लग गया कि प्रेम भी छीजता है... कई बार अकारण ही।

मुझे अतीत इतना खींच रहा था कि वर्तमान को रोक कर रखना चाहती थी। अकेलापन से बड़ा दुख कोई और नहीं, यह तुम्हें देखकर महसूस किया था मैंने। कोई न जाए मेरे पास से, मैं न जाऊँ कहीं दूर....नित यही प्रार्थना करती रही। मैं बचाना चाहती थी तुम्हें...खुद को ...अपने रिश्ते को और उस अतीत को भी जिसकी स्मृतियाँ बार-बार खींचती थी मुझे... अंकल

के कहे शब्द बार-बार याद आने लगे थे... बड़ी होकर आना एक बार...हम इंतजार करेंगे। झील पर शिकारे में घूमने, कमल के फूल को छूने और चिनार के लाल पत्तों पर चलने की ख्वाहिश इतनी बुरी तो न थी। उन मासूम और अल्हड़ दिनों में डल की सतह पर तैरते हाउसबोट पर दिन-रात गुजारना और यहाँ गंगा की धारा पर हिचकोले खाते नाव की सैर अलग होकर भी मेरे लिए कभी अलग नहीं रहे... गंगा से डल को जोड़ती उन अदृश्य तरंगों को महसूसने से बड़ा कोई सुख नहीं था मेरे लिए। पर सारे सुख छलावा ही होते हैं, कहाँ पता था तब...।

शाम का अँधेरा घना हो गया है। दशाश्वमेध घाट से घंटे-घड़ियाल के साथ आरती का स्वर आना भी बंद हो गया है। बस दूर लहरों पर दीप जलते दिख रहे हैं। रोज की तरह आज भी वह बच्ची मेरे बगल में दीप और माचिस रख गई है। कभी हर शाम हमदोनों फूल के दोने के ऊपर कपूर की टिकिया जलाकर प्रवाहित करते थे। अब मैं अकेले ही दो दीये एक साथ प्रज्जवलित कर गंगा को अर्पित करती हूँ।

सामने की दीवार पर बैठे वे तीन कबूतर जाने किधर गए... पर कबूतरों का एक झुंड उतर आया है घाट पर। किसी पक्षी-प्रेमी ने जरूर दाना डाल दिया होगा।

याद आया कश्मीर में चरार-ए-शरीफ के दरगाह के ऊपर भी ढेर सारे कबूतर चक्कर काट रहे थे... कश्मीर पहले-सा कश्मीर नहीं रहा। चारों तरफ फौज ही फौज भरी है वहाँ। हाउसबोट और शिकारों से भरी डल झील की खूबसूरती भी कहीं से सहमी हुई-सी लगती है।

अलिफा हाउसबोट जिसके पर्दे पर लाल-लाल बड़े फूलों का प्रिंट हुआ करता था मुझे कहीं नहीं दिखा। जगह-जगह खोजने के बाद भी जब अंकल, आंटी और जावेद का कोई ठिकाना नहीं मिला मैं सूफी संत नूरुद्दीन नूरानी जिन्हें नुंद ऋषि भी कहा जाता है, के दरगाह में हाजिरी लगाने गई थी। वहाँ हिंदू और मुस्लिम दोनों की श्रद्धा है... मैं वहाँ मन्नत के रंगीन धागे बाँध आई। सुना है बाबा के मेहर से सब की मुरादें पूरी होती हैं।

धागा बाँधकर जब मैं लकड़ी की जालियों से अंदर झाँकने की कोशिश कर रही थी तो वहाँ अरबी या उर्दू में लिखी कुछ पंक्तियाँ नज़र आईं... शायद कोई पाक आयतें होंगी... उन्हें नहीं पढ़ पाने का बहुत अफसोस हुआ था। मगर वहाँ की हवाओं में कुछ ऐसा था जिसने एक रूहानी सुकून से भर दिया था मुझे... यह ठीक वैसा ही था जैसा गंगा घाट पर लगता है। लोगों ने बताया कि उस दरगाह को कई बार क्षति पहुँचाने की कोशिश हुई... मन्नत का रंगीन धागा बाँधते हुए मेरे मन में चरार-ए-शरीफ की सलामती की दुआएँ और आँखों में दरगाह पर लिखी उन आयतों की कौंध के बीच कानों में गंगालहरी के श्लोक गूँज रहे थे...।

कबूतरों के झुंड के गायब होते ही जैसे मैं किसी नींद से जागी थी... मणिकर्णिका घाट की चिताओं से जलता धुआँ बहुत ऊपर तक जा रहा है... दूर लाउडस्पीकर पर कहीं से रामचरित मानस के पाठ की आवाजें फिजाँ में गूंज रही हैं... बनारस इतने साल रहकर भी कभी यहाँ चैत्र नवरात्रि के सातवें दिन नहीं आ पाई। मगर इस साल जरूर जाऊंगी श्मशान महोत्सव में....नगरवधुओं का नृत्य देखने, भैरवी यातना में बदल चुकी उन स्मृतियों से दूर जाने की प्रार्थना करने...।

संपर्क : रमा नर्सिंग होम, मेन रोड, राँची-834001 (झारखंड), मो. : 9204055686

लंबी कविता

युद्ध और शांति

एकांत श्रीवास्तव

युद्ध और शांति

समुद्र बदल देता है
नदी का प्रवाह
युद्ध समय का प्रवाह
बदल देता है

चिड़िया का पंख
काटता है हवा को
और उड़ान के लिए बनाता है जगह
पतवार काटती है जल को
और नाव के लिए
रास्ता बनाती है
तुम काटते हो युद्ध में समय
और साँस लेने की
जगह बनाते हो
हवा में फूल नहीं, बारूद की गंध है

कविता का पानी
सभ्यता के पत्थरों को काटता हुआ
बहता है धीरे-धीरे
धीरे-धीरे-धीरे

शब्द संसार के बारे में होते हैं
दुःख, पीड़ा और यातना के बारे में
खुशी और वसंत के बारे में
हारिल पक्षी हैं कवि के शब्द
जो गाते हैं शांति के लिए

शांति जो बमवर्षक जहाज़ों के
उड़ने से पहले
थी इस धरती पर
थी प्रक्षेपास्त्रों के गिरने से पहले
शांति इतनी कि
रात्रि के अंतिम प्रहर में
तुम सुन सकते थे
समुद्र के साँस लेने की आवाज़

कहाँ उड़ गए इन गुम्बदों के कबूतर
पुराने घरों के बाशिंदे
कहाँ चले गए सब कुछ छोड़ कर
भूमि में बिखरे पड़े हैं उनके दाने
उनके पीने का जल हिलता है हवा में
कहाँ चले गए
शांति की खोज में
वे शांति कपोत

डोलता रहता है अशांत जल
इस मन का
व्यग्र, अधीर, बेचैन
और तुम जिसे नींद कहते हो
भ्रम है केवल दृष्टि का
बस मेरी आँखें सोती हैं
लेकिन मेरा हृदय
जागता रहता है दिन-रात
ताकता रहता है अँधेरे में—

अँधेरे में
जहाँ लाशें दफ़न की गई हैं
एक बेटे की लाश
सुदूर गाँव में
माँ ने जिसके लिए
बनाए हैं पकवान

एक युवक जो सैनिक है
पेट के लिए
किसी देश से जिसकी दुश्मनी नहीं
जो सिर्फ़ मोहरा है
प्यादा शतरंज का
और उसकी माँ
जो हर आहट पर
तेज करती है लालटेन की लौ
जिसे हर माह मनीआर्डर नहीं
बेटे का इंतज़ार रहता है

नहीं, अभी उस तक
नहीं पहुँची है यह ख़बर
लेकिन उस तक
पहुँच गया है उसका बेटा
आँगन की रातरानी में
जुगनू बनकर चमकता हुआ—
वैसे तो मैं नहीं आ सका माँ
तो आ गया इस तरह
मैं तुम्हारी नींद
और स्वप्न और रातरानी में
चमकूँगा तो तुम मुझे
पहचान लेना माँ
वैसे तो मैं नहीं आ सका...।

यह एक ख़बर है
जिसे पढ़कर सुनाने से
डरता है डाकिया

नहीं, मैं किसी ख़बर पर
यक़ीन नहीं करना चाहता
सिवाय आदमी के
बच जाने की ख़बर के
युद्ध इस समय की
सबसे भयावह ख़बर है
जो धमाकों की भाषा में
सुनाई देती है

बस करो कि केवल ऊपर-ऊपर

कठोर दिखाई देती है यह धरती
भीतर इसके जल है
और कोमलता इतनी कि बीज
आषाढ़ के आगमन तक
लंबी नींद सोते हैं

जल शांत रखना चाहता है अपना वेग
कि कट न जाए
मिट्टी तट की
डूब न जाए कोई नाव
हवा मंद रखना चाहती है
अपनी गति
कि झड़ न जाए
कोई अधखिला फूल
कोई युद्ध नहीं चाहता
तो आख़िर क्यों चल रहा है यह युद्ध?
किसकी इच्छा पर?
किसके लिए?
किसके विरुद्ध?

नफ़रत कभी बड़ी नहीं हो सकती प्यार से
शांति से कभी बड़ा नहीं हो सकता युद्ध
भूख के इस महाद्वीप में शांति
चंद्रमा या गुलाब का नहीं
रोटी का दूसरा नाम है
रोटी जो बनती है उस अन्न से
जिसे तुम
अपने गोदामों में सड़ाते हो
कृषक के उगाने के बावजूद
कृषक की संपदा नहीं अन्न
युद्ध का रास्ता
बाज़ार से होकर गुजरता है
पूँजी है आज
सबसे घातक अस्त्र
जिससे करते हो तुम वध
मेरे गरीब देश का

मैं चाहता हूँ एक बार फिर
वे सपने जागें
जो सोये हैं

महासागरों के तल में
धरती की नींद से बहुत दूर
धूप में गर्म होकर
पिघलें हिमशिखर
और धारण करें वसंत का वस्त्र

कितने वर्ष बीत जाते हैं
एक पेड़ के युवा होने में
तुम जिसे देखते-देखते काट देते हो
आरा मिल में दो फाँक होकर
गिरता है वसंत
कल जिसे आना था
इस धरती पर

भादों में
जब रात का रंग बैंजनी हो
कभी सुनना बरसते पानी में
भीगती हुई कोयल की कूक
यह ठीक तुम्हें अपने प्राणों से
उठती हुई महसूस होगी
बहुत आसान है
अपने कष्ट का विलाप
पर जो चीज़ हमें मनुष्य बनाती है
वह दूसरों के दुख में
भीगी हमारी आँख है

उन्मत्त हाथियों के पाँवों तले
दबी-कुचली घास है
यह जनता
तीसरी और चौथी दुनिया में
डर-डर कर साँस लेती हुई
फिर भी बड़ी बात है असहमति
बड़ी बात है साहस असहमति का

यदि जीत असंभव हो
तो हार मान लेने
और खुद को दूसरों की दया पर
छोड़ देने से
कहीं बेहतर है
संघर्ष करते हुए खेत रहना

हाँ, संघर्ष
जिससे बनता है इतिहास
और तुम
इतिहास में जाने से डरते हो
क्योंकि बाकी है
वहाँ आँच अब भी
बाकी हैं राख के भीतर
सुलगते कोयलों के सुर्ख़ फूल
हाँ, अग्नि ही फूल है उनके लिए
जो जूझते हुए
जीते हैं अपना जीवन

हर युद्ध में
एक विजेता है; दूसरा पराजित
जो पराजित है, वह जनता है
उस देश की भी
विजयी हुए हैं जिसके शासक

कौन कराहता है आधी रात
इस शिविर में
टीसते हैं ये किसके ज़ख्म

शरशय्या पर क्या पितामह भीष्म!

हम क्या उत्तर दें उनको
महाभारत तो लिखा जा चुका था
बहुत पहले ही
बाकी थी केवल व्यूह रचना ही
जो घिर गए थे
चक्रव्यूह में
वे मारे गए
क्या मूल्य रखता है यह जीवन अब
क्या काम आया
हम लोगों का बचना भी

इतिहास पटकता है अपना सिर
काल की चट्टानों पर
गर्जना करते समुद्र की तरह

अनुताप!

अनुताप!
और अनुताप!
वापस नहीं आता अनुताप से कोई
वापस नहीं मिलता
अनुताप से कुछ

धरती एक रचना थी
हमें काढ़ने थे बेलबूटे
पर हमने इसका ध्वंस किया

अब जाने दो इन अनुतापों को
जाने दो इन बातों को
समय नहीं अब
इससे पहले कि फिर बजे
बिगुल किसी युद्ध का
हमें पालने हैं ढेर सारे कबूतर
जिनसे भर जाए पूरी धरती
जिनसे गुंजार हो
सारा आकाश

कितना खून बह चुका इतिहास में
कितना खून
जिसे धो नहीं पाईं बारिशें
इस धरती से

पर लाशें तो दोनों ओर पड़ी हैं
जीत और हार की भूमि में
चील-कव्वे तो मँडराते हैं
दोनों ही आकाश में

शाम को रात में बदलते देखो
तो डर लगता है
चाहता हूँ कि
इस महाद्वीप में भी उगे
मध्य रात्रि में सूर्य
और खिले दुपहरिया का फूल

संसार भर के पक्षी
फड़फड़ा कर उड़ते हैं
केवल एक बाघ की गुर्राहट सुनाई देती है

केवल एक देश
एक विकल्प
एक साम्राज्य
जिसे बेचने हैं अपने हथियार
और बिना युद्ध के
यह संभव नहीं

युद्ध साफ़ करता है बाज़ार का मार्ग
भाषा का इंद्रजाल है
तुम्हारा विश्व गाँव
एक बड़े पिंजरे में
फड़फड़ाते ज्यों असंख्य पक्षी
एक बड़ी जेल
जिसकी सलाखें दिखाई नहीं देती
एक बड़ा जाल
जो रोज़ हम पर गिरता है

मगर शांति नहीं समर्पण का नाम
हिमशिखर पर
खिलने वाला
ब्रह्मकमल नहीं शांति
वह मिलती है अपनी ज़मीन पर
अपने लोगों के बीच
जब तक तुम अकेले हो
कटे हुए दूसरों से
तुम्हें जीना है हिंसा और दहशत के बीच

हिंसा कभी बड़ी नहीं हो सकती प्यार से
प्यार जो बारिश की बूँदों से
बनता है
और चैत की दोपहर की
धीमी आँच में
पिघल जाता है
प्यार जो व्यूगोन वेलिया के
फूलों से भरे पुल में बदल जाता है
जिससे होकर
हम पहुँचते हैं अपने लोगों तक

जो फैले हैं ताँबे के खदान से
कोयले के खदानों तक

जो फैले हैं
हिमालय के कठिन पहाड़ों से
दक्षिण के उत्ताल समुद्रों तक
अपनी डोंगियों और पतवारों से
उन्हें चीरते हुए
जो फैले हैं खेतों-मैदानों से
नारियल के जंगलों तक
जो फैले हैं काराकोरम दर्रा से सोनमर्ग
लद्दाख, मनाली, भठिंडा, रोहतक
और रानीखेत तक

जो फैले हैं पीलीभीत, भीलवाड़ा, किशनगंज से
सिलीगुड़ी, दिसपुर और कोहिमा तक
जो फैले हैं
बीरभूम, देवघर, नीमच, जूनागढ़ से
नारायणपुर और कोंडागाँव तक
जो फैले हैं
जलगाँव, अकोला से भवानी, पटना
विशाखापटनम, धारवाड़, त्रिचिरापल्ली
और एर्णाकुलम तक
जो धातु गलाते हैं और बीज बोते हैं
जो पुल बनाते हैं
और इमारतें खड़ी करते हैं

स्वाति की बूँद से मोती बनता है
और यह उनका पसीना है
जो धरती के भीतर तक
रिसता है तो
बन जाता है पन्ना-पुखराज

प्यार एक पुल का नाम है
जिससे होकर
हम पहुँचते हैं अपने लोगों तक

इस पुल के नीचे बिछा है बारूद
और ऊपर फूले हैं
ब्यूगोन वेलिया के फूल
जैसे यह बारूद पर फूलों की विजय हो
जैसे यह शांति की विजय हो युद्ध पर...।

संपर्क : 68, त्रिवेणी अपार्टमेण्ट, के.के. शर्मा का मकान, विवेक विहार पुलिस स्टेशन के पास, झिलझिल कॉलोनी, दिल्ली-110095, मो. : 9625297106, 9433135365

ढलती साँझ का सूरज

मधु कांकरिया

पश्चाताप के अग्निकुंड में गलकर फिर से ढला अविनाश वापस पहुँचा पारतुल। नहर खुदवाने की योजना को अंतिम रूप देने के लिए। साथ में है मामू का दिया चीनी-नींबू का पानी, कुछ प्याज और एक सीख 'कोड़े मारती गर्मी में जरा-सा भी लगे कि चक्कर सा आ रहा है तो पहला काम यही करना कि यह चीनी-नींबू का पानी पी लेना और प्याज को हमेशा जेब में रखना, लू नहीं लगती इससे।' गोविंदजी का घर। दो पल्लेवाले खुले किवाड़ पर लगी लोहे की साँकल को जोर-जोर से बजाता है। घर की कोई महिला निकलती है बाहर। 'नहीं हैं' का संक्षिप्त जवाब। वह कुछ पूछता कि उसके पहले ही वह वापस अंदर। वहाँ से वह बालासाहब के घर पहुँचा तो बालासाहब भी नदारद। बात क्या है? पिछली बार आया था तो बालासाहब आस-पास के लोगों के साथ पड़ोसी के घर की छप्पर को उठवाने गए हुए थे, क्या आज भी उठवानी है किसी की छप्पर? अजब है इस गाँव का धंधा, छप्पर तक मिलकर उठाते हैं सब। पर पूछे किससे? आखिर सरपंच के यहाँ पहुँचा। खुले दरवाज़े से ही झाँका सरपंच के बेटे मनोज ने और कहा- वे क्या पूरा गाँव ही रजनी गाँव में गया हुआ है।

एकाएक रजनी गाँव? पर क्यों?

बबन गिरि शेतकरी ने आत्महत्या कर ली है, तीन परिवारों के उस घर में यह दूसरी आत्महत्या है, सालभर पूर्व बबन गिरी के मुलगे ने भी मौत को गले लगा लिया था।

बाप रे! फिर खुदकुशी! अविनाश का मन इतना बेमन हो गया था कि बात करने तक की ऊर्जा नहीं बची थी उसमें। मनोज से बबन गिरि के घर का पता लेकर वह उलटे पाँव रजनी गाँव के लिए निकल पड़ा।

घंटे भर की यात्रा और वह बबन गिरि के घर के सामने। कुछ घंटे पहले ही पुलिस द्वारा चीड़ फाड़कर और जैसे तैसे सिलाई कर लाश को भिजवा दिया गया था। दाह के प्रबंध में जुटे हुए थे गोविन्द गिरी, बाला साहब और गाँव वाले। चिता सज चुकी थी। फुलवा के

अंतिम दर्शन और अंतिम प्रणाम के बाद ही 'श्री राम श्री राम' के समवेत स्वर के साथ चिता उठी तो फुलवा ने अर्थी को एकबार कंधा देने की इच्छा जाहिर की - न बेटा, न भाई, अपना कोई नहीं बचा, कम से कम, मुझे तो कंधा देने दो। उसकी इच्छा का मान रखते हुए उससे कंधा लगवा दिया गया। अविनाश भी शवयात्रा में शामिल होने के लिए उठा लेकिन गोविंदजी ने इशारे से रोक दिया उसे और ऊँगली से घर में ही रहने के लिए कहा।

ऐसे ही उठी होगी अम्मा की भी चिता। एक ही भाग्य दोनों चिताओं का, दोनों को ही नसीब न हुआ बेटे का कंधा। मन फिर मुर्दा हुआ। भारी मन से फुलवा ताई का हाथ थामे घुसा खुले घर में अविनाश। आस-पास की कुछ औरतें फुलवा ताई को देख बिलख पड़ी। इस रोने बिलखने से निरपेक्ष फुलवा सूखी आँखों से सामने की दीवार पर टँगे पुत्र की तस्वीर को देखने लगी। उसे ताज्जुब हुआ बिना रोए कोई कैसे झेल सकता है इस गहरे दुःख को? क्या मौत से मौत की यात्रा सुखा देती है सारे आँसुओं को? सोच रहा है अविनाश—एक ही घर और लगभग एक ही परिस्थिति में रहते दो पति-पत्नी। पर एक की पीड़ा जीवन से बड़ी निकली इसलिए जीवन हार गया जबकि फुलवा ताई में अभी भी बची हुई थी थोड़ी सी जिंदगी, जो पीड़ा से बड़ी थी इसीलिए जीवित थीं वे। मराठी मिश्रित हिंदी में अपने आप ही बड़बड़ा रही थी वे - दो दो बेटियों की शादी में जितनी भी जमीन थी कर्जे के चलते हाथ से निकल गयी थी। अब ठेके पर दूसरों के खेत पर मजदूरी करनेवाले उसके अठारह साल के मुलगे ने साठ हजार का कर्जा लिया था। महीने के पाँच टका ब्याज पर यानी साठ प्रतिशत ब्याजदर पर। वह अपना कुछ धंधा करना चाहता था। वडील (बाप) को हड्डी तोड़ मेहनत के बावजूद हाय हाय करते देख, मजूरी और शेती पर से विश्वास उठ गया था उसका, इसलिए वह छोटी- मोटी कोई दुकान खोलना चाहता था। बैंक ने कर्जा देने से मना कर दिया था इसलिए किसी निजी साहूकार से लिया था कर्जा...अब कर्जा था, मजदूरी थी, गिरता स्वास्थ्य था, पहाड़ की तरह भारी ब्याज था। देनदार जब देखते कोंच-कोंच कर जीना हराम कर रहे थे। हर कोई किचकिचा रहा था उस पर। रोटी कम खाता गाली और अपमान ज्यादा खाता। रात-रात सोता नहीं, भूत की तरह डोलता रहता। गुस्सा बहुत बढ़ गया था इन दिनों। फिर एक दिन मैं मनरेगा के अंतर्गत एक सौ अस्सी रुपये रोज के हिसाब से 10 बाई 10 का गहरा गड्ढा खोदने के काम में जुटी हुई थी। ...पति दूसरे के खेत में मजदूरी करने गए हुए थे कि पीछे से दोपहर में बेटे की भीतर की आग बाहरी आग से जा मिली। शरीर धू-धू कर जलने लगा। वह आई तब तक बहुत जल गया था वह। उसके साथ ही जल गयी थी उसके पति बबन गिरि की भी दुनिया। साँसें चल रही थी पर मन मर चुका था। बस एक ही धुन थी कि किसी प्रकार मरने से पहले बेटे का कर्जा चुका दूँ, पर इन दिनों लगने लगा था कि इतना भारी भरकम कर्जा उतारना उनके बस का नहीं तभी से कहने लगे थे- तेरे को तो मनरेगा संभाल लेगा, मुझे जाने दे। कभी अपने आप ही बेटे की तस्वीर के सामने खड़े हो हिलग-हिलग रोने लगते, एक बार सुना, कह रहे थे- नया रूप धरना पर कभी किसान बन इस गाँव में जन्म न लेना जिसने भर पेट रोटी भी न दी तुझे। ओह, बिन खिले ही मुरझा गया तू। हर दिन की कहानी थी यह। कभी बेटे से तो कभी खुद से ही बड़बड़ाना। मैं समझी, बेटे की मौत के बाद सटक गया है बुड्ढा। दिन-पर-दिन रोना बढ़ता जा रहा था और कल रात करीब नौ बजे के बाद नवरा (पति) ने भी...

अविनाश ने कुछ नहीं पूछा उससे। संवाद के दौरान एक बार आँखें मिली थी उसकी आँखों से, वे दुनिया की सबसे उदास और अँधेरों से भरी आँखें थीं। उसके घर की ही तरह उसका बहुत कुछ उघड़ा पड़ा था उसके सामने। गहरे नीले रंग की नायलॉन की साड़ी के आँचल

से ढका सर। नीलापन लिए जगह-जगह झाइयाँ खाया गहरा साँवला रंग। जगह जगह निकली इंटों की तरह बाहर निकले थोड़े-बड़े पीले दाँत। आँखों के नीचे अधजगी नींद की जमी गहरी कालिमा। उम्र साठ के आसपास। छोटी सी कोठरी के दरवाज़े से बँधी बकरी की चहुँ ओर बिखरी मेंगनी। घर के एक कोने में छोटी सी चटाई पर सूखते प्याज। कुछ प्लास्टिक के भाँड जिनमे नमक, चीनी और तुअर भरा हुआ था। पानी से भरी एक प्लास्टिक की बाल्टी। कुछ एल्युमीनियम के बर्तन। खूँटी पर लटके कुछ धुले-अधधुले कपड़े। कोने में पड़ा एक स्टोव, एक हड़िया। एक लालटेन। थोड़ी ही दूर पर तेल के दो तीन कनस्तर। दरवाज़े के ऊपर लिखा हुआ 'जय भवानी'।

बेटे की तस्वीर को देखते हुए वह खुद से ही बुदबुदाई—उस सुबह लाडका सोन्या (प्यारे बेटे) ने कुछ नहीं खाया था। मैंने पूछा तो एकबार तो कुछ नहीं बोला, दुबारा पूछा तो बोला-खायला नाहीं होत (मन नहीं है)। मुझे भी जल्दी थी, बिना कुछ दिए काम पर निकल गयी। लाडका सोन्या गया, नवरा गया। अब तो मौत से डर भी गया, मैं ही बची हूँ, ले जाए। लेकिन भूख का डर आज भी नहीं गया है। इस उम्र में कुदाल नहीं थमती पर पेट का गड्ढा नहीं सम्हलता।. ..रात अच्छी लगती है, सुला देती है। दिन बहुत ख़राब होता है, भात माँगता है, पर बिना लात, भात कहाँ? बोलते-बोलते ओंठ गोल कर मुँह से गर्म हवा छोड़ी उसने वैसी ही गर्म हवा जो कुछ देर पहले उसकी सूखी आँखें छोड़ रही थी। जीवन की भट्टी से दाना-पानी उठाने वाले उसके खुरदुरे कटे-पिटे हाथ हवा में हलके से लहराए।

अविनाश की चेतना में धँस गयी है आत्महत्याएँ। क्या रोकी नहीं जा सकती ये आत्महत्याएँ? क्यों नहीं, दुनिया के सारे युद्ध, सारी त्रासदियाँ, सारे विचलन चंद लम्हों के दिमागी विचलन के ही परिणाम होते हैं। वे सध जाएँ तो टल जाती है विपदा। जाने कब की पढ़ी एक घटना कौंध गयी चेतना में, जाने किस पुस्तक में पढ़ी थी उसने वह घटना जिसे उसने अपने जाने कितने स्वीस दोस्तों को भेजा था कि वे अपने अकेले घुटते अवसादग्रस्त माँ-बाप को भेज दे। दिमाग पर जोर डाला उसने, घटना शायद इस प्रकार हुए थी।

एक फ्रांसिसी मैथेमेटीशियन था, जिंदगी से निराश होकर उसने आत्महत्या की ठानी। बहुत व्यवस्थित ढंग से वह आत्महत्या की ओर बढ़ रहा था। उसने पूरी लिस्ट बनायी। कहाँ-कहाँ पत्र लिखने हैं, किस किस को उसका क्या क्या लौटाना है। क्या क्या बेचना है। उसने सोचा कि अमुक रात को बारह बजे वह आत्महत्या कर लेगा। वह इतना व्यवस्थित था कि उसका सारा काम रात ग्यारह बजे ही पूरा हो गया। अब बचा एक घंटा। क्या करे वह! वह लाईब्रेरी में चला गया। वहाँ समय बिताने की गरज से उसने एक किताब उठायी। किताब भी एक मैथेमेटीशियन की ही थी। उसने लिखा था कि मैं जानता हूँ कि यह थ्योरी सही है पर नहीं सोच पा रहा हूँ कि कैसे? उसने सोचा कि मेरे पास घंटा भर शेष है क्यों न इस पर सोचा जाए। उसने सोचना शुरू किया। सोचते सोचते सुबह के छह बज गए। ...और तब एकाएक उसे ध्यान आया कि वह तो आत्महत्या करना ही भूल गया। बाद के वर्षों में उसने उसी थ्योरी पर काम किया।

लहरों की तरह उठ रहे हैं विचार—पर आत्महत्या आत्महत्या में अंतर है। किसान इस रास्ते को अपनाता है अंतिम विकल्प के रूप में, जब जिंदा रहने की अंतिम लड़ाई भी हार जाता है वह, जब जी तोड़ मेहनत के बावजूद अस्तित्व के सारे रास्ते बंद हो जाते हैं और भूख दरवाज़ा ठकठकाने लगती। दूसरे शब्दों में—इट्स अ जर्नी फ्रॉम हेल्पलेस टू होपलेस। वह जीना चाहता है लेकिन जिंदगी दगा कर जाती है। जो भी हो, जैसे भी हो बचाना होगा इन

कमजोर पौधों को रोकना होगा इन आत्महत्याओं को। सोच पीछा नहीं छोड़ती अविनाश का। गर्दन झटक फिर रूठी नींद को रिझाने की कोशिश करने लगता है अविनाश।

चेतन अचेतन के बीच हिलता डुलता अविनाश!

आ आ कर दूर होती नींद। बार-बार जीवन की भट्टी से निकला फुलवा ताई का नीला पड़ा चेहरा और भाप छोड़ती उसकी आँखें कौंध रही थी जेहन में। कितनी जान है आज भी उसमें। जीवन की असली योद्धा। श्रम और आत्मविश्वास के सहारे सजाई उसकी नन्हीं दुनिया बार-बार उजड़ी, मौत की चील ने बार बार झपट्टा मारा लेकिन वह आज भी डटी है। आज भी वह मरने की नहीं पेट के गड्ढे से मोर्चा लेने की सोच रही थी। पर उसी के संग साथ रहने वाले क्यों इतना टूट गए बबन गिरि कि उन जानलेवा पलों के हजारवें हिस्से में भी उन्हें फुलवा के ख्याल ने परेशान नहीं किया कि क्या गुजरेगी उस पर या हताशा में इतने आगे निकल चुके थे वे कि वहाँ से फुलवा ताई उन्हें दिखी ही नहीं। फिर देखते-देखते फुलवा का चेहरा उसकी माँ के चेहरे में गड्मड हो गया। ऊफ हर मौत का चेहरा क्यों जुड़ जाता है उसकी अम्मा से? लहर सी बैचेनी में बिस्तर से उठ बैठा वह। मन ने कहा मन से- ये स्मृतियाँ मात्र स्मृतियाँ ही नहीं रहेंगी, नैतिक जिम्मेदारी रहेगी मेरी।

लेकिन नहीं ढल रही जालिम रात। तारों भरी आसमान की रहस्यमयता भी रिझा नहीं पाती है उसे। ऊफ! क्या करे वह? शरीर को कितना थका दे? चेतना को कितना मिटा दे कि भूल जाए जो देख कर आया है वह। आँखों के खारे पानी को किन नदियों में मिला दे वह कि खाली हुई आँखों में नींद भर जाए। बाजल में जब एकदम नया गया था वह, तब कुछ दिन उसे कम्पनी के गेस्ट हाउस में ही ठहराया गया था। रात जब उस जरूरत से ज्यादा शांत और सजे हुए गेस्ट हाउस में नींद नहीं आयी उसे तो उसने अपनी अटैची से अपने घर की चद्दर निकाली और उसे गेस्ट हाउस के पलंग की चादर पर बिछा दी और कल्पना करने लगा कि वह घर के बिस्तर पर ही सोया हुआ है, तब कहीं जाकर नींद ने संभाला था उसे।

क्या आज भी कुछ ऐसा ही करे वह? पर किस घर की बिछाए चादर वह? बाजल के घर की? मुंबई वाले अम्मा के घर की? पर आज उम्र के इस पड़ाव पर क्या चादर बदल देने से घर का मिल जाएगा अहसास उसे?

सवालों की नोक पर टँगा रहा सारी रात वह। सुबह उठते ही फिर गोविन्द गिरी और बालासाहब वाडेकर से मिला। दोनों उस दिन के अखबार पर निगाह दौड़ा रहे थे। तीसरे पेज के एक कोने में छोटी सी खबर थी बबन गिरि की जिसे देख बाबासाहब फिर ज्वालामुखी की तरह फट पड़े- साठ प्रतिशत आबादी आज भी जीविका के लिए कृषि पर निर्भर है, 3 लाख लोग 2000 के बाद खुदकुशी कर चुके हैं लेकिन आज भी मुख्यधारा के मीडिया के लिए यह कोई मुख्य खबर नहीं है।

अब कैसे गुजारा होगा फुलवा ताई का? बिना भूमिका के ही पूछा अविनाश ने मनरेगा तो है ही उनके पास। फिर भी अपने सीमित साधनों के बावजूद आधारबड वालों ने निर्णय लिया है कि फुलवा ताई की उम्र को देखते हुए उसके लिए तत्काल तीन बकरियों की व्यवस्था कर दी जाए, जिसका दूध बेचकर भुखमरी से मोर्चा ले सके वह!

सोचते हुए कहा अविनाश ने- अन्यथा न लें तो एक बात कहना चाहता हूँ।

कहिए न!

फुलवा ताई के घर में जो अनहोनी हुई वह टल सकती थी, एकदम टल सकती थी। दुनिया में ऐसी कई दुर्घटनाएँ होते-होते टल गयी थीं, बस जरूरत है थोड़े प्रेम, करुणा, थोड़ी

सहानुभूति और संवाद की। मुझे लगता है जिस घर में पहले से ही आत्महत्या हो चुकी है, उन घरों पर हमें विशेष ध्यान देना चाहिए।

पछतावे की धूप छाया के कुछ खामोश पल के बाद बोले गोविंद जी, बबन गिरि पर यूँ तो कोई कर्जा था नहीं, जो था उनके बेटे पर था। इसलिए कर्जे के तकाजे का तो कोई सवाल नहीं था। जमीन अब बची नहीं थी उनकी, मिल जाती तो मजदूरी कर लेते थे। इसलिए फसल के ख़राब होने का कुछ दवाब था नहीं उनपर। फुलवा ताई भी मनरेगा से कुछ न कुछ कमा ही रही थी, लेकिन किसान के हजार दुश्मन और सबसे बड़ा दुश्मन तो यह स्वाभिमानी मन। बबन गिरि भी मन से इतना टूट जाएंगे, नहीं सोच पाए थे हम, बल्कि एक बार मिले तो कह रहे थे कि उसी दिन मरे मुलगे की तस्वीर पर माला चढ़ाऊँगा जब उसका सारा कर्जा उतार दूँगा। नहीं चाहता मैं कि उसके नाम कुछ भी कर्जा बकाया रहे। इतने स्वाभिमानी थे वे। पर कुछ पता नहीं चलता मनुष्य के मन का। कुछ तो बदला है। पहले किसान टूट-टूट कर जुड़ जाता था, अपनी ही राख झाड़कर खड़ा हो जाता था। पर आज जिल्लत और अपमान से भरी परिस्थितियाँ इस कदर कोंच कोंच कर मार रही है किसान को कि वह उठकर खड़े होने की बजाय उठ जाना पसंद करने लगा है।

कुछ खामोश उदास पल। फिर बात आगे बढ़ायी अविनाश ने, पर जाने क्यों, मुझे लगता है कि आत्महत्या की ओर जानेवाला हर बंदा जाने के पहले कुछ अनकहे इशारे जरूर देता है, अपने आस पास वालों को, बस हम ही समझ नहीं पाते हैं। कोई भी एकाएक दृश्य से अदृश्य नहीं होता है। धीरे धीरे वह अंदर से मरता है फिर बाहर से। दिलीप उदराव का बेटियों के प्रति उमड़ा असाधारण प्यार, उनकी पत्नी तक नहीं समझ पाती है कि यह जाने के पहले का बेटियों के प्रति एक चरम बेबस पिता का अंतिम प्यार था। अरुण जी ने अपने अंतिम क्षणों में जीने की चरम विवशता में अपने इकलौते बैल की जोड़ी को बेच कुछ नकदी बटोरना चाहा, भोली पत्नी समझ नहीं पायी। ...बबन गिरि के संकेत तो और भी साफ़ थे, कदंब सावंत ने चूल्हा बुझने की बात कही क्या ये कुछ कहे अनकहे वे संकेत नहीं जो हर आत्महत्या की राह पर जानेवाला जाने से पहले दे रहा है अपने लोगों को? फंदे तक जानेवाला, जाने के पहले जाने कितनी बार अपने लिए फंदा बना चुका होता है। कल्पना के फंदे और वास्तविक फंदे के बीच का जो नाजुक समय होता है उस अवधि में यदि हम उसे जीवन की ओर लौटा सके तो शायद कुछ आत्महत्याएँ रुक सकें! आर्थिक धरातल पर मजबूत करने के साथ ही साथ हमें इनके जख्म खाए अपमानित मन को भी मजबूत करना पड़ेगा।

सही कह रहे हैं क्योंकि अब हिंसा का स्वरूप बदल रहा है। अब मारने के लिए हथियारों की जरूरत नहीं रह गयी है अब तो भूख ही हिंसा बन गयी हैं। भूख द्वारा लोगों की गरिमा को इतना मार दिया जाएगा कि वे खुद ही मर जाएंगे। बोलते बोलते बालासाहब की आँखों की बॉबी से सर्प सरसराने लगे।

हुऊँ, सहमति में एक लम्बी हुँकार भरते हैं गोविंदजी। और जेब में हाथ डाल दो हजार रुपयों का एक छोटा-सा करीने से बंधा पैकेट थमाने लगते हैं अविनाश को।

क्या है यह?

नारायण वाडेकर दे गया था, शायद उधार लिए थे उसने तुमसे, बोला- आप तो मिलते रहते हैं, मिले तो दे देना। मैंने मना किया तो बोला, ना मत कीजिये, अभी ही रख लीजिये, फिर खर्च हो जाएँगे।

मुझसे उधार? मैं तो उसे जानता तक नहीं। मुझे तो याद तक नहीं। दिमाग पर जोर

डालते हुए कहा अविनाश ने।

लेकिन उसे खूब याद है।

कहीं उससे कोई भूल तो नहीं हुई?

उजली हँसी फुदकती है उनके ओठों पर - कर्ज देणारयाला शेतकरी कधीच विसरत नाही (किसान चाहे खुद को भूल जाए पर कर्ज देने वाले को कभी नहीं भूलता है)

ध्यान से देखा अविनाश ने उन नोटों को। छोटे किसान की तरह छोटे-छोटे नोट। अधिकांश एक-एक रुपये के नोट। मुड़े तुड़े, थोड़े मैले, कहीं कहीं दाग लगे। सब रबड़ बैंड में बंधे हुए। एक भी सौ या पाँच सौ का बड़ा नोट नहीं। हर नोट जैसे हर दिन की बचत की कहानी।

दूसरे दिन फिर मिला वह फुलवा ताई से लेकिन न मिलने की तरह ही रहा वह मिलना। उमड़ती घुमड़ती काली बदली सी उठी फुलवा ताई, आँखें मिली तो बिजली सी कौंधी फुलवा की आँखों में, सामना नहीं कर सका अविनाश, हाथ जोड़े और लौट गया।

उषा की पहली किरण के साथ ही नींद खुल जाती है अविनाश की। अकेला अविनाश, साथ में ख़ामोशी भी और विचारों का शोर भी और आत्मान्वेषण भी - जीवन प्रिज्म की तरह होना चाहिए, ऐसा प्रिज्म जिसमें जीवन के सभी रंग हों, अपने मौलिक रूप में। कहाँ देख पाया था वह अब तक ऐसा बहुरंगी, फैलाव और विस्तार वाला जीवन। कितना सही कहा था मामू ने - किसानी जीवन के लिए कुछ करना है तो किसान को किसान की आँख से देखना सीखना होगा। बिना नब्ज पकड़े कैसे जानोगे कि कितना बुखार है? पर कितना मुश्किल है किसी ग़ैर किसान के लिए किसानी जीवन के प्रिज्म को देखना समझना, उसकी ध्वनियों को सुनना, उनके सुख दुःख के विविध रंगो को देख पाना। किसान, चूल्हा और भूख का रिश्ता यहाँ आने से पहले क्या दुनिया का कोई भी मार्क्स समझा सकता था उसे? अन्न के एक-एक दाने की कीमत यहाँ आकर समझी है उसने। समझा है उसने कि जिस गेहूँ की रोटी या चावल खाता है वह, वह रोटी और चावल, श्रम की कितनी कितनी प्रक्रियाओं और कितने हाथों से गुजर कर आता है उसके घर में। देखा है उसने, कैसे फसल कटने के बाद गरीबों को बचे अन्न के एक-एक दानों को बीनते हुए। भुक्खड़ों को जूठन पर टूटते हुए। जिंदगी और श्रम का संबंध भी तो यहीं समझा उसने—घुटने तक पानी में धान के पौधों को रोपते किसान, फिर तीन महीने के बाद एक एक पौधों को दूर दूर वापस रोपते किसान। खर-पतवार को इंच-इंच साफ़ करती, खुरपी से घास को काटती, हासिये से फसल काटती महिलाएँ, फसलों का गट्ठर बनाते किसान, फिर उन गट्ठरों को मशीन तक ले जाना, भूसा निकलवाना और अनाज निकलवाना। ...ये सारे मानवीय श्रम से भरपूर दृश्य इतनी बार देखें हैं कि चेतना में खुद गए हैं। अभी तक तो आलम यह था कि हर वर्षा उसे सुकून देती थी। बचपन में पानी के मौजघर में कागज की नाव चलाना याद आता था उसे। अब वर्षा को भी किसानी आँख से देखना सीख गया है वह। एक बार वैशाख की वर्षा को देख मन मयूर पूरी तरह झूमा भी न था कि मामू का उदास चेहरा देख सकपका गया वह—यह बेमौसम की बारिश बारिश नहीं, आसमान की आँखों से बरसते आँसू हैं किसानों के, ठीक नहीं ये धान के लिए और आम की फसल के लिए।

वह दिन और आज का दिन। बारिश तभी लुभाती है जब किसान के लिए मंगलकारी हो।

संपर्क : 72ए, विधान सराणि, तीसरी मंजिल, फ्लैट नं.-3सी, कोलकाता-700006 (प. बंगाल), मो. : 9167735950

मायरा के सौ सुसाइड नोट्स

संदीप मील

यह सबसे पहला सवाल है कि मैंने ये 'सुसाइड नोट्स' क्यों लिखे? इसका सीधा-सा तो कोई जवाब मेरे पास नहीं है लेकिन एक घटना का ज़िक्र करना चाहूँगा जो शायद कुछ गुत्थियाँ सुलझाने में मदद करे। कुछ दिनों पहले अपनी तमाम बैचेनियों से संघर्ष के दौरान एक क्षण के लिये आत्महत्या का विचार आया था। ज़ाहिर तौर पर वह विचार बहुत समय तक दिमाग में रुका भी नहीं। जिंदगी के ताप ने उसे खदेड़ दिया। लेकिन दिमाग में विचार आया था और उसके असर ने शरीर को ऐसा अहसास दिया कि हर पल लगता है कि दिमाग के किसी कोने में 'आत्महत्या' के विचार की ईंट की जगह स्थायी रूप से खाली पड़ी है। बाकी जगहों पर बहुत-सी बातें आती-जाती रहती हैं। यहाँ पर कोई दूसरी बात फिट ही नहीं बैठती। मैंने जिंदगी की हर खूबी और ख़ामी को इस खाली जगह में भरने की कोशिश की। हू-ब-हू आकार की चीज़ें होने के बावजूद उस खाँचे में जाने पर उस ख़याल में कुछ कमी-सी नज़र आती। कुछ भी इस खाली जगह को भर नहीं पा रहा था।

अंत में मुझे ऐसा लगने लगा कि दिमाग में आत्महत्या का विचार स्थायी तौर पर हर पल मौजूद रहता है। ठीक इसी दौर में मैं मायरा गाँव के फिर से संपर्क में आया। इसी तरह के सर्दी के किसी एक दिन मेरे नाना ने मुझे मायरा से शहर की तरफ आने वाली एक बस में बैठाया था। यह ठीक आज से दस बरस पहले की बात है। उस बस से उतरने के बाद मैं मुल्क के बहुत से हिस्सों में घूमा। कई शहर और कई गाँव देखे। अनेक तरह के लोग देखे। ऐसे लोग भी देखे जिनके लिये आज भी दिल में मोहब्बत है और ऐसों की भी कमी नहीं जिनका ख़याल आते ही दिल में अब भी कहीं दर्द-सा होता है। लेकिन इस पूरे दौर में मेरा मायरा नहीं जाना हुआ।

दरअसल, मेरा उस गाँव से अंतिम तार नाना था जो टूट गया था और बाकी के जो भी लोग थे वे मुझे अपना दुश्मन मान चुके थे। हो सकता है कि उन्हें मेरा डर सताता हो।

वह डर यह था कि नाना की सम्पति का वारिस मैं ही था, कानूनी रूप से भी और नाना की मोहब्बत भी मुझ पर ही थी। मैंने बहुत आसानी से वह सारी सम्पति नाना के दूर के परिवार को दे दी लेकिन फिर भी उन लोगों का डर नहीं ख़त्म हुआ और आज भी बहुत से लोगों के माध्यम से मुझे गालियाँ भिजवाते रहते हैं। इसी वजह से मैं मायरा नहीं जा सका।

लेकिन मायरा तो मेरी रग-रग में था। हर ख़्वाब में अक्सर वहीं पहुँच जाता था। इन दस सालों में ऐसी कोई रात नहीं होगी जब मैं उस गाँव की गलियों, खेतों और श्मशान में आवार ना फिरा हूँ। एक छत से दूसरी छत पर बंदर की तरह छलांग लगाता भागता रहता हूँ उस गाँव में। नींद में भी जब वापस मायरा से लौटता हूँ तो नाना उस रंग-बिरंगे फूलों से सजी बस में बैठाने आते हैं।

इस वक्त तक मायरा में कुल सौ लोग आत्महत्या कर चुके हैं। कई बार तो मुझे ख़्वाब में भी डर लगता है कि कहीं यह पूरा गाँव सामूहिक आत्महत्या ना कर ले। यह बात भी सच है कि सारे मरने वालों को मैं बखूबी जानता था। इन रातों में जब भी उस गाँव जाता हूँ तो लोग एक नई आत्महत्या की ख़बर देते हैं। और पता नहीं क्या हुआ है कि उदासी उस गाँव का स्थायी भाव बन चुकी है जो गाँव कभी ज़िंदा बोटी की तरह उछलता था। हर आदमी के चेहरे पर हरदम मौत का आतंक छाया रहता है।

जब भी ख़्वाब में अक्सर नाना मुझे उस बस में बैठाने आते हैं तो मेरे साथ ही मायरा का कोई इंसान बस में बैठता है। वह मेरे बगल की सीट पर ही बैठता है हर बार। अचानक मुझे याद आता है कि यह तो वही इंसान है जिसने कल आत्महत्या की है और लोग जिसके बारे में बहुत-सी बातें बता रहे थे। ख़्वाब में भी मेरी रूह कांप जाती है। मरा हुआ यह इंसान बिना इज़ाजत लिये ही अपनी जिंदगी की कहानी सुनाने लगता। इसको यह भी जानकारी होती थी कि मैं लेखक हूँ और यही वजह थी कि कथा के बीच-बीच में वह यह अनुरोध करना कतई नहीं भूलता कि मैं उसकी बातों को दर्ज़ करुँ। चूँकि उनमें से कई पढ़े-लिखे भी होते थे। उनको मैंने कहा कि आप अपनी बात दर्ज़ करके क्यों नहीं मरे? उन सबका एक ही जवाब था कि जब ज़िंदा थे तब ही लोगों ने हमारी बात नहीं सुनी तो हमारे मौत के कारणों में किनको दिलचस्पी होती। हमें नहीं लगता कि कोई हमारे सुसाइड नोट पढ़ता। अगर दुनिया हमारी बात सुनती तो मरने की नौबत ही क्यों आती।

तुम सुनते हो, इसलिये कह रहे हैं और तुम्हारे लिखे को लोग पढ़ भी सकते हैं। इसलिये लिखवा रहे हैं। फिर जब उन बातों को दर्ज़ करने की बारी आयी तो मुझे लगा कि इन्हें किस विधा में दर्ज़ किया जाये। चूँकि जब वे कहानी सुनाते तो मुझे हमेशा यही लगता रहता था कि अगर ये अपने सुसाइड नोट लिखते तो फलाँ वाली बातें पक्के तौर पर उनमें होती। हो सकता है कि इनकी आत्मकथा में भी वही बातें होती लेकिन उनके बताने के अंदाज़, दर्द और अंज़ाम यानी कि अंज़ाम तो आत्महत्या ही था ना, कि वजह से ये मुझे आत्महत्या वक्तव्यों के ज्यादा करीब लगी। मैंने तो इन्हें सिर्फ दर्ज़ किया है।

जब ये मुर्दा लोग अपनी आत्महत्या की बातें मुझे ख़्वाब में सुनाते तो मैं उनकी मृत्यु के अहसास को महसूस करता। आप सोचिये कि जब मैं इनको दिन में दर्ज़ कर रहा होता तो मृत्युमय हो जाता था और इस प्रकार से मैं इस दौरान सौ बार मौत के दामन में रहा हूँ। रात में मुर्दा लोगों से आत्महत्या वक्तव्य सुनकर, दिन में ज़िदा लोगों से बचकर उन्हें लिखने की प्रक्रिया को जब देखता हूँ तो खुद को मृत्यु के सौ घोड़ों पर सवार पाता हूँ जिन्हें जबरन खींचकर जिंदगी के मैदान में लाना है। यहीं होगी असली परीक्षा। कौन-सा घोड़ा कितना ताकतवर

है! सबका हिसाब होगा। मुझे नहीं पता कि इन मृत्यु के घोड़ों को मैं कितना जिंदगी की तरफ ला पाया हूँ लेकिन इतना महसूस होता है कि उनका मुँह जरूर जीवन की तरफ कर दिया।

वह मरा हुआ इंसान जब अपनी बात कह रहा होता तो बस में वैसे ही सवारियों की आवाज़ें आती रहती थीं। कभी किसी औरत की गोद में बच्चा रोता तो कभी कोई बुजुर्ग इतने अंदर से खाँसता कि मानो बस का तेल ख़त्म होने को हो और वह थर्रथर्रा रही हो। अब दो-तीन झटके खाकर बस शायद बंद हो जाये। चलती बस से मुझे आसपास के खेत, गाँव और वीरान टीले दिखते रहते थे।

इसी तरह एक रात ख़्वाब में कोई मरा हुआ इंसान अपनी व्यथा सुना रहा था कि मुझे एक खेत में खंडहर हुआ एक पुराना कुआँ नज़र आया। यह वही कुआँ था जिसमें बचपन में मैं अपने साथियों के साथ पत्थर फेंका करता था। कोई ऐसा दिन नहीं गुजरा कि इधर खेलने आये हों और इस कुएँ में पत्थर ना फेंके हों। पिछले सालों में कुछ लोग इस कुएँ में गिरकर भी आत्महत्या कर चुके हैं। मैंने सोचा कि अगर उस वक़्त पत्थरों से इस कुएँ को भर देता तो कम से कम ये लोग तो मरने से बच ही जाते। फिर सवाल आया कि क्या ये सच में बच जाते! कितने कुएँ भरता मैं, जिंदगी के बग़ल में हर जगह कोई मौत का कुआँ मौजूद था।

ये मौत के कुएँ हर किसी के लिए एक जैसे नहीं थे। एक कुआँ किसी को जिंदगी दे रहा था तो किसी को मृत्यु। कुएँ की पाल पर खड़े होकर देखेंगे तो शायद सारी बातें समझ में ना आयें, उसके अंदर उतरने से सूत्र खुलने लगते हैं। शायद इन आत्महत्या-वक्तव्यों में आपको मौत के कुओं में उतरने की तरतीबें मिल जायें, दिल से खून और अँधेरे का डर मिट जाये। मरने वालों की चीखें सुनने लगें, वे आपके साथ सहज हो पायें और बैठकर दिल में बचे हुए बाकी के दर्द भी बयान करें जो शायद मुझे नहीं कह पाये हों, तो ये आने वाली नस्लों को बचाने मे कुछ मदद कर सकते हैं। यह भी हो सकता है कि इसका असर हमें अपने जीवन में ही देखने को मिल जाए जब किसी रोज़ मेरी तरह आपको भी मरने का ख़्याल आए। वह ख़्याल आपके अंदर बैठा है, उसे खाद पानी की जरूरत होती है।

एक सवाल यह भी मेरे ज़ेहन में है कि मृत्यु का ख़्याल इंसान के मनोविज्ञान में कब गहराई से सेंध मार पाता है? शायद इंसान के पैदा होने के साथ तो बिल्कुल भी नहीं उपजता है। बच्चे को बहुत दिनों बाद परिवार के लोग इस तरह के भौतिक सच से परिचित कराते हैं। वे किस अंदाज़ में इससे हमारा परिचय कराते हैं यह कहना तो बड़ा मुश्किल है लेकिन अधिकांश समय वे इसे 'अंतिम डर' के रूप में हमारे सामने रखते हैं। इसकी कोई वैज्ञानिक समझ पैदा करने की बजाय नियतिवाद की तरफ इंसान को धकेल दिया जाता है। लगातार इंसानी तर्क मृत्यु की उस नियती से हर रोज़ जूझते रहते हैं और तभी से यह ख़्याल आपका साथी हो जाता है।

यह जो बस है जिसमें मैं हर रोज़ सफर करता हूँ ख़्वाबों के दरमियान, इसकी एक बड़ी ख़ासियत यह है कि इसकी अधिकांश सवारियाँ और चालक स्थाई हैं, वे मुझे जानने लग गए हैं सब। अगर मैं भूल से किसी सवारी के बगल में बैठ जाता हूँ तो वे उठकर सीट खाली कर देते हैं क्योंकि यह बात वे मान चुके हैं कि यह इंसान दो सीटों का किराया देता है। एक पर ख़ुद बैठता है और दूसरी खाली रखता है। फिर खाली सीट की तरफ देखकर बड़बड़ाता रहता है। कई लोगों ने इस बारे में बात की तो चालक ने उन्हें बताया कि लेखक ऐसे ही होते हैं। बस की सारी सवारियाँ मुझे आश्चर्यजनक निगाहों से ताकती रहती हैं और मैं अक्सर

सोचता हूँ आज जो मेरी बग़ल में बैठा अपनी दास्ताँ कह रहा है, कल तक वह आपके ही खेमे में था। ऐसे ही देखता था और कई बार हँसता भी। आज वह मेरी बग़ल की सीट पर बैठा है, हो सकता है कल आप भी यहाँ हों।

मैं आपको बहुत बातें कह चुका हूँ अपने बारे में और आत्महत्या करने वालों के बारे में। जबकि तय यह हुआ था कि वे ख़ुद अपनी बातें कहेंगे तो सुनिए...

भविष्य की विवेकवान संतानों का पूर्वज

यूँ तो मेरे मरने के बाद आप सब लोग मुझे कायर, कमज़ोर, डरपोक, पलायनवादी आदि न जाने क्या-क्या कहेंगे और आपके उन आरोपों का खंडन करने के लिए मैं नहीं रहूँगा। ये सब आरोप लगाने से पहले आप मेरी बातों को ध्यान से सुन लीजिए, मैंने पहले भी कहने की कोशिशें की हैं मगर आपने आज तक एक बार भी सुनी नहीं। अगर सुन लेते तब दो संभावनाएँ बन जाती या तो मैं बच जाता या फिर आप भी मेरे साथ मरने को मजबूर हो जाते।

भले आदमियों, आप मुझ पर कोई भी आरोप लगाने से पहले वे सारे दिन याद कर लीजिए जब गाँव में किसी भी प्रकार का संकट आया हो। वह संकट पागल साँड़ को बाँधने से लेकर चोरों का पीछा करने तक का जो भी रहा हो, क्या मैं कभी पीछे रहा था? याद कीजिए सबसे आगे मैं ही होता था और आज जो आपके गाँव में न्यायाधीश बने बैठे हैं, वे आराम से अपने घरों में सो रहे होते। क्या इन तथाकथित न्यायमूर्तियों को कभी भी पराई पीड़ाओं पर ज़रा भी ज़बान खोलकर सहानुभूति जताने की जहमत करते हुए देखा है? आपकी उम्र तो कम रही होगी लेकिन अपने पुरखों की कोई बात याद आती हो तो आप वह भी मुझे बता सकते हैं कि ये आज जो न्याय के रक्षक बने बैठे हैं उन्होंने अपने निजी जीवन में अन्यायों के अलावा कुछ किया है!

समझदार इंसानों, आपके इस तर्क से तो मैं बिल्कुल सहमत नहीं हूँ कि निजी जीवन और पेशेवेर जीवन अलग-अलग होते हैं। ये लोग कानून के बहुत बड़े ज्ञाता हैं, इसलिए न्याय ही करेंगे। इसके उदाहरण मेरे मामले में ही नहीं, अन्य केसों को उठाकर देख लीजिए कि 'न्याय' की इनकी समझ भी आख़िर कैसी है। अगर इन लोगों ने जीवन में कभी 'अन्याय' देखा ही नहीं तो ये कैसे इन किताबों के सहारे न्याय कर सकते हैं।

हाँ, आपकी यह बात सच है कि मेरी इनसे कोई दुश्मनी नहीं थी लेकिन आप यह क्यों भूल जाते हैं कि दूसरे पक्ष से इनकी कोई दोस्ती हो सकती है। मान लीजिए वह भी नहीं हुई तो कुछ 'पूर्वग्रह' तो इनके मेरे प्रति हो ही सकते हैं जो न्याय की पूरी प्रक्रिया की दिशा ही बदल दें। मुझे जहाँ तक याद आता है कि बचपन में इनमें से एक तथाकथित न्यायमूर्ति को मैंने पत्थर मारा था। उसका कारण यह था कि ये हम बच्चों को इस चौक में खेलने नहीं देता था। लाठी लेकर पीछे दौड़ता था। इसलिए एक दिन हम सब बच्चों ने तय किया कि इस मुच्छड़ को पत्थर मारेंगे। पत्थर तो सबने फेंके थे लेकिन लगा मेरा वाला ही था। छोटा पत्थर था, कोई ख़ास चोट नहीं आई। लेकिन इसके मन में मेरे प्रति कोई गाँठ हो गई हो जो आज तक ना खुली हो तो ज़ाहिर तौर पर जो इन्होंने फैसला दिया था जिसकी वजह से मैं आत्महत्या कर रहा हूँ, वह फैसला उस गाँठ से प्रभावित रहा होगा।

आपकी इस बात को सामान्य तौर पर तो माना जा सकता है कि बच्चों की इतनी छोटी बातों को इतने दिनों तक कोई याद थोड़े ही रखता है। भूल गये होंगे। लेकिन मेरा यहीं पर एक सवाल है कि इंसान जब छोटी-सी बातों को ताउम्र याद रख सकता है तो इस बात को

क्यों भूल जाएगा। आदमी भूलता तभी है जब वह भूलना चाहता है अगर याद रखना चाहेगा तो बाड़ के नीचे मूता हुआ भी सौ साल याद रख सकता है।

अब मैं आपको वह मामला बताता हूँ जिसमें इन तथाकथित न्यायमूर्तियों ने मेरे साथ अन्याय किया है और हजार बार चिल्लाने के बाद भी आप लोगों ने मेरी एक बात नहीं सुनी। अंततः मुझे गाँव से बेदख़ल कर दिया। अगर आप मेरी जगह होते तो नहीं मरते क्या? पक्का मरते। ये तीन जो न्यायधीश थे मेरे मामले में पंडित जसराज, दयालसिंह और हरदयाल, ये मेरी मौत के ज़िम्मेदार हैं और यह आत्महत्या वक्तव्य भी आने वाली पीढ़ियों के लिए है कि वे इनसे बदला जरूर लें मेरी मौत का।

सच्चाई के हत्यारों सुनो, यह जो ज़मीन है जिस पर आपका यह भव्य मंदिर खड़ा है वह मेरी थी। यह बात तो आप सब लोग जानते हैं। अरे, इतनी बड़ी सच्चाई के लिए तो 'हाँ' कर लीजिए। गर्दन हिलाकर नहीं, जोर से बोलिये कि यह ज़मीन आपकी यानी रामलाल की थी। मेरे मरने के बाद तो सच बोल सकते हैं। मैंने राज शास्त्री को यह ज़मीन किराये पर दुकान करने के लिए दी थी। उसने मंदिर खोल लिया। मैंने उस वक्त भी ऐतराज़ किया था तो उसने कहा कि दुकान से भी रोजी ही चलती और मंदिर से भी वही चल रही है, आपको तो किराया दे रहा हूँ। मैं चुप रहा।

आप पूछ सकते हैं ख़ुद राज शास्त्री से कि मैंने किसी से यह तक भी कहा हो कि उसने मेरी ज़मीन का किराया देना बंद कर दिया। गिड़गिड़ाता रहता था। कभी पत्नी की बीमारी का रोना तो कभी साहूकार को ब्याज देने का बहाना। फिर कसमें भी कितनी खाता कि पैसा हाथ लगते ही सबसे पहले आपको दूँगा। मेरी तारीफ करते नहीं थकता। अब यार, मैं आदमी हूँ और इन तमाम कमजोरियों से भरा हुआ हूँ। उसकी बातों में आ गया। नहीं आता तो भी क्या कराता। सर थोड़े ही फोड़ देता उसका।

लेकिन डरपोक सरदारों, जब राज शास्त्री ने यह दावा किया कि सदियों से यह मंदिर तो यहीं है और रामलाल इस पर जबरदस्ती कब्ज़ा कर रहा है तब आप सब लोगों की आत्माएँ मर गई थी क्या! या आप धर्म की नाम से डर गए थे। इतना ही तो कहना था कि राज शास्त्री यह मंदिर तो दस साल पहले बना है और ज़मीन रामलाल की है। आप यह भी नहीं कह सके।

आपसे कोई शिकायत नहीं है भले आदमियों क्योंकि आप धर्मभीरु प्रजा हैं। धर्म से डरने वाले। ताकत से डरने वाले। लेकिन उन न्यायमूर्तियों का क्या करें जिन्होंने न्याय के नाम पर मेरे साथ अन्याय किया और राज शास्त्री के पक्ष में फैसला देकर मुझे गाँव बाहर कर दिया। यार, यह तो ग़जब हो गया। मेरी भलमानसता का फायदा सब जगह उठाया जा रहा है। अब आप ही बताइए कि किसी इंसान की संपत्ति छीन ली जाए तो वह कितना बर्दाश्त करेगा, अगर वह संपत्ति न्याय के नाम पर छीन ली गई हो और उसे अन्यायी साबित कर दिया जाए तब कितना बर्दाश्त करेगा और अगर उसे सज़ा के रूप में गाँव से बाहर कर दिया जाए तो वह क्या करेगा ! यह भी सोचने लायक बात है कि एक झूठा माहौल बनाकर उसे सच विरोधी इंसान बताया जा रहा हो, सबकी नज़रों में गिरा दिया जाए तो वह क्या करेगा !

इंसान इन सारी जलालतों के बाद भी ज़िंदा रह सकता है डरपोक लोगों। वह अकेला रह लेगा। बिना संपत्ति के जी लेगा। गाँव से बाहर उजाड़ में बसर कर लेगा। झूठा इंसान बनकर साँसें ले लेगा। नज़रों से गिरकर भी जीवनयापन कर ही सकता है। लेकिन ऐसी स्थिति में मनुष्य मेरी तरह आत्महत्या कब करता होगा? सोचिये तो। शायद आप ठीक से सोच भी

नहीं पायेंगे। सोचना बहुत मुक्त स्थितियों में संभव हो पाता है मेरे दोस्तों और इसमें साहस की भी जरूरत होती है। अभी तो शायद आप ना सोच पायें लेकिन भविष्य में कभी कुछ सोचने जैसे काम कर पायें तो कम से कम इस एक जरूरी सवाल पर सोचकर देखिये कि इन परिस्थितियों में इंसान की आत्महत्या के क्या कारण हो सकते हैं?

आप जब इस मसले पर सोच पायें तब तक मैं मर चुका होऊँगा लेकिन मेरे लिखे गए ये शब्द रहेंगे। आप इनको ही जवाब दे दीजिए। शब्दों के जवाब शब्दों द्वारा दिए जा सकते हैं, बस आप संदर्भ के तौर पर यह बताना मत भूलियेगा कि ये जवाब उन सवालों के हैं जिन्हें रामलाल आत्महत्या से पूर्व शब्दों के रूप में छोड़ गया था। हो सकता है कि आपका सोचना उस समय भी गलत दिशा में हो और मेरा यह निर्जीव आत्महत्या वक्तव्य आपकी उन कपोल कल्पनाओं के जवाब ना दे पाये लेकिन इतना याद जरूर रखना कि कोई विवेकवान इंसान ने इसे एक बार पढ़ लिया तो वह मेरे पक्ष में तब तक खड़ा रहेगा जब तक कि आप उसे मेरी तरह आत्महत्या करने पर मजबूर ना कर चुके हों।

मुझे लगता है कि अब स्वयं मुझे ही इन सवालों का जवाब दे देना चाहिए। तो मूर्ख लोगों, ऐसी स्थिति में इंसान आत्महत्या तब करता है जब उसके पास प्रतिशोध के तमाम रास्ते बंद हो जाते हैं और वह ऐसे सुसाइड नोट भी तभी लिखता है जब उसे आने वाली पीढ़ियों से न्याय की गहरी उम्मीदें हों कि मेरे बच्चों, मेरी इस आत्महत्या को कायरता नहीं बहादुरी समझना और मेरी मौत के जिम्मेदार राज शास्त्री, उन तीन तथाकथित न्यायमूर्तियों के अलावा उन सबको भी मानना जो चुप रहे थे। बस, बदला तर्क और विवेक से लेना, ऐसा ना हो कि तुम भी अन्याय के बदले अन्याय कर दो।

भविष्य की विवेकवान संतानों का पूर्वज
—रामलाल

संपर्क : ग्राम+पो.-पोसानी, वाया-कूदन, जिला-सीकर-332031 (राजस्थान), मो. : 9116038790

नौ कविताएँ

नंदकिशोर आचार्य

कहीं हम भी गूँगे तो नहीं

तलपट

बंद-सा होने को है
यह बही खाता अब
मिलाने बैठा हूँ तलपट
कितना लिया—कितना दिया

लेकिन यह तलपट
डुबा देता है चिंता में मुझे
क्या ऋणी हो जाऊँगा
इस बार फिर मैं?

हासिल

"क्या हासिल होगा
यादों में डूबे रहने से"
—सभी समझाते हैं मुझे

जिनके पास न हो यादें
वे कैसे समझ पायेंगे
यादें खुद ही हासिल हैं।

कृतज्ञ हूँ इसलिए

रोने से शुरू हुई थी
जिंदगी मेरी–
जाहिर है
रोया नहीं तो
मर जाऊँगा मैं

कृतज्ञ हूँ इसलिए तुम्हारा मैं
मेरी प्यारी दुनिया
मुझे जिंदा रखने की
हर संभव
कोशिश की है तुमने।

सलाह

"पेड़ों के बारे में बात करना
गोया गुनाह है कोई"
सलाह दी तुमने हमको
अग्रज थे तुम
हमने ही मान लिया उसको

और अब
हुआ यह है ब्रेष्ट
पेड़ों के बारे में चुप रह जाना
गोया शामिल होना है
किसी साजिश में!

बुदबुदाहट भर

कितनी सारी आवाज़ें
टकराती हैं आकर
मेरे कानों से
पर कुछ भी नहीं सुन पड़ता

सुन पड़ती है केवल
खामोशी वह
शब्द होने की कोशिश में बुदबुदाहट भर होकर
रह जाता है जो।

यीशु के वारिस

"कोई पाप नहीं किया होता
जिन्होंने
क्यों वे ही भुगतते हैं?"
—पूछा पोते ने मेरे

"यीशु के वारिस हैं वे—
हमारा पाप भी लेकर
सलीब पर लटक गया
था जो।"

आत्म-कथा

एक दिन
आत्मकथा लिखने का मन
हो आया ईश्वर का
इसलिए अपनी सृष्टि में
जाना पड़ा उसको
वही तो है आत्म उसका
उसी में रूप लेता रहा है
वह

अब वह उलझन में है
क्या लिखे आखिर—
आत्म की नहीं
वह तो क्रमशः आत्महत्या की
कथा होगी!

आखिर हत्या ही

सिर्फ जी ही नहीं रहा हूँ मैं
जैसा चाहते हैं वे
वैसे ही खुद को
मारता भी जा रहा हूँ मैं

जीते जाना भी कभी
आत्महत्या हो जाता है—

हर आत्महत्या पर
होती है आखिर हत्या ही!

गूँगों की किस्में

गूँगों की कई किस्में हैं

वे तो हैं ही
जुबाँ नहीं दी है
कुदरत ने जिनको

किंतु और भी हैं
मसलन :
एक वे जिनके पास जुबाँ तो है
पर जो केवल सुना हुआ ही बोल पाते हैं
उनकी जुबाँ उनकी नहीं होती

कुछ केवल खुद से ही
बतियाते रहते हैं
जगत-गति नहीं व्यापती जिन्हें
जगत की ख़ातिर वे
गूँगे रहते हैं सदा

और हाँ, वे भी हैं
जो शब्दों के अर्थ समझते हैं
इसीलिए कह नहीं पाते कुछ
घिग्घी बँधी रहती है सदा उनकी

देख लें जरा
कहीं हम भी गूँगे तो नहीं?

किस्में और भी होंगी।

संपर्क : सुथारों की बड़ी गुवाड़, बीकानेर-33400 (राजस्थान), मो. : 9413381045

चार कविताएँ

पंकज चौधरी

रेणु का शुद्धिकरण

कोई उन्हें मुखर्जी बता रहा है
कोई उन्हें चटर्जी
कोई उन्हें भट्टाचार्जी बता रहा है
कोई उन्हें बनर्जी।

कोई उन्हें कोइराला बता रहा है
कोई उन्हें सिन्हा
कोई उन्हें झा बता रहा है
कोई उन्हें मिश्रा।

कोई उन्हें पाठक बता रहा है
कोई उन्हें त्रिपाठी
कोई उन्हें शर्मा बता रहा है
कोई उन्हें पांडे।

कोई उन्हें सिंह बता रहा है
कोई उन्हें ठाकुर
कोई उन्हें चौहान बता रहा है
कोई उन्हें सिसोदिया।

मैला आंचल, परती परिकथा
आदिम रात्रि की महक, मिरदंगिया, पंचलाइट, संवदिया
ठेस, तीसरी कसम के रचनाकार को
महानता के वृत्तांत में
मंडल (धानुक) बनाकर
कैसे शामिल किया जा सकता है?

हम और कम हिंदुस्तानी हो रहे

पहले से अधिक हम भूमिहार हो रहे
पहले से अधिक हम ब्राह्मण हो रहे
पहले से अधिक हम राजपूत हो रहे
पहले से अधिक हम कायस्थ हो रहे।

पहले से अधिक हम वैश्य हो रहे
पहले से अधिक हम बनिया हो रहे।

पहले से अधिक हम जाट हो रहे
पहले से अधिक हम गुर्जर हो रहे।

पहले से अधिक हम यादव हो रहे
पहले से अधिक हम कुर्मी हो रहे
पहले से अधिक हम कुशवाहा हो रहे।

अब हम भी कुम्हार हो रहे
अब हम भी कहार हो रहे
अब हम भी हजाम हो रहे
अब हम भी बढ़ई हो रहे।

अब हम भी चमार हो रहे
अब हम भी दुसाध हो रहे
अब हम भी खटिक हो रहे
अब हम भी वाल्मीकि हो रहे।

अब हम भी मुसलमान हो रहे।

पहले से हम और कम हिंदुस्तानी हो रहे!

प्रेम

पहला भाजपाई है
तो दूसरा कांग्रेसी

तीसरा समाजवादी है
तो चौथा मार्क्सवादी

पाँचवाँ सपाई है
तो छठा लोजपाई

सातवाँ तेदेपाई है
तो आठवाँ शिवसेनाई

पहला प्रचारक है
तो दूसरा विचारक

तीसरा राजनेता है
तो चौथा अभिनेता

पाँचवाँ समाजशास्त्री है
तो छठा अर्थशास्त्री

सातवाँ कविगुरु है
तो आठवाँ लवगुरु

एक राजस्थान का रहने वाला है
तो दूसरा पंजाब का

तीसरा कर्नाटक का रहने वाला है
तो चौथा बंगाल का

पाँचवाँ यूपी का रहने वाला है
तो छठा बिहार का

सातवाँ दक्षिण का रहने वाला है
तो आठवाँ मध्य प्रदेश का

पहला साँवला है

तो दूसरा भूरा

तीसरा तांबई है
तो चौथा लाल

पाँचवाँ कत्थई है
तो छठवाँ गेहुँअन

सातवाँ नीला है
तो आठवाँ पीला

फिर भी इनमें कितना प्रेम है

इस प्रेम का कारण
कहीं इनकी जाति का मेल तो नहीं है?

भारत का यह कैसा खेल है!

कोरोना और दिहाड़ी मजदूर

यह उमड़ते हुए जनसैलाब जो आप देख रहे हैं
यह किसी मेले की तस्वीर नहीं है
या किसी नेता-अभिनेता का रैला भी नहीं है
यह तस्वीर है
साहित्य में वर्णित उन भारत भाग्यविधाताओं की
जो दिल्ली, मुंबई, बेंगलुरु, चंडीगढ़
गुड़गाँव, नोएडा, गाजियाबाद जैसे स्मार्ट महानगरों के निर्माता हैं।

तस्वीर में छोटे-छोटे बच्चे जो दिख रहे हैं
और उनके माथों पर भारी-भारी मोटरियाँ
वे उनके दुखों और संतापों की मोटरियाँ हैं
वही मोटरियाँ लेकर वे
अपने तथाकथित वतन से परदेस को आए थे
और फिर वही लेकर
परदेस से अपने वतन को लौट रहे हैं।

हजारों किलोमीटर की वतन वापसी के लिए
उनके पास न कोई हाथी है, न कोई घोड़ा है

वहाँ पैदल ही जाना है।

रास्ते में उन्हें साँप डँसेगा या बिच्छू
घड़ियाल जकड़ेगा या मगरमच्छ
पैरों में छाले पड़ेंगे या फफोले
सूरज की आग जलाएगी या बारिश के ओले
इसकी चिंता करके भी वे क्या कर सकते हैं।

परदेस में उनके हाथों को जब कोई काम ही नहीं रहा
घरों से उनको बेघर ही कर दिया गया
राशन की दुकानें जब खाक ही हो गईं
तब वे करें तो क्या करें
जाएँ तो कहाँ जाएँ?

वे उसी वतन को लौट रहे हैं
जिनको मुक्ति की अभिलाषा में छोड़ना
उन्हें कतई अनैतिक-अनुचित नहीं लगा था
यह जानते हुए भी
फिर वहीं लौट रहे हैं
कि वह उनके लिए किसी नरक के द्वार से कम नहीं है
उन्हें पता है कि
जिनसे मुक्ति के लिए उन्होंने गाँवों को छोड़ा था
वे उनसे इस बार कहीं ज्यादा कीमत वसूलेंगे
उन्हें उनकी मजूरी के लिए
दो सेर नहीं एक सेर अनाज देंगे
उनके जिगर के टुकड़ों को
बाल और बँधुआ मजदूर बनाएंगे
उनकी बेटियों-पत्नियों को दिनदहाड़े नोचेंगे-खसोटेंगे
शिकायत करने पर
डाँर में रस्सा लगाकर
ट्रकों में बांधकर गाँवों में घसीटेंगे

सर उठाने पर सर कलम कर देंगे
आँखें दिखाने पर आँखें फोड़ देंगे
नलों से पानी पीने पर गोली मार देंगे
गले में घड़ा और कमर में झाड़ूँ फिर से बँधवाएँगे
जो कमोबेश अभी भी गाँवों में लोगों को भुगतना पड़ता है।

भारतीय संविधान ने उनमें आजादी के जो पंख लगाए थे

वे फिर से कतरे जाएँगे
मनुष्य की गरिमा की अकड़ ढीले किए जाएंगे।

वे जाएँ तो जाएँ कहाँ
करें तो करें क्या?

अंधकार युग में उन्हें ही क्यों ढकेला जा रहा है?
और तो सवैतनिक अवकाश पर हैं
अपने-अपने घरों में सुरक्षित हैं
और वे सड़कों पर दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं!

पीछे कुआँ था तो आगे खाई है
उनके जीवन की यही कहानी है।

कोरोना महामारी होगी
लेकिन उनके लिए तो यह दोहरी-तिहरी महामारी है!

सारी सभ्यताएँ नदियों और नगरों की सभ्यताएँ हैं
पहली बार कोई नागर सभ्यता
उनके लिए अभिशाप बनाई गई है।

वे जाएँ तो जाएँ कहाँ
वे करें तो करें क्या?

संपर्क : 348/4, दूसरी मंजिल, गोविंदपुरी, कालका जी, नई दिल्ली-110019, मो. : 9910744984

आठ कविताएँ

अनुज लुगुन

इतिहास की कब्र का भूखा आदमी

वह कोई ऐसा शख्सियत नहीं था कि उसे मारने के लिए
शासन ने कोई कूटनीतिक षड्यंत्र रचा हो
यह तब होता जब वह कोई शहजादा होता
उसे तो बोलने नहीं दिया गया था और वह मर गया

कोई अभिलेख होता तो बताया जाता कि वह कलाओं में निपुण था
शिलालेख होते तो उसकी प्रशस्ति का गान होता
उसके कपड़े इतने चीथड़े हो चुके थे
कि बारिश के कुछ दिनों के बाद ही गल गए
और उसकी कटोरी जो कि पुरातत्ववेत्ताओं के लिए खोज का विषय होती
उसे किसी और ने चुरा लिया था

कुछ कहते हैं कि वह बेबीलोन की सभ्यता का कारीगर था
किसी ने कहा कि वह रोमन साम्राज्य का दास था
किसी ने दावा किया कि वह शूद्र था आर्य सभ्यता का
और उसकी छाँव लगने से लोगों को कोढ़ हो जाता था
जो भी हो लेकिन यह तथ्य मौजूद है कि वह एक भूखा आदमी था
और शासकों ने उसकी भूख मिटाने के लिए उसे जुबान नहीं दिया था

इतिहास में बड़े-बड़े शूरमाओं के साथ ही एक भूखे आदमी की कब्र भी है
उसे किसी षड्यंत्र में नहीं मारा गया था
बल्कि वह मरा था एक राजनैतिक आदर्श से
उसे कहा गया था पसीने की कीमत ईश्वर तय करता है

शासन भूखे को उसकी भाषा नहीं देता है
वह उसे आदर्श देता है और
अपनी गुफा में उसका मस्तिष्क घुसेड़ देता है
उसे न मानना बगावत है
उस आदमी ने गुफा से अपना मस्तिष्क निकाल लिया था

जब इतिहास में किसी हुकूमत की कब्र जगमगाती है
तो वहीं अँधेरे में
किसी भूखे की भी कब्र होती है जो उसकी दया के शिल्पों को तोड़ देती है।

नागरिकता के सीमांतों पर खड़े लोग

नागरिकता के सीमांतों पर खड़े लोग
संदिग्ध हो जाते हैं
वे बहुसंख्यक आबादी की पूँछ माने जाते हैं
जानवरों की तरह
लोग उनसे अपनी देह की मक्खियाँ झाड़ते हैं
उन्हें वे अपने पेट तक पहुँचने नहीं देते
अपने सीने से लगने नहीं देते
अपनी जुबान की भाषा तो
उन्हें कभी होने ही नहीं दिया जाता
वे उन्हें
अपने मलद्वार के ठीक ऊपर लटका कर रखते हैं

अकविता की भाषा की तरह
बहुसंख्यक अपने बच्चों को उनसे दूर रखते हैं
वे असभ्य और पिछड़े माने जाते हैं

नागरिकता के सीमांत पर खड़े लोग
कभी जम्मू के हो जाते हैं
तो कभी कश्मीर के
कभी पूर्वोत्तर के हो जाते हैं
तो कभी बस्तर के

वे सीरिया, फिलिस्तीन
मक्सिको, ग्वाटेमाला कहीं के भी हो सकते हैं
यहाँ तक कि वे हमारे घरों में
चूल्हों, चौकियों और चौखटों के हो जाते हैं

धीरे-धीरे वे गुस्सैल हो जाते हैं
वे चिड़चिड़े हो जाते हैं
कभी-कभी तो वे हथियारबंद भी हो जाते हैं
तब उन्हें और आसान हो जाता है
नागरिकता के पायदान से धक्के दे देना

नागरिकता के सीमांत पर खड़े लोग आपकी तरह
मुस्कुराते हुए आधार कार्ड दिखा नहीं सकते
राशन कार्ड लिए हुए भी उनका दिल धड़कते रहता है
वे जानते हैं उन्हें कभी भी अनाज की जगह
जेल की सलाखें मिल सकती हैं
वे आपको अपना भूगोल दिखा सकते हैं, मानचित्र नहीं
वे गोद में अपने
बिलखते बच्चों को दिखा सकते हैं, उनका भविष्य नहीं
वे आपको अपनी आँखें दिखा सकते हैं, रुदन नहीं
वे नदियों, नालों, पहाड़ों
और कँटीले रास्तों को पार करते हुए
हमेशा किसी अनिश्चितता में पहुँचते हैं
यह उनकी खूबसूरती है कि
वे हर चीज को लाँघते हुए
आदमियत के बंद दरवाजों को तोड़ते हैं।

मुझे मेरी नागरिकता दे दो

मुझे मेरी नागरिकता दे दो
मुझे मेरी अस्मिता दे दो
मानचित्र की उलझी रेखाओं में नहीं
आदमी होने की भाषा में मुझे नागरिकता दे दो।

मैं हिंदू हूँ, बौद्ध हूँ,
ईसाई हूँ, पारसी हूँ
मुसलमान हूँ
कोई भी हूँ

मुझे मेरी नागरिकता दे दो।

मुझे छत दे दो
भात दे दो
लिखने का हाथ दे दो
मुझे मेरी जुबान आजाद दे दो
संविधान में लिखी थी जो धर्म की बात
मुझे वही बात दे दो।

कल जो होंगे मेरे बच्चे
नंगे और ठिठुरते हुए
उनको गरीबी की जात दे दो
मैं आदमी हूँ
मुझे आदमी होने की बात दे दो।

तुम तो करोगे राज-पाट की बात
मुझे काम-काज की बात कर लेने दो
कुदाल चला लेने दो
लोहा गला लेने दो
अपना पेट पाल लेने दो
मुझे मेरी नागरिकता दे दो।

मजदूरों की मौत का सदमा लाल किले को नहीं होता

मजदूरों की मौत का सदमा लाल किले को नहीं होता
न ही संसद की दीवारों में सुराख होता है
धर्म के सफेद पन्ने भी नम नहीं होते
ईश्वर की ऐय्याशी फिर भी कम नहीं होती

मुआवजे की गर्दन पर चढ़कर
लोहे की गाड़ी चलती है
और मजदूर रेल की पटरियों पर कट कर मर जाते हैं
भूख विज्ञापनों से टकराती है
और अश्लीलता न्यूज़ चौनलों पर नाचती है

जब कारखानों में दो सौ छह हड्डियाँ मिलकर
खुशहाली का नक्शा बनाती हैं तब
कुछ लोग पानी को

चिड़ियों से छीन कर
अपनी जेब में कैद कर देते हैं
अनाज गोदामों में छिपा लिया जाता है और
सिर के लिए बने छप्परों पर
मुनाफे का मुकुट कस दिया जाता है

मुनाफे का एक कण संविधान पर
उल्का की तरह गिरता है और
गाँव के गाँव, बस्ती के बस्ती
बेगारी के गड्ढे में धकेल दिए जाते हैं
पसीने के नमक पर
सरकारें सेंध लगाना शुरू कर देती हैं और
आसमान तक हिंसा की चिमनी से
गरीबी का धुआँ पहुँचता है

भूख के मानचित्र पर
जब किसी मजदूर की गर्दन कटती है तो
ऐय्याश देह अखबारों से अपना चेहरा ढँक लेते हैं
या सैनिकों को सड़क पर परेड के लिए उतार देते हैं

मजदूरों की मौत का सदमा लाल किले को नहीं होता है
केवल कुछ दिनों के लिए
सरकारी शव-दाह गृह से धुँआ उठता रहता है।

हम बहुत जल्दी भीड़ बन जाते हैं

हम बहुत जल्दी भीड़ बन जाते हैं
और हवा को विषैला बना देते हैं
हम साँस लेने के सारे रास्तों को
बंद कर देते हैं और लीक पर चलते हुए
हमारे खुर घिसने लगते हैं

हमारे कान आदती हैं झूठी गौरव गाथाओं के
जीभ हमेशा मन का स्वाद चाहती हैं
हम आँख बंद कर
कान खुलले रखते हैं और
जुबान बिना लगाम के दिशाहीन चलती जाती है

हम कहते हैं भीड़ का कोई चेहरा नहीं होता है
लेकिन किसी चेहरे के
प्रतीक पर ही हम भीड़ बन जाते हैं,
हम झंडों के साथ श्रेष्ठता के नारे लगाते हैं
धर्म हमारी आँखों में होता है
और कोई नस्लीय प्रतीक
हमारे तर्क पर चस्पा होकर
हिंसा को धमनियों तक पहुँचा देता है

सूखे पत्तों पर चलते हुए
हम बहुत जल्दी भीड़ बन जाते हैं
और उसकी चरमराहट से सुन नहीं पाते हैं
अपनी ही हिंसक आवाज को।

हमारी सदी के लिए न्याय का मुहावरा

जब बच्चे शरणार्थी शिविरों में
अपने खेलने के लिए
मैदान खोजेंगे
तब उनके भविष्य के लिए
चिंता करना कायरता होगी

जब स्त्रियाँ प्रसव से तड़प रही होंगी
तब गलियों में गश्त करते
सैनिकों से
रहम का आदेश नहीं मिल सकता

बूढ़ों की साँस की तकलीफों के लिए
किसी दवाखाना तक
तब तक नहीं पहुँचा जा सकता
जब तक दरवाजे पर
कोई नया हॉकर नहीं आ जाता

यहाँ तक कि चूल्हों के लिए
नमक का समुद्र भी सूख जाएगा आँखों से

इससे पहले कि नफ़रत
विचार की तरह हमारी अंगुलियों में धँस जाए
हम अपनी हथेलियों में बहती नदी का
उद्‌गम खोज लें
हमें दिखाई देगा उसमें तैरती मछलियों का जादू
कि पानी का ऑक्सीजन
उनके ही पसीनों की गंध है

क्रूरता की छलाँग
शासन की चाह के बिना संभव नहीं है
इससे पहले कि
कोई धन के भूखंड से कूच करे
या कोई धर्म के किले से ध्वज लेकर कूदे
हम उन सलीबों को लेकर खड़े हो जाएँ
जिसमें सवाल ठोंके गए हैं

हर एक आदमी एक सलीब लेकर उठे
और इस तरह हम अनगिनत स्वरों से
गढ़ सकते हैं संगीनों और
अनहोनी दस्तकों के खिलाफ़
हाथ बढ़ाने की भाषा

हमारी सदी के लिए भी
यही होगा न्याय का मुहावरा।

हम गिनेंगे भूख के दाँत

अब नहीं दिखेंगे भूख के नवजात बच्चे
कहा जाएगा कि यह बीती सदी की बात थी
और एक सड़क बिछा दी जाएगी
खाने की थाली पर
उसमें सरपट दौड़ेंगी बेशकीमती गाड़ियाँ

रोज यह बढ़ता ही जाएगा
धूल उड़ती ही जाएगी
परत दोहरा होता जाएगा चेहरे पर
और आँखों में मोतियाबिंद हो जाएगा

भूखे कोलतार के नीचे दबा दिए जाएँगे
या एशियन पेंट्स जैसे किसी
ब्रांड के रंगों की ओट में रख दिए जाएँगे
भूखा आदमी कहीं नहीं होगा
किसी स्मार्ट सिटी के मुहावरे में

लोग हँसेंगे अपने पेट के
गैस पर चर्चा करते हुए
अश्लीलता उनकी भाषा में नहीं
उनकी नीतियों में होगी
वे अपने आस-पास
झुग्गियों को
देखना पसंद नहीं करेंगे

ठीक ऐसे ही समय में
हिंसक होंगे भले आदमी
बेघर होंगे घास के बीज
और जमींदोज होगी
पसीने की कलाकृति

तब हम गिनेंगे भूख के दाँत
और अनाज की बोरियों के लिए
उग रही होगी प्रतिहिंसा।

बुलेट ट्रेन पर न्यूनतम समर्थन मूल्य की बात

अब जबकि लोगों ने बुलेट ट्रेन पर अपनी सहमति दे दी है तो
लोग फसलों के झूमने की बात नहीं करेंगे
फसलें भी घर बसाती हैं अब इस बात पर लोग गौर नहीं करेंगे
और चिड़ियों का मरना उनके लिए त्रासदी नहीं होगी

यह समय ही ऐसा है कि व्यवसाय जीत गया है और
भगवान अपने घर वापस लौट आए हैं
संन्यासी और धर्मज्ञ शासन कर रहे हैं
इसलिए खेतों के दुःख की बात अविश्वसनीय है
जिन्हें खलिहानों के बिकने का डर है
दरअसल वे भगवान के होने पर संदेह कर रहे हैं
इसलिए उन्हें कैदखाने का रास्ता दिखाया जाएगा

जो जमीन को जोतता और कोड़ता है
उसे मालिकाना दावे का हक़ नहीं
जो बीज बाजारों में बेचता है
उसकी उर्वरता बढ़ेगी और वही होगा मालिक
मसलन कि जमीन के पट्टों की बात उतनी वाज़िब नहीं रही
जितनी कि पेटेंट कानूनों की है

जो सड़कों पर हैं वे जानते हैं यह सबकुछ
और इसलिए वे सड़कों पर हैं
नहीं तो वे किसी मंदिर के शिलान्यास कार्यक्रम में होते
या लालकिले में होते
जैसे कि आज के जनसेवक दिखते हैं

किसान होना महज किसान क्रेडिट कार्ड
हासिल कर लेना नहीं है
जैसे कि बैंकर होना एटीएम कार्ड हासिल कर लेना है
यह मिट्टी के हत्यारों को पहचानने की योग्यता है

महज समर्थन मूल्य की बात करके
सूरज का परचम ढोने वालों को फुसलाया नहीं जा सकता
जब जहरीली रसायन मिट्टी में घुलती है
तब उसकी आँखें सुलगती हैं

भले ही आज लोगों ने बुलेट ट्रेन पर अपनी सहमति दे दी हो
उनके कंधों से सूरज का परचम गिरता नहीं है।

संपर्क : सहायक प्रोफेसर, भारतीय भाषा केन्द्र, दक्षिण बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय, पंचानपुर रोड, ग्राम-करहरा, पो. -फतेहपुर रोड, गया-824236 (बिहार), मो. : 7677570764

छह कविताएँ

अदनान कफ़ील दरवेश

क़ब्र का पत्थर

जब माँ ने जन्म दिया
रेडियो पर बैनुल-अक़्वामी ख़बरों का वक़्त था
सबने कहा, 'समाचार सुनने ही आया है...'

वो दिन और आज का दिन
चाँद और सूरज पलट गए
गंगा में कितना पानी बह चुका
करघा चलता रहा, आवाज़ उठती रही
दिन-ओ-माह-ओ-साल बुने जाते रहे
हू का शोर बस्ती-बस्ती चाटता रहा लहू
कहीं कुछ न बदला
बदले भी तो बस यातना देने के हथियार
जुल्म के हाथ और मज़बूत होते रहे
इंसान को इंसानों में ही पनाह न मिली

वो ख़बरें कहाँ सुनी गईं
जिनसे कानों को सुख मिलता!
उफ़्फ़ इस धरती से कितना इश्क़ है मुझे
विदा होते-होते कुछ शिकस्ता ख्वाब ही होंगे लगता है

कुछ अलिखित पांडुलिपियाँ
कुछ क़र्ज़ की क़िस्तें
कुछ न भेजी गईं अर्ज़ियाँ, सिफ़ारिशें
और कुछ इत्र में बसे ख़त
और जेब में कुछ ज़िद्दी सिक्के
जो कभी ख़र्च न हुए

मैं मरूँ तो न हिंदुस्तान में
न पाकिस्तान में
न अरब में न फ़ारस में
न मास्को में न बर्लिन में
न हिंदी में न उर्दू में
न हिंदुओं में न मुसलमानों में
मैं मरूँ तो अपनी माँ की बोली में मरूँ
भोजपुरी में मरूँ
और मेरी क़ब्र पर लिखे ये शब्द
मिट्टी की उम्र पाएँ :
माटी कऽ हऽ तोसक गद्दा।
कथरी अउर दुलाई हो।।
इँह दरवेस सुतल बाड़ें हो।
मटिया ओढ़ रजाई हो।।
तरताबर जिन धावऽ अतना।
कर लऽ थोड़ भलाई हो।।
माटी कऽ ई देह हऽ बाबू।
माटी मा मिलि जाई हो।।

मेरे बच्चो!

दुनियाभर की किताबों से कातो सूत
फिर बुनो चादर जिसमें
लातादाद अक्षरों और ध्वनियों की सरगोशी हो शामिल
भाषा की तलछट से बीन लाओ सुई
और आत्मा को कर डालो रफू
यातना के निशान बेल-बूटों से सजाओ
धू-धू कर जलाओ भाषा में
बीस-बीस हाथ गहरी क़ब्र में दबाओ भाषा के मुझे!

मेरे बच्चो!

मैं तो न बुन सका वो दर्दीली मीठी आवाज़ में गाने वाली चादर
तुम गर बुन पाओ कभी तो इस बूढ़े को उसी में देना अंतिम विदाई।

देवता

सपनों में उगती हैं तलवारें
और तोपों के गरम दहाने आँच देते हैं
मैं अपनी टूटी हुई टांग या फूटी हुई आँख के दुखड़े नहीं रोता
बल्कि वक़्त की लगाम खींच कर एड़ लगाता हूँ...

कितनी ही लड़ाइयाँ जो पिछले ज़मानों में लड़ी गईं
और जिनका ज़िक्र तारीख़दानों ने भी नहीं किया
उनका शोर मेरे सपने में क्यों रिसता है?
ये रेलगाड़ी नहीं जिसकी चेन खींच कर रोक सकूँ
या वो टोटी नहीं जिसकी कान उमेठ कर पानी बंद कर दूँ
तो फिर ये क्या है जो मुसलसल चलता रहता है मेरे भीतर?
मैं कितने हादसों के बोझ तले दबा हूँ!
मैं कितनी हिजरतों और बँटवारों का गवाह हूँ!
मेरी रूह पर कितने ज़ख्मों के दाग़ हैं!
जो मैंने ही खाये हैं किन्हीं और ज़मानों में
किन्हीं और हथियारों से...

मैं एक ही वक़्त हाकिम और मज़लूम कैसे हो सकता हूँ?
मैं एक ही वक़्त क़ातिल और मक़तूल कैसे हो सकता हूँ?
मुझे नहीं मालूम कि मैं टकसाल में सिक्के बना रहा हूँ
या कोयले के खदान से कोयले निकाल रहा हूँ
या शहर के फाटक पर दरबानी देता हुआ ऊँघ रहा हूँ...

मैं इस बर्रे-सग़ीर का सिसकता हुआ कौन-सा राग हूँ मेरे मौला?
जो दिल्ली और लाहौर और काबुल और मुल्तान और पेशावर और कराची और ढाके तक खिंचता है...
मैं प्राचीन ऋषियों का शाप हूँ या मोहनजोदड़ों की राख
जो सदियों से उड़ रही है...
या कि हूँ मैं अधूरी बंदिश किसी उस्ताद की!
या किसी अजन्मे राग की पीड़ा!
मैं कितने दुःखों का मदावा चाहता हूँ
मैं किस रफूगर की खोई हुई सुई हूँ जो नदियों, पत्थरों और कराहों का पीछा करती है?

मैं किसका पुत्र हूँ?
किसकी हूँ मैं संतान?
किसकी हूँ मैं अधबुनी चादर?
किस कलाकार की हूँ मैं अधूरी रचना?
मैं किस बर्बाद नगर का प्रेत हूँ?
किस सूफ़ी की अधूरी दुआ हूँ?

मैं पत्थर के नगर का कौन सौवाँ पत्थर हूँ दरवेश?

मुल्क़

संगीत
किसी धर्म से अधिक पवित्र चीज़ है
मनुष्य के कंठ में ही है मोक्ष
गीली मुस्कुराहट से भीगे मुख से अधिक सुंदर
कुछ भी नहीं है इस पृथ्वी पर
कुछ भी नहीं...

कविता मेरा मुल्क है
जहाँ ईश्वरों का प्रवेश वर्जित है।

लालटेन और कवि

(मंगलेश दा की याद)

कवि नहीं मरते
वे महज़ ओझल हो जाते हैं
हमारी कमख़ाब नज़रों से
किसी और समय में
किसी और दुनिया में
किसी और बेचैनी में

एक विकल हृदय
एक मुलायम स्वप्न
और एक लपलपाती लालटेन की
सुनहली लौ के बीच
सीने में छुपाये बच्चों-सी तजस्सुस के साथ
एक अनंत पीले अँधकार में
दाख़िल हो जाते हैं...।

जाड़े की धूप

कितने दिनों बाद खिली है धूप
जाड़े की ठिठुरन में गड्डर बने सिकुड़ते फिरते थे हम
किट-किट करते दाँत भूत बने रहते थे हम
आज मज़े में कुर्सी पर जम कर बैठे हैं
ताक रहे हैं दूर क्षितिज को
खोला जैसे बहुत पुराना सीला-सा संदूक़...

छत पर अलगनी के बाँसों ने पहनी कंटोप
टिन की छत से ताक रहा चोंचें का बच्चा
चिड़ियों की चूँ-चिक ने मन के अँधकार को
दीप्त किया ज्यूँ
खुले हृदय-सा खुला हुआ नभ
अहा! कि आया डाक कोई हो दूर देश से
आँखों में उमड़ी चमक बड़े दिनों में देखा तुमको जैसे।

संपर्क : द्वारा : श्री डॉ. ई.जेड. जावेद, मकान नं. 209, ग्राम + पो.-गड़वार (निकट पंचायत भवन), जि. बलिया-277121 (उ.प्र.), मो. : 9990225150

कैंसर वार्ड

राजकुमार राकेश

'ये जानना जरूरी है कि तुम क्यों ज़िंदा हो। इसके बिना सब कुछ बेकार है, निरर्थक है। ***'मुझे चाँद चाहिए' में उद्धरित 'माशा' का एक संवाद।***

यह कथा सर्वथा एक काल्पनिक कथा है। ऐसा कोई कुफ़्र मत ढाईएगा कि इसे आत्मकथा करार दे दीजिए, क्योंकि अगर ऐसा हुआ, यह प्रामाणिक मान ली जाएगी और खुद मैं यह नहीं चाहूँगा कि इसे प्रामाणिक माना जाये। ***कथा के कलेवर से बाहर इस कथा के मुख्य पात्र शंकरलाल वशिष्ठ की स्वीकारोक्ति'***

भवन दोमंज़िला था। ज्यादा ऊँचा नहीं। औसत से जरा कम था। छत नालीदार टीन से बनी थी। संतरी रंग में रंगी। बारिश का पानी उसकी नालियों में इकट्ठा होकर अनेक समांतर धाराएँ बनाता, धरती में जैसे अनेक समांतर छेद करने की कोशिश कर रहा था। मैंने एंबुलेंस के ड्राईवर को गेट के पास रोकने को कहा। गाड़ी पानी की इन धाराओं के ठीक नीचे जा खड़ी हुई। हमारे पास छाता नहीं था। मैंने गिरते पानी की परवाह नहीं की, बाहर आया और प्रीति को सहारा देते हुये उतारा, कुछ मिनटों के बाद हम दोनों गेट पर खड़े थे। मामूली से भीगे हुये।

यह कैंसर हस्पताल का मुख्य गेट था। जैसे ही इसके भीतर कदम रखा, डरावने अँधेरे के घने सायों ने बाहर की ओर झपट्टा मारा। कुछ देर के लिए मुझे लगा, मेरा होना इसमें पूरी तरह विलीन हो जाएगा। तनिक होश आया तब दिन-दहाड़े पसरे इस अँधेरे का रहस्य जानने के लिए मैंने आँखें फाड़कर देखने की कोशिश की। महसूस हुआ जैसे इस भवन की भीतरी दीवारें काले रंग में पुती हैं। इसका कोई तात्कालिक कारण मुझे समझ नहीं आया। हो सकता है, ये कैंसर से जुड़ा कुछ मामला हो। लेकिन इधर-उधर की फिजूल बातों में उलझने की बजाय मैं सिर्फ प्रीति की बीमारी और उसके इलाज़ के बारे में सोचते रहना चाहता था।

समय की यह एक और बेहद खतरनाक करवट थी। ज़िंदगी के बाकी सारे सवाल जैसे

खत्म हो गए थे। इससे पहले हमारी ज़िंदगी में जो हुआ था, उस सबको मैं भुला देना चाहता था। यद्यपि ज़ख्म अनवरत रिस रहे थे। उनसे बहते पदार्थ के दर्द को भुला पाना तत्काल चाहे मुमकिन न प्रतीत होता हो, लेकिन मैं खुद को मनाना चाहता था कि हर व्यक्ति किसी दिये हुये वक्त में अपने तय गणित से सही फैसले करता है। वे आपके मन के अनुकूल न रहे हों, उसमें उन फैसलों का खुद में गलत होना नहीं है। वक्त गुजर जाने के बाद उन्हें भुला दिया जाना समय की मांग है। मनुष्य आगे बढ़ता है। पीछे लौटकर देखने में उसका जीवन नहीं है। पर मैं जितनी कोशिश करता उतना ज्यादा शिद्दत से वे गुजरे हालात दिमाग के पर्दों पर किसी अनचाहे मेहमान की तरह आ विराजते थे। भूलना महज़ एक ढोंग था। खुद को भुलावे में डालने की कोई अनचाही तरकीब। असल में वे स्मृति का स्थाई हिस्सा हो चुके थे। वे चले आते थे। इस हस्पताल की इन काली दीवारों से बाहर आते अँधेरों की मानिंद।

कैंसर का नाम मैंने बहुत बार सुना था। कुछ बरस पहले मेरे मित्र सुधाकर के पिता को गले का कैंसर हो गया था। तब इस हस्पताल में तीन बार आना हुआ था। उस वक्त ये दीवारें काली तो थीं, लेकिन इतनी अधिक काली नहीं थीं। उन्हें दिनों मैंने इस विषय पर कुछ किताबें पढ़ीं थीं। हालाँकि ये अकादमिक शौक की वजह से ज्यादा था। सुसेन सोंटेग की किताब 'इलनेस एज़ मेटाफर' अभी तक मेरे दिमाग में दस्तक देती रहती है। इसमें कैंसर वाला हिस्सा भीतर घनीभूत भय पैदा करता रहा था। ये वो वक्त था, जब सिद्धार्थ ने मेरे जीवन को एक अपरिभाषित भय की जकड़न में धकेल रखा था। उसे नाम देना मुमकिन नहीं था। बहुत सी अनाम चीजें ज़िंदगी के अनेक तत्वों का निर्माण करती हैं। वो मुझे उस अपराध की सजा देना चाहता था, जो मैंने नहीं बल्कि खुद उसने किया था। लेकिन प्रीति के मुँह में कैंसर का खतरा उस भय को एक निश्चित नाम दे गया था। अब ये यथार्थ रूप में भीतर दस्तक दे रहा था। कभी सोचा नहीं था, मुझे प्रीति को इस हाल में देखना पड़ेगा। बल्कि एक व्यक्ति के रूप में ये मुझसे ज्यादा सुगठित और बेफिक्र थी। मैं भीतर से बहुत कमजोर था। जरा सी कोई कठिनाई मुझे अंदर से अचानक हिला देती थी। प्रीति का कलेजा मेरे मुक़ाबले बहुत मजबूत था। लगता था मानो सिद्धार्थ ने मेरी इसी कमजोरी को अपना हथियार बना लिया है। लेकिन ये कभी समझ नहीं आया, वो मुझे एक निश्चित मगर अनाम डर में क्यों रखना चाहता था।

आँखें अँधेरे की जरा सी अभ्यस्त हुईं तो हस्पताल के सन्नाटे में इक्का दुक्का लोग नजर आने लगे। मैंने खुद को समझाया, इस वक्त मेरी फिक्र गुजरे जमाने की यादों में नहीं, प्रीति की बीमारी के इलाज़ में है। अब तक जहाँ-जहाँ मैं इसे दिखाकर आया था, मामला सीरियस बताया गया था। कैंसर हस्पताल के संदर्भ में सीरियस क्या हो सकता है, इसका आभास मैं क्या कोई भी कर सकता था।

अगर डॉ. सौहटा के शुरुआती परामर्श को शामिल कर लिया जाए तो तीनों जगह यही अंदेशा जताया गया था। साफ साफ किसी ने कुछ नहीं कहा, लेकिन हर किसी का सीरियस कहना अपने आपमें एक कहानी कहता था। वैसे पिछले कुछ सालों में खबरें आसमानी बिजली की तरह जितना खतरनाक ढंग से आती रही हैं, वे मेरे साथ अचानक कुछ भी खतरनाक कर सकने का माद्दा रखती थीं। हार्ट फेल से लेकर ब्रेन हैमरेज तक कुछ भी। लेकिन इस खबर को सुनकर दिल धक्क से रह गया था। शरीर की पहली प्रतिक्रिया कंपन की थी, उचित शब्द ढूंढे जाएँ तब कहना होगा कि बस अब और नहीं, कि अब आगे सह पाना मुमकिन नहीं है। लेकिन मनुष्य के भीतर बार-बार उठ खड़े होने का जो ज़ज्बा मौजूद रहता है, वो असल सहारा

बनकर सामने आया था। नतीजन मैं प्रीति के इलाज़ का हर पहले से पहला और आखिरी से आखिरी उपाय तलाश करने लगा था। इससे पहले के सारे हस्पताल एक उम्मीद की तरह थे। किसी डॉक्टर ने बीमारी का नाम नहीं लिया था। ये ज़िंदगी की कोई छोटी आशा नहीं थी, किन्तु आज वो भी झर गई थी। कैंसर हस्पताल का मतलब क्या होता इसे समझना मुश्किल नहीं था।

गेट के भीतर बाईं तरफ एक काउंटर दिखा। वहाँ एक महिला अपने चेहरे पर एक निराश भाव लिए बैठी थी। मैं उसके सामने आ खड़ा हुआ। अब तक प्रीति की बीमारी की जो फाईल बनी थी वो उसके सामने रख दी। उसने सरसरी तौर पर भी नहीं देखा। कुछ चलताऊ से जुबानी सवाल किए, उनमें प्रमुख मरीज का नाम और पता बगैरह था। फिर एक पर्ची पर लिखकर हमें पकड़ा दिया।

'उस तरफ,' उसने कहा, 'उधर। तीन सौ दो नंबर कमरे में डाक्टर हैं।'

मेरे भीतर डर की एक और लहर उठी। यह नंबर बहुत खतरनाक प्रतीत हुआ। हमारे पुत्र सिद्धार्थ, उसके ससुर एडवोकेट चरणदास चौबे और उसकी पत्नी मोनिका के सौजन्य से जितनी भी मेरी वाकफियत भारतीय दंड संहिता से हुई थी, उसमें धारा तीन सौ दो सर्वाधिक खतरनाक थी। इसमें मृत्यु दंड का प्रावधान था। और अजीब इत्तेफाक है, इस हस्पताल का, एक डॉक्टर उसी नंबर के कमरे में बैठकर कैंसर के मरीजों का मुआयना कर रहा है।

हम कुछ कदम आगे बढ़े और दाईं तरफ की गली में मुड़कर चलने लगे। आर-पार बिजली के कुछ लट्टू जल रहे थे, मानो अमावस्या की रात को मिट्टी के दिये जलाकर रखे गए हों। दो पंक्तियों में आर-पार जाली के दो दो दरवाजे लांघकर हम एक द्वार पर जा खड़े हुये। यही तीन सौ दो था। कुछ देर के बाद भीतर से एक आदमी बाहर निकला और रूखे स्वर में बोला, 'क्या है?'

मैंने पर्ची उसकी ओर बढ़ाते हुये कहा, 'डॉक्टर को दिखाना है।'

उसने पर्ची ले ली, 'रुको।'

गलियारे में एक किनारे लकड़ी की बेंच पड़ी थी। मैंने प्रीति को सहारा देकर उस पर बिठा दिया। कुछ देर तक खामोशी बनी रही। ये हस्पताल बाकी हस्पतालों से एकदम अलग था। हर जगह, जहाँ-जहाँ अब तक प्रीति को लेकर जाना हुआ था, वहाँ चारों तरफ भयानक शोर और चुल्ल मची रहती थी। जबकि इस कैंसर हस्पताल में कोई आदमी मुश्किल से नजर आ रहा था। ये हस्पताल से ज्यादा मुर्दाघर प्रतीत हो रहा था। कुछ देर के इंतज़ार के बाद उस आदमी ने अपना सिर भीतर से जाली के पास लाकर दिखाया, 'आओ।'

मैंने प्रीति को उठाया और द्वार खोलकर अंदर ले गया। सामने बेंत की कुर्सी पर एक दूसरा आदमी सफ़ेद कोट पहने बैठा था। मैंने अंदाज़ लगा लिया, यही डॉक्टर हो सकता है। उसका सफ़ेद कोट एक उम्मीद की तरह था। उसने अपने पास रखे स्टूल की तरफ इशारा किया, 'मरीज को इधर बिठाओ।'

उसने हमारे कोई कागज नहीं देखे। तकलीफ पूछी और फिर ब्रीफ़ हिस्ट्री बताने को कहा।

प्रीति ने मेरी तरफ देखा मानो कह रही हो बता दो।

मैंने एक हिचकी ली और भारी हो चुकी अपनी आवाज को सँभालने की कोशिश में बोला, 'ये मेरी पत्नी हैं प्रीति। अपने बेटे के पास धर्मशाला में थीं, तब इनके दाँत में दर्द उठा था। सरकारी हस्पताल के डेंटल डॉक्टर ने एक दाँत उखाड़ दिया था। उसके बाद इनके मसूड़े

में दर्द का एहसास लगातार बना रहा था। डेढ़ महीना पहले शिमला वापस आई तब दर्द से बेहद परेशान थीं। ये जानलेवा होने लगा तो मैं इन्हें अपने एक जानकर डेंटल डॉक्टर सौहटा के पास ले गया। उन्होंने कुछ दवाईयाँ दीं, मगर शंका जताई कि क्योंकि मुँह के अंदर जख्म है, इसलिए मामला सीरियस हो सकता है। ऐसे में बेहतर हो आप इन्हें डेंटल कॉलेज के हस्पताल में दिखा लें। वहाँ भी इसे सीरियस कहा गया। मैं इन्हें स्नोडन के मेडिकल विभाग में ले गया। वहाँ से इधर रेफर किया गया है।'

संक्षेप में इतिहास यही था।

डॉक्टर ने आगे कुछ नहीं पूछा, पर्ची पर कुछ लिखा और अपने सहायक से कहा, 'इन्हें ले जाकर टेस्ट करवाओ।' फिर मेरी तरफ मुड़ा, 'आप भगवान को मानते हो?'

मैंने अनमने से सिर हिला दिया। उसने कहा, 'अगर नहीं मानते हो तब भी उसका नाम लेते रहना।'

मैं समझ गया। ये सिर्फ भगवान का नाम लेने की सलाह मात्र नहीं थी, बल्कि एक असहायता का बोध था। एक नाउम्मीदी का परामर्श था। इतना समझ सकना मुश्किल नहीं था कि कोई डॉक्टर भगवान से कब प्रभावित हो सकता है। लेकिन मैं एक ऐसी सीमारेखा पर था, जिसके बाद भीतर का हर भय खत्म होने लगता है। समय की वो लंबाई तक भूलने लगी थी, जबसे जीवन अपने होने में घुटन बनने लगा था।

डॉक्टर का सहायक हमें उस गलियारे के दूसरे छोर की तरफ ले गया। उधर और भी ज्यादा घना अँधेरा था। पार किनारे पहुँचने के बाद उसने कहा, 'सिर्फ मरीज।' वो प्रीति को साथ लेकर भीतर चला गया। दरवाजा ज़ोर से बंद हो गया। मैं देर तक उसे देखता रहा। फिर पीछे मुड़ा। गलियारे के अंधकार में एक तरफ लकड़ी की बेंच पड़ी थी। इत्मीनान की तलाश में मैं उस पर बैठ गया। कंधे पर लटके बैग को रख दिया। जैसे पीछे लौटने का समय आ गया था। ठीक वैसे जब अपने जीवन में काम करने के एक एक लंबे अंतराल के बाद किसी लेखक को अपने पिछले किए पर गौर करना और भविष्य की रूपरेखा निर्धारित करने की बाध्यता होती है।

मैं पिछले तीस साल से लिख रहा हूँ। पिछले पाँच साल से नारीवाद का गूढ़ अध्ययन कर रहा हूँ, ताकि भारतीय संदर्भों पर एक ऐसी कहानी लिख सकूँ, जो अपने समाज की नारीवादी क्रांतिकारिता को एक नई नजर से देखते हुये, नए मानक स्थापित कर पाती, जिनकी ईज़ाद अब तक किसी बड़ी से बड़ी लेखिका ने न की हो। लेकिन एक वो शाम आनी हुई थी।

वैसे हर दिन की एक शाम होती है। उस दिन की भी हुई थी। कहानी उस शाम अपने अंत की तरफ बढ़ रही थी। उस रात इसका समापन कर देने का मेरा पक्का इरादा था। तड़के से इसमें जुटा हुआ था। दिन में खाने का वक्त निकालने के सिवाय मैंने कोई क्षण बर्बाद नहीं होने दिया था। हर हाल में मुझे अपनी कन्सेंट्रेशन को बचाए रखने की चुनौती थी। एक-एक पल का ऐसा प्रयोग किया था कि कहानी के अंत तक आते इसमें कोई रत्ती-राई झोल न रहे। पिछले एक बरस में मैंने इसे अनगिनत बार सजाया था और सँवारा था और बार बार लिखा था। इससे पहले मैंने इसकी तैयारी में दो-तीन बरस लगाए थे। इस विषय पर मेरी ये पहली कहानी थी, इसलिए इसमें रिस्क नहीं लिया जा सकता था और आज यकीन से कह रहा हूँ, कि कई बरसों के श्रम से लिखी वो कहानी नारीवादी साहित्य में मील का पत्थर होने वाली थी। सीमोन से चलकर अनेक भाषाओं और खास तौरपर हिंदी की युवतर लेखिकाओं तक की नारीवाद पर लिखी गई करीब डेढ़ सौ रचनाएँ मैंने आत्मसात की थीं। कितने आलेख, कवितायें,

कहानियाँ और उपन्यास पढ़े थे, कितनी लाइब्रेरियों की खाक छानी थी, कितनी महिला मित्रों से और उससे भी ज्यादा मुझे पसंद न करने वाली कितनी सारी औरतों से मैंने संवाद किया है। उनसे भी, जो मुझे अच्छा मर्द होने की अपनी किसी परिभाषा में फिट नहीं पाती थीं। उनसे भी जिन्हें इस संसार में मर्दों के होने से एक सहज विकर्षण था। इस सबकी गिनती करना मुमकिन नहीं।

इतना कुछ कर चुकने के बाद मैंने खुद को इस कहानी को लिख पाने के लिए तैयार किया था। इसे लिखते वक्त मैं अति सचेत रहा था, कि मुझे एक ऐसी औरत की छवि का निर्माण करना है, जो साहसी, दबंग, विदुषी, वीरांगना और विद्रोहिणी हो। जिसके अपने जीवनमूल्य हों, जो अपने फैसले खुद करे, जो कभी हार स्वीकार न करे, जो पुरुष के बरक्स अपने आप में एक ऐसा व्यक्तित्व हो जिसका उदाहरण आगे आने वाले समय में दिया जाता रहे। इस कहानी में आई औरतें ऐसी ही थीं। क्रांति की स्पिरिट और संवेदना से लैस, समाज के लिए कुछ नया कर सकने की क्षमता से भरपूर, उत्साह से लवरेज। और ज्यों-ज्यों अंत निकट आ रहा था, मुझे जीवन में पहली बार अपने लिखे पर विश्वास जम रहा था। अपनी सफलता का एहसास हो रहा था। मैं अपने सपनों की औरत के बहुत पास था।

लेकिन अचानक दृश्य ही पलट गया। ये सब इतना अचानक हुआ, कि कुछ समझ नहीं आया कि आखिर हुआ क्या है। जब तक दिमाग काम करने लगता, दुर्घटना घट चुकी थी। मेरी मेज़ के नीचे फर्श पर उस लेपटॉप का पंजर पड़ा था, जिसकी स्क्रीन पर मैं थोड़ी देर पहले सदी की इस सबसे महान और क्रांतिकारी नारीवादी कहानी को करीब-करीब लिख ले जाने वाला था। प्रीति सामने खड़ी लाल आँखों से मुझे घूर रही थी। जब वो इधर आ रही थी, मैंने उसके आने को अनुभव किया जरूर था, पर उधर ध्यान नहीं दिया। कमरा हमारे घर की सांझी विरासत का हिस्सा है और हम इसमें आज़ाद होकर आ जा सकते थे। इस घर का कोई कोना किसी के लिए रिजर्व नहीं था। लेकिन इस दुर्घटना के बाद मैं प्रीति को भौंचक देखता रह गया। कुछ पूछ पाना संभव नहीं था, क्योंकि आवाज़ मेरे गले में अटकी पड़ी थी और दिमाग बंद हो चुका था। सिर्फ यही कह पाया, 'प्रीति! ये तुमने क्या किया।'

और प्रीति बोल रही थी, 'तुम अपने आप को बड्डा लेखक समझते हो। कब से तुम्हारा लड़का उधर पड़ा रो रहा है। उसका रोना तुम्हें सुनाई नहीं देता। कब से बोल रही हूँ, उसकी इमदाद करो।'

दिमाग के तन्तु अब पूरी घटना का खाका वापस पढ़ने लगे थे। जब मैं कहानी के कुछ आखिरी शब्दों को बदलने पर विचार कर रहा था, तभी प्रीति लपकती हुई आई थी, मैं सनसनाती या फनफनाती हुई नहीं कह रहा हूँ, क्योंकि ये शब्दाबली मेरे आज तक के पूरे श्रम पर पानी फेर सकती है, इसलिए लपकती हुई कह रहा हूँ, आई और आव देखा न ताव, जब तक मैं कुछ समझ पाता या तनिक सँभल लेता, उसने मेरा लेपटॉप झपटा और फर्श पर पटक कर फोड़ दिया। कुछ समझ नहीं आया कि अचानक ये क्या हुआ। जैसे किसी पड़ोसी मुल्क ने हमला कर डाला हो। बरसों से जिस कम्प्यूटर में इस कहानी के अतिरिक्त मैंने पता नहीं क्या कुछ सँजो रखा था, वो सारे का सारा एक पल में नष्ट हो गया। जैसे अचानक एक व्यक्ति की मृत्यु हो गई हो और उसके जीवनकाल में सँजोई हर उम्मीद कुछ पलों में राख बन चुकी थी।

वैसे ये द्वंद्व नया नहीं था, जब घर के अंदर कोई भी छोटी-मोटी समस्या खड़ी होती, खासकर सिद्धार्थ को लेकर कुछ अप्रिय घट जाता, तब अक्सर शांत रहने वाली प्रीति ऐसा कुछ कर देती, जिसकी मुझे उससे सबसे कम उम्मीद होती थी। उसकी फितरत में बेटे को

बेचौन और परेशान करने वाला कोई एक पल उसकी बर्दाश्त से बाहर था, अन्यथा उस जैसा शांत व्यक्तित्व शायद ही इस घर के अंदर दूसरा कोई होता। आजकल तो इधर मामला काफी बिगड़ा हुआ था।

सिद्धार्थ आठ साल बाद दिल्ली से लौट आया था और हमसे मदद माँग रहा था। मदद! मुझे इस शब्द पर अब हंसी आने लगी है, पर प्रयोग इसी का करना पड़ रहा है। ऐसे समय में हमें ज्ञात होता है, हम कितने कम शब्दों के साथ लिखने को निकल पड़ते हैं। किन्तु इस विडंबना को आपको स्वीकार करना होगा, इसके सिवाय कोई विकल्प नहीं है। इसलिए 'मदद' पर अटके रहने से पहले हुआ ये था कि वो आठ साल पहले मुझे गरियाकर, कारण उचित समय पर बयान करूँगा, इस घर से अपने तमाम नातों को तोड़ने की घोषणा करके चला गया था। उन नातों की फेरहिस्त में मेरा पिता होना शामिल था। वो ऐसा समय था, जब पिताओं के प्रति हिकारत नफ़रत की सीमाओं तक घनीभूत होती जाती थी। मुझसे ही नहीं अपनी इस मां से, जो अभी मदद की गुहार लगा रही है, उसने भी उसने कुट्टी कर ली थी। और अपना ये हठ पूरे आठ साल तक पूरी तरह निभाया था।

हम, यानी मैं और प्रीति, दोनों सुनते थे, हालांकि आपस में इसकी चर्चा करने से कामयाबीपूर्वक बचे रहते थे, वो दिल्ली में वकालत करने लगा था। फिर ये सुना, यही कोई सात महीने पहले उसने मोनिका नाम की लड़की, जो खुद वकील है, के साथ प्रेम-विवाह कर लिया है। लेकिन उसके साथ ज्यादा दिन रह नहीं पाया, वे दोनों आपस में हिंसा करने लगे और अंततः ये सज्जन वहाँ से भाग खड़े हुए। और कहीं ठौर न मिला तो हमारे पास चले आए। 'मदद' माँगने। मदद! अब आप तय कर लीजिये कि इस शब्द पर मुझे जो हँसी का भाव उभर-उभर कर आता रहा है, क्या वो अकारथ था, या सिद्धार्थ और प्रीति दोनों की ठोस उपस्थिति का उपहास उड़ाने का कोई जरिया मात्र था, जैसाकि इन दोनों माँ-बेटे का मुझ पर आरोप है। और मान लेता हूँ, ये आरोप सही हैं। उसके होने से मैं इंकार नहीं करता।

सिद्धार्थ को इधर आए ज्यादा दिन नहीं हुये हैं। इस अरसे में पिछली तमाम कटुताएँ भुलाने का आग्रह करते हुये, रोते-बिलखते हुए से, यदाकदा अपनी निरीहता का स्वांग भरते हुये, और 'उस औरत' की बुराई में अनेक तर्क पेश करते हुये, अब ये हमसे यानी अपनी माँ और मुझसे मदद की माँग कर रहे हैं, कि 'उस औरत' से हम इसका पीछा छुड़वाएँ। उस औरत से मतलब इसकी पत्नी मोनिका से, जिसके साथ इस सज्जन-पुरुष ने प्रेम विवाह किया बताते हैं। और हमने न उसे कभी देखा है और न कभी कोई रिश्ता महसूस किया है। न वो हमसे कभी मिली है और न ये सज्जन उसे हमसे कभी मिलवाने लाये हैं। 'उस औरत से' हम इस मर्द के बच्चे का पीछा छुड़वाएँ। उस औरत से! ताकि उसके बाद ये अपना आज़ाद जीवन जी सके। और मैं था कि उसकी मदद करने की बजाए भरपूर शिद्दत से अपनी कहानी में उलझा था। इससे बड़ा अपराध दूसरा नहीं हो सकता था, ये समझ मुझे कम्प्यूटर टूटने के बाद आई।

द्वंद सिर्फ यही था। क्योंकि उन दोनों की नजर में मैं उसकी समस्या की तरफ तवज्जो नहीं दे रहा था, जो बक़ौल इन दोनों के, दिया जाना उसका अधिकार था। ऐसे में कम्प्यूटर का टूटना उसकी नियति का भाग था। हाँ, उसके साथ मेरे सपने भी टूट गए थे। इस आखिरी तथ्य से वे वाकिफ नहीं थे।

अब आपसे क्या छिपाना, मुझे किसी औरत से पीछा छुड़वाने की आजीवन जरूरत महसूस नहीं हुई। प्रीति से विवाह कर लिया और तीस साल निभा ले गया। इसे चाहे मेरी पिछड़ी

या दक़ियानूसी सोच मान लिया जाये या जितना कुछ इसके बारे में आप सोच सकते हो सोचें, पर सच कहूँ कभी एक बार मन में पीछा छुड़वाने का विचार या कारण सामने नहीं आया। इसका मतलब हुआ, मुझे औरत से पीछा छुड़वाने का कोई सामान्य सा अनुभव नहीं है। और दूसरी स्वीकारोक्ति जो मैं इसी बिन्दु पर कर देना चाहूँगा, ताकि आगे कहानी में किसी उलझाव आदि की स्थिति न पनप पाये, वो ये कि औरतों के प्रति मेरे मन में एक बहुत स्वाभाविक सा आकर्षण मौजूद है, जो हरेक मर्द में होता है। नतीजन मैं अनेक औरतों के संपर्क में आया हूँ, हालाँकि इसका अर्थ उनके साथ शारीरिक संबंध बनाने को लेकर नहीं है। घनिष्ठता और अंतरंगता के अनेक दूसरे कारण होते हैं और वे सब मेरे साथ रहे हैं। मगर उन रिश्तों से मैंने कभी पीछा छुड़वाने जैसा कोई काम नहीं किया। जरूरत ही नहीं पड़ी। अब इस मामले में एकदम अनुभवहीन इस आदमी से उसका अपना बेटा, जो आठ साल पहले तमाम रिश्ते खत्म करके और अपने इस बाप पर एक अवैध संबंध का आरोप लगाकर घर छोड़कर चला गया था, आज वही अपनी पत्नी से अपना पीछा छुड़वाने में उसकी 'मदद' करने का आग्रह कर रहा है।

जब से प्रीति अपने बेटे के इस 'दुःख' से वाकिफ हुई थी, वो भरपूर रोने-धोने लगी थी। 'बेटा कैसे गलत हो सकता है' की तर्ज़ पर मुझे समझाते हुए आग्रह कर रही है कि तुम इसकी 'मदद' करो, वो औरत अच्छी नहीं है, मैंने इसे अपनी कोख में नौ महीने पाला है, औरत अपने बच्चे के लिए कितना नर्क सहती है, ये तुम मर्द क्या जानो। 'तुम मर्द!' अब मैं इसे दुख में नहीं देख सकती, जो भी करना है करो, पर उस कुलच्छनी, कर्मजली, डायन से इसका पीछा छुड़वाओ। उसने इसके उपर हमला किया है, इसका चश्मा तक तोड़ डाला है, अगर आगे ये उसके साथ रहेगा तो हो सकता है, वो इसके ऊपर जादू-टोना फिंकवा दे या जान से मार डाले, कौन कहे, और हमें पुत्रविहीन कर दे। लेकिन इतने इंटेन्स आग्रह के बाद भी जब मैं टस से मस न हुआ और अपनी कहानी को पूरा करने के अपनी आंतरिक जरूरत से जूझता रहा, तब उसने आसान रास्ता यही जाना और समझा कि इस आदमी पर वहाँ वार करो जहाँ इसे सबसे ज्यादा पीड़ा होती है। वो अपने तीस बरसों के अनुभव से बखूबी समझती है, वो जगह वही हो सकती थी, जहाँ मेरा दिमाग हाथों के माध्यम से खुद को दर्ज़ करता है। मसलन उस नाभिकुंड पर, जहाँ मेरे प्राण बसते हैं। इसे चिन्हित कर पाना मुश्किल नहीं था। बस यही हुआ और मेरा कम्प्यूटर फर्श पर गिरकर दम तोड़ गया।

जब मैं इसके अस्थिपंजर को अपनी खुली आँख से भाल रहा था, तब सिद्धार्थ इस कमरे के द्वार पर खड़ा था, जहाँ ये दुर्घटना घटी थी।

ज़ाहिर है, औरत और मर्द के रिश्तों के द्वंद्ववाद से आगे का विज्ञान, मर्दवाद के अंहकार और औरतवाद की कुछ उथली परिभाषायें और उन सबके पहले पाठ मैंने प्रीति के संग-साथ में ही सीखे थे। और ये समझा था, उसे जब नहीं बोलना होता है, तो संसार का कोई ईश्वर उसका मुँह नहीं खुलवा सकता। और जब बोलने की इच्छा हो तब आसमान का कोई ईश्वर उसका मुँह बंद नहीं रख सकता। मैं सपने लेता था और वो उन सपनों में जीती थी। मैं अपने लेखन कार्य में संतुष्टि ढूँढता था और वो अपने जीने में संतोष पाती थी। मैंने कम्प्यूटर में सामग्री लिखी और उसने कम्प्यूटर तोड़ डाला। बहुत सारी ऐसी सांकेतिकताएँ थीं, जो मेरे रोज़मर्रा के अनुभवों को सपनों में तब्दील करती थीं और उसके अनुभवों को ज़िंदगी जीने की उसकी अपनी राहों में। ये जीने की अलग-अलग तरकीबें सुझाती थीं, अलग रास्तों का अनुसंधान करती थीं, मानो दो किस्म की कविताओं का सृजन कर रही हों। उसमें सांझा कुछ नहीं था।

हमारे सांझे जीवन की कुल यही फितरत थी।

कई बार होता है, आज के सृजन-समय से तनिक पार एक दूसरे समय की परंपरा सामने आ खड़ी होती थी। इस कम्प्यूटर के टूटने के इस वक्त से पहले के एक अलग वक्त में मेरी एकमात्र डायरी खो गई थी। उसे मैं रोज लिखता था। अपनी जवानी के दिनों से लिखता आ रहा था, पर जब हम उम्रदराज होने की प्रक्रिया में होते हैं और दूसरों पर ज्यादा निर्भर करने लगते हैं, या साथ होने में एक विश्वास मानने लगते हैं, वैसे नाजुक मौके पर डायरी का खो जाना बुरा तो था, मगर इतना बुरा नहीं था कि बिना किसी प्रमाण के मैं किसी दूसरे व्यक्ति पर आरोप लगा देता और खासतौर पर तब जब ये दूसरा व्यक्ति मेरी पत्नी हो सकती थी।

डायरी के खो जाने की कल्पना बुरे से बुरे सपने में नहीं रही थी। मेरी मेज़ पर से कुछ खो जाये ऐसा कभी सोचा नहीं था। प्रीति के लिए डायरी जैसी मामूली चीज किस काम की थी। इसीलिए डायरी क्या, अपने कागजों के पूरे ढेर के प्रति मैं हमेशा लापरवाह बना रहा था। डायरी के खो जाने के क्या कारण थे, मैं ये नहीं समझ पाया। दुःख बहुत हुआ था। वो डायरी जो मैंने बरसों के श्रम से लिखी थी। काफी बाद में इसके खो जाने के कुछ हिंट मिले तब पहले मैं अवाक रह गया, फिर एक नए रिश्ते को समझ पाने की जरा सी कूवत हासिल हुई। ये माँ और बेटे का रिश्ते से पैदा हुये कारण थे। मुझे रिश्तों की ऐसी बारीकियों का ज्ञान बिल्कुल नहीं था।

शिशुकाल में ही मेरी माँ मर गई थी और पिता ने दूसरी शादी कर ली थी। गाँव का वो घर मेरे लिए हर नए दिन के साथ अनवरत अजनबी होता गया था। दो बहिनें थीं। उन्होंने मुझे पाला था। वे भी चली गईं तब उस घर में एक व्यापक शून्य के अलावा कुछ नहीं बचा। सौतेली माँ के बच्चों के आगे मेरा पेट हमेशा खाली रहता था। कभी भरता नहीं था। वे मेरा मज़ाक उड़ाते थे। उपर से बहुत गालियाँ सुन लीं थीं। पिता ही नहीं, सौतेली माँ से बहुत मार खा चुका था। फिर वो वक्त आना हुआ जब बर्दाश्त की सीमाएँ खत्म हो चुकीं और मैं वहाँ से किसी से बिना कुछ कहे-सुने या किसी पर कोई आरोप लगाए भाग खड़ा हुआ था। फिर कभी न लौटने के लिए। मैंने होटलों में भांडे माँज लिए, एक कसाई के ठिए पर गोश्त की बोटिया काटता रहा, एक पेट्रोल पंप पर नौकरी की, नुक्कड़ के एक चाय वाले की नौकरी की, पार्क की बेंचों पर रातें गुजारीं, पढ़ने के लिए सार्वजनिक पुस्तकालयों का सहारा लिया, तमाम कष्ट सहे मगर वापस नहीं लौटा। न किसी को अपने जीवित होने की खबर दी। बाद में पिता को पता चला तब उन्होंने कई बार बुलाया। वो घर मुझे पिता का नहीं लगता था। पिता पर कब्जा जमाए किसी दूसरे व्यक्ति का था। ज़िंदगी गुजरती रही पर मैं नहीं गया और जब पिता मृत्युशैय्या पर थे, तब जाना हुआ। ये दोनों भी मेरे साथ गए थे। प्रीति और सिद्धार्थ।

पिता की अनुभवी आँखों ने पता नहीं क्या पढ़ लिया था। एकांत में मुझे बुलाया और नम आँखों से बोले, 'अच्छा हुआ तू आ गया। मरना अब ज्यादा मुश्किल नहीं होगा।'

मैं सन्न बैठा रहा था। मरणासन्न अवस्था में पड़ा एक पिता, पचपन साल के अपने बेटे से ये क्यों कह रहा था, इसका अंदाज़ करना आसान नहीं था। आगे उन्होंने कहा, मानो कोई सुझाव दे रहे हों, 'ये जिंहड़ी तेरे इस पुत्र को बड़ा होते देखना नहीं चाहती है। ये लड़का पूरा रुंढ है। इसका ब्याह कर देना। शायद ठीक हो जाये।'

अब कथा तीन मर्दों पर आ अटकी थी। एक गुजरे जमाने का पिता था और दूसरा वर्तमान का बेटा जो अब पिता बन रहा था, तथा तीसरा भविष्य का बेटा था, जिसे पहले वाले ने रुंढ कहा था और दूसरे वाले ने खामोश सुना था। इन तीनों के बीच एक औरत थी,

प्रीति, जिसे गुजरे जमाने का पिता जिंहड़ी कह रहा था। इन दो अबूझ से लगने वाले शब्दों का अर्थ मैं समझता था। ये हमारी ग्राम्य-बोली के शब्द हैं और उधर खूब प्रचलन में हैं। आपको अगर न बताऊँ, ये मेरे हिस्से की बेईमानी होगी। एक लेखक बाकी जो चाहे करे लेकिन अपने पाठकों के साथ अबोधगम्यता जैसी बेईमानी नहीं कर सकता। जब किसी पेड़ का भारी-भरकम तना काट दिया जाता है, जमीन में गड़ी उसकी जड़ें बाहर नहीं निकल पातीं। आगे चाहे जितना मर्जी ज़ोर आजमाइश कर लो, वे नहीं निकल पातीं। एक बेजान झुंड बना रहता है। ईंधन के तलबगार लोग उसे छीलकर टुकड़ा-टुकड़ा ले जाते हैं। सदियों तक वो बेजान झुंड वैसे गड़ा सूखता और छिलता रहता है, लेकिन उसे पूरी तरह बाहर निकालना आने वाली पीढ़ियों के लिए संभव नहीं हो पाता। उस गड़े हुये स्ट्रक्चर को जिंहड़ा कहते हैं। चाहे उसकी तहज़मीन का कितना नुकसान हो जाये वो किसी की नहीं सुनता। अपने विवेक को भी मौका नहीं देता। यानी पिता प्रीति को वैसा कुछ कह रहे थे। वे स्त्रीवाद नहीं समझते थे। वो वही कुछ कह देते जो उनकी समझ में सही होता था। आगे ठीक-गलत का फैसला सुनने वाला खुद कर सकता था। सिद्धार्थ को उन्होंने रुंढ कहा था। रुंढ का मतलब भी किसी न किसी अर्थ में करीब-करीब जिंहड़े के आसपास बैठता था।

मुझे विश्वास हो गया था, जीवन का सत्य अविभाज्य है। वो खुद को भी नहीं पहचान पाता। जो उसे जानना चाहेगा, उसे झूठ होना होगा। मैंने पिता को कोई जवाब नहीं दिया। मौन बैठा रहा था। इसके सात दिन बाद वे मर गए। हमें लौटना था, लौट आए। मगर उनके ये दो शब्द कई दिन तक मेरे दिमाग में उथल-पुथल मचाए रहे। एक लंबे विराम के बाद मैंने उस परिघटना को डायरी में दर्ज कर दिया। हूबहू। उन दो शब्दों पर भी अतिरिक्त बल नहीं दिया। सामान्य तरीके से जैसे लिखा जा सकता था लिख डाला और भूल गया। मुक्ति का एहसास हुआ था। जैसे ये मेरे पितृऋण से मुक्ति हो। लेकिन तब जरा सा कोई अंदेशा मन के किसी कोने में नहीं था कि इस इंदराज को इस डायरी के खो जाने का सबब बनना है। ऐसा ख्याल किसी दूरस्थ सपने में नहीं आया। आ नहीं सकता था। पर ये हुआ और दिन की रौशनी में हुआ। डायरी अचानक दिखना बंद हो गई। सारा घर छान मारा, सारी किताबें उलट पुलट दीं, सारे कपड़े फर्श पर पटक दिये पर डायरी का कहीं कोई सुराग नहीं लगा।

प्रीति इस बीच किसी शांत झील सी स्थितप्रज्ञ बनी रही मानो कुछ हुआ ही न हो। एक से ज्यादा बार मैंने उससे पूछा कि मेरी डायरी कहाँ है। वो अक्सर चुप रहती। कभी कभार बोल देती, 'मैं क्या भगवान हूँ।' लेकिन ये कहना पूछने जैसा था। यानी मेरे सवाल के जवाब में वो पूछ लेती कि क्या मैं भगवान हूँ, जो मुझे मालूम होगा डायरी कहाँ है? आगे खामोशी होती। इस चिरंतन मौन से मेरे भीतर शक की गुंजाइश बनी, लेकिन प्रमाण क्या था। व्यक्ति, समाज, व्यवस्था और कानून प्रमाण माँगते हैं। सिर्फ सबूत। उसके बिना एक कदम नहीं चलते।

पर समय गंभीर जख्मों को भर देता है। थक-हारकर मैं डायरी के होने को भूलने लगा। लेकिन उसने खुद को न भूलने देने की जैसे कसम खा रखी थी। वो लौटी और उस ढंग से लौटी जो किसी भी लेखक की कल्पना से बाहर था। अचानक घर के अंदर जैसे परमाणु बम फट गया। सिद्धार्थ का एलएलबी का नतीजा आ गया था और हाई कोर्ट से उसे वकालत करने का लाइसेन्स मिल गया था, तब उसने एक दुर्धर्ष घोषणा कर डाली, जो मुझे सिर्फ चेतावनी नहीं थी बल्कि गंभीर धमकी थी। उसने घर के सारे भांडे-टिंडे, टीवी सेट और दूसरे ऐसी चीजें जो टूटने के काबिल थीं, वे सब तोड़ फोड़ दीं, घर के भीतर ऐसा कोहराम मचाया कि भूतो न भविष्यति वाला मामला बन गया। इस बीच प्रीति चुपचाप बिस्तर पर बैठी रही, जैसे बहुत

कुछ सामान्य सा घट रहा हो। मैं एक किनारे खड़ा अपने सिर पर हाथ थामे रहा, ताकि गंभीर चोट बगैरह न आ जाये। फिर वो बोलने लगा, 'मैं दिल्ली जा रहा हूँ, वहीं प्रेक्टिस करूँगा, एक लॉ-फर्म में मेरी नौकरी लग गई है, सुप्रीम कोर्ट से लाइसेन्स का प्रोसेस चल रहा है, जल्दी ही पूरा हो जाएगा, और उधर जरा काम जम जाने के बाद मैं इस आदमी पर...'

मेरी तरफ दाईं तर्जनी सीधी करके उसने कहा, 'इस आदमी पर मैं अडल्ट्री का मुकदमा चलाने वाला हूँ। इस आदमी ने मेरी माँ के साथ गद्दारी की है। मेरी माँ को जिंहड़ी और मुझे रुंढ लिखा है। मैं इसके साथ अपने सारे रिश्ते-नाते तोड़ता हूँ, अब न ये मेरा बाप है और न मैं इसका बेटा, और इस आदमी ने उस गुप्तनी के साथ अनलॉफुल एंड इमोरल रिश्ता बनाया हुआ है, इसे मैं कोर्ट में घसीट ले जाऊँगा, मैं इस आदमी को नहीं छोड़ने वाला, इसको कम से कम दस साल के लिए अंदर भेजकर रहूँगा।'

'इस आदमी को!' एक बार फिर उसने मेरी तरफ इशारा किया था।

सच कहूँ ज़िंदगी में पहली बार महसूस हुआ डर क्या चीज होता है। कुछ समझ नहीं आ रहा था ये हो क्या रहा है। मन किया भाग खड़ा होऊँ और उसके बाद कभी यहाँ लौटकर न आऊँ। मैं मुड़ा और बाहर जाने लगा तब उसने दूसरी चेतावनी जारी दी, 'मेरी ममी मेरे साथ जाएगी, अब इस आदमी के साथ नहीं रहेगी। फिलहाल में अकेला जा रहा हूँ। रहने-ठहरने का बंदोबस्त हो गया फिर अपनी ममी को ले जाऊँगा।'

फिर वो सचमुच चला गया था। फिर आठ साल तक वापस रुख नहीं किया। अपनी ममी को भी नहीं ले गया। हम दोनों के बीच उसको लेकर पूरे आठ साल तक कोई अच्छी या बुरी चर्चा नहीं हुई। आठ साल बाद एक शाम वो अचानक नमूदार हो गया। 'इस आदमी' वाला वो दिन और अब इन आठ सालों के बाद के ये दिन अपना इतिहास खुद बयान करते हैं। मरहूम हो चुकी उस डायरी के बाद अब इस कम्प्यूटर का फर्श पर पड़ा ये पिंजर उसके गवाह हैं। इनके बीच का समय गायब है। उस पर जैसे डिलीट बटन मार दिया गया हो। इन आठ सालों का यही रिश्ता है। क्या भूलूँ और क्या याद करूँ और आपको किस-किस बात का यकीन दिलवाऊँ।

सिद्धार्थ ने जो भौकाल मचाया था, अगर उसे विवेक से भरे किसी सावधान मनुष्य का कथन मान लिया जाये, तो इसमें एक बार फिर एक अबोधगम्य शब्द का प्रयोग हुआ दिखेगा। इसे इसी बिन्दु पर स्पष्ट कर देना उचित होगा। मेरे पास ऐसी सुविधा नहीं है, जो खुद पर लगाए गए किसी आरोप को एकदम नकार डालूँ। इससे कथा प्रवाह में सुभीता रहेगी वर्ना कहानी खुद को भटकता हुआ महसूस करेगी। इस तथ्य को नजरअंदाज़ नहीं किया जा सकता कि बहुधा गुस्से में भीतर की कुछ जरूरी कुंठायें व्यक्त होती हैं। जरा गौर फरमाएंगे, उपरोक्त कथन में एक शब्द 'गुप्तनी' आया है। गुप्तनी! ये सिद्धार्थ के अंतस में गढ़ा गया मिसेस गुप्ता का अपभ्रंश मात्र नहीं, बल्कि वो अपमानजनक शोध है, जो मुझे गरियाने और एक स्थायी दरार पैदा करने का कारण बना है। किसी व्यक्ति को अपमानित करने वाले ऐसे शब्द इन्हीं खास तरीकों से घड़े और प्रयोग किए जाते हैं। हमारे पड़ोस में एक गुप्ता परिवार रहता है, सौम्या गुप्ता और अनिल गुप्ता और उनके दो बच्चे। वे हमारे बाद इस कॉलोनी में आए थे। गुप्ता जी जरा रंगीन तबीयत के हैं और व्हिस्की के खासे शौकीन हैं। हमारी दोस्ती यहीं से शुरू हुई थी। पहले हम शामों को यदाकदा मिलने लगे और फिर अक्सर वाली दोस्ती हो गई। इनकी पत्नी और बच्चे भी मुझे एक सम्मान के भाव से देखने, समझने और परखने लगे। बस, ये ही घातक सिद्ध होना था।

सबसे पहले मैं मुहल्ले में स्त्री-गॉसिप का शिकार हुआ। प्रीति पर इसका प्रभाव इतना अधिक हुआ कि उसकी नजरें बदल गईं। वो इधर-उधर व बातों बातों में मेरे इस आचरण का अपवाद लेने लगी। बल्कि काफी हद तक इसे प्रमाणित मानकर उसमें शामिल हो गई। आज के आभासी संसार में इसे ही ट्रोलिंग कहा जाता है। इस ट्रोलिंग का कोपभाजन मेरे साथ सौम्या को बनना ही था। बनी। गुप्ता जी इससे अंजान रहे हों ऐसा बिल्कुल नहीं था। वे पूरी गॉसिप से वाकिफ थे। लेकिन बात इतना आगे बढ़ती जा रही थी कि अगर गुप्ता जी बीच में आकर इन बातों को दुत्कार के स्तर पर नकार न देते तब मेरा उस परिवार के साथ रिश्ता कब का टूट चुका होता। मुझे सायास तोड़ना पड़ता। मैंने सौम्या से कहा था, 'मुझे शायद ज्यादा फर्क नहीं पड़ेगा किन्तु तुम्हारे अस्तित्व पर खतरनाक आँच आने वाली है।'

उसने जवाब में कहा, 'क्या हमारे रिश्ते गली में की जाने वाली बातें तय करेंगी?'

ये साहसी कथन था, लेकिन मुझे बहुत अकादमिक किस्म का लगा था। वैसे भी सौम्या ने जो साहस दिखाया उतना मुझमें नहीं था। मैं अंदर से काफी कमजोर पड़ चुका था। और सच कहूँ, इस ट्रोलिंग से मुक्त होने के लिए कोई भी कुर्बानी करने को तैयार था। मगर वो कुर्बानी क्या हो सकती थी, ये समझ से बाहर था। यकीनन मैं खुद को, और किसी का न सही, प्रीति का दोषी जरूर मानने लगा था। मैं खुद से पूछता कि मुझे किसी का दिल दुखाने का क्या हक है। इस ट्रोलिंग का मेरे होने पर खराब असर हो रहा था। ये मुझे उस ग्लानि से भर रहा था, जिसके साथ जी पाना मुझे बोझ जैसा लगने लगा था। और मैं गंभीरता से विचार करने लगा था कि मुझे गुप्ता'ज़ के साथ अपने तमाम रिश्ते खत्म कर डालने चाहिए। मैंने रमेश गुप्ता से यही कहा था। और गुप्ता जी ने इस पूरे प्रकरण को जैसे खत्म कर डालने के उद्देश्य से अपने प्रिय मुहावरे की भाषा में हँस दिया था, 'मरने द्यो सर! ऐसे लोगों का दिमाग सड़ चुका है। आइये, जरा एक-एक पैग लेते हैं।'

पर मैं जानता था, गुप्ता जी हर चीज को ऐसे ही पैग में उड़ा देने के अभ्यस्त हैं, लेकिन मेरा तो पूरा होना इस गॉसिप से जुड़ हुआ था। क्योंकि अब प्रीति की बॉडी-लैंग्वेज पूरी तरह बदल गई थी। यहाँ-वहाँ की अनेक बातचीत में वो ताने और व्यंग्य की भाषा में मुझपर तंज़ कसने लगी थी। यह उस गॉसिप में शामिल होने से ज्यादा खतरनाक था। हालाँकि मेरी तर्कशक्ति मुझे सचेत करती थी कि क्या मेरे रिश्ते गली की ऐसी गॉसिप तय करेगी? लेकिन प्रीति के मूक और वाचाल आग्रहों तक में फर्क का पता नहीं चल रहा था। इसी द्वंद में वक्त बीतता रहा। प्रीति और मेरे संबंधों में एक अजीब सा तनाव अनवरत बना रहने लगा। 'इस आदमी' वाला वो दिन इसका चरम दिवस था। ये ऐसा वक्त आ चुका था कि अगर मैं गुप्ता'ज के साथ अपने सारे रिश्ते खत्म कर देता तब ये गॉसिप अपनी प्रामाणिकता पा लेती। सिद्धार्थ और प्रीति समेत गली-मुहल्ले के सारे लोग शायद यही चाहते थे।

इस लुका-छिपी और दबी-ढकी गॉसिप और फिर अचानक मेरी डायरी खो जाने के पार, सिद्धार्थ ने पहली बार इतना साफ शब्दों में ये आरोप लगाया था। फिर वो चला गया और उसके आठ साल बाद अभी-अभी मेरा कम्प्यूटर टूटा है, और उसमें बरसों से सहेजी गई सामग्री नष्ट हो चुकी है। वो नारीवादी कहानी, जिसे लिखने में मैंने अपनी ज़िंदगी का सबसे अधिक मानसिक और शारीरिक श्रम इन्वेस्ट किया था, देखते ही देखते नष्ट हो चुकी है। इसमें लगाए गए समय का कोई गणित मौजूद नहीं है। वो अमूल्य था। यानी जो इस कम्प्यूटर की मौत होने पर खोया था उसका कोई समांतर मेरे निजी इतिहास में जीवित रहने वाला नहीं था।

प्रीति सामने है और सिद्धार्थ दरवाजे पर। प्रीति के हाथ उसकी कमर पर थे और वो

मुझसे मुखातिब थी। कहीं तिनकाभर भी अपराधबोध या कुछ गलत कर डालने का एहसास आसपास नहीं था, 'बड्डा लेखक बनता है। घंटे का लेखक है। जो आदमी अपनी औरत की इज्ज़त नहीं कर सकता वो खाक लेखक है। चूल्हे की धूड़।'

मुझे यकीन हो गया कि सामने वाले जिस व्यक्ति में मैं अपराधबोध ढूँढ रहा था, उसमें एक सफलताबोध की गहरी आश्वस्ति मौजूद थी। सामने प्रीति थी।

कब तक इस तरह के शब्द-प्रयोगों पर स्पष्टीकरण देता रहूँगा। अब ये 'घंटे का लेखक' मतलब क्या? वैसे प्रीति में आए बदलावों में एक चिह्नित किया जा सकने वाला बदलाव मैंने ये महसूस किया था कि फिल्मी गानों में उसकी आस्था के बीच वो धार्मिक गानों की तरफ मुड़ी थी, मगर बहुत जल्दी वापस फिल्मों पर लौट आई थी। जब से 'क्या लेके आया है, जो घंटा लेके जाएगा' बोल का नया गाना आया था, तभी से वो इसे गुनगुनाती रहती थी। उसी का असर आप इस वर्तमान संवाद में देख सकते हैं, यानी 'घंटे का लेखक' में। मैं घंटे का लेखक था। ये आपके विश्वास का मामला है, इसमें मेरे कहने की जरूरत है नहीं कि ये गहरी हिकारत से भरा वाक्य था। और 'चूल्हे की धूड़' आप समझ गए होंगे। इसपर किसी अलग स्पष्टीकरण की जरूरत नहीं है। मैं विमूढ़ हुआ देखता भर रहा था। न कुछ बोल पा रहा था, न कुछ बोल पाया था और न कुछ बोल पाने की इच्छा या इच्छाशक्ति बाकी बची थी। मान लिया जीवन का श्रम खो जाने पर ऐसा हो जाता होगा, फिर इस 'घंटे के लेखक' और इस 'चूल्हे की धूड़' का क्या बुरा मनाता।

फर्श पर बेजान पड़े कम्प्यूटर के पंजर को भालते रहने के उन पलों में मुझे विश्वास हो गया कि मेरे लेखक की मौत हो चुकी है। ये हिटलर के पुनर्जन्म में मेरा यहूदी हो जाना था। मेरा खून अशुद्ध हो चुका है। मैं जर्मनी में रहने काबिल बचा नहीं। मुझे जर्मनी से निकलना होगा। अन्यथा मेरे जीवन का अंत हुआ ही जानो। जीवन सिर्फ बदन से नहीं होता, वो मन, संवेदन और विवेक के जिंदा रहने से अधिक कारगर बनता है। सामने कम्प्यूटर के अवशेष नहीं, समग्र जिल्लत पड़ी थी। मेरी ओर लपकती हुई। जीवन के तमाम सपनों की लाश बिछी थी। ये कभी मुक्त नहीं होने देगी। मुझे इस पर रोना चाहिए था। मगर आँसू सूख चुके हैं। आंखे पथरा चुकी हैं। इनमें एक खुश्की है। और साथ देने वाला कोई नहीं है। मुझे किसी रुदाली की तरह अकेले रोना होगा। ज्ञात हुआ, एक उम्र के बाद रोने में हमारा साथ देने वाला कोई नहीं होता और एक उम्र के बाद नए सिरे से ज़िंदगी को देखना, समझना और शुरू करना बहुत मुश्किल होता है। मैं इसी बिन्दु पर पहुँच चुका था। समझ आ गया था, कि अगर अपने उस लेखक को वापस जिंदा करना है, तब इन्हीं मुश्किलात के बीच से उठकर शुरू करना होगा। इस रतौंधी से निकलना होगा। कभी खत्म न हो सकने वाले इस दुष्चक्र से खुद को बचा लिए जाना होगा। वो आज़ादी की जंग होगी। उसमें मैं ग्राउंड ज़ीरो पर खड़ा था। बदन का हर अंग नासाज़ था और फकत खामोश आंधियों में उड़ा जा रहा था। महासमुन्द्र में तैरती किसी बेलगाम डोंगी की मानिंद।

ज़िंदगी के सारे मुहावरे बदल चुके थे। कुछ दिन तक मैंने कम्प्यूटर का पंजर वहीं पड़ा रहने दिया। एक रोज़ जब आसमान पर घने बादल थे और बीच में बिजली कड़क उठती थी, मैंने उसे उठाया और सड़क किनारे मुहल्ले के सामूहिक कूड़ेदान में फैक दिया था। जो कागज़ मेज़ पर थे उन्हें फाड़कर जला डाला था। किताबें रैक्स में बंद कर दी। भीतर एक व्यापक ऊहापोह, खामोशी और तनाव में कुछ दिन और बीत गए। ज़िंदगी रुकी पड़ी थी। मौन में सड़ रही थी। एक इंच आगे न सरकती थी। कोई लहर न उठती थी। जबकि उधर के कमरे

में माँ और बेटा आपस में काफी सामान्य हो गए थे। जैसे सब भूलकर आगे बढ़ चुके हों। एक मैं था जो एक दी हुई रूटीन में जागता, दफ्तर जाता, लौटता और सुबह वापस उठने के लिए सो जाता। इसके बाद वो एक उदास सुबह आई थी, जो झिंझोड़ रही थी, कि आगे क्या होगा, कब तक ऐसे चलेगा, कितनी बार मर-मर कर जियोगे, तभी एक लड़की का फोन आया।

उसने अपना नाम मोनिका शर्मा बताया था। बोली, 'मैं आपकी बहू हूँ। आपका बेटा घर छोड़कर भाग गया है। मुझे पता चला है, उसे आप लोगों ने अपने पास छुपा रखा है। आपको क्या हक है ऐसा करने का। आप तो हमारी शादी में आशीर्वाद तक देने नहीं आए थे, फिर अब ये कैसा लाड़ जाग गया है। आपके लिए यही अच्छा है, उसे मेरे हवाले कर दो, वर्ना मैं तुम सबको सलाखों के पीछे भेज दूँगी।'

उसने मुझे बोलने का मौका नहीं दिया। वैसे अगर दे देती तब भी मैं क्या बोलता, ये तय नहीं था। मेरी छाती में इतना कुछ काँप रहा था, कि आगे आने वाला उसका हर शब्द नए तीर की तरह लग रहा था। जब मैंने फोन का चोगा वापस रखा तो मेरे बदन से ज्यादा मेरे भीतर का पूरा संसार काँप रहा था, और उधर से कॉल समापन करने की आवाज़ आ रही थी, 'समझ आ गया कुछ या और समझाऊँ।'

फोन कॉल काटने के साथ उस कमरे से प्रीति और सिद्धार्थ का ठहाका सुनाई दिया। उनके लिए जैसे कुछ नहीं हो रहा था। ऐसी हालत में मैं इस कॉल की क्या व्यथा उनको बयान करता। कम्प्यूटर-कांड से सारे संवाद खत्म थे। एक बार तो तय कर लिया था कि अब ये फोन इस कमरे में नहीं रहेगा। अभी के अभी उठाकर उधर रख देता हूँ। किन्तु ये फोन मुझे ऑफिस की तरफ से मिला था। अक्सर काम के फोन आते रहते हैं और मुझे भी करने होते हैं। उस कमरे से कौन मुझे कॉल पर बुलाएगा, ये सोचकर नहीं हटाया। मगर एक कसक भीतर बनी रही। मोनिका के आज के वार्तालाप से उन्हें अवगत करवाया जाना जरूरी था। संवादहीनता का कोई अर्थ नहीं था। उस कमरे में गया और बिना किसी औपचारिकता के बोला, 'तुम्हारी पत्नी का कॉल था। हमें धमकी दे रही थी, जेल भिजवा दूँगी।'

दोनों ने चुपचाप सुना और एक दूसरे की आँखों में झाँके। जैसे कोई मौन संवाद हुआ हो और फिर सिद्धार्थ ज़ोर हँस पड़ा, मानो पूरे विषय को हवा में उड़ा देना चाहता हो। या जैसे कुछ हुआ ही नहीं। प्रीति उठकर कमरे की हवा में हिलजुल करने लगी। कोई तनाव नहीं। स्थिति की गंभीरता का जैसे कोई ज्ञान नहीं। भविष्य की कोई फिक्र नहीं। बहुत अपमानित महसूस किया। क्या इस संसार में सिर्फ मैं अकेला ऐसा आदमी हूँ, जिसे दिन-रात एक डरे हुए माहौल में सांस लेनी पड़ रही है। या कोई दूसरा व्यक्ति मेरा साथ देने के लिए पैदा हुआ था। मैं कमरे में लौट आया। हवा में पसरी एक अनवरत घुटन ने मेरा मनोबल ज्यादा तोड़ दिया था। यद्यपि मैं खुद से एक सवाल पूछता कि शादी सिद्धार्थ ने की है, फिर मैं क्यों डर रहा हूँ, लेकिन जितनी बार इस सवाल का जवाब मैं जानना चाहता था, उससे अधिक बार मेरे सामने शून्य की एक दीवार आ खड़ी होती थी। नजरों के सामने तिलचट्टों के समूह रेंगने लगते थे। उन दोनों की इस हंसी ने इसे और और मजबूत किया था। वे इस तकलीफ से वाकिफ रहे होंगे, तभी हँसते जाते थे। बेमौके और बेवजह।

इस ऊहापोह में दफ्तर जाने में जरा देर हो गई थी। नाश्ता खाने का इत्मीनान नहीं बचा था। मेरे भीतर के भय ने मेरी भूख लगभग छीन रखी थी। मुझे दंड संहिता की धारा 498 ए से या पारिवारिक घरेलू हिंसा के कानून में मिल सकने वाली सजा से, या पुलिस, वकील

और अदालतों में चक्कर काटते रहने से उतना डर नहीं लगता था, जितना घर के अंदर इस सिद्धार्थ और उसके साथ उसकी मां के होने से लगने लगा था। जितना उनकी आवाज़ सुनकर लगता था, जितना उनकी भाषा के हठीलेपन और खुद अपने अस्तित्वबोध से लगता था। ऐसा महसूस होता था, मैं जितना ज्यादा डरता हूँ, सिद्धार्थ और प्रीति उतना अधिक उसका दोहन करते हैं। वे उस आवाज़ को पहचानते थे, जो मुझे ज्यादा डराती थी। मैं जानता था कि मैं नाहक डर रहा हूँ, कि मुझे कुछ नहीं होने वाला मगर यही सोचना मुझे ज्यादा डराने को काफी था। वैसे कभी ये विश्वास उमगता था कि जब मैंने कुछ गलत नहीं किया है, अगर गलत हो रहा है तो सिद्धार्थ के स्तर पर हो रहा है, उसकी मां दबे-छिपे उसका साथ दे रही है, उस कारण से हो रहा है। फिर भी डर ने मेरे अंदर ये स्थायी डेरा क्यों बना रखा था, इसे मैं क्यों निकाल बाहर नहीं फेंक पा रहा था, यह मेरी हर समझ से बाहर था।

अब देखिये मेरे बाहर निकलने से पहले और इतना भर कह देने पर, कि मुझे भूख नहीं है, सिद्धार्थ भड़क उठा था, 'ये सारी ड्रामेबाजियाँ कहीं और छोड़कर आ जाया करो। मेरी ममी कोई नौकरानी नहीं है जो चौबीस घंटे इंतज़ार में खड़ी मिले। बड़ा आया भूख नहीं है वाला।'

एक तरीके से ये अच्छा था, कि सिद्धार्थ नारीवाद की भाषा बोल रहा था। वो मेरे मुक़ाबले अपनी माँ का पक्ष ले रहा था। मुझे ये औरतवाद का पक्ष लगा। औरत का सम्मान करना हरेक मर्द के लिए उसकी आदमीयत का गुण है। होना चाहिए। मगर...ये मगर वर्तमान संदर्भ में निहायत जरूरी किस्म का 'मगर' था, कि उसकी माँ के अधिकारों की रक्षा तो मुझे करनी चाहिए थी। खासतौर पर इसलिए कि अब वो खुद विवाहित था और अपनी पत्नी के लिए जिस भाषा, अपमान और व्यवहार का दोषी था, वो दंडनीय अपराध की श्रेणी में आता है। जबकि उस सबके लिए वो खुद को बिल्कुल जिम्मेदार नहीं मान रहा था। इसलिए इस पुरुष के मुँह से निकलने वाली नारीवाद की इस भाषा पर मैं कहना चाहता था कि ये तो सिर्फ तुम्हारी गुलाम है, तुम दोनों के जीवन में मैं कहाँ और कितना रह गया हूँ, पर कुछ कहने की मेरी इच्छाशक्ति मर चुकी थी। हौसला साथ नहीं देता था। जहाँ जबरज़ोर का साम्राज्य हो, जहाँ कुतर्क तर्कों पर हावी हों, वहाँ भीतर का डर बोलने से रोकता हो, वहाँ सामान्य और स्वाभाविक तौर पर मेरे जैसे व्यक्ति की इच्छा-शक्तियाँ दम तोड़ देती हैं। सिर्फ यही एक द्वंद्व होता तब भी कुछ साहस जुटा लेता मगर मोनिका के फोन के बाद हर द्वंद्व की दिशा बदल चुकी थी। ऐसे में भाग खड़े होने का मन था। पर कहाँ? कोई जगह तो हो। फिलहाल घर से बाहर निकलकर खुली हवा में साँस लेने की व्यग्रता भर महसूस हो रही थी।

मैं घर से निकल गया। पूरा दिन मोनिका द्वारा जारी किए गए फतवे और धमकियों में मुश्किल साँसें गिनते हुये बीता। शाम ढलने पर घर लौटने की इच्छा मर चुकी थी। पर जाता कहाँ। ये एक क्रम है, आना, जाना और फिर लौट आना। बाकी सब आपकी जिम्मेवारी है। आप कैसे जीते हो, ये आप जाने। संसार के किसी जीवधारी को आपके होने और जीने से कोई सरोकार नहीं है।

आगे एक सुबह जब चाय बनाकर कमरे में बैठा था, फोन बजा। शुक्र मनाया, उधर से आने वाली अन-पहचानी आवाज़ किसी पुरुष की थी। आवाज़ ज्यादा मधुर नहीं थी, लेकिन ठीक थी। जैसे किसी अनाम अधिकार से भरी हुई हो। शंका हुई हो सकता है ये मोनिका के पिता का कॉल हो। अभी कुछ तय नहीं हुआ था, उस आवाज़ ने पूछा कि क्या हम शिमला निवासी शंकरलाल वशिष्ठ से बात कर रहे हैं। पूछने के इस तरीके से ही मैं समझ गया, ये फोन वही है। जब मैंने कह दिया कि हाँ, मैं शंकर वशिष्ठ ही बोल रहा हूँ, तब वो आवाज़

बोलने लगी, 'हम दिल्ली के मिडल कोर्ट के सीनियर एडवोकेट पंडित चरणदास चौबे बोल रहे हैं। हम आपके सपुत्र श्रीमान सिद्धार्थ वशिष्ठ के श्वसुर और उनके वचन के मुताबिक उनके धर्मपिता हुये। अब पता नहीं क्या है कि श्रीमानजी अपनी पत्नी एडवोकेट मोनिका शर्मा चौबे को दिल्ली की सड़कों पर अकेले भटकने के लिए छोड़कर किसी अज्ञात स्थान की ओर प्रस्थान कर चुके हैं। अब मामला काफी टेढ़ा और गंभीर हो गया है। देखिये, कितनी अजीब बात है, सिद्धार्थ जी को मोनिका के पास से गए हुये तीन महीने हो गए हैं, और हमें आपकी बहू से मालूम पड़ा है कि श्रीमानजी शिमला स्थित आपके आवास में मौजूद हैं। वैसे सौभाग्यवती सुश्री मोनिका शर्मा चौबे वशिष्ठ खुद शिमला आने वाली थी, फिर हमने विचार-विमर्श किया तो तय पाया कि पहले हम अकेले जा आएँ। आप सुन रहे हैं न! हाँ, उसके बाद आगे देखेंगे। फिर ऐसा करते हैं कि हम कल सुबह आपके यहाँ पधारते हैं और जो बातचीत मुमकिन हो सके वो करके इन दोनों के वैवाहिक जीवन में उठी लहरों को शांत करने की कोशिश करते हैं।'

मेरी समझ में अभी तक यही नहीं आ रहा था, और जो वर्तमान हालात थे, उनमें ये समझ आना बेहद कठिन था कि इस मामले में मैं कैसे पार्टी बन रहा हूँ। उनका मामला है, वे आपस में क्यों नहीं निपटा लेते। फिर रौशनी की किरण सूझती कि होना यही था, अगर ये सिद्धार्थ महाशय हमारे पास न आ धमके और इधर डेरा जमाकर न बैठ गये होते। ये दूसरा हमला कम घातक प्रतीत नहीं हुआ। अभी तक पहले वाले से नहीं उबर पाया था, दूसरा कैसे बर्दाश्त करता। फोन का चोगा कान से सटाये रहा। 'आप सुन रहे न श्रीमान शंकरलाल वशिष्ठ जी, हम कल आते हैं। कल हमारा मतलब, आने वाला कल।'

मेरी चेतना ने वापस लौटने में थोड़ा सा अंतराल लिया। खुद को दिलासा दिया, आखिर डरने की जरुरत क्या है। चरणदास चौबे का फोन था। कोई शैतान की आत्मा नहीं बोल रही थी। सिर्फ सूचना थी। चौबे हमारा समधी था। उसे कॉल करने से रोका नहीं जा सकता था। उसने कुछ गलत नहीं कहा था। सिर्फ अपने आने की सूचना दी थी। ये उसका अधिकार है, वो हमारे साथ मिलकर समस्या को सुलझाए। आखिर उसकी बेटी हमारे बेटे को ब्याही हुई है। ये दोनों पति-पत्नी हैं। मोनिका इस घर की बहू है। इस मुल्क का कानून ऐसे मामलों में परिवारों को मुक्त नहीं करता, जबकि मैं चाहता था कि वे दोनों पति-पत्नी आपस में मामला निपटा लें, मगर ये लड़का और इसकी माँ भी मेरा पीछा कहाँ छोड़ रहे थे। ये मामले में मुझे घसीट रहे थे। एक प्रकार से ये दोनों न मुझे मरने देना चाहते थे और न जीने देने की इजाजत के पक्ष में हैं। एक तरह ये दोनों चौबे से ज्यादा खतरनाक थे। कुल मिलाकर एक जाल था, जिससे मैं जितना छूटने की चाहना रखता था, वो उतना ही मुझे जकड़ता जाता आता। चरणदास चौबे तो खैर लड़की का पिता था। तलाक के नाम पर उसका धर्म डोलने लगता होगा। अपनी बेटी की शादी को हर हाल में बचाना वो अपना धर्म मानता होगा। फिर उसका फोन आदमीयत की किसी सीमारेखा से बाहर नहीं था।

बल्कि इससे अगला सवाल अधिक कठिन था। मेरी समझ में ये बात कभी नहीं आई कि जब भी इस घर के अंदर मुझे कोई कॉल आता है, ये दोनों माँ-बेटा कान खोलकर सुनने काहे लगते हैं। घर से बाहर मैं जो बात करूँ सो करूँ, उसे सुनने की कोई जिज्ञासा नहीं, उसे सुन पाने की सुविधा नहीं है, पर घर के अंदर एक ऑटोमेटिक सेंसर काम करता रहता है। ज्यादा बड़ा तो प्रीति का ही था। ये हमेशा से रहा है। सिर्फ इन दिनों की बात मात्र नहीं थी। अलबत्ता, आजकल वो मेरी एक एक बात की पूरी ब्रीफिंग अपने बेटे को दे देती है।

ये जानकर कि इस कॉल को उन दोनों ने सुन लिया होगा, मैंने अपनी तरफ से पूरे डिटेल्ज़ उन्हें दे दिये। मामला सिद्धार्थ से जुड़ा था। और उसमें हम दोनों शामिल हो गए थे। सुनकर सिद्धार्थ अचानक चीखने लगा।

मुझे समझ नहीं आता था, आखिर मुझ पर चीखने की जरूरत क्या थी। इसे सुनते-सुनते मुझे अपने जीने का निरर्थकताबोध होने लगता था। इस चीखो-चिल्लाहट से पहले मैं बाहर निकल जाना चाहता था। कहीं दूर चला जाना चाहता था।

भीतर की अपनी इस हड़बड़ाहट में मैं बदहवास निकलने को था, जब सिद्धार्थ ने सामने आकर जैसे कोई अदालती वर्डिक्ट सुना दिया हो, 'क्यों उस हरामी चौबे से बात की। मेरे उपर क्या थोपना चाहते हो तुम, जबकि मैं साफ कर चुका हूँ, उस हरामजादी के साथ नहीं रहूँगा। अभी सात महीने गुजरे हैं। मैं एक साल बीतने का इंतज़ार कर रहा हूँ। फिर डाइवोर्स पेटीशन डाल दूँगा। चौबे तुम्हारा क्या लगता है। उसको साफ नहीं बता सकते थे, मेरा लड़का तेरी लड़की को नहीं रखेगा। फोन पर क्यों घूँ-घूँ कर रहे थे।'

तनिक गौर कीजिये, विशेषकर 'घूँ-घूँ' जैसे शब्दों पर, आप पाएँगे कि बोलचाल की इस भाषा में प्रीति की भाषा से जबरदस्त साम्य था।

सिद्धार्थ की ये बातें अनर्गल थीं। जबकि मैं खुद को संतुष्ट कर चुका था कि चरणदास चौबे से बात करके मैंने कोई गलती नहीं की है। ऐसा-वैसा या इत्तर-उत्तर कुछ महसूस करने का कोई कारण मेरे पास नहीं था। हालाँकि अपनी तरफ से मैंने कुछ नहीं कहा था, सिर्फ चौबेजी की बात सुनता रहा था। लेकिन इस नए हमले के बाद मुझे तत्काल शब्द नहीं सूझे। दरअसल शब्दों का ये अकाल कोई अकारण पैदा नहीं हुआ था। ये एक लंबी मानसिक, भौतिक और रसायनिक प्रक्रिया का कुल नतीजा था। मानसिक अवरोध प्रीति की भाषा ने पैदा किए थे, भौतिक रूप से मेरा शरीर कमजोर महसूस करने लगा था और रासायनिक स्तर पर भीतर जो बदलाव हो रहे थे, उनको सिर्फ मैं बूझ सकता था। इनमें कुछ व्यक्त किया जाना संभव नहीं था। इससे मेरे दफ्तर के काम में काफी कुछ टकराव और अवरोध पैदा हो रहे थे, जिनसे मेरे सीनियर्ज नाराज़ रहने लगे थे और जूनियर्स मजाक उड़ाते थे। इस हालत का जरूरी नतीजा यही निकल सकता था कि मैं संज्ञाशून्य सा खड़ा भालता रहता। वही हुआ। एक कदम कमरे के द्वार के अंदर था और दूसरा बाहर। ऐसे मामलों को खामोशी में टरका लिए जाने के लिए जानी जाने वाली प्रीति परिदृश्य पर आ गई थी। मेरी विमूढ़ावस्था का लिहाज न करते हुए उसने सीधे मोर्चा सँभालकर एक धक्का और दिया, 'जाने दे बेटा, तू क्यों अपना दिमाग गर्म कर रहा है। जो तेरी मर्ज़ी है वो कर। मैंने बोल दिया उसे नहीं रखना है तो न रखेंगे। कोई जबरदस्ती है। इस आदमी का जबर सिर्फ मुझ पर चलता है। घर के बाहर इसकी जबान बंद हो जाती है। ठीक कहा तूने घूँ-घूँ करने लगती है। पूरी ज़िंदगी ये घूग्घू बना रहा।'

मेरा बस चलता, मैं हँस पड़ता। अब तक इतना आत्मबोध हो गया था कि किसी घनीभूत पीड़ा को उड़ा देने के लिए हँसी बेहद कारगर उपाय है। लेकिन मैं हँसना भूल चुका था। ये 'घूँ-घूँ' और 'घूग्घू' से पहले के 'बल्याऊँ-बल्याऊँ', 'घंटे का लेखक' और इनके साथ ऐसे अनेक मुहावरेनुमा प्रयोग मुझे भली-भांति याद हैं। निरर्थक से लगने वाले ये तमाम कथन-उपकथन असल में जीवन के बहुत बड़े अर्थों के वाहक थे। मन में काफी समय से एक विचार पैदा होता रहा है कि नौकरी से रिटायर कर चुकने, अब इसमें ज्यादा समय बचा नहीं था, और नारीवादी कहानी को लिख चुकने के बाद इन शब्दों की एक डिक्शनरी तैयार करूँगा। उसे सप्रेम प्रीति को समर्पित करूँगा। इसी उद्देश्य से मैं इन्हें एक जगह नोट कर लिया करता था।

यही करने वाला था। इसलिए मैंने तत्काल कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। मगर चाहकर भी हँस नहीं सका। सूनी हो चुकी अपनी आँखों से बारी-बारी उन दोनों को देखा और कुछ पलों के बाद मुड़कर घर से बाहर निकल गया। दिन में दफ्तर का माहौल तनाव से भरा रहा। बस, एक समस्या थी, जिसने मेरे दिमाग के हर कोने में पूरा स्थान छेंक रखा था। उसके अलावा मैं कुछ दूसरा सोच नहीं पा रहा था।

मन करने लगा था, कोई अंजान से अंजान व्यक्ति मुझे यही सांत्वना दे दे कि मेरे साथ कुछ अप्रिय घटने वाला नहीं है। लेकिन लोगों का संसार अलग था। वे कैसे जान सकते थे, मैं उनसे क्या प्रत्याशा रखे दफ्तर में आता हूँ। वहाँ की समस्याएँ एकदम अलग थीं, किसी के पास वक्त नहीं था जो वे मेरी समस्या की तरफ ध्यान देते। और संवेदना के दो बोल बोल पाते। शाम छुट्टी होने पर मैं इसी अंदरूनी धुन में मालरोड की तरफ निकल गया था। घर लौट आने की इच्छा नहीं बची थी। मालरोड खचाखच भरा था। अपनी रौ में टहलते कुछ जानकार लोगों से मुलाक़ात हुई पर कोई महफिल आज जम नहीं पाई। आखिर घर लौटने का कोई विकल्प नहीं था, सो आना था। जरा देर से पहुँचा। घर में सन्नाटा पसरा हुआ था। चुपचाप कपड़े बदले और टीवी खोलकर बैठ गया, किन्तु एक कौंच दिल में बनी रही। टीवी में रोजाना आने वाली तथाकथित राजनीतिक बहसों की किच-किच के बीच मुझे सिद्धार्थ के घर में न होने का आभास हो रहा था। उठकर कमरे-कमरे में जाकर देखा, लेकिन वो किसी कोने में नहीं दिखा। थक हार कर मैंने प्रीति से पूछा, वो कहाँ है। उसने कोई जवाब नहीं दिया। खामोश बनी रही। तीसरी बार पूछने पर उसने चिढ़े से अंदाज़ में कहा, 'यहीं कहीं होगा। मैंने कहीं छिपा थोड़े न रखा है।'

नौ बजने तक मैंने रोटी खाई और अपने कमरे में आ गया। समस्या दिमाग में ऊछल-कूद मचा रही थी। आखिर जिस व्यक्ति से ये जुड़ी है, वही घर के किसी कोने में मौजूद नहीं है। अगर कल वो गायब रहा तब चौबे से मैं क्या बात करूँगा। समझ नहीं आ रहा था समय की इस जकड़न से बाहर निकलूँ तो कैसे। किसी तरह रात गुजरी। आधी नींद में और बाकी नींद के सपनों में। बहुधा जो सपने मन को आराम देते हैं, वे ऐसी रातों में किस कदर दुःस्वप्न बन जाते हैं, इसका अनुभव आज की इस रात होना था, सो हुआ। और फिर अपनी रूटीन में सुबह हो गई। आने वाला दिन एतवार का था। चौबे साब ने कब आना था ये तय नहीं था, मगर एक बार फिर फोन आ चुका था। किसी सहायक ने किया था, वो चल पड़े हैं और किसी भी वक्त पहुँच रहे हैं। इधर सिद्धार्थ के अचानक गायब हो जाने की खबर मुझे बुरी तरह कोंच रही थी।

मन हुआ कह दूँ, कृपया आप इधर आने का कष्ट मत मत उठाइये, अपने दामाद से कहीं और मिल लीजिए, हमने तो आपको कभी देखा तक नहीं, हम आज तक कभी मिले नहीं हैं, हमारी आजतक कोई बात नहीं हुई, आपकी बेटी से हमने रिश्ता कह-सुनकर गाँठा नहीं है, जिसके साथ उसे रहना है वो घर से गायब है। ठीक है वो इधर था, अपनी माँ के हाथ की रोटियाँ खा रहा था, अपने मैले कपड़े धुलवा रहा था, मगर आठ साल तक वो यहाँ नहीं था। मोनिका के साथ उन्हीं आठ सालों में उसका मिलना हुआ है। चौबे के आने का समाचार सुनते ही वो गायब हो गया है, फिर हम मिलकर क्या करेंगे। लेकिन इतना सा कुछ मैं नहीं बोल पाया। उल्टे नैतिकता के जाल में उलझ गया, 'वे कब तक पहुँच रहे हैं?'

फोन कट जाने के बाद मैंने वापस प्रीति से पूछा, आखिर वो है कहाँ? अचानक कहाँ चला गया? जबकि उसका ससुर आने वाला है, उसकी गैरहाजरी में हम उसे क्या जवाब देंगे,

हमारे पास कहने के लिए है क्या। मगर वो हमेशा की तरह अपने उसी स्टेंडर्ड जवाब पर अड़ी रही, 'मुझे नहीं पता।'

सुबह जब वो बाथरूम में थी, मैंने चुपके से उसका मोबाइल चेक किया। पिछले कल से आज सुबह तक सिद्धार्थ के बीस कॉल और तीन एस. एम. एस. आए थे।

पहला, ठीक-ठाक पहुँच गया हूँ।

दूसरा, बुड्ढे-बाबे ने कुछ पूछा तो नहीं?

तीसरा, उसके सामने तुम मुझे फोन मत करना। जब जरूरत होगी मैं मिस्डकॉल दे दिया करूँगा।

मैंने हैंडसेट जहाँ का तहाँ रखा और घर से बाहर निकलकर चाय की दुकान में जा बैठा। एक समोसा खाया और एक कप चाय पी। उदर भर जाने के बाद दिमाग काफी अच्छा सोचने लगता है। नेगेटिव विचार रुख्सत हो जाते है। और दुनिया पहले जितनी बदसूरत नहीं रह जाती। इस समोसे और चाय के बाद मेरे दिमाग में यही ख्याल आये थे। कुछ लोग वहाँ बैठे राजनीति पर चर्चा कर रहे थे। ये चर्चाएँ इतना गूढ और विशेषज्ञताओं से परिपूर्ण थीं कि मन देश के भविष्य की फिक्र से मुक्त हो गया। सिर्फ एक फिक्र बनी रही, चरणदास चौबे के साथ क्या बात करूँगा। और ये फिक्र देश की किसी चिंता से बहुत बड़ी थी।

वापस लौटा तब तक ग्यारह बज गए थे। किताब उठाकर पढ़ने लगा, किन्तु मन हुआ नहीं। उल्टे ये एहसास हुआ, पढ़ना सुख के समय की गतिविधि है। फिर एक दो गैरजरूरी से फोनकॉल किए और वापस इंतज़ार करने लगा। चौबे जी आयें और जल्द से जल्द बला सिर पर से टले। 'शादी कोई करे और फँस कोई जाये' वाली इस हालत में अँधेरे की सपाट दीवार से ज्यादा कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। फिर मन को मनाने लगा कि मैंने जब कुछ गलत किया नहीं है, तो डरने की जरूरत क्या है? लेकिन तसल्ली मन के भीतर होती है, बाहर नहीं।

इस बीच प्रीति ने एक बार को नहीं पूछा कि नाश्ता क्यों नहीं खा रहे हो, जबकि सोचा था वह पूछेगी, तब कह डालूँगा भूख नहीं है। मेरी नाराजगी को कुछ समझेगी। पर कुछ नहीं हुआ। उसने अपने लिए रोटी पकाई और खाने लगी। मेरी रोटियाँ पकाकर शायद किचन में रख दी थीं। चेक किया और पाया, हाँ इतना हो चुका था। डेढ़ बजे नहा लिया। दो बजने तक रोटियाँ खा लीं। ढाई बजे घंटी बजी। द्वार खोला। सामने काली नेकटाई, काला कोट और धारीदार पेंट पहने तथा आंखों पर चश्मा चढ़ाये जासूस किस्म का एक नाटा सा आदमी खड़ा था। मेरे कुछ पूछने से पहले वह बोल पड़ा, 'वशिष्ठ जी नमस्कार, हम हैं सीनियर एडवोकेट पंडित चरणदास चौबे। सिद्धार्थ जी के श्वसुर!'

'अंदर आइये!' मैंने अतिरिक्त शालीनता से कहा, 'आपका स्वागत है।'

भीतर आकर चौबे जी ने जूते उतारे और देखते ही देखते सोफ़े पर पद्मासन की मुद्रा में बैठ गए। मैंने फिल्टर से पानी का गिलास खींचा और उनके सामने रख दिया।

'आपसे मिलकर हमें बिल्कुल खुशी नहीं हुई। वैसे होती है, जब भी हम किसी नए आदमी से मिलते हैं।' चौबे जी ने बिना किसी औपचारिकता के बोलना शुरू कर दिया था, 'आपने सही पहचाना। हम एडवोकेट पंडित चरणदास चौबे मोनिका शर्मा के पिता और आपके बेटे सिद्धार्थ वशिष्ठ के श्वसुर हैं। जैसा कि आपको पता होगा, आपका बेटा अपनी धर्मपत्नी को छोड़कर घर से भाग गया है। ऐसे हर भगोड़े पर आई.पी.सी. की (अलाँ और फलाँ) धारा के तहत मुकदमा दर्ज़ किया जा सकता है। हम तीस साल से कड़कड़डूमा के मिड्डल कोर्ट में सीनियर

एडवोकेट हैं। एडवोकेट पंडित चरणदास चौबे। और क्या है, हमारे संस्कार धर्मसम्मत हैं, हम ऐसा कुछ नहीं कर सकते कि जिस आदमी को हमें देवता का दर्जा देना चाहिए था, वही भगौड़ा बनकर हमारे कोप और देश के कानून का भाजन बने। आखिर वो हमारी बेटी को ब्याहकर लाया है। अब आप बता दें कि क्या हम उसके उपर दहेज प्रताड़ना का केस करें या घरेलू हिंसा का? अब तक हम ऐसे डेढ़ हजार केस लड़ और जीत चुके हैं। एक दो इससे उपर होंगे। पर अब मसला अपनी बेटी का है। वह खुद एडवोकेट है। नामवर एडवोकेट है। इसलिए हमारे दामाद को आप हमारे सामने पेश करें, हम उनसे पूछना चाहते हैं, वे भागे क्यों हैं? कोई मर्द ऐसे नहीं भाग सकता। हम पूछना चाहते हैं, क्या हमारी बेटी ने उन्हें डस लिया है। जबकि हिंसा उन्होंने खुद की है। पति-पत्नी के बीच बाकी जो कुछ हो, बर्दाश्त किया जा सकता है, मगर हिंसा हमारी सहनशक्ति से बाहर की चीज है, हम पूरी तरह के नारीवादी वकील हैं, औरत का सम्मान करना जानते हैं और करवाना भी। समाज की बात छोड़िए हमें कानून इस पर दूसरा कुछ सोचने की इजाजत नहीं देता।'

तनिक सा रुककर उन्होंने गहरी सी नजर से मेरे चेहरे को ताका, 'आप समझ रहे हैं न श्रीमान वशिष्ठ जी।'

मैंने समझा अब ये महाशय पूरी तरह रुक जाएँगे और आगे मुझे बोलने का मौका देंगे मगर नहीं, ऐसा कुछ नहीं हुआ। उनको बोलने का दौरा पड़ा हुआ था। दिल्ली से शिमला तक का सफर तय करके आए थे। इसका बोझ उतारना जैसे उनका परम-कर्तव्य हो।

'आपका वही बेटा हमारी बेटी एडवोकेट मोनिका शर्मा के साथ ब्याह बनाने से पहले एडवोकेट पंडित चरणदास चौबे को अपना धर्मपिता घोषित कर चुका है। इसलिए हमें आपसे किसी किस्म की कोई सहनुभूति नहीं है। मगर...और यह मगर कोई छोटा मगर नहीं है...कि आप दोनों अब भी कानूनन उसके माता-पिता हैं, और कानून के शिकंजे में हैं, भारतीय दंड संहिता आपको और आपकी पत्नी को इस अपराध से बरी नहीं करती। हम हुये सिर्फ श्वसुर। धर्मपिता का कोई कानूनी दर्जा हमारे भारतीय कानून की दंड संहिता में नहीं है। वो कानून आपको जेल भेजने को तैयार बैठा है। और इसलिए आपके फायदे की बात ये है कि आप उसे ढूँढें और हमारे सामने पेश करें, ताकि हमारी बेटी का घर आबाद हो। वर्ना यह ऐसा प्रोसेस है, जो आपको बर्बाद कर सकता है, और कोई ताकत इसे रोक नहीं पाएगी। ये वैवाहिक जीवन में एक अचूक ब्रह्मास्त्र है। इसकी कोई काट नहीं। वैसे आप हमारे समधी हैं। और समधन जी तो नजर आई नहीं। उनसे भी हमारा कुशलक्षेम कहिएगा। सुना है, वे बहुत कम बोलती हैं। सिर्फ अपना काम करती रहती हैं।'

'चौबे जी, आप चाय पिएँगे या कॉफी?' मैंने उसके धारा प्रवाह में खलल डालने के इरादे से कहा, 'या कुछ ठंडा पिलवाऊँ? या सीधे खाना खाना पसंद करेंगे?'

मुझे मालूम था, ये सब मैं हाथी के सफ़ेद दाँत दिखा रहा हूँ। ये एक तक़ाज़ा था और सिर्फ कहने भर को था, जबकि मैं भली-भाँति जानता था कि प्रीति ने किचन में जो रोटियाँ पकाकर रखी थीं, वो मैं खा चुका हूँ, और अगर अब ऐसा कुछ करने की गुजारिश मैं उससे करूँगा, तब भी रोटी-बोटी कुछ पकने वाली नहीं हैं। उसे जो नहीं करना होता है वो नहीं करती है। जिस व्यक्ति से उसे नफरत हो जाये, उसके प्रति उससे किसी संवेदना की आशा रखना किसी बेपढ़े से गीता बाँचने की आशा रखने सरीखा था। मैं जानता हूँ, चौबेजी से उसे घनघोर नफरत थी। इसके मूल में उसके पुत्र के अनेक कथन थे।

एक बार, बहुत पहले की बात है, यही कोई बीस साल पहले की रही होगी। इससे ज्यादा

वक्त भी हो सकता है। मेरे पिता अपने किसी काम से शिमला आए थे। जब से मैं घर छोड़कर निकला था, उसके बाद उनसे कभी नहीं मिला था। उनका मन किया होगा शिमला में हूँ, बेटे से मिल लूँ। बहुत स्वाभाविक सी इच्छा थी। पूरी ज़िंदगी कटुताओं में नहीं गुजारी जा सकती। हमसे मिलने चले आए। दोपहर का वक्त था। हम खाकर चुके ही थे। भांडे खाली हो गए थे। पिता को शायद भूख लगी थी। मैंने प्रीति से कहा कि कुछ पका लो मगर मेरा आग्रह जैसे सुना नहीं गया। मानो दिल पूरी तरह खाली हो चुके हों। उसने खाली हुई जूठी पतीलियाँ और थालियाँ उठाईं और किचन में चली गई। कुछ पकना नहीं था, कुछ नहीं पका था। वापस लौटकर प्रीति कमरे के किवाड़ के पीछे सटकर हमारी बातें सुनने की कोशिश करने लगी थी। मेरे पास कहने को कुछ बचा नहीं था। एक बार मन हुआ खुद कुछ पका दूँ। चाय बनाकर ले आया लेकिन पिता ने पी नहीं। वे उठे और चल दिये थे। मैं उनके साथ बाहर निकल आया। ढाबे में उन्हें खाना खिलाया, पर उन्होंने पैसे खुद दिये थे, मुझे नहीं देने दिये। जब वे जाने को थे तब मैंने उनके पैर छुए। उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखकर भर्राए गले से कहा था, 'बच्चे, मैंने नहीं, तेरी माँ की मौत ने तेरे भविष्य को मार डाला था।'

मैंने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी थी। इसके आगे वे कुछ नहीं बोले थे। मुड़े और वापस चले गए। मैं घर लौट आया था।

मैंने पिता के खाने को लेकर प्रीति से कोई बात नहीं की। इतना बूझता था, जब बात होगी अर्थ का अनर्थ हो जाएगा। इस अनर्थ से बचना मेरी जरूरत थी और मजबूरी भी। मौन रहा। समझता था, मौन अनेक व्याधिओं का इलाज़ है। बहुधा जहर पी लेने के बाद मौन बचा ले जाता है।

उसके बाद पिता मेरे पास कभी नहीं आए। मैंने उनके पास न जाने की कसम खा ही रखी थी, जो उनके मरणासन्न हो जाने पर टूटी थी। 'जिहंड़ी' और 'रुंढ' का संदर्भ उसी यात्रा के दौरान का था।

ठीक इस समय प्रीति दरवाजे के पीछे सटी दोनों समधियों का वार्तालाप सुन रही है। ये उसकी आदत है। सामने आकर बैठने की बजाय इसी तरह छिपकर बातें सुनने में उसे आनंद मिलता है। शुरू में एक से ज्यादा बार मैंने उससे जरूर कहा था, 'सामने आकर बैठा करो, छिपकर क्यों सुनना,' लेकिन कोई जवाब नहीं आया था। कुछ मामलों में हिम्मत जवाब दे जाती है। इसमें मेरे साथ यही हुआ था। मेरी हिम्मत जैसे झील पर जमे सैबाल में आकंठ उलझ चुकी थी। हमेशा के लिए। इसलिए चौबे से मैंने कुछ खाने या न खाने पर ज्यादा ज़ोर देना उचित न जाना।

चौबेजी ने आसमान की तरफ देखा मगर नजरें कमरे की छत्त से जा टकराईं, उधर से नज़र हटाकर बोले, 'वैसे आप कौन जात हो? हमें आप ब्राह्मण बिल्कुल नहीं लगते। आपका रहन-सहन कह रहा है। हाँ! लड़की ने ये क्या किया? एडवोकेट थी, सोच समझकर प्यार कर सकती थी। अपनी जात से बाहर कौन भली लड़की प्यार करती है। जरा पूछिए उससे। पर ये नया हिंदुस्तान है। इधर कौन-कौन जात अपने नाम के साथ वशिष्ठ और भारद्वाज सब जोड़ने लगे हैं। अगर आप ब्राह्मण होते तब जरूर जान रहे होते, लड़की का पिता उसके ससुराल में पानी का घूँट नहीं पीता।'

सामने तिपाई पर खाली गिलास था। उस पर नजर पड़ते ही, अपने बयान पर जरा सा संशोधन करके आगे बोले, 'वो क्या है, हमें प्यास जरा ज्यादा लग गई थी, आपके घर का पानी पी लिया, वर्ना....हम सरयूपारीण ब्राह्मण हैं। विशुद्ध चौबे! कोई जात-कुजात नैस नहीं!

हमारी लड़की गलती कर गई। मानी ही नहीं, सिद्धार्थ के साथ शादी करनी है तो करनी है, नहीं...अब इस नहीं का मतलब हम आपको नहीं समझा सकते! आप अपनी बुद्धि खुद लड़ाइए और अर्थ लगाईए जो लगाना है।'

बड़ी कोफ्त हो रही थी। कहीं कुछ तर्कसंगत नहीं था। दो वयस्क व्यक्तियों ने शिमला से दूर दिल्ली में रहते हुये आपस में प्यार किया, बीच में क्या हुआ कौन जाने पर बाद में विवाह कर लिया। फिर लड़ पड़े और भाग खड़े हुये। सिद्धार्थ इधर अपनी माँ की गोद में शरण पाने आ गया और फोन लाईनें घरघराने लगीं। गालियों और धमकियों का आदान-प्रदान हुआ और अब ये चौबे साब सामने बैठे कितना कुछ ऊलजलूल उचरे चले जा रहे हैं। आखिर मेरी सहनशक्ति की कोई सीमा है कि नहीं, मैंने खुद से पूछा।

और इस सज्जन से कोई पूछे कि सिद्धार्थ और मोनिका के विवाह के वक्त किसी ने मुझे या प्रीति को सूचना देना तक उचित न जाना। सामने जो आप हजरत मौजूद हैं, आपने भी नहीं। और आज के इस शुभ मुहूर्त में पूरा भाषण मुझे पिलवा चुके हैं। मुझे बोलने का मौका नहीं दे रहे। हर चीज की हद होती है, इस आदमी का कितना लिहाज करूँ। बहुत हो चुकी ये मध्यवर्गीय नैतिकता। सब ढोंग है। मेरे भीतर से धुआँ उठने लगा है। मैं पागल हो जाने की कगार पर जा खड़ा हुआ हूँ। हर कोई मुझे दोषी ठहरा रहा है, क्योंकि कानून उनके साथ है। कोई समझना नहीं चाहता। इस बीच सोचा था और दो बार तो मन भी किया था, कि आत्महत्या ही कर लूँ, लेकिन जल्दी ही एहसास हो गया कि ये भी मुझसे नहीं हो पायेगा। अपना बेटा और पत्नी इधर बारह पत्थर बाहर हैं, और सिर्फ यही थोड़े, इससे पहले इसकी वो सपुत्री मोनिका मुझे अपशब्दों और धमकी से भरी भाषा का भरपूर प्रयोग करते हुये टेलीफोन पर हड़का चुकी है। अच्छी भली गालियाँ सुना चुकी है। मुझे नपुंसक की उपाधि तक बख्श चुकी चुकी है। जबकि इस उपाधि का असल हकदार उसका पति है, ये सम्मान उसे बख्शना चाहिये था, मुझ कुपात्र को नहीं। मैं सुन गया और चुपचाप सह गया, और अब ये जनाब मेरे सिर पर सवार हुये बस बोले जा रहे हैं, बोले चले जा रहे हैं, जैसे किसी विदेशी तकनीक से बनी बोलने की रेल हों। सटासट दौड़ती जा रही है। ऐसे लोगों के एक समुच्चय पर मेरी आत्महत्या भला क्या असर करती। बहुत हो गई नैतिकतायें और बहुत डरा लिया इस मुल्क के कानून की दंड संहिताओं ने। मैंने अपने दिमाग में भर चुकी आग को अपनी आँखों में उतारा, एक साँस से इस रेल को रोकने की मूक चेतावनी दे दी, इमरजेंसी ब्रेक दबाने का इरादा पक्का कर लिया।

मैंने समझ लिया था, फिर ये मौका आए न आए, आज है, तब क्यों न कुछ खरी-खरी इस चरणदास को सुना दूँ। मेरे घर में चौड़ा होकर बैठा है और मुझे ही धमकी दे रहा है। कानूनी कार्रवाई का इतना शौक है, फिर इधर क्या टिंडे लेने आया है, दफा हो यहाँ से और जा कर ले जो करना है, भिजवा दे मुझे जेल! वहाँ जाकर अपनी 'जेल डायरी' लिखूँगा, लेकिन अब इसको खरी-खोटी सुना कर रहूँगा! आगे मन कड़ा करने के लिए मैंने खुद को दिलासा दिया, यार! मैं लेखक हूँ, कितनी कहानियों में क्रांति की मशाल जला चुका हूँ, इतना भर कर सकता हूँ। आखिर इन झूठी नैतिकताओं का बोझ कब तक सहन और वहन करता रहूँगा। अगर एक बार शुरू हुआ तो इस चरणदास से ज्यादा लंबी रेल दौड़ा दूँगा। तो लीजिये...'सुनिए हजरत एडवोकेट पंडित चरणदास चौबे...जी!'

मैंने अपने मन की गहराई में डूबकर कहा, किसी मंच से बोलने वाले दिखावे के लिए नहीं बल्कि सचमुच में, 'मैं आपके नाम से काफी पहले से परिचित हूँ। कुछ साल पहले मैंने

एक ड्रामा देखा था, चरणदास चोर, आप इसे दिल पर मत लीजिये ये सिर्फ ड्रामा था और मैं जानता हूँ, आप एक्टर नहीं हैं, न दर्शक हैं, कला के प्रति आपके अपने दुराग्रह हो सकते हैं, क्योंकि आप मनुष्य होने से ज्यादा बड़े वकील हैं। यकीन कीजिये ये ड्रामा मैंने नहीं लिखा था, लेखक का नाम बता दूँ तब भी वो आपके किस काम का। नाम में रखा क्या है, और अगर मैं विजयदान देथा या हबीब तनवीर का नाम ले लूँ, तो भी क्या फर्क पड़ेगा। वैसे तनवीर साहब की इस नाम की किताब मेरे पास है, अगर आप इसे पढ़ना चाहें, मैं आपको इसे देने की कृपा फरमा सकता हूँ, पर इस शर्त पर कि आप पढ़ चुकने के बाद पुस्तक बाइज्ज़त मुझे लौटा देंगे, भले वो आपकी फितरत में न हो तब भी आपसे लौटाने की उम्मीद छोड़ी नहीं जा सकती, और इसके लेखक को आप गाली नहीं देंगे और उसपर मुकदमा दायर नहीं करेंगे। फिर चाहे ये आपकी पेशेगत मजबूरी क्यों न हो। यूँ सच कहूँ, इस देश की जनता को कानून और कानूनविदों पर काफी कम विश्वास है। तकरीबन न के बराबर। वे लोग किताबें खाक लौटाते होंगे। आपकी आप जाने। बस इतना समझ लीजिये, ये व्यवस्था पर से मेरा उठा हुआ विश्वास नहीं है, बल्कि मेरी निजी आज़ादी का मामला है।'

मैं कोई अंतराल लेना नहीं चाहता था, कोई वक्फ़ा देना नहीं चाहता था, रुककर साँस लेने की मेरी कोई मजबूरी नहीं थी, मेरा वास्ता एक वकील से था जो भारतीय दंड संहिता के कानूनों का टोकरा मेरे सिर फोड़े खड़ा था, और अपनी बेटी के साथ मिलकर मुझे उस दंड का भागी बनवा सकता था जो मैंने किया नहीं है, इसलिए बिना रुके और बगैर टुके मैं बोलता गया, 'चरणदास जी, मैं आपसे गुजारिश नहीं करता, आप उस नाटक को खुद देखें, अपनी बेटी को दिखलायें और हो सके, अपनी श्रीमतीजी को उसमें शामिल करें और सपरिवार उस पर अपनी रॉय बनायें। अगर आपके पास वक्त हो तो जरूर उस नाटक को आशीर्वाद फरमाइएगा। अब रही बात आपके कथ्य की, पहली नजर में मुझे वो रोचक लगा। वैसे कथा की रोचकता से भी इंकार नहीं किया जा सकता, पर निश्चिय ही आपका कथ्य रोचक होने के साथ बहुत कमजोर है। मुझे विश्वास हो चला है कि आपकी सारी बातें सही हैं या फिर सारी गलत हैं। सफ़ेद झूठ। और मुश्किल ये है, आप यह सब बूझते हैं। कथा का ये पक्ष खराब, काफी खराब है। फिर पता नहीं क्यों आप मेरे यहाँ पधारे हैं। आपको अपने धर्मपुत्र और अब दामादश्री सिद्धार्थ वशिष्ठ के पास होना चाहिए था। वैसे आपकी बेटी मुझे नपुंसक करार दे चुकी है लेकिन सिद्धार्थ की माँ तस्दीक करती है, सिद्धार्थ मेरा बेटा है। यानी मैंने ही उसकी माँ के प्रजननकोष में सोये पड़े एक अंडे के निषेचन में अपने अंडकोश से निकले किसी अज्ञात स्पर्म से योगदान दिया है। ये उसकी माँ का मानना है। थोड़े आसान शब्दों में ये कि जन्म से सिद्धार्थ मेरा बेटा है। पर सिर्फ जन्म से। जानता हूँ, उसके बायोलॉजिकल विकास के लिए अपना एक स्पर्म दान कर मैंने किसी पर कोई कृपा नहीं की है। उस पर भी नहीं। आप पर बिल्कुल नहीं। आपकी बेटी पर एकदम नहीं। माफ करना एडवोकेट श्रीश्री चौबे.. .चरणदास जी, यह शब्दावली मेरी नहीं है! यह आपके मुँहबोले उस धर्मपुत्र और अब दामादश्री बन चुके श्रीमान एडवोकेट सिद्धार्थ वशिष्ठ के मुखमण्डल से एकाधिक बार मेरे सम्मान में झरे हुये बोल हैं। आगे चलकर वही स्पर्म मेरी पत्नी प्रीति के गर्भ में जाकर अंडे को भ्रूण रूप में विकसित करने में कामयाब हुआ था। फिर जैसाकि होता है, नौ महीने बाद वह बाहर के संसार में प्रकट हुआ। हमने बड़ा चाव किया, हमारे यहाँ पुत्ररत्न पैदा हुआ है। अपनी हैसियत के मुताबिक हमने पड़ौस में भीगे काले चने और गुड़ का वितरण किया। अपने दफ्तर में मैंने दिन में सबको चाय-मिठाई खिलवाई। शाम को कड़वी पार्टी दी। मनुष्य रूप में विकसित वही

ये स्पर्म है, जिसके आप खुद को धर्मपिता और श्वसुर बता रहे हैं। पिछले आठ बरस से, जबसे वह हमारा त्यागकर दिल्ली चला गया था, उसने हमसे कोई नाता नहीं रखा है। अपनी मां से भी नहीं। मेरे स्पर्म पर आप शंका कर सकते हैं मगर मेरी पत्नी के अंडे पर आपको कोई शंका हो सकती है, ये सोचना फिजूल है। आपकी सपुत्री सुश्री सौभाग्यवती एडवोकेट मोनिका शर्मा चौबे वशिष्ठ से उसका प्रेमविवाह या जिस पद्धति से वो सम्पन्न हुआ हो, उसमें इसकी माँ समेत हम दोनों को आमंत्रित नहीं किया गया था। नतीजन हम आपकी बेटी को उसकी शक्ल से अब तक नहीं पहचानते। हाँ, उसकी आवाज़ मैंने जरूर सुनी है, जब वो मुझे क्या वो कह रही थी, आपकी बेटी...क्या नाम...मेरी स्मृति में चक्कर है...'

'एडवोकेट मोनिका शर्मा!'

'जी, वही, एडवोकेट मोनिका शर्मा चौबे वशिष्ठ! उन दोनों ने आपके सौजन्य से और बतौर आशीर्वाद आपस में शादी बना ली। आगे मेरी अल्प जानकारी के मुताबिक उन दोनों का विवाह आपके कर हुए कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ बताया जाता है। ज़ाहिर है, हनीमून भी बनाया गया होगा, संसार का भौतिक आनंद लिया गया होगा, पर उस सबमें मेरी अनुमति कभी नहीं माँगी गई और जब वे दोनों उन तमाम क्रियाकलाप से ऊब गए, फिर भाग खड़े हुये। ये नहीं सोचा, आखिर ये आनंद सिर्फ एक के संतुष्ट होने से नहीं जुड़ा है। दोनों को साथ होना पड़ेगा। वैसे इसमें नया कुछ नहीं है। हर कोई एक तयशुदा वक्त के बाद उस आनंद से मुक्त होने की कोशिश करता है। आपने भी जरूर की होगी। उसमें कोई दूसरा व्यक्ति दखल नहीं दे सकता। अब आप सोचें और तनिक इत्मीनान से सोचें, जितना चाहे समय खर्च करें, कोई पाबंदी नहीं, कि जो स्पर्म मुझे अपना पिता मानने से इंकार करता हो, वह भला मेरी बात पर क्यों गौर करेगा। ऐसे में एक त्यागा हुआ पिता एडवोकेट पंडित चरणदास चौबे और उनकी बेटी एडवोकेट मोनिका शर्मा चौबे वशिष्ठ की क्या मदद कर सकता है? और बड़ी बात ये, उसे खाहमखाह ऐसा किसलिए और किसके लिए करना चाहिए। बताइए, उसे ऐसा कुछ क्यों करना चाहिए।'

जानता हूँ, ये वक्तव्य कुछ ज्यादा लंबा हो गया था, इसलिए बोरिंग हो गया होगा। ज़िंदगी का दस्तूर है, बहुधा बहुत अच्छी-भली चीजें बोर करने लगती हैं। लेकिन इतने से एक मामूली कारण पर मैं रुकने वाला नहीं था। 'एडवोकेट चरणदास चोर जी!' कहकर मैं जरा सा रुक गया, और अपने कथन में जरा सा सुधार कर वापस कहा, 'अरे नहीं समधी भाई, मैं चौबे ही कहना चाहता था, गलती से चोर कहा गया, जुबान की फिसलन का क्या बुरा मनाना, आप चौबे ही सुनें, आपके साथ और एक राज सांझा कर देता हूँ, इधर लेखकों की जो जमात उभरी है, जिसमें एक वक्त में मैं शामिल था, वो शब्दों की बरसात के पक्ष में है, और इसके सूखे से उसे विरक्ति रही है। मसलन बड़े चाव, उत्साह, उमंग, उत्तेजना और प्रेम-प्यार के नाम पर किए गए विवाह एक समय के बाद यही कुछ करते हैं तथा मनुष्य को संसार से विरक्त करने लगते हैं। औरत और मर्द का भेदछेदन होने लगता है। औरत सम्मान ढूँढती है और मर्द को विलेन मानती हैं और मर्द...जाने दीजिये कथा भटक जाएगी। मैं बहुत सोचता हूँ, उन लोगों के बारे में वे पता नहीं कैसे लोग थे, जो आजीवन निभा ले जाते थे। उनमें मैं और प्रीति एक थे। पर उनका महिमामंडन आज के युग में करने का अर्थ होगा पिछड़ा होना। फालतू, बेकार और मंदबुद्धि होना। इसलिए आपके बोर होने की पूरी पूरी संभावना है। इसे कथा-संरचना का दोष मानकर मुआफ कीजिये।'

मैं चुप हो गया। एक अकारण मौन वातावरण में पसर जाने दिया। पर उसे मुझे ही

तोड़ना पड़ा था। एक किस्म की कैफियत देते हुये मैंने कहा, 'इस मौन के लिए आप मुझे दोषी मान सकते हैं। आखिर मनुष्य की फितरत में निहित है कि हर गलत काम के लिए कोई न कोई दूसरा दोषी होता है। वो संसार का कोई भी प्राणी हो सकता है सिवाय आपके अपने होने के। मैं किसी दूसरे-तीसरे व्यक्ति को दोष देने की बजाय खुद को दे रहा हूँ। मान लीजिये मैं दोषी हूँ, और जैसाकि आप फरमा रहे हैं, मेरा मतलब आपका जो असल मन्तव्य है, भारतीय दंड संहिता इस कृत्य के लिए मुझे दोषी मानती है। मेरे एक स्पर्म ने ऐसा कुपुत्र पैदा कर दिया जो किसी की सुनता नहीं है। पत्नी लाता है, फिर उसके होने से भाग खड़ा होता है। मगर उसके साथ प्रेमविवाह करने वाली युवती उसे नपुंसक करार नहीं देती, बल्कि नपुंसक उसे कहती है, जिसके स्पर्म ने उसकी माँ की बच्चादानी में आराम से सोये अंडे को निषेचित किया था। मान लीजिये।'

आखिर यही होना था। चरणदास की आवाज़ में जान लौट आई। बोलने लगे, 'श्रीमान जी! आप कन्फ़्यूज्ड किस्म के आदमी हैं, हो सकता है ये बाइपोलर पर्सनैलिटी डिसॉर्डर हो, आप सोच कुछ रहे हों और बोल कुछ दूसरा रहे हों। मैं इसे समझता हूँ। एक वक्त में मैं खुद इससे पीड़ित रहा था। इसका इलाज मुमकिन है। हम उसमें आपकी मदद करेंगे। हम आपको डराना नहीं चाहते। आप आबाद रहें, मगर सावधान करते हैं, आगे अगर कभी अपने स्पर्म का इस्तेमाल करना पड़े तब कुछ इस तरह अता फरमाईएगा जो वो ऐसा कुछ न कर बैठे जिसे भारतीय दंड संहिता मान्यता न देती हो। वैसे हमें कोई खतरा नहीं है। हमारे यहाँ सिर्फ एक ही बेटी पैदा हुई है। और वो आपकी बहू है। अभी तक तो है। आमीन!'

इस घोषणा के तत्काल बाद, चरणदास जी उठ खड़े हुये। आगे अपने वक्तव्य को जारी रख सकने का मौका मुझे नहीं मिला। इसका अफसोस ताउम्र रहेगा। समय बड़ा क्रूर है। वो सिर्फ एक बार मौका देता है। उसका भरपूर उपयोग करने की ज़िम्मेदारी उसने आपको सौंपी है। अगर इसमें आप चूक गए फिर दूसरा मौका वो आपको नहीं देने वाला। चरणदास साहब बाहर की ओर रुख़सत हुये और मैं उनके पीछे चला।

उनसे निजात क्या मिली, जरा सी चैन की साँस मिली। चाय की दुकान की बगल से इस भएपूर दिन में आज की रात चमकने वाले चाँद की धुँधली मूर्त को पूर्व दिशा में उगते देखता रहा। फिर एक बेंच पर जा बैठा। जब तक चाय आती मैं इस गुजरे वार्तालाप की विवेचना करने को उतावला था। चरणदास के सवालों के अपने बाकी तमाम जवाब मुझे संतोषजनक लगे, मगर मन उस एक बात में जा उलझा, जिसका जवाब मैं नहीं दे पाया था। आखिर एडवोकेट पंडित चरणदास चौबे को कैसे मालूम पड़ा, मेरी पत्नी बहुत कम बोलती हैं और सिर्फ अपना काम करती रहती हैं। क्या उसने इधर आने से पहले जासूस छोड़ रखे थे। फिर ये मामला सचमुच उतने से ज्यादा गंभीर है, जितना मैं अभी तक समझ रहा था।

इस ऊहापोह के बीच मैं लौट आया। घर के अंदर आकर बिस्तर पर पसर गया। जरा सी सहानुभूति की जरूरत महसूस हो रही थी। मन कर रहा था, रंगभेद की भाषा में कहना होगा, कोई भूरा चोर घर में घुस आए और संवेदना के दो-चार शब्द बोलकर जो चाहे उठा ले जाये। उस कम्प्यूटर से ज्यादा जरूरी अब इस घर में कुछ नहीं है। लेकिन उस चोरी के बाद मैं अगली लड़ाई के लिए खुद को तैयार कर सकूँगा। मन की बेचैन हालत में मैं उठकर दूसरे कमरे में आ गया, जहाँ प्रीति बुनने की सलाईयों में उलझी हुई थी। ये उसका सबसे प्यारा शगल था। उसे संसार की हर समस्या से पलायन का मार्ग उपलब्ध करवाता था। मेरे आने पर उसने कोई हिलजुल नहीं की। मैंने कुछ देर खड़े रहने के बाद कहा, 'सुना तुमने,

वह आदमी कैसे हमें धमकी दे गया है। अब सोचो हमें क्या करना चाहिए?'

उसने अपनी हर पुरातन आदत के मनोनुकूल जवाब देने में एक व्यापक अंतराल लिया, अपनी उंगलियाँ बदस्तूर अपने काम पर उलझाए रखीं, फिर इत्मीनान से जरा से होंठ हिलाये, 'मैंने पहले बोल दिया था हमने वो नहीं रखनी है।'

मैं जानता हूँ, प्रीति के आगे मैं जीत नहीं सकता। आप तर्कों से लड़ सकते हैं या तर्कों के विरुद्ध लड़ सकते हैं। प्रीति के साथ मुझे तर्कों की कमी महसूस होती थी। मोर्चा खुला रहता था पर सामने मैं निहत्था देखता रहता था। लड़ता तो किससे और कैसे। इतना जानते हुये, मैंने लड़खड़ाती सी आवाज़ में कहा, 'प्रीति, मामला इतना आसान नहीं रह गया है, जो हमने बोल दिया नहीं रखनी है और मसला निपट लिया। आखिर कोई कारण होना चाहिए। अदालत में कारण पूछा जाएगा, हम उसे क्यों निकालना चाहते हैं। वहाँ सिर्फ ये कह देना काफी नहीं होगा, हमने उसे नहीं रखना है।'

प्रीति को गुस्सा आ गया। आंतरिक गुस्सा था। उसकी व्यंजना में सिर्फ यही निहित था जैसे पूरी गलती मेरी हो। आखिर मैं क्यों नहीं समझ पा रहा हूँ, सिद्धार्थ हमारा बेटा है। हमारा वो बेटा मोनिका को नहीं रखेगा, 'क्यों साफ न बता दिया उसे? बल्याऊँ-बल्याऊँ करने की क्या जरूरत थी।'

मैं प्रीति का मुँह ताकता रह गया। और इस प्रकार मेरे नारीवादी लेखन के बचे-खुचे संकल्प और उसके पार सारे लेखकीय अंहकार का एक और फालूदा इस 'बल्याऊँ-बल्याऊँ' में निकला। ये एक गंभीर चेतावनी थी कि अगर आगे थोड़ा सा कुछ लड़खड़ाया तब ये औरतजाति का घोर अपमान घोषित हो सकता है। मुझे याद है इस 'बल्याऊँ-बल्याऊँ' को मैं पहले नोट कर चुका हूँ, लेकिन अभी इसे दूसरी बार अपने मन में अंकित कर लिया था, ताकि अपनी डिक्शनरी में इसका माकूल इस्तेमाल हो सके। औरत के अपमान के आरोप मैं अनेक बार झेल चुका हूँ। आगे इसे झेलने की कूवत मेरे अंदर नहीं बची है। मगर मुझे हमेशा ये अफसोस रहेगा कि मेरा पक्ष कोई बूझता नहीं है या शायद मैं अपने पक्ष को ठीक से संसार क्या, प्रीति के सामने नहीं रख पाता हूँ। नतीजा दिख रहा है।

मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया था कि एक नई चेतना को जगाऊँगा, और सारे पक्षों को स्पष्ट सामने रख दूँगा। इस विचार के बाद मैंने डरते-डरते और खुद पर भरपूर नियंत्रण बनाए रखकर कहा, 'प्रीति, मैं कौन होता हूँ सिद्धार्थ की तरफ से जवाब देने वाला। पर इतना समझ लो मामला उतना आसान नहीं है जितना तुम समझ रही हो। जरा सा खुले दिमाग से काम लेना सीखो।'

बात बनने की बजाय ज्यादा बिगड़ गई। मैं जिन पक्षों को सुधारने की समझ पैदा करके आगे बढ़ा था, वे धड़ाम से जमीन पर आ गिरे। बात न सिर्फ बिगड़ी बल्कि इतना बुरी तरह बिगड़ी जो मेरी हर कल्पना से परे थी।

'दिमाग का ठेका तो सिर्फ तुम्हारे पास है, क्यों नहीं लगा दिया उसके सामने। तब तो घुग्घू बना रहा। मुँह से चूँ न निकली। नामर्द कहीं का। अब मेरे उपर बड़ी मर्दानगी झाड़ रहा है। 'कम बोलने और अधिक जज्ब करने वाली औरत ने यहीं बस कर ली होती तब गनीमत थी, अपना कुछ चेहरा भविष्य के लिए बचा रहता, मगर उसने आगे ऐसा कुछ उचरा जिसे मैं अगर छिपाना चाहूँ, कामयाबी नहीं मिलने वाली है, 'बड्डा लेखक बना घूमता है, औरत की इज्ज़त करना नहीं जानता।'

इसी का डर था। औरतविरोधी करार दिये जाने का। वही हुआ।

मैंने तुलसीदास से पूछना चाहा, 'बाबा! तुम क्यों कह गए थे, हुई हैं वोई जो राम रचि राखा!' आखिर क्यों रचे राम? राम को रचने का अधिकार किसने दिया। औरत का विरोध सहना मेरी किस्मत का मूल गुण रहा है। मुझे यकीन हो चुका है, मैं औरत विरोधी पैदा हुआ हूँ। औरत से प्यार पाना तो क्या सीखता उसे प्यार करने की कूवत तक न सीख सका। अब समय निकल चुका है। खुद तक को संतुष्ट करना नहीं आता, मगर 'बोलना ही है' की तर्ज़ पर बोल पड़ा, 'फिजूल की बातों में कुछ नहीं रखा है, मुसीबत उससे बड़ी है, जितना हम समझ रहे हैं। कोई तो रास्ता निकालना पड़ेगा। वो आखिर है कहाँ? इस तरह मुँह छिपाकर पीछा नहीं छूटने वाला है। उससे कहो मामले को खुद सुलटा ले। हमें इन ज़ालिमों से बचाए। हमारे हाथ में कुछ नहीं है। सिवाय जेल जाने के।'

'तुम्हारा दिमाग सड़ चुका है।' प्रीति फट पड़ी थी, 'उसको पैदा किसने किया है? अब कहते हो मेरे हाथ में कुछ नहीं है। डंडा फसाने में बड़ा मज़ा आता था। मुझे क्या पता कहाँ है। वो उसको नहीं रखना चाहता। हम जबरदस्ती करें उसके साथ। अपनी औलाद के बारे में ऐसा कहते तुम्हें शर्म नहीं आती!'

मैं वापस अपने कमरे में आ गया और सोने की कोशिश करने लगा। अगर सोने की जगह कुछ लोग 'रोने की' पढ़ लें, तब मुझे अफसोस होगा। अफसोस मुझे दिमाग बंद हो जाने का भी था। लेकिन मैंने मान लिया, इस युग में मेरे जैसे मनुष्यों का दिमाग सड़ चुकता है। उसके बाद यही होता है। शब्दों को गलत पढ़ा जाने लगता है।

मुझे समझ नहीं आ रहा था, इस कथा में बिन बूझे यह कौन सा यथार्थ घुस आया है। मैं इस घुसपैठिए से बचना हूँ। मैं इसे बर्दाश्त नहीं कर पा रहा हूँ। ये मेरे लिए जानलेवा है। मैं तो एक सीधी सच्ची और बोल्ड कहानी कहना चाहता था, जिसमें औरत जीवन को रास्ता दिखाती हो। लेकिन यहाँ जो हो रहा है, उसकी अपेक्षा मैंने नहीं की थी। रास्ता भटक चुका है। कथा का पूरा प्लॉट मेरे हाथ से बिदक गया है। सारे पात्र एक ऐसी धुंध में खो चुके हैं, जिससे बाहर निकल पाना मुमकिन नहीं है। कुछ दिख नहीं रहा। सब तरफ अँधेरा ही अँधेरा है। जरा सा आँख लग आयी। सामने एक सतह थी। उसके नीचे खारा जल है। ये बिना हिलडुल किए अपने मरण में जीवित रहकर खुश है। उसके पार एक युद्ध का मैदान सजा है। उसमें एक ओर मैं निहत्था खड़ा हूँ। बिल्कुल अकेला। साथ देने के लिए कोई सैनिक नहीं है। अगर आगे खुद को जीवित रखना है, तब हर हाल में इस युद्ध में अपनी मृत्यु को मात देकर लौटना होगा। उधर जो औरत है, जिसके साथ मैंने अपने जीवन के तीन दशक गुजारे हैं, ये सही कह रही है, मेरे दिमाग में एक गहरा खोखल है। इसने काम करना बंद कर दिया है। वो एक निश्चित पराजय को ताक रहा है। जब बीज पौधा बनकर ज़मीन में गड़ जाता है, फिर वही बीज पूरी तरह सड़ चुकता है। जबकि धरती हमेशा जीवित रहती है। मैं अब एक सड़ा हुआ, नाश हो चुके बीजमात्र का लेशभर हूँ। यही मेरी हैसियत है।

मोनिका का फोन तीन बार आ चुका था। एक से ज्यादा बार एस. एम. एस. कर चुकी थी। हर बार एक ही सवाल होता, 'कहाँ है मेरा पति, उसे वापस लौटाते हो या जाऊँ पुलिस में?'

शब्दों के हेरफेर के साथ, यही। आशय हर बार वही, कहाँ है मेरा पति, कहाँ छिपाया मेरा पति! हाय मेरा पति। और पति सिरे से गायब। कुछ पता नहीं कहाँ गया पति। पति न हुआ नूरमहल की सराय हो गई। न टूटे न बने। खंडहर खड़ा है। मड़ा मरे न मंजी छड्डे। दिमाग ने काम करना बंद कर रखा था, आगे पूरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई। दिन भारी संत्रास में

बीत रहे थे। मन में एक ही विचार बाकी था, आगे का जीवन क्या इस संत्रास का भोज है। न खाने का मन करता न बोलने का। पढ़ने और लिखना तो अतीत के विषय थे। लेखक की मौत हो चुकी थी। एक सर्वत्र निंदाभाव था, जिसे अपने अंदर जगह देनी थी। जैसे संसार में सिर्फ एक समस्या बाकी है। उठते, बैठते, सोते, जागते हर वक्त वही सिर पर सवार रहती। मन करता कोई मेरे कंधे पर हाथ रखकर कह दे, फिक्र मत करना, 'मैं हूँ न!'

पर ये मेरी कल्पना का दस्तूर था, संसार के होने की हकीकत नहीं। घर आता फिर दफ्तर जाता। लेकिन किसी के साथ बात करने का मन न होता। उधर अपने बाहुपाश में जकड़े काम का एक सिलसिला था। दफ्तर एक सार्वजनिक जगह है, उधर लगता था, लोग मेरे उतरे हुये चेहरे को देखकर मन ही मन हंसते हैं। मैं कहीं डूब मरना चाहता था। मैं कायर था। कायर की तरह मर जाना चाहता था। लेकिन अभी शायद भीतर उतनी कायरता नहीं इकट्ठा हो पाई थी जो सचमुच मर जाने का सबब बन जाती।

पत्नी का मोबाइल बता रहा था, उन दोनों की बातचीत हर रोज़ औसतन आठ-दस बार होती है। लेकिन इस बार बुरा ये हुआ कि जब मैं उसका फोन खँगाल रहा था वो मेरे सामने साक्षात आ खड़ी हुई। पूरा का पूरा दुर्गा का वेश धरे हुये। आँखों में चिंगारियाँ थीं। हाथों में सौ हाथियों का बल। आगे अनुमान लगाया जा सकता है क्या हुआ होगा। खुद की खैर मनाता हुआ, एक डरपोक आदमी की मानिंद घर से भाग खड़ा हुआ। शाम को डरा-डरा सा लौटा।

फिर नया कुछ नहीं हुआ। एक परिचित मौन था। रात में खाना नहीं बना। ग्यारह बजे जब अँतड़ियाँ अकुलाने लगीं, मैगी नूडल्ज़ का पैकेट उबालकर खा लिया और सो गया। अगली सुबह भी खाना न बनने वाला असहयोग आंदोलन जारी रहा। जैसे तैसे सूरज को अपनी यात्रा पर निकलना था, सुबह निकला और शाम को डूब गया। दफ्तर से वापस घर पहुँचा, द्वार पर ताला जड़ा था। इसकी एक चाबी मेरे पास रहती है, सो खोला और भीतर आया। चाय बनाकर पीते हुये खुद को तसल्ली देता रहा। एक दो तीन चार...कई घंटे बीत गए। तब फिक्र बढ़ने लगी। पूरा घर छान मारा मानो प्रीति किसी कोने में छिपी बैठी हों, पर वो कहीं नहीं थी। अचानक उसके शृंगार टेबल की दराज़ में कागज़ का पुर्जा हाथ लगा। लिखा था, 'मैं अपने पिता से मिलने जा रही हूँ।'

मैंने गहरी साँस ली। ये इत्मीनान की साँस जैसा कुछ था। उसके माता और पिता जालंधर के एक गाँव में अपने दो पुत्रों, दो बहुओं, सात पोतों और पाँच पोतियों के संग-साथ में, जब से होश संभाला तभी से, अपने किसान जीवन की उत्कट साधना में लीन हैं। मैंने उनके घर के नंबर पर फोन किया। खुद पिता ने उठाया था। जवाब आया, 'हमें क्या पता कौन किधर है।' आगे दो बार रिंग गई लेकिन उठा नहीं। तीसरी बार प्रखर पंजाबी गालियाँ सुनाई दीं, 'तुहाडी ये, तुहाडी वो। साड्डी कुड़ी ने की गुनाह कित्ता। तू गोबर पहाड़िया। बड्डा लाट साहब दा पुत्तर ओए। तेरी अलाणी ते तेरी फलाणी ते। दूजी बार फोन न करीं। नईं तां वेख ल्यांगे। जे गल्ल समझ नीं आई तां समझा देयांगे। थल्ले रख ओए फोन। रख थल्ले।'

ज़ाहिर है, तीस साल के विवाह के बाद ये सब सुनना अच्छा नहीं लगना था। नहीं लगा। मतलब खराब लगा। पर मन को तसल्ली दी कि ताज़ा ताज़ा गुस्सा है, सब ठीक हो जाएगा। और किचन में आकर कुछ खाने की जुगाड़ में जुट गया।

तीन दिन गहरे संत्रास और डर की मिलीजुली भावना में गुजरे। प्रीति का मोबाइल बंद था। उन गालियों के बाद जालंधर वालों से कौन बात करने की हिम्मत करे। इस जानलेवा

अनिश्चितता के बीच एक यकीन था, संसार में कोई मेरी बात जरूर समझेगा, कोई मददगार होगा, लेकिन वो कोई कौन होगा ये समझ में नहीं आ रहा था। चौथे दिन की शाम को घर लौटती बार मैं अपने पड़ौसी गुप्ता'ज़ के यहाँ चला गया। किसी उद्देश्य से नहीं, सिर्फ इसलिए कि किसी दूसरे मनुष्य से कुछ बोलने का मौका नसीब हो।

रमेश गुप्ता घर पर थे। इस तरह अकस्मात् आ जाने पर खुश हुये, एक मीठा उलाहना देते हुये बोले, 'सर, आपने तो हमें भुला ही दिया।'

सौम्या भी मुस्कुरा दी, 'जैसे आप अब इधर का रास्ता भूल गए हों। ऐसा क्या हुआ?'

मेरे पास जवाब था नहीं। बस 'यूँ ही' कहकर टाल दिया। लेकिन ये जानकर हैरानी हुई, कि उन्हें हमारी समस्या का ज्ञान था। रमेश गुप्ता ने कहा, 'सर, हमें आपने क्या पराया समझ रखा है। पूरे मुहल्ले में चर्चा फैली है। आप हमें कुछ बता देते। मन हल्का होता।'

इसी बीच गुप्ताजी ने गिलासों में व्हिस्की ढाल ली।

मैंने कहा, 'कुछ बताने वाली बात हो तभी बताऊँ। ये तो तबेले की बला है। मेरे सिर पड़ चुकी है। मैं ही बंदर हूँ। कभी लगता है, ये मुझे मार डालने की साजिश है। अब क्यों है ये मत पूछिये।'

सौम्या ने प्रीति के बारे में जानकर चिंता ज़ाहिर की, उन्होंने ऐसा करके गलती की है। अपना घर छोडकर इस तरह नहीं जाना चाहिए था। वे अगर आपका साथ देंगी तब मुश्किल दिन गुजर जाएँगे। वैसे लड़का सही नहीं कर रहा है।'

गुप्ता जी ने अपनी आदत के मुताबिक पूरी बात को अपनी मुहावरेदार शैली में मज़ाक में उड़ाने की कोशिश की, 'अरे सर, मरने द्यो। खाओ पियो। घनन्द लो। खादा-पीता लाहे दा, बाकी अहमद शाहे दा। चार दिन की ज़िंदगी है। फिर अँधेरी रात। सब ठीक हो जाएगा। भाभीजी आपको छोडकर कहीं जाने वाली थोड़े हैं।' और वे खुलकर हँसे।

मेरे लिए ये हँसी छप्पन-छुरी जैसी थी। मैं नहीं चाहता था कोई मेरे उपर हँसे। मैंने समझाने की कोशिश की, 'गुप्ताजी, मसला उतना आसान नहीं है, जितना उपरी तौर पर दिख रहा है। आप मेरी मदद कीजिये। सबसे पहले तो यह पता लगाना होगा कि आखिर प्रीति गई कहाँ है। जालंधर वाले मेरे फोन का ठीक जवाब दे नहीं रहे। और उसका अपना मोबाईल स्विचऑफ आ रहा है।'

सौम्या ने रमेश गुप्ता से कहा, 'आप कभी गंभीर हो जाया करो। हर बात को मज़ाक में उड़ाना ठीक नहीं। इनकी मदद करनी होगी।'

गुप्ताजी संजीदा दिखने लगे, 'सर, इसमें क्या मुश्किल है। मैं अभी पता लगाता हूँ। आप मुझे जालन्धर वालों का नंबर दीजिये। उनकी ऐसी-तैसी। मेरा नाम रमेश गुप्ता है। मैं सबका बाप हूँ। क्या मज़ाक समझ रखा है।'

मैंने नंबर दे दिया। प्रीति के पिता का नाम भी बता दिया।

'फिक्र मत कीजिये,' मोबाइल कान से लगाकर उन्होंने कहा और देखते ही देखते बात करने लगे, 'हेलो, भैंजी, देखिये, मैं शिमला के पुलिस ठाणे से बोल रहा हूँ...। श्री ओमप्रकाश जी से बात हो सकती है... हाँ करवाईए।'

कुछ पलों के अंतराल के बाद गुप्ताजी वापस बोले, 'ओमप्रकाश जी बोल रहे हैं...नमस्कार जी, मैं शिमला के पुलिस ठाणे से बोल रहा हूँ...जी जी...आपके दामाद श्री शंकर वशिष्ठ जी ने हमारे यहाँ शिकायत दर्ज़ करवाई है कि आपने उनकी पत्नी को उनकी मर्ज़ी के खिलाफ किडनैप करके अपने पास रखा हुआ है...आप ऐसा नहीं कर सकते...आप बजुर्ग होंगे ये मैं

जानता हूँ...लेकिन कानून की नजर में छोटा-बड़ा हर कोई बराबर होता है...आप सीधे बात कीजिये, नहीं तो पुलिस को आपके यहाँ आना पड़ेगा और आने जाने का सारा खर्चा-भाड़ा आपसे वसूला जाएगा...आप सोच लीजिये... हाँ हाँ, सच बता दीजिये...इसमें सबकी भलाई है ...अच्छा अच्छा वो अपनी मर्ज़ी से आईं थीं...कोई बात नहीं उनसे बात करवा दीजिये, हम केस दाखिलदफ्तर कर देते हैं...चली गई हैं...कहाँ चली गईं हैं... उनका बेटा सिद्धार्थ आकर अपने पास ले गया है...कहाँ ले गया है...ओ अच्छा, आपको नहीं पता...ठीक है हम आपके पास आकर पता लगा लेंगे...अच्छा-अच्छा....दिल्ली कह रहा था...वो दिल्ली में रहता है...नौकरी करता है...ओह, अच्छा ठीक है...हाँ, एक बार और बताईये, आपने अपने दामाद को फोन पर गालियाँ क्यों दीं...हाहाहा, तो ये आपका प्यार करने का तरीका है, बड़ा अच्छा तरीका है आपका प्यार करने का...ठीक है, ठीक है, जरूरत पड़ी तो हम आपको फिर फोन करेंगे...आप क्या बात करते हो...हम आपको क्यों तंग करेंगे भला...लेकिन मामला कानून का है, कानूनी कारवाई तो होगी कि नहीं...आप सोच लीजिये...आप मुझे अच्छे आदमी लगते हैं...जी जी!'

इतनी आसानी से बात निपट गई, मुझे हैरानी हुई वर्ना मुझे सचमुच में पुलिस में शिकायत दर्ज़ करनी पड़ सकती थी। इस पर मैंने गौर किया भी था, लेकिन पुलिस में जाने से मैं बचना चाहता था।

मोबाइल रखने के बाद, रमेश गुप्ता हँस पड़े, 'सर, मरने द्यो। आप अपना खाओ पियो अनन्द करो! लो दूसरा पेग डालो। ब्लैकनाइट व्हिस्की है। प्योर माल्टा। ये चीज कहाँ मिलती है। पर अपना दबदबा कोई कम थोड़े न है। पाताल से निकाल न लाया तो मैं किस काम का रमेश गुप्ता।'

सौम्या चिंतित थी, 'ये आपने खुद को किस मुसीबत में डाल लिया है। आप किसी तरह अपनी पत्नी को वापस बुला लो।'

मैंने जवाब दिया, 'सौम्या, तुम्हारी बात सही है, उसको मेरे पास आ जाना चाहिए। बल्कि ऐसे वक्त में घर से जाना नहीं चाहिए था। इस पारिवारिक संकट से हम दोनों को साथ लड़ना चाहिए था। और ये संकट अभी का नहीं है। इसकी बुनियाद तभी रख दी गई थी, जब सिद्धार्थ मेरे उपर आरोप लगाकर घर छोड़कर चला गया था। आठ साल का अरसा कोई कम नहीं होता। अब उसके वापस आने का मतलब खुद निकाल लो। मैंने कभी प्रीति से कुछ गलत नहीं कहा, कभी कोई गैरवाजिब प्रतिक्रिया नहीं दी, कभी कोई बद्तमीजी नहीं की, कोई आरोप नहीं लगाया, उसके औरत होने का हमेशा सम्मान किया। इससे ज्यादा मैं क्या कर सकता था। वो मेरे बारे में क्या सोचती है या क्या विचार रखती है, उसपर मेरा वश नहीं है। उस दिन वो चौबे...वो चरणदास आया था, साफ साफ धमकी दे गया, हालांकि मैं खुद स्त्री अधिकारों और कानून से बेवाकिफ नहीं हूँ। मैंने प्रीति को समझाने की कोशिश की कि हम मुसीबत में फँस चुके हैं और उससे बाहर निकलने का रास्ता हम दोनों को मिलकर निकालना होगा। लेकिन वो उस जिद पर अड़ी है जो असल में सिद्धार्थ की जिद्द है। जानता हूँ, उसका कोई आधार नहीं है। तलाक करने के अपने कायदे हैं, ये क्या कि हम नहीं रहेंगे। एक फतवा है जो जारी कर दिया और हो गया। अब आगे तुम भुगतो। अकेला मैं क्या भुगत सकता हूँ। अब जब प्रीति जा चुकी है, तुम्हीं बताओ मैं उसे कैसे अपने पास बुलाऊँ। उसने अपना फोन ही नहीं दिमाग भी बंद कर रखा है। सिद्धार्थ को भी मैंने कॉल किया था। उसने मेरी पूरी माँ-बहिन एक कर डाली। जो कोई है वो मां बहिन से कम बात ही नहीं करता। उधर चरणदास और मोनिका मेरे जिस्म के प्यासे हुये पड़े हैं। हटते ही नहीं। फोन पर फोन। चरणदास पूछता

है कि क्या हुआ आपके स्पर्म का, कुछ पता चला कि नहीं। मोनिका धमकी के सिवाय दूसरी कोई भाषा जैसे जानती नहीं। अब मैं क्या करूं। तुम्हीं बताओ।'

इतनी देर तक न सौम्या ने टोका और न रमेश गुप्ता ने। सन्न होकर सुनते रहे। वातावरण में सन्नाट्टा पसर गया था। कुछ क्षणों तक चुप रहने के बाद मैंने कहा, 'सच पूछो कभी मेरा मन करता है कि...!' और बोलते-बोलते मैं रुक गया।

सौम्या तो सौम्या यहाँ अचानक खुद गुप्ता जी हिल गए थे। काटो तो खून नहीं। रमेश गुप्ता लंबी साँस लेने के कुछ देर बाद बोले, 'सर, ऐसी बात आप दोबारा मत कहना। आपने ज़िंदगी को अपनी मस्ती में जिया है। अब आप कमजोर पड़ोगे तो हमें दुख होगा।'

ठीक तभी मोबाइल की रिंग इतना ज़ोर से बजी कि मैं चौंक पड़ा। कोई अन-पहचाना नंबर था। मैंने उठा लिया, उधर से किसी महिला की आवाज़ आई, 'कौन बोल रहे हो आप?' उसने पूछा।

मैंने आवाज़ पहचान ली थी, मोनिका थी, किसी अलग नंबर से। मैंने फोन खोल दिया ताकि ये दोनों सुन पाएँ। सचमुच का गुस्सा आ रहा था, 'अजीब किस्म के लोग हैं, खुद फोन करते हैं और सामने वाले से पूछते हैं कौन बोल रहे हो? आपको मालूम होना चाहिए आपने किसको कॉल किया है।'

'सिद्धार्थ नाम के भगौड़े के बाप शंकर को,' उसकी ये वाणी आज एकदम अलग थी। औसत से ज्यादा तेज़ाब से भरी हुई। उसने आगे ये जान लेने की जरूरत नहीं समझी कि उसके पति का बाप ही बोल रहा है या नहीं। बल्कि मान लिया कि ये वही है, 'बुड्ढे! मैंने तुझे ये पूछने के लिए फोन किया कि अब भी बता दे, कहाँ है वो। तुम लोग उसके साथ मिले हुये हो। माफी के काबिल नहीं हो। तूने मेरे पापा के साथ सलीके से बात तक नहीं की थी। उनको चोर कहा। तेरी वाइफ दरवाजे के पीछे छिपी रही। सामने आकर पानी तक को न पूछा। बताओ कहाँ है मेरा हस्बेंड? या पुलिस लेकर आऊँ।'

'देखिये, मिस...मोनिका शर्मा जी,' मैंने खुद को तनिक सँजोकर कहा, 'शादी आपने जिस व्यक्ति के साथ की है, वह आपका और आपके सज्जनवृंद पिता और माता के बीच का मामला था। हम उसमें शामिल नहीं थे। पिछले आठ साल से वो हमारे संपर्क में नहीं है। ऐसे में आपको पता होगा कि वो कहाँ है और आपके साथ क्यों नहीं है।'

'तुम झूठ बोल रहे हो,' छूटते ही मोनिका ने कहा, 'वो तुम्हारे पास है। तुमने उसको छुपा रखा है। तुम्हारी पत्नी उसके साथ है। बताओ कहाँ है वो?'

'मोनिका, अगर तुम्हारे पास इतनी जानकारी है, तब क्यों पता नहीं लगा लेती हो वो कहाँ है और रही बात पुलिस की धमकी की, तो मैं एक काम करता हूँ, खुद पुलिस कंप्लेंट लिखवा देता हूँ, कि आपने और आपके पूज्य माता और पिताश्री ने सिद्धार्थ नाम के व्यक्ति को किडनैप करके छिपा दिया है। मामला बराबर हो जाएगा। फिर जो होगा देखेंगे।'

लड़की का स्वर जरा सा धीमा हुआ और तेवर ठंडे पड़ गए लगे, 'मेरा वो मतलब नहीं था। मैं अपना घर बसाना चाहती हूँ। मैं अपने हस्बेंड के साथ रहना चाहती हूँ। आप क्यों नहीं चाहते वो मेरे साथ रहे। प्लीज़ आप मेरी मदद करो।'

'हाँ, बात करने का ये तरीका अच्छा है, शुरुआत ऐसे करनी चाहिए थी,' मैंने कहा, 'देखो मोनिका, मुझे तुमसे पूरी हमदर्दी है। पर तुम्हें ये जान लेना चाहिए लड़का मेरे कहने में नहीं है और मुझे यकीन है कि वो किसी सूरत में मेरी बात सुनेगा नहीं। मैं जो कहूँगा वो उसका उलटा करेगा। अब तुमने उसके साथ कैसे प्यार किया, कैसे विवाह कर लिया, कैसे

वो भाग खड़ा हुआ, क्यों छिपा बैठा है, इसके बारे में कुछ बोलना मेरे लिए बाजिब नहीं है। न ही तुम्हें मैं तुम्हारा कोई मनपसंद आश्वासन दे सकता हूँ। इस बात को तुम्हें समझना होगा, वो मेरे साथ नहीं रहता, और न हमारी आपस में बातचीत है। मैंने पता करने की कोशिश की जरूर थी, लेकिन कोई ऐसा सोर्स मेरे पास नहीं है जो पता लगाकर बता सके कि वो कहाँ है। और मान लो पता चल गया तब भी मैं तुम्हारी क्या मदद कर पाऊँगा। बेहतर हो अपने स्तर पर तुम मामले को सुलझा लो और मुझे मेरे हाल पर छोड़ दो।'

उसकी आवाज़ फिर बदल गई, 'मैं जानती हूँ। आपका बेटा आपकी इज्जत नहीं करता। उसने मुझे आपके बारे में इतना कुछ बताया है कि आपके साथ बात करते हुये मैं डर रही थी। आज मालूम हुआ आप बुरे आदमी नहीं हैं, लेकिन आपकी वाइफ को मैं नहीं छोड़ने वाली। ये सब उसी का किया धरा है। वो उसी के पास छिपी है।'

'देखो मिस मोनिका, जब मेरी वाइफ का सवाल बीच में आ जाएगा, तब मैं उसकी मदद करूँगा। यह मेरी नैतिक ज़िम्मेदारी है।' मैंने कहा, 'पर किसी दूसरे व्यक्ति को दोष देने से पहले एक बात ये सोचो कि अगर तुम्हारे और तुम्हारे पति के बीच समस्या नहीं है, फिर कोई दूसरा-तीसरा व्यक्ति उसमें कैसे दखल दे देगा। चाहे वह उसकी माँ क्यों न हो।'

अचानक लड़की फोन पर सुबकने लगी, 'आप मेरी मदद करो। मैं उसके साथ रहना चाहती हूँ।'

संवाद की स्थिति खत्म हो चुकी थी। मुझे जो कहना था, मैं कह चुका था। दोहराव का कुछ लाभ होना नहीं था, सो उससे विदा ली। सामने रमेश गुप्ता और सौम्या थे। सौम्या ने कहा, 'लगता नहीं ये आपका पीछा इतनी आसानी के साथ छोड़ देगी।'

मोनिका के साथ फोन पर बात करते हुये मैंने जो ब्रेवफेस दिखाया था, वह सिर्फ हाथी का सफ़ेद दाँत था। असल में मैं खुद अपनी परछाईं से डर रहा था। इसे अपने इन दोस्तों से छिपाना फिजूल था, जो सही अर्थों में मेरी मदद पर थे।

'मुझे यह मनोविज्ञान समझ नहीं आ रहा है, आखिर ये लड़की और उसका पिता दोनों मेरे पीछे क्यों लगे हैं। कायदे से इन्हें सिद्धार्थ को पकड़कर पूछना चाहिए कि वो इस तरह का व्यवहार क्यों कर रहा है।'

गुप्ता जी का 'मरने द्यो' वाला परिचित मुहावरा फिर वापस आ गया था, जबकि सौम्या उनसे ज्यादा संजीदा थी। उसने कहा, 'आप किसी वकील के मदद क्यों नहीं लेते।'

मेरी समझ में उसका कथन आ गया। वैसे भी आज नहीं तो कल वकील की जरूरत पड़ने वाली है। मैंने कहा, 'तुम्हारे ध्यान में कोई वकील आ रहा हो तो बताओ। लगता है, मैंने आज तक एकतरफा ज़िंदगी ज़ी है। समाज के एक बड़े हिस्से को समझ नहीं पाया। न कोई वकील मेरा जानकार है और न कोई डॉक्टर। आने वाला वक्त सचमुच मुश्किल हो सकता है।'

रमेश गुप्ता ने तत्काल कहा, 'सर मैं ज़िंदा हूँ। आपको जब जरूरत पड़ेगी आपके सामने दस खड़े कर दूँगा।'

'समझो जरूरत पड़ गई है,' मैंने कहा, 'बताओ किस वकील से बात की जाये।'

लंबे परामर्श के बाद सौम्या के स्कूल के समय की उसकी दोस्त स्मृति हांडा का नाम तय हुआ। सौम्या ने उसके साथ बात भी कर ली। स्मृति हांडा ने इतवार को ग्यारह बजे घर आकर मिलने को कहा, क्योंकि उसके दफ्तर में बहुत अंतरंग बातें मुमकिन नहीं थीं और वहाँ उतना ज्यादा समय भी न मिलने वाला था।

रविवार को नौ बजे हम निकल लिए।

मालरोड बहुत फीका था। पिछले किसी भी वक्त से ज्यादा फीका। हालाँकि असंख्य लोग अपनी मस्ती में चहलकदमी कर रहे थे, लेकिन जैसे कहीं कोई रौनक नहीं थी। पहले मैं लिफ्ट में मौजूद भीड़ से उलझ गया था। वहाँ पता नहीं किस-किस को अनुशासन और तहज़ीब सिखाने लगा। लोग घूर घूर कर मुझे ताकने लगे। रमेश गुप्ता और सौम्या को अपने बचपन का इतिहास सुनाने लगा कि कैसे हम लोग अपने अध्यापकों और पिताओं का सम्मान करते थे। जब तक वे मेरी बातों का संज्ञान लेते हम मालरोड पहुँच गए। अब पूरा आक्रोश सामने बेतहाशा भागम-भाग में लगी भीड़ पर उभरने आने लगा। फिर जाखू मुहल्ले की चढ़ाई शुरू हो गई। उसने पिछले के किसी वक्त से ज्यादा परेशान किया। स्मृति हांडा पर क्रोध आने लगा कि वो इतना उपर शिखर पर आकर कैसे और क्यों बस गई हैं। रमेश गुप्ता ने बताया, वे वैसे तो मंडी नगर की हैं, लेकिन इधर शिमला में उसकी शादी हुई है और ससुराल वालों ने घर इधर जाखू में बना रखा है। लगे हाथ उन्होंने यह भी बता दिया कि यह मुहल्ला शिमला शहर में इलीट बस्ती मानी जाती है। यहाँ घर बनाना हर शिमलावासी का सपना होता है। और हिंदुस्तान में सपने टूटने के लिए बनते हैं। सिर्फ ये एक सपना पूरा हुआ लगता है।

'यह तो अच्छा हुआ कि स्मृति हांडा की शादी यहाँ हुई वरना क्या होता, सोचिए जरा क्या होता, यही न कि वे मंडी के डिस्ट्रिक्ट कोर्ट में अपनी जवानी खपा देतीं,' आगे गुप्ता जी ने फैसला सुनाया।

तब हम नब्बे डिग्री की स्टीप सीढ़ियाँ चढ़ रहे थे। नारीवाद के पक्ष में मेरे भीतर इतने विचार आ रहे थे कि अगर मैं ठीक इस समय बोलना शुरू कर देता तो स्मृति हांडा के घर तक पहुँचने के बाद तक वे जारी रहते। लेकिन मेरी साँस बुरी तरह फूल रही थी और हाँफती हुई ज़िंदगी किसी विषय पर लगातार बोलने की सुविधा नहीं देती। बल्कि अब तो मेरा मन हो रहा था कि रमेश गुप्ता भी खामोश होकर सीढ़ियाँ चढ़े और मुझे जरा सी चौन की साँस लेने की फुर्सत दे। मगर गुप्ता जी इस मूड से बाहर थे।

ठहाका मारकर अपनी पिछली बात को जारी रखते हुये बोले, 'बिल्कुल सौम्या की तरह हुआ है। अगर ये मेरे साथ शादी न करती तब क्या होता। सोचिए जरा। अपने गाँव में घास छील रही होती। इधर मजे से नौकरी कर रही है। दो बच्चों की माँ है। और क्या चाहिए।' फिर जैसे अपनी बात को पुष्ट प्रमाण देने के लिए बोले, 'क्यों सर? मैं ठीक बोल रहा हूँ न! और क्या चाहिए।'

मैं सौम्या का पक्ष लेना चाहता था, लेकिन समझ नहीं आया उसका पक्ष है क्या। इसलिए चुप रहा और अपनी सांस को नियंत्रित करने की कोशिश में लगा रहा, जो अब तक पूरी तरह दगा दे चुकी थी।

'आओ सर,' रमेश गुप्ता बोले, अब ज्यादा दूर नहीं है। बस सौ-एक सीढ़ियाँ और हैं। फिर पहुँचे समझो। सैकड़ा शुभ होता है।' रमेश गुप्ता के चुप होने के बाद सौम्या ने कहा, 'अगर सीढ़ियों से नहीं जाना चाहते हो तो उधर उस सड़क से चल सकते हैं। जरा सा रास्ता लंबा जरूर पड़ेगा।'

'बहुत समझदारी की बात है,' मैंने शुक्रिया के अंदाज़ में कहा।

हालाँकि गुप्ता जी ने खंडन कर दिया, 'उस रास्ते में बंदर बहुत हैं। सौम्या बिना सोचे समझे बोल देती है। परेशान करेंगे। ' इस संदर्भ पर उन्होंने कुछ जीवंत कहानियाँ सुनाईं। उसमें एक ये थी, 'कुछ दिन पहले एक आदमी को बंदर ने काट लिया था, उसे तीन इंजेक्शन लगवाने

पड़े हैं।' लेकिन गुप्ताजी सड़क मार्ग से चल भी पड़े थे। 'सर, आओ आप, मैं साथ हूँ, फिर डर काहे का है। मरोड़कर रख दूँगा।'

सड़क के अनेक मोड़ और कैंचियाँ लाँघ चुकने के बाद हम वहाँ पहुँच गए थे, जहाँ से उपर देवदारुओं के सदाबहार वन की सीमारेखा शुरू होती थी। साँय-साँय करती ठंडी हवा बदन को सहलाने के लिए आ रही थी, मगर भीतर के बोझ ने उसे अच्छे से महसूस नहीं करने दिया। बंदरों के समूह किनारों पर मटक रहे थे। हमारे उपर किसी ने हमला वगैरह कुछ नहीं किया। इधर रमेश गुप्ता अपने होंठों में हौले-हौले हनुमान चालीसा का पाठ बुदबुदाने लगे थे। जब स्मृति हांडा के घर के पास पहुँचे तब उन्होंने अपना पाठ रोका और बोले, 'सौम्या, तू फिजूल डरती है। भला बंदर मेरे पास फटक कैसे सकते हैं। मैं हनुमान भक्त हूँ।'

स्मृति हांडा हमारा ही इंतज़ार कर रही थीं। उनके दफ्तर में किताबें करीने से सजी थीं और उससे ज्यादा करीने से उनकी मेज़ थी। वे उसके पार बैठ गईं और हमें अपनी व्यथा-कथा सुनाने के लिए कहा। मेरे पास कोई छोटी-मोटी कथा तो थी नहीं, पूरा एक इतिहास था, जिसका एक निश्चित दिमागी भूगोल था। स्मृति हांडा ने अच्छे श्रोता होने और भरसक संयम का परिचय दिया। बीच में चायपान करवाया। सारा इतिहास और पूरा भूगोल जान लेने के बाद उन्होंने केस लेना मान लिया। मैंने वह रुक्का दिखा दिया था, जिसमें प्रीति ने अपने पिता के पास चले जाने की सूचना दी थी।

इसे देख लेने के बाद स्मृति हांडा ने कहा, 'यह बहुत जरूरी दस्तावेज़ है, वर्ना आप मुश्किल में फँस सकते थे। आप कैसे प्रूव करते आपकी पत्नी अपनी मर्जी से गई है। खासतौर पर उस दशा में जब आपकी पत्नी के पिता आपके साथ नहीं हैं। वे बिल्कुल मुकर सकते थे। कानून पेंच बड़े पेचीदा होते हैं। आपने उस वक्त उनकी गुमशुदगी की एफ.आई.आर. दर्ज़ करवा दी होती, तब बचाव का एक रास्ता था। अब कागज़ का ये टुकड़ा बड़े काम का है। इसकी जेरॉक्स कॉपी अपने पास रख छोड़िए। अच्छा है, गुप्ता जी ने उनके पिता से बात की है, जरूरत पड़ने पर हम उसका कॉल-रिकार्ड निकलवा सकते हैं। ये हमारे गवाह होंगे।'

उसने जो दूसरी महत्वपूर्ण सलाह दी, उस तरफ हमारा ध्यान शायद कभी जा पाता, 'पिछले आठ साल से सिद्धार्थ से आपका संपर्क नहीं है, एक प्रकार से ये आपका और उसका जो बाप-बेटे के रिश्ता था उसे खत्म कर चुका है। बेहतर है, आप उसे अपने जीवन से खारिज कर डालो। पैतृक संपति को छोड़कर बाकी उसको आपकी अर्जित संपति में से कुछ नहीं मिलेगा। जब उससे आपका रिश्ता नहीं है, तब आपके ऊपर कोई केस नहीं बनता। और यह सेल्फप्रूव्ड है, कि शादी उसने अपनी मर्ज़ी से की है और आप उसमें शामिल नहीं थे। रही आपकी पत्नी तो उन्हें केस में घसीटा जाना अब आसान हो गया है। क्योंकि अब वे उसके साथ हैं। मोनिका इसे साबित कर सकती है। लेकिन आपके लिए ये पुर्जा बड़ी सुरक्षा है। आप कल शाम छः बजे मेरे दफ्तर आइये, मैं उसे खारिज करने के पेपर्ज़ तैयार करवा दूँगी। फिर दो अखबारों में इश्तिहार निकालना पड़ेगा। उसके बाद आपको एक कानूनी कवच मिल जाएगा।'

आज जीवन में पहली बार ज्ञात हुआ कि कानूनी कवच सिर्फ कानूनी नहीं होता, वह मानसिक कवच भी होता है। आप जितना चाहे कोर्ट-कचहरी से बचते फिरें कोई दूसरा व्यक्ति किसी छोटी मोटी खुंदक में आपको वहाँ घसीट लिए जा सकता है। हम जब वापस चले तो मन हल्का था। एक बजने को हो आया था और कई दिनों बाद ज़ोरों की भूख महसूस होने लगी थी। सुबह कुछ खाया गया नहीं था। रिट्ज़ सिनेमा के पास से गुजरे। ऐतिहासिक चर्च के पास से शिमला शहर सुंदर लगने लगा। रिज मैदान रंग-विरंगे लोगों से भरा पड़ा था। कोई

आईसक्रीम खा रहा था, कोई दूसरा टोमैटो सूप चुस्क रहा था। खच्चरों पर सैलानियों के बच्चे रिज पर घुमाई का आनंद ले रहे थे। धूप खिली हुई थी। सामने एक विशालकाय पहाड़ पर बर्फ चाँदी सी चमक रही थी। और उसके आगे पहाड़ों की पूरी शृंखला टेढ़ी-मेढ़ी पंक्तियों में रिज को निहार रही थीं। एक बार को मेरा मन हुआ, खच्चर पर चढ़ जाऊँ, पर वे बच्चों के लिए थीं। मैंने सौम्या से पूछा कि क्या सामने आशियाना में बैठकर खाना खा लेना ठीक रहेगा, रमेश गुप्ता ने झट से जवाब दिया, 'क्यों नहीं। बाहर बैठेंगे। सामने हनुमान जी दिखते हैं।'

आशियाना के टेरेस पर सीट मिल गई और शिमला का नजारा चार दिशाओं में अधिक व्यापकता में दिखने लगा था। आसपास बहुत से विदेशी सैलानी थे। पास की मेज़ पर एक ब्रिटिश महिला बीयर पी रही थी। मेरा तनिक सा परिचय पाने के इरादे से बोली, 'क्या आप शिमला शहर के रहने वाले हो?'

'हाँ' में जवाब पाकर बोली, 'यू आर ऑन द टॉप ऑफ द वर्ल्ड!' और मुस्कुरा दी। उसका इस तरह मुस्कुराना अच्छा लगा।

जाखू के शिखर पर जंगल के बीचोंबीच हनुमान जी खड़े थे, मानो हमपर मुस्कुरा रहे हों। मैंने कहा, 'गुप्ताजी, आपके इष्टदेव आपको देखकर हँस रहे हैं।'

रमेश गुप्ता ने दिल खोलकर ठहाका लगाया। 'मजा आ गया,' वे बोले, 'चिकन खाने का मन हो रहा है।' लेकिन सौम्या ने इंकार कर दिया। वे चिकन नहीं खाएँगी। उनके लिए दाल और पनीर मँगवाया और हमने चिकन का आनंद लिया।

संसार सचमुच सुंदर था। स्मृति हांडा के घर की तरफ जाती बार मैं क्यों खीज रहा था, इस सवाल का जवाब मुझे नहीं मिल पाया।

लेकिन ये खुशी ज्यादा दिन नहीं चलनी थी। एक रोज़ फिर एडवोकेट पंडित चरणदास सामने आ बिराजे थे। इसी आशियाने में। ठीक इसी जगह पर। आज ये जगह बेहद बेरंग थी। चौबे के बगल में दो सज्जन और थे। चरणदास ने अभी तक उनका परिचय नहीं करवाया था। मैंने दरयाफ्त की, तब चौबे ने उनमें से सिर्फ एक व्यक्ति के परिचय पर ज़ोर दिया, 'ये कर्नल चौधरी राम जी हैं। हमारे सगे साले हैं। इंडियन आर्मी में कर्नल थे, मतलब इंडियन आर्मी में। पाकिस्तान से तीन युद्ध लड़ और जीत चुके हैं, शास्त्रीजी, इन्दिरा गाँधी और वाजपेयीजी सभी इनको इस देश का बड़ा हीरो मानते थे। अब तीनों नहीं रहे...बिचारे। तीन राष्ट्रपतियों ने इनके गले में तमगे लटकाए हैं। अब कर्नल साब रिटायर होकर दिल्ली के मयूर विहार में सपत्नीक, सपरिवार सुखी जीवन जी रहे हैं। हालांकि ऐसी वैसी प्रोब्लेम्ज़ से इनका वास्ता कभी पड़ा नहीं है, लेकिन जब मोनिका और सिद्धार्थ के बीच की कटुता के बारे में सुना, बहुत दुखी हुये। ये दुखी जल्दी हो जाते हैं। इनकी फितरत में दुखी होना लिखा है। सिद्धार्थ और मोनिका दोनों इनके पास एक बार डिनर खा चुके हैं। इनसे रहा नहीं गया और चल दिये आपसे मिलने। ताकि उन दोनों की ज़िंदगी पटड़ी पर आ जाये और दोनों का घर बस जाये। अपना अपना होता है। ब्लड इज़ थिकर दैन वाटर! क्यों कर्नल साब!'

परिचय हो चुकने के बाद चौधरी रामजी शुरू हो गए, 'हाजरीन! ये जिंदगी है। सिर्फ एक बार मिलती है। दूसरी बार नहीं मिल पाती। मैंने एक फिल्म देखी थी, ज़िंदगी न मिलेगी दोबारा, उसे देखने के बाद अपनी मस्ती में जीने का मज़ा सीख गया हूँ और बिरादरान, ऐसी कोई प्रॉब्लेम नहीं होती जिसे सुलझाया न जा सके। आप मुझे समझदार लगते हैं। बच्चों को जाने दीजिये तेल लेने। ये भाई को ब्रो कहते हैं। ढाँचा ही बिगड़ चुका है। आप लोग खुद खुश रहिए। इसे ही ज़िंदगी कहते और बोलते हैं। याने कि ज़िंदगी न मिलेगी दोबारा।' आखिरी

वाक्य पूरा करते ही वे आसमान की तरफ देखकर, हा हा हा, करते हुये दिल खोलकर हँसे।

सामने बैठा तीसरा आदमी एकदम चुपचाप मेरी ओर घूर रहा था। मन में अजीब सा ख्याल आया कि क्या ये दिल्ली का कोई गुंडा है। लेकिन इससे पहले कि मैं कुछ पूछ या समझ पाता, कर्नल साब ने अपना परिचय विस्तृत करने में लग गए थे, 'अपनी भांजी मोनिका के लिए अगर मैं इतना न कर सकूँ, लानत है मेरे जीने पर। हालाँकि मेरी वाइफ़ मैडम सरिता चौधरी राम ने मुझे बहुत समझाया कि तुम क्यों ऐसे छोटे लोगों में खुद को उलझाते हो। तुम इतने बड़े-बड़े काम कर चुके हो। चीन से लड़ चुके हो। पाकिस्तान को हरा चुके हो। कारगिल फतेह कर चुके हो। अब तुम्हारा इस तरह कुत्तों जैसा फिरना और किसी के आगे जीभ निकालना तुम्हें शोभा नहीं देता। अच्छा हुआ उन्होंने दुम हिलाना नहीं कहा, वरना मेरी भावनाएँ आहत हो जातीं। वे मारी भावनाओं का बड़ा ख्याल रखती हैं। और क्या है हजरत कि मैं भी मैं हूँ। नहीं माना। आखिर मेरा कोई फर्ज़ है कि नहीं,' आगे वे जरा सी खिसियानी टाइप मुस्कान के बाद बोले, 'इससे पहले मुझे याद नहीं है, कि कभी सौगंध भर खाने के नाम पर मैंने मैडम सरिता चौधरी राम की बात न मानी हो। मैं औरतों की बड़ी इज्जत करता हूँ। हम सबको करनी चाहिए। आर्मी में हमें यही सिखाया जाता है। औरत की इज्ज़त करना। यत्र तत्र नारी पूजयंते...सुना हैं वहाँ देवता रहते हैं। मेरी यही राय है...सर!' इतने से परिचय के बाद वे असल मुद्दे पर आ गए थे, जिसे फोन पर सूचना पाते ही मैं समझ गया था। यानी कहाँ है आपका लड़का, और वो क्यों भागा हुआ है इत्यादि पर!

एक बार को मन हुआ था, इन लोगों की मीटिंग में रमेश गुप्ता को साथ ले लूँ, लेकिन वे कहीं बाहर गए हुये थे। सौम्या को बुलाना मैंने ठीक नहीं समझा और वकील स्मृति हांडा ने कहा था, अभी वकील के बीच आने का वक्त नहीं है, आप बात कर लीजिए। स्पष्ट बात करेंगे तब भविष्य के लिए सुभीता रहेगा। इसके बाद मैं अकेला उनसे मिलने मालरोड पर आ गया था।

'चौधरी रामजी,' मैंने बोलना शुरू किया, तो कर्नल ने टोक दिया, 'कर्नल चौधरी राम!'

'मेरा मतलब वही,' मैंने कहा, 'आप तीन मनुष्य दिल्ली जैसे दूरस्थ स्थान से गाड़ी में बैठकर इस पहाड़ पर आए हैं। आपका स्वागत है। इस समस्या का कोई समाधान आप जरूर साथ लाये होंगे। बेहतर हो उसे निकालकर आप लोग लागू कर डालें। आपने चीन को हराया है। पाकिस्तान को शिकस्त दी है। कारगिल फतह किया है। उसके मुक़ाबले ये समस्या क्या है। क्या चोर और क्या चिंदीचोर। उसके मुक़ाबले ये चीज बेहद मामूली है।'

कर्नल को जैसे जरा सा सदमा लगा। काफी देर चुप रहे। खुद चरणदास चौबे ने जीभ काट ली थी। तीसरा आदमी फिलहाल अपने आपको कुछ बोल पाने की स्थिति में ला रहा था। पहले वो खंखारा, फिर गले से 'ऊँ ऊँ' की आवाज़ निकाली, 'मल्लब जी, लड़के और लड़की का घर बस जाना चाहिए।'

'यही...सर!' कर्नल सतर्क हो गया था, 'कपल्ज़ के बीच ऊँच-नीच चलती है। इसका मतलब थोड़े न है कि...कि घर से भाग जाओ।'

मुझे महसूस हुआ, मेरा दिमाग फट जाएगा। खुद से मैंने इतना भर कहा कि जो उचारना है, जल्दी उचार दो वर्ना देर हो सकती है। ये दिमाग का स्पष्ट संदेश था। कोई रिफ़्लेक्स एक्शन नहीं।

बिना देर किए मैं बोलने लगा, 'देखिये जी, श्रीमान चरणदास और आपके साथियो, आप मेरे साथ यह सब क्यों कह रहे हो? लड़के ने शादी की तब मेरी याद किसी को नहीं आई। किसी काले या सफ़ेद चोर ने न मुझे पूछा और न बुलाया। इन एडवोकेट पंडित चरणदास चौबे ने अपनी बेटी का कन्यादान करने के अवसर पर मुझे निमंत्रण नहीं दिया था। वे दोनों

बालिग हैं। आप के कहे मुताबिक वे अपना कर्म कर रहे थे। मेरी समझ से बाहर है कि मैं उस कर्म में क्या, कैसा और कितना खलल डालूँ। अब आप कह रहे हैं कि लड़का घर से भाग गया है, तो सज्जनों मुझे सूचना देकर वो भागा नहीं। मुझे लगता है आपने उसे कहीं छिप-छिपा दिया होगा। मैं मर-मरवा नहीं कह रहा हूँ। वो आपका दामाद है फिर भला मैं वैसा घनघोर आरोप कैसे लगा डालूँ। मुझे क्या मालूम आपका उसके साथ क्या समझौता हुआ था जो आपने अपनी बेटी का शुभ-विवाह उसके साथ करवा दिया। और आप बता रहे हैं, आप इन एडवोकेट पंडित चरणदास चौबे के सगे साले हैं, हालाँकि साला कभी सगा नहीं होता, लेकिन आपको भी इन्होंने शादी में नहीं बुलाया था और अगर बुलाया था तब आप भी उस अपराध में बराबर के दोषी हुये। अब आप कहो तो मैं पुलिस कंप्लेंट लिखवा देता हूँ। मामला अपने आप से आप साफ हो जाएगा।'

जिस माहौल को वे अपने पक्ष की मजबूती मान रहे थे, वो जैसे उनके खिलाफ पलट गया था। कर्नल चौधरी राम ने एडवोकेट पंडित चरणदास चौबे की तरफ टेढ़ी नजर से देखकर कहा, 'अब आप हजरत जवाब दीजिये। मुझे आपने कितने झूठ बोलकर यहाँ लाया है। मुझे गुस्सा आ रहा है। आपने मुझे क्यों न बताया था कि लड़के का बाप शादी में शामिल नहीं था।'

चौबे साहब बगलें झाँकते नजर आने लगे और तीसरा आदमी शिखर पर विराजे हनुमान की मूर्ति पर अटका रहा। इस चुप्पी को मुझे तोड़ना पड़ा था, 'आप लोग दिल्ली से सफर करके आए हैं,' मैंने कहा, 'कुछ खाना पीना चाहेंगे। बताइये क्या ऑर्डर करूँ?'

तभी रमेश गुप्ता का फोन आ गया। वे बस-स्टैंड पर थे। मैंने कहा, आशियाना आ जाइए। गुप्ता जी ने जवाब दिया पंद्रह मिनट में पहुँच रहा हूँ।

अब आकर चरणदास चौबे ने जैसे अपने साले की बात का जवाब दिया, 'देखिये जनाब, ऐसी बातों से कुछ होने हवाने वाला नहीं है। जो गुजर गया वो मर गया। अब सवाल सिर्फ ये है कि उन दोनों का घर कैसे बसाया जाए। ये कोई गुड्डे-गुड्डियों के खेल नहीं है। आज शादी और कल घर से भाग लिए।'

मेरे दिमाग में जैसे कोई अनाम विस्फोट हो गया। हो सकता है दिमाग की एकाध अनजान नस तिड़क गई हो। पिछली बार जब गुप्ताजी मुझे एक साईकेट्रिस्ट के पास ले गए थे, उसने यही कहा था, मेरे साथ ऐसा होने वाला है। वहाँ से बाहर निकला तो गुस्सा आ रहा था, वो डॉक्टर है कि भगवान जो भविष्यवाणी करता है। लेकिन लग रहा है वही सब सच हो गया। एक हार्ट स्पेशलिस्ट ने कहा था, 'दिल पर तनाव मत पहुँचने दीजिये, कुछ भी टूट-फूट सकता है।'

मैंने अपनी आवाज़ भरसक ऊँचा उठाकर कहा, 'एडवोकेट पंडित चरणदास चौबे...जी, आप लड़की के सम्मानीय पिता हैं, अब आप मेरे पास क्यों आ रहे हैं। पिछली बार आप मुझे केस करने की धमकी दे रहे थे। आपको कर देना चाहिए था। किसने रोका है आपको। अगर मेरे जेल जाने से आपके दामाद और बेटी का घर बस जाये तब मुझे खुशी होगी। आप इतनी सी बात समझ नहीं पा रहे हैं। और चौथे दिन शिमला की राह पकड़ लेते हैं। आखिर मेरा कोई निजी जीवन है कि नहीं। जबकि लड़का उधर है, जिधर आपने उसे अपना दामाद बनाया था। उधर कहीं उसको पकड़ लीजिये। और आज के बाद मेरा पीछा करना छोड़ये वर्ना अब जो भी केस वेस करना होगा वो मैं करूँगा।'

फिर मैंने अपना रुख दूसरी तरफ मोड़ लिया, 'अरे ओ कर्नल साब, सुनिए और आप भी सुनिए मिस्टर तीसरे आदमी आप जो इनकी इमदाद पर आए हुये हैं, सुन लो, वर्ना आपके ये जीजा मेरे ऊपर आरोप लगा देंगे कि मैंने आपको इनके खिलाफ भड़काया है। इनकी बेटी मुझे

फोन करती रहती है और ऐसी अपभाषा और बदतमीजी का इस्तेमाल करती है कि गली का गुंडा सन्न रह जाये। पुरुष गुंडों वाली भाषा में मेरी माँ-बहिन करती है। मेरी माँ को मरे हुये छः महीने कम साठ साल हो गए। तब मैं छः महीने का जवान था। उस माँ की छातियाँ चुस्कता था। मेरी दो बड़ी बहिनें थीं। एक पाँच साल की थी और दूसरी तीन की। उन दोनों की परवरिश ने मुझे ज़िंदा रखा और आज यहाँ तक पहुँचा, जहाँ मुझे ये चरणदास, इसकी बेटी और इसका दामाद बंधक बनाए हुये हैं। मेरी उस मां और उन दोनों बहिनों को इसकी लाड़ली मोनिका ने उनके स्त्रीअंगों की अनेक बार गालियाँ दीं हैं। मुझे वो नपुंसक कहती है। हिजड़ा। छक्का। नल्ला। पता नहीं क्या क्या। ये पर्यायवाची शब्दों की डिक्शनरी है क्या। और सुनिए कर्नलजी, इस चरणदास का वो दामाद मुझे स्पर्म पुकारता है। इसकी बेटी ने मेरे उपर रेप का आरोप लगाने की धमकी दी है, जबकि उसे मैंने देखा तक नहीं है। और खुद यह चरणदास मेरी पत्नी के सामने मुझे धमका गया था। ये कर दूँगा वो कर दूँगा। इसकी लड़की ने शादी सिद्धार्थ के साथ की है, फिर ये दोनों बाप-बेटी मुझे बुरा-भला क्यों कह रहे हो। बर्दाश्त की हद होती है। अब कान खोलकर सुन लो मैं आपको नहीं जानता, आप हैं कौन, और हम आपके हैं कौन, अगर आपने मुझे आगे परेशान किया तो समझ लीजिये अब पुलिस में में जा रहा हूँ। और अब अगर मुझे गुंडों की मदद लेनी पड़ी, वो भी लूँगा। मुझे अपना बॉडीगार्ड रखने का पूरा अधिकार है। आप निहायत अपराधी आदमी हैं। पता नहीं आप हैं कौन। आप मुझे कैसे जानते हैं, जबकि मैं आपको नहीं जानता। ये चरणदास चोर है। बदमाश है। लुच्चा है। गुंडा है। नाटक का नहीं सचमुच का चोर है। डकैत है। मुझसे पैसा ऐंठना चाहता है। मैं इसे फूटी कौड़ी नहीं दूँगा। अभी के अभी जूत्तों से इसकी सेवा करूँगा। वर्ना दफा हो जाओ मेरी नजरों से।'

चरणदास चौबे को काटो तो खून नहीं। इधर कर्नल चौधरी राम ने उसकी तरफ अपना रुख कर लिया, 'मुझे अफसोस है, मेरी बहिन के हस्बेंड और इसकी बेटी ने ऐसा काम किया। हमारी मैडम सही थी, ये गटर के लोग हैं। सरिता चौधरी राम को कहना चाहिए था कि कुत्तों की तरह दुम मत हिलाओ। वो सही थीं। मैं समझ गया। आज मुझे खुशी होती। मैं इसकी कोई मदद नहीं कर सकता।' फिर वे मेरी तरफ मुड़े, 'बिरादर, आप मुझे माफ करो, मैंने इसके साथ आकर गलती कर दी। इसने मेरे साथ इतने झूठ बोले लगा जैसे ये खुद नहीं आप झूठे आदमी हो।'

'मैं दस तक गिनूँगा, उससे पहले यहाँ से फूट लो, और हाँ, काउंटर पर कॉफी का बिल देते जाना। मैंने भीख देना बंद कर दिया है। मेरे हिस्से के तीस रुपये मत देना, वो मैं खुद दूँगा।

ठीक तभी रमेश गुप्ता आ पहुँचा था।

'हम सिर्फ ये कह रहे हैं कि सोल्युशन क्या है,' चरणदास चौबे हकलाते हुये बोला मानो हथियार डाल चुका हो, 'अपने समधी से बात करना कोई गुनाह नहीं है।'

'फिर बोला, ये फिर कौन बोला,' मैंने कहा, 'दस तक की मेरी गिनती पूरी हो चुकी है और ये अभी तक कुर्सी से चिपका हुआ है।'

सबसे पहले चौधरी राम उठा, फिर वो तीसरा आदमी और आखिर में चरणदास। तीनों बाहर की ओर चले गए। हम भी निकल आए। आशियाना के गेट पर पहुँचकर मैंने देखा, उनकी तरह की तीन पीठों की परछाईयाँ रिज की भीड़ में खोती जा रही थीं और...मेरी आँखें मूंदी जा रही थीं। मूँदती जा रही थीं...सामने विशाल समुद्र था...संसार उसमें डूब रहा था। कितना अच्छा हुआ, मैं नहीं डूबा। मेरा बदन हल्का, एकदम हल्का हो गया। रुई के फाहे जैसा। दोनों तरफ पंख उग आए और देखते ही देखते मैं आसमान की ओर उड़ चला। बादलों के बीच

होना मैंने पहली बार जाना था। कितना नर्म एहसास था। एक खुरदुरी दुनिया के पार किसी स्वर्ग में होने जैसा। आज से पहले मैंने स्वर्ग के होने के बारे में सिर्फ सुना था, देखा और महसूस आज किया था। मैं स्थायी तौर पर यहीं रह जाना चाहता था। यहाँ किसी चीज की जरूरत नहीं थी। यहाँ रहने के लिए घर नहीं चाहिए था। यहाँ पहनने के कपड़ों के लिए भागदौड़ नहीं करनी थी। यहाँ भूख नहीं थी। रोटी की जरूरत यहाँ नहीं थी। यहाँ पर ऐसा कुछ नहीं चाहिए था, जिसके बगैर संसार पल भर जीवित न रह पाता। मैं उड़ता रहा, उड़ता रहा। हालांकि इस नए संसार की सीमाएँ भी मुझे जल्द समझ आने लगीं। यहाँ बातचीत करने के लिए कोई मनुष्य मौजूद नहीं था। मैं निपट अकेला था और कुछ भी बोलने के लिए उतावला था। मुझे नींद नहीं थी। इस नए संसार में नींद वर्जित तत्व था।

सामने से एक परी आती हुई दिखी। सफ़ेद लिबास में लिपटी एक परी। पास आकर मैंने उसे अपना चेहरा दिखाने के लिए कहा। उसने अपना चेहरा सामने लाया। उसे देखकर मैं एक कदम पीछे हट गया।

वह सौम्या थी।

हस्पताल से जब मैं वापस लौटा तो दुनिया पूरी तरह बदल चुकी थी। बँधा-टका समय खुल चुका था, लेकिन बीच में जो खालीपन रह गया, अफसोस उसका ज्ञान मुझे कभी नहीं हो पाएगा। रमेश गुप्ता ने कुछ सूचनाएँ दे दीं। इनमें एक ये थी, प्रीति धर्मशाला से वापस घर लौट आई है। बीमार है। पर मैं कुछ तय नहीं कर पाया कि रोऊँ या हँसूँ। मैंने सिर्फ ये जानना चाहा कि मैं हस्पताल में कितने वक्त तक था, लेकिन उसने 'मरने द्यो' कहकर मसला ही खत्म कर दिया। फिर जैसे कोई दार्शनिक सी बात कह डाली, 'बीता कभी नहीं लौटता!'

अचानक कैंसर हस्पताल का वो दरवाजा खुल गया, जिसमें से प्रीति भीतर गई थी। मैं हड़बड़ा कर सतर्क हो गया। पहले प्रीति बाहर निकली और उसके बाद उसे भीतर ले जाने वाला वो आदमी। उसने मुझे अपने पीछे आने को कहा। प्रीति को उसने बाहर बिठा दिया और मुझे डॉक्टर के पास ले गया। डॉक्टर ने सारे कागजों का मुआयना किया और फिर मेरी ओर देखकर बोला, 'मैंने आपसे भगवान का नाम लेने को कहा था। आपकी पत्नी के मुँह में कैंसर है।'

पहली कीमोथेरेपी एक जून को हस्पताल की ऊपरी मंज़िल में कैंसर वार्ड नंबर पाँच के बिस्तर नंबर तीन पर हुई थी। नालियाँ प्रीति के शरीर में ठूंसी हुई थीं और इनके द्वारा रसायन भीतर भेजे जा रहे था। प्रक्रिया लंबी थी। साढ़े तीन से चार घंटे का वक्त लग गया। कुछ देर आराम करने के बाद डॉक्टर ने उसे घर ले जाने को कहा। अगली कीमोथेरेपी इक्कीस दिन बाद होनी थी। कुल छः बार। हर बार इक्कीस दिन का अंतराल। मैंने एक सौ दो पर फोन करके एंबुलेंस बुलाई और उसे घर ले आया। वो नीमबेहोशी कि हालत में थी। कुछ खाने या पीने का उसका मन नहीं था। दवाई का नशा तारी था। रात भर हल्के-हल्के बडबड़ाती रही। मेरे लिए वो रात बेहद मुश्किल गुजरी।

सुबह जब मैं बाथरूम से बाहर आया तब उसकी तबीयत बहुत खराब थी। हिचकियाँ आ रही थीं और आँखें तढ़ी हुई थीं। चेहरे का रंग पीला पड़ा था। गले से उबकाई उभर रही थी। मैंने उसके सिर को सहारा देकर उठाया। उल्टी निकल गई। मुँह से काला टार निकलने लगा। जैसे पेट के अंदर से कोई मरा हुआ साँप बाहर आ रहा हो। इसने बहुत वक्त लिया, जब वो पूरी तरह निढाल हो गई तब जाकर कहीं ये रुका। मैंने टमाटर का सूप तैयार किया और चमच से उसे खिलाने की कोशिश की। लेकिन उसका मन बिल्कुल नहीं था। उसने नीमबेहोशी

की हालत में सिर के बालों को धुनना शुरू कर रखा था। मेरी तरफ कंघी बढ़ाकर उसने बालों को सुधार देने को आग्रह किया। बालों में कंघी चलानेभर की देर थी, गुच्छे झर-झर गिरने लगे। कुछ देर बाद उसके सिर पर एक भी बाल नहीं बचा था। सिर्फ एक नंगा मानवीय खोपड़ा था, जो अपने होने में डरा रहा था।

बिस्तर पर गिर गई। गहन तंद्रा थी। बेहोशी का आलम जैसा। और तो और पीड़ा की छटपटाहट से जैसे वो मुक्त हो गई हो। पिछली पूरी रात आँखों में गुजरी थी। मुझे भी नींद के झोंके आ रहे थे। सामने कुर्सी थी। उस पर गर्दन टिकाकर कमर सीधा करने की कोशिश की। चारो तरफ एक घुन्नापन पसरा हुआ था। डराने वाला चुप्पा शोर। कमरे की दीवारें ही नहीं खिड़की-दरवाज़ा सब उसमें गुम पड़े थे। खोये हुये। यही शून्य आज मेरी ज़िंदगी के सच का निर्माण करता था। अपने बारे में किस सीमा तक बात की जा सकती है। मुझे लगता है, मैं न्यूरोसिस का मरीज हो गया हूँ, और इसके लिए मेरे जीवन में आई उन घटनाओं का इतिहास है, जिन्हें वश में करने के लिए मैंने अपनी अधिकांश सामर्थ्य को झोंक दिया था, लेकिन उन्हें कब्जा सकने में कामयाब नहीं हुआ। वही सब जो मेरी सीमाओं से बाहर था, वही मुझे तोड़ता था। खुद को समझ पाने के मौकों से वंचित करता था। सेल्फ-ऑब्जर्वेशन की स्थितियाँ मुनासिब होती हैं, मुश्किल काम दूसरों का ऑब्जर्वेशन होता है, लेकिन यहाँ आत्मविचार और आत्म-विश्लेषण ज्यादा मुश्किल था। अनेक मुश्किलात सामने आती थीं। उनमें एक मुखर ये होती है, हम खुद को प्रायः सही मान रहे होते हैं। समझ आता है, बाकी संसार ने क्या किया और क्या न किया इससे क्या प्रभावित होना। अजनबियों के मिस-इंटरप्रेटेशन का क्या बुरा मानना, जब अपनी हर मुसीबत की जड़ खुद हम हैं।

खुले विचारों के लिए द्वार खोलना वैसा मुश्किल है, ज्यों गिरती बर्फ के वक्त घर की खिड़की खोलना। आदतन ऐसी प्रवृत्तियों के खिलाफ हिंसक अवरोध पैदा होता है। ये नए विचारों को सतह पर आने से रोकता है। यही विवेकबुद्धि पर कल्पना द्वारा लगाई गई सीमा है। कलाकार की कल्पना का यहीं पहुँचकर अंत हो जाता है। नतीजन हमारे सपने चुक जाते हैं। सपनों ने हमेशा मुझे सचेत बनाए रखा है, फिर भी वे मेरी समग्र वस्तुनिष्ठता का निर्माण कभी नहीं कर सके। ये सिर्फ जीवन की सामर्थ्य का निजी संघटक रहे हैं। इन्होंने मुझे भान कराया है, सांकेतिकता को विवेचित करना भले ही कठिन हो, मगर वही जरूरी था। उसके बगैर मेरे जीवन का अंत सुनिश्चित था। और अभी मैं जीना चाहता था। अब मरने से मुझे यद्यपि डर नहीं लगता था, लेकिन मैं मरना नहीं चाहता था। यही वो आग थी जो प्रीति की इस बीमारी के दौरान मुझे जिलाए रखी हुई थी। मैं उसके साथ कोई अन्याय नहीं करना चाहता था और न होने देने चाहता था।

सबसे पहले सौम्या और रमेश गुप्ता मिलने आए थे। ये ज़िंदगी का एक ऐसा सहारा था, जिसमें कुछ ठोस वास्तविकता या वस्तुनिष्ठता ढूँढना असंभव था। बस, एक पारदर्शी किस्म का सहारा था। इसकी ठोस वजह तलाश करना फिजूल था। और बड़ी बात ये कि बहुत लंबे समय तक चल सकने वाले इत्मीनान नहीं थे। आया और गया टाइप थे। सिर्फ एक मानसिक सकून था कि कोई है जो आपको पूछ रहा है। कोई है जिसको आपकी मानसिक फिक्र है। कोई है जो आपको जीवित देखकर खुश है और वो कोई आपकी हर तकलीफ से आपको मुक्त हुये देखना चाहता है। बस, यही। इससे ज्यादा कुछ नहीं। बीमारी का पूरा दर्द प्रीति को झेलना था और उसके सारे इत्तर परिणाम मुझे।

आगे बहुत से लोग आने और जाने लगे। आस-पड़ोस की एक औपचारिकता थी, जो लोगों को निभाने की मजबूरी रहती है। लोग ऐसा दिखावे के लिए ज्यादा करते हैं, असल में

तकलीफ में शामिल होने के लिए उतना नहीं। फिर भी वे आ रहे थे, तो उनकी उपस्थिति का मुझे स्वागत करना होता था। उनकी बातें सुनता रहता और उनकी संवेदनाओं के प्रति शुक्राना व्यक्त करता। सौम्या सुबह शाम खाना पहुँचाने लगी थी। कभी खुद ले आती और कभी रमेश गुप्ता। बीच में जब प्रीति की तकलीफ बढ़ जाती, मैं डॉक्टर को फोन कर देता। उसका स्टैंडर्ड जवाब होता था, 'भगवान का नाम लो। और जो उपचार दिया हैं, उसे देते रहो।' एक बार उसने खीजकर कहा था, 'कैंसर का इलाज़ पूरी दुनिया में सिर्फ कीमोथेरेपी है। चाहे शिमला में करवा लो या लंदन-न्यूयॉर्क में।'

उसके बाद मैंने फोन करना बंद कर दिया था। समय की एक खासियत है, वो अपना रास्ता खुद बना लेता है। एक रूटीन बन जाती है जिसमें हम तमाम मुश्किलात को उसके होने की हर संभावना में जीने लगते हैं। इसी तरीके से बीस दिन गुजर गए। शाम को करीब हर रोज सौम्या और रमेश आकर बैठने लगे। गुप्ताजी बोलते थे, सौम्या चुप रहती थी। उनके होने में अपनत्व का एहसास होता था, जबकि मालूम था कि ये कोई व्यापक आश्वासन नहीं है। एक अस्थाई राहत जैसा कुछ था। ये उसी रूटीन का हिस्सा हो गया था, जिसमें मैं जीने लगा था।

इन बीस दिनों की भारी तकलीफ के बीच एक रोज डाकिया आया था और दो खत पकड़ा गया था। पता नहीं भीतर क्या अजीब सा बल्कि डरावना सा एहसास उठा कि इन खतों का आना किसी अज्ञात अपशकुन का द्योतक है। एक पोस्ट कार्ड था और दूसरा बंद लिफाफा। दोनों में पते की लिखावट जैसे एक ही व्यक्ति की थी। और उस व्यक्ति को मैं कहीं दूर से सही, जानता था। पोस्टकार्ड पर पता मेरा लिखा हुआ था। बड़े साफ शब्दों में। मगर इसपर कुल जमा चार से अधिक शब्द अंकित नहीं थे। हाथ की लिखाई में दर्ज़ था— 'कुत्ते की मौत मरेगा।'

यही चार शब्द और बाकी कुछ नहीं। चिट्ठी की कोई औपचारिकता नहीं थी। किन्तु ऐसा कुछ मानना गलत लगा कि ये खत मुझे नहीं किसी और को लिखा गया है। पता एकदम सही था और बिल्कुल स्पष्ट अक्षरों में लिखा हुआ था।

सामने प्रीति कुनमुना रही थी। मैंने उससे पूछा, 'कुछ चाहिए।' उसने सिर हिलाया और फिर बुझे से स्वर में पूछा, 'कौन था?' मैंने जवाब दे दिया, 'डाकिया।' उसने मेरे चेहरे के भाव पढ़ना चाहे होंगे लेकिन मैं बूझ रहा था कि ये सपाट है। मैंने अनमने से जवाब दिया, 'लेखक के घर कितने खत आते रहते हैं।' पर लगा नहीं उसे कोई आश्वासन मिला हो, बल्कि उसके चेहरे पर एक असंतुष्टि का भाव बना रहा। मन में ख्याल उभरा कि क्या अभी तक वो अपने बेटे सिद्धार्थ के आने का इंतज़ार कर रही है? इसका जवाब पूछा नहीं जा सकता था, और जाना नहीं जा सकता था सिर्फ पढ़ा जा सकता था। मैं वही पढ़ रहा था, बल्कि पढ़ने की कोशिश कर रहा था। ये एक आजीवन कोशिश का आखिरी हिस्सा था, जिसमें कामयाब होना उतना जटिल था जितना हमारी ज़िंदगी में हमेशा रहा है। इसलिए यह कोशिश फिजूल थी।

'कुछ खाने को दूँ?' मैंने पूछा। उसने न में सिर हिला दिया। भोजन के प्रति ऐसा वैराग्य किसी व्यक्ति के भीतर कब पैदा होता है, इसका मेरे पास कोई जवाब नहीं था। इसपर अगर कोई उथला सा अनुभव था तो अपने पिता की मृत्यु का था जरूर, पर उसमें मेरी उतनी गूढ़ भागीदारी नहीं रही थी। वो घर मेरा नहीं था। मेरी सौतेली माँ और उसके तीन पुत्रों का था। उन्होंने मुझे ज्यादा इनवॉल्व होने नहीं दिया था। इसके अतिरिक्त मृत्यु को देखने का कोई दूसरा प्रत्यक्ष अनुभव नहीं था। मैंने अपने भीतर के साहस को बटोरा और दबे से शब्दों में कहने की कोशिश की ताकि इस वक्त में प्रीति को कोई मानसिक तकलीफ न पहुँचे, 'सिद्धार्थ

के आने का इंतज़ार कर रही हो?'

वो रोई तो नहीं लेकिन आँखों में शैवाल की हरियाली से सनी गहरी नमी उभर आई थी। हो सकता है, उसे साफ दिख भी न रहा हो। कोई जवाब नहीं आया, आगे मैंने कुछ कहना मुनासिब नहीं जाना। मुझे ठीक-ठीक मालूम नहीं था कि आखिर ये सिद्धार्थ के पास से क्यों लौट आई थी। बीमारी की हालत में अकेली। जब इसे सहारे की सबसे अधिक जरूरत थी। बीमारी की इस हालत में धर्मशाला से शिमला तक का दस घंटे का सफर बस में तय करना कितना पीड़ाजनक रहा होगा, इसका अंदाज़ भर मैं कर सकता हूँ। क्या सिद्धार्थ ने इतने बरसों बाद इसे वापस जाने को कह दिया होगा या ये खुद आ गई थी। और आने से पहले उन दोनों के बीच आखिर हुआ क्या होगा। ये ऐसे सवाल थे, जिनके उत्तर सिर्फ उन दोनों में से कोई एक दे सकता था। उसके भी दो वर्जन होते। दो विभिन्न पक्ष। हर व्यक्ति का सच अलग और अपना होता है। असल सच उन दोनों के बीच की अनेक परतों में कहीं दबा पड़ा होता होगा। अब इस समय में क्या पूछा जाता और क्या अनुमान लगाया जाता। सब व्यर्थ था। मृत्यु द्वार पर खड़ी ताक रही थी। वो ऐसा कुछ नहीं पूछने दे सकती थी।

जीवन की यही खासियत है। एक समय के बाद तमाम आकर्षण, मतभेद, तनाव, लड़ाइयाँ सभी कुछ फिजूल और निरर्थक हो जाते हैं। तब अचानक प्रीति के मुँह से निकलते कुछ शब्द सुनाई दिये, 'क्या किया? ये सब क्या हुआ? पता नहीं क्यों?' आवाज काफी असपष्ट थी पर मैं सुन पा रहा था। इसके बाद वो मेरी नजरों में अपनी सजल आँखें डालकर कुछ देर तक ताकती रही, फिर दोनों हाथों को जोड़ने की कोशिश की। लगा जैसे माफी जैसा कुछ माँग रही हो। मैंने उसके हाथों को पकड़ा और उन्हें अलग करते हुये सिर्फ ये कहा, 'प्रीति, जो गुजर गया वो वक्त भी हमारा था।'

'वो चिट्ठी दिखाओ,' उसने कहा।

'लेखक को आई चिट्ठी है,' मैंने जवाब दिया, 'क्या करोगी देखकर।'

उसने फिर वही शब्द दोहराए, 'वो चिट्ठी दिखाओ।'

अब हम एक ऐसे वक्त में थे जहाँ मैं उसके दिल को कोई दुःख नहीं देना चाहता था। उसको शांति से रहने देना चाहता था। उसकी हर इच्छा का सम्मान करना चाहता था। कुछ पलों के बाद मैंने पोस्टकार्ड उसके सामने कर दिया। उसने देखा, पढ़ा और आँखों से आँसू झरने लगे। मैंने उसके हाथ को अपने हाथ में लिया और दूसरे हाथ से हौले-हौले थपथपा दिया, 'रोने का कोई कारण नहीं है।' आगे कुछ न सूझ रहा था। खुद को समेटा, 'जरा सा गुस्सा है। खत्म हो जाएगा।'

उसने आँखें बंद कर ली थीं। मैंने पोस्टकार्ड को मेज़ पर सरका दिया। काफी देर तक वहीं अपलक बैठा रहा। लगा उसे नींद ने घेर रखा है। पर वो जाग रही थी, 'तुम्हारा क्या होगा?' उसने ये सवाल एक और बार पूछा था। मुझे नहीं मालूम जवाब देना कितना मुनासिब होगा। पिछली बार मैंने कोई जवाब नहीं दिया था। आज भी कोई आश्वस्ति सामने नहीं थी, जो निकालकर उसे पकड़ा देता। बोला, 'प्रीति, ये जीवन खुद अपनी राहें ढूँढ लेता है।'

बस इतना भर। इससे अधिक मेरे पास कुछ नहीं था। कोई आश्वासन नहीं। कोई प्रमाण नहीं। कोई तर्क नहीं। कोई आरोप नहीं। कोई इतिसिद्धम् नहीं। एक मौन था। वही मैं दे सकता था। वही मैंने दिया।

उसने आँखें बंद कर लीं।

मैंने लिफाफा खोला और उसके भीतर से कागज़ निकाला। आधे पन्ने का खत था।

अंग्रेज़ी में अंकित। कम्प्यूटर पर कम्पोज़ करके प्रिंट निकाला गया था। कार्ड पढ़ने के बाद मुझे ज्यादा धक्का लगने की संभावना नहीं थी, इस उम्मीद के साथ मैं इसे पढ़ने लगा। एक निरपेक्ष भाव से मानो अपने जीवन का आखिरी खत पढ़ रहा होऊँ, हालाँकि मन ही मन मैं जानता था कि जब तक मनुष्य के रूप में हम ज़िंदा हैं, आखिरी कुछ नहीं होता। सब एक नई शुरुआत होती है। उसका पहला वाक्य था : 'ईश्वर जिंदा है।' मैं तत्काल समझ गया, ये मेरे विचार पर चोट है। मगर मैंने खुद को ये सोचकर राहत दी कि अगर मुझे ईश्वर के अस्तित्व को न मानने की आज़ादी है तो सिद्धार्थ समेत किसी भी दूसरे व्यक्ति को उसी ईश्वर के होने को मानने से कैसे वंचित किया जा सकता है। कैंसर वार्ड के डॉक्टर तक को।

बहरहाल, मैंने चिट्ठी को पढ़ना शुरू किया।

मिस्टर शंकरलाल वशिष्ठ,

ईश्वर जिंदा है। ये मेरा ईश्वर है, जो मुझसे इस चिट्ठी को लिखवा रहा है। उसी से मुझे ताकत मिलती है। तुमने मेरी मम्मी के साथ जो किया उसकी माफी तुम्हें कभी नहीं मिलेगी। तुमने मुझे अपनी ज़िंदगी से निकाला था, अपनी संपत्ति से खारिज किया था, मेरे साथ सारे रिश्ते तोड़ डाले थे, तो आज सुनो, मैं तुम्हें अपनी ज़िंदगी से बर्खास्त करता हूँ। मेरा तुमसे कोई रिश्ता बाकी नहीं है। मेरे साथ कोई संपर्क करने की कोशिश मत करना। मुझे डर है, तुम अपनी उस रखैल 'एस' के साथ मिलकर मेरी मम्मी का मर्डर कर दोगे। पर इतना याद रखना, मैं तुम्हें नर्क में भी जीने नहीं दूँगा। मैं ऐसा सबक सिखाऊँगा, जो सात पुश्तें याद रखें। तुम्हारे जैसा घटिया आदमी बाप होने के काबिल नहीं है। तुमने मेरी ममी के साथ मज़े लिए। मैं बीच में फिजूल टपक पड़ा था। तुम्हें क्या पता है बाप का मतलब क्या होता है। तुम निकम्मे किस्म के आदमी हो। वैसे आदमी कहाँ हो। तुम राक्षस हो। ड्रेडिड डेमोन। मेरी ज़िंदगी में तुम्हारे दखल का जवाब मैं जरूर दूँगा। मेरा ईश्वर न्याय करेगा।

इसमें स्लैंग में लिखी अंग्रेज़ी गालियों का ठीक-ठीक अनुवाद मुमकिन नहीं हुआ। इसलिए उस सबको दर्ज़ करने से मैंने रोक लिया है। चिट्ठी के यही जरूरी अंश थे, जिनको छिपाने का कोई औचित्य नहीं है। इसके अंत में लिखा हुआ था—'रूंढ!' तो क्या अब ये कहना जरूरी है कि ये खत सिद्धार्थ ने लिखा था।

इन दोनों ऐतिहासिक चिट्ठियों को मैंने नष्ट नहीं किया। अपने कागजों के बीच सम्मान के साथ रख लिया। मन में तत्काल जो विचार आ रहा था वो सिर्फ इतना था कि ये मेरी मृत्यु के दो घोषणापत्र है। दोनों अलग-अलग भी हैं और आपस में अंतर्गुम्फित भी। जैसे ये दो व्यक्ति हों। इनको नष्ट कर डालना अपने पूरे जीवन की कमाई को कूड़े के ढेर में फेंकने जैसा होगा। ये मेरे लेखकीय जीवन की उपलब्धि जैसा कुछ था, जिसमें अन्यथा कोई उपलब्धि दर्ज नहीं है। और ये घोषणापत्र खुद मैंने नहीं सिद्धार्थ ने जारी किए थे।

किचन में जाकर मैंने कॉफी बनाई और प्रीति के पास आकर बैठ गया। एक बार उसने वापस आँखें खोलीं, मेरी तरफ अपना हाथ बढ़ाया।

इन्हीं हालात के बीच इक्कीसवें दिन को आना था। वो आया। एंबुलेंस बुलाने की जरूरत नहीं पड़ी। रमेश गुप्ता अपनी गाड़ी में छोड़ आया था। वापस लौटती बार उसने पूछा, 'क्या मैं आपके साथ रुक जाऊँ।' 'मेरे इंकार करने पर वो चला गया। सौम्या ने रुकने की जिद जरूर की थी लेकिन उससे भी मैंने यही कहा कि तुम यहाँ क्या करोगी, काहे अपने काम का हर्जा करना। वो भी चली गई। आज की कीमोथेरेपी के लिए कैंसर वार्ड नंबर दो का कमरा नंबर पाँच अलॉट हुआ था। प्रीति को सहारा देकर मैंने सीढ़ियाँ चढ़वाईं और बिस्तर पर लिटा

दिया। डॉक्टर खुद आया था। मैं उसके चेहरे के भावों को पढ़ने की कोशिश करता रहा, लेकिन कुछ हाथ नहीं लगा। इतना भर महसूस हुआ कि ये डॉक्टर पिछले कुछ बरसों से मुस्कुराया नहीं होगा। लेकिन आर-पार मुस्कुराने का कोई वातवरण था नहीं। इसलिए उसे दोषमुक्त किया जा सकता था। खुद मैं जब इस हस्पताल के भीतर कदम रख देता हूँ, उसके बाद कहाँ मुस्कुरा पाता हूँ। बल्कि ये वार्ड नंबर दो पहले के किसी भी दिन से अधिक काला था। रौशनी के नाम पर जो लट्टू लगा था उसमें से रौशनी कम और अँधेरा ज्यादा निकल रहा था।

जीवन में पहली बार मालूम हुआ था, बिजली के लट्टू से रौशनी नहीं अँधेरा निकलता है। इसने कमरे की दीवारों को भयानक रूप से काला कर रखा था। इस हस्पताल में इतना अँधेरा रखने की जरूरत क्या रही होगी, इसका कोई लॉजिक समझ नहीं आया। डॉक्टर ने अपना काम किया, जरूरी नालियाँ प्रीति की नसों में ठूँसी और नर्स को हिदायत देकर चला गया। मैंने अपनी तरफ से उससे बात नहीं की। हिम्मत नहीं हुई। चुपचाप आकर बिस्तर के पास रखे स्टूल पर आ बैठा और प्रीति के हाथ को अपने हाथों में ले लिया। रसायन उसके शरीर में जाने लगा था। लेकिन कुछ देर बाद मैंने महसूस किया कि जैसे जैसे रसायन भीतर जा रहा है, उसी क्रम में उसकी आँखें मुँदती जा रही हैं। भीतर का भय आज खत्म हो गया था, फिर भी सावधानीवश मैंने नर्स को आगाह किया। वो आई और नालियों की स्थिति की समीक्षा कर, तथा इधर-उधर कुछ देख-भालकर वापस से लौट गई। मुझे उस पर कोई खीझ या गुस्सा पैदा नहीं हुआ। इस अँधेरे में कोई व्यक्ति ऐसा ही बज्र बन सकता है। और इस बेचारी को तो रोज सुबह से शाम तक इसी में रहना होता है।

मुझे प्रीति को देखकर कुछ अजीब सी आशंका होने लगी थी, उसका चेहरा एकदम पीला पड़ता जा रहा था। हाथों में जैसे जान नहीं बची थी। एकदम ठंडे लग रहे थे। मैंने उसके साथ बोलना चाहा, लेकिन उसने आँखें बंद कर ली थीं। मैं एक बार फिर नर्स को बुलाने गया। उसने डॉक्टर से मिलने की सलाह दी। डॉक्टर अपने कमरे में मरीजों को देख रहा था। कुछ लोग गलियारे में भटक रहे थे। किसी को देखने की फुर्सत किसी के पास नहीं थी। दूसरों के पास क्या, ये फुर्सत मेरे पास भी नहीं थी। इतने सारे दुखी लोग वहाँ थे, कौन किसी की तकलीफ में शामिल होता। मैं वापस वार्ड में आ गया। प्रीति जैसे सो गई थी। और नालियों में रसायन की बूँद-बूँद टपकने की प्रक्रिया बंद हुई नजर आने लगे थी। मैंने उसकी कलाई अपने हाथ में ली। एकदम ठंडी पड़ चुकी थी। नथुनों के पास अपनी उँगलियाँ सटाईं, लगा जैसे साँस बंद हो चुकी है। टांगों में खड़े होने का दम रहा नहीं। स्टूल पर बैठ गया और प्रीति के बेजान हो चुके चेहरे पर नजर गड़ाए रखी। क्या एक जीवन का अंत हो चुका था? क्या जीवन का अंत ऐसे ही होता है?

इन सवालों के साथ जरा सी कँपकँपी छूट गई। सन्न सा बैठा रहा। निर्वाक्। जीवन की तमाम दौड़धूप का यही अंत होना था? जीवन की निरर्थकता के इतने सारे सवाल उमड़ने लगे कि पूरा एक जंगल दिमाग में उभर आया। लेकिन जल्दी होश आ गया कि इस शमशान वैराग्य से अब मुक्त होना होगा। एक झीनी सी आशा ने वापस थाम लिया था। क्या पता अभी उस शरीर में प्राण हों। मैं नर्स के पास गया। वो आई और प्रीति की कलाई को हाथ में लेकर अपना सिर हिलाकर बोली, 'डॉक्टर को बुला लाती हूँ।' और चली गई।

डॉक्टर आया। इधर-उधर का मुआयना किया फिर मेरी ओर देखकर बोला, 'शी'ज़ डेड!'

अच्छा लगा उसने ये नहीं कहा, 'भगवान का नाम लो।'

सामने प्रीति का बेजान बदन पड़ा हुआ था।

ये एक संसार का अंत था। ये ईश्वर के न होने का प्रमाण था। ये भगवान की भक्ति न करने का प्रचुर कारण था। डॉक्टर वापस गया। उसके पीछे नर्स। मैं विमूढ़ सा देखता रहा। जब वे आँखों से ओझल हो गए तब इधर नजर घुमाई। सामने दो अजनबी खड़े थे। उनमें से एक ने पूछा, 'क्या नहीं रहीं?'

अब इन सवालों का क्या अर्थ था? मैंने रमेश गुप्ता को फोन किया। उसके बाद सौम्या को। वे दोनों आधे घंटे बाद आ गए थे।

हरिद्वार मुझे अकेले जाना था, गया। अस्थि-विसर्जन करके गंगा के घाट से लौट रहा था। बाज़ार से गुजरते हुये, कंधे से कंधा छिल रहा था और मुझे भूख महसूस हो रही थी। होनी ही थी। पिछले तीन दिन कुछ खाये बगैर गुजरे थे।

हरिद्वार मस्त जगह है। जो व्यक्ति एक बार यहाँ नहीं आया, वो इसकी मस्ती से गुलज़ार नहीं हो सकता। खासकर मैंने अपनी स्मृतियों का जो हवन निपटाया, वो अद्भुत अनुभव था। इसकी मुझे गहन आंतरिक जरूरत थी। ये बेहद रोचक तरीके से सम्पन्न हुआ था। और जब चल निकला तो ऐसे निपटा, जैसे सचमुच संसार से पिछली तमाम यादों को दिमाग के की-बोर्ड का एक बटन दबाकर उड़ा दिया गया हो।

साठ साल के जीवन की एक-एक स्मृति को आहुति बनाकर एक पंडे के हवनकुंड की अग्नि में जलाकर लौटना मन में एक अविश्वसनीय किस्म की शांति भर रहा था। लेकिन ये काम जितना अच्छी तरह सम्पन्न हुआ, उतना ही तकलीफदेह तरीके से शुरू हुआ था। जब मैंने पंडे से कहा कि मुझे अपनी स्मृतियों का हवन करवाना है, पहले वो भौंचक्क सा मुझे देखता रह गया। ये उसके जीवन में पहली बार हो रहा होगा। या शायद समझ नहीं पाया मैं बोल क्या रहा हूँ। फिर निर्णायक जैसे लगते स्वर में बोला, 'हम धर्म से बँधे मनुष्य हैं। केवल धर्मसम्मत अस्थि विसर्जन करवाते हैं।'

मैंने उसे बताया कि स्मृतिविसर्जन एकदम धर्मसम्मत है। 'ये मेरा धर्म कहता है।'

वो अनमना सा मान गया। बोला, 'जब तक मैं हवन तैयार करूँ, आप अपनी स्मृतियों की पोटली निकालकर सामने रख लो।'

मैंने जवाब दिया, 'तुम शुरू करो। मैं अपने अंदर से निकालकर बारी-बारी आहुति देता रहूँगा।'

कुछ देर तक वह हैरानी से मुझे देखता रहा, बोला, 'ये नहीं हो सकता, हम केवल भौतिक चीजों का विसर्जन करवा सकते हैं।'

मैंने उसे वापस मनाया। अब की बार सबसे जरूरी चीज ने काम किया। जीवन के मूल में धन के महत्व पर अतिरिक्त बल नहीं डाला जा सकता। पूँजी को हम गरियाते हैं, लेकिन उसी का सबसे अधिक इस्तेमाल करते हैं। आज पूरी तरह समझ आ गया कि उसका प्रयोग बहुत उपयोगी कार्यशीलता है। मामला पाँच हजार पर तय हुआ और देखते ही देखते निपट गया। उसके हर 'स्वाहा' के उच्चारण पर मैं अपनी एक-एक स्मृति को सामने भड़क रही लपटों के हवाले करता रहा। ये लपटें शांत हुईं, तब मैंने एक अद्भुत आज़ादी का अनुभव किया। मुझे विश्वास हो गया, इस संसार में अब मैं स्वतंत्र हूँ। आज़ादी मनुष्य का आदि स्वप्न है, ये हर कोई बूझता है। मगर उसका होना हमसे हमेशा छिटकता है। आज मिली आज़ादी पर मैं पुलकित था। अब मैं सब कुछ भूल चुका हूँ। जीवन में ये मेरी पहली कामयाबी है। भविष्य में कोई मुझे मेरी पिछली ज़िंदगी से पहचान नहीं पाएगा। खुद मैं भी नहीं।

पत्नी की अस्थियों का विसर्जन मैंने इसके बाद किया था और फिर हरिद्वार के इस व्यस्त

बाज़ार में आया। दोनों दिशाओं में एक भीड़ दौड़ रही थी। पर मेरी भूख ललकार रही थी। आप चाहे जिस गम का शिकार हों, भूख आपको विचलित करेगी ही। उससे बचाव का एकमात्र जरिया सिर्फ रोटी है। बयान नहीं कर सकता, कितना अच्छा लगा जब बाज़ार के बाईं तरफ एक ढाबा दिखा। साइनबोर्ड लिखा था—होश्यारपुरी होटल। वहाँ जाकर खड़ा हो गया। इसके द्वार पर काफी लोग इस इंतज़ार में थे कि कब भीतर सीट खाली हो और वे जा संभालें। ये व्यग्र भीड़ मुझे कैंसर वार्ड की भीड़ की तरह मालूम पड़ने लगी थी। ऐसी हर भीड़ में हर किसी को सिर्फ इंतज़ार करने वाली लाइन दिखती है। कब उससे अगला आदमी निपटे और उसका नंबर आए। एक छोटे से काउंटर पर ग्राहकों को नंबर का कूपन दिया जा रहा था। मुझे उन्नीस नंबर का कूपन मिला और आधे घंटे के बाद एक लड़के ने मुझे बुलाकर एक मेज़ के सामने लाकर छोड़ दिया।

खाना आया और मैं उसपर टूट पड़ने के अंदाज़ में जा जुटा।

यहीं हादसा होना था। एक युवक ने मेरे सामने बैठकर कहा, 'मैंने आपको किडनेप कर लिया है।' कभी किसी बुरे सपने में भी नहीं सोचा जा सकता था, खाने के ऐसे सुहावने समय में कोई हादसा हो सकता है। मुझे लगा सामने मौजूद वो आदमी या तो पागल है या मज़ाक कर रहा है। हँसी आई। इसके अनेक कारण थे। गिनवाने लगूँगा, तो कथा भटकेगी। ज़िंदगी को अकेले-दुकेले गुजारने के जितने अनुभव मुझे थे, उनमें हरिद्वार का ये सर्वाधिक विकट था। पहले एक व्यक्ति के अवशेष अपने थैले में लिए जाना। हालाँकि मनुष्य ऐसे हर बीहड़ अनुभव से अंततः पार पा लेता है। दूसरा कोई विकल्प नहीं। इस पूरे दौरान भविष्य की फिक्र एक बार को नहीं हुई थी। ये एक मानसिक प्रक्रिया है और मैं इससे गुजर चुकने के बाद अब तक नॉर्मल हो चला था। खाना खाने में जुटना इस नॉर्मल होने का सबसे बड़ा प्रमाण था। फिर भला ये कथन कैसे सच लगता कि कोई मुझे अगवा कर लेगा। किडनैप। लेकिन जल्दी ही उस व्यक्ति ने इस पर विश्वास दिलवा दिया था।

वो एक मुश्टंडा किस्म का आदमी था। उम्र ज्यादा नहीं थी। यही कोई पच्चीसेक साल रही होगी। आया और सीधा मेरे सामने बैठ गया। पहले मैंने उसकी तरफ ध्यान नहीं दिया। किन्तु जब उसने अपने थैले में से एक तेजधार चाकू निकालकर सामने रख दिया तब मैंने उसका नोटिस लिया। वो मुस्कुरा रहा था, 'मुझे आपका खून करना है।' उसने कहा और बड़ी साधारण सी नजर से मुझे देखता रहा। मेरे मुँह में कौर था। मैंने उसे इत्मीनान से चबाया, यथासमय निगला और कुछ घूँट पानी पीने के बाद उसकी तरफ देखकर बोला, 'आपने क्या कहा आपको क्या करना है?' उसने चाकू पर से हाथ हटा लिया था और मुस्कुराता रहा, बोला, 'मर्डर! मुझे आपके मर्डर की सुपारी मिली है।'

'क्या मैंने ठीक सुना?' मैंने सवाल किया, 'आपने कहा कि आपको मेरा मर्डर करना है। यही?'

'हाँ यही,' उसने जवाब दिया, 'आपके बेटे ने मुझे आपके मर्डर की सुपारी दी है। एक लाख रुपया।'

'मेरे बेटे ने आपको मेरे मर्डर की एक लाख सुपारी दी है!' मैंने कहा, 'आप यही कह रहे हैं न। क्या आप बता सकते हैं मेरा बेटा कौन है?'

'सिद्धार्थ! उसी ने सुपारी दी है। क्या आप जानते हैं वो इन दिनों धर्मशाला में नौकरी करता है और दलाई लामा का अनुयायी बन गया है।'

'क्या दलाई लामा मनुष्यों की हत्या की इजाजत देता है?'

'ये मैं कुछ नहीं जानता, मैं अपने काम के सिवाय बाकी कुछ नहीं जानता।'

'फिर कीजिये अपना काम,' मैं बोला, 'पहले खाना निपटा लूँ या आप पहले अपना काम निपटाएंगे?'

'खाना निपटा लीजिये,' उसने कहा, 'मुझे कोई जल्दी नहीं है। अब आप मेरे कब्जे में हैं। मैंने आपको किडनेप कर लिया है। आप मेरे बंधक हैं।' उसने जरा सा रुककर आगे कहा, 'बल्कि मुझे भूख लगी है। मेरे वास्ते भी खाना मँगवा दो।'

मैंने बैरे को बुलाया और उसके लिए खाने का ऑर्डर दे दिया।

अब तक वो अपने उस चाकू को अपने झोले में समेट चुका था। बिना किसी हड़बड़ी के उसने खाना खाया और 'सारे खर्च आपका बेटा उठायेगा,' कहकर खाने का बिल चुका दिया। फारिग हो चुकने के बाद उसने मुझे अपने साथ चलने को कहा। मैंने कोई विरोध नहीं किया। इतना कहा, 'मैं अब आपके हवाले हूँ।'

असल में मुझे अब फुर्सत ही फुर्सत थी। वो जहाँ भी ले जाना चाहे ले जा सकता था। वो मुझे अपना बंधक बना चुका था और मुझे उसमें कोई आपत्ति नहीं थी। मैं अपनी मर्ज़ी से तैयार था। वो मेरी हत्या करना चाहता था और मैं अपनी हत्या से बचने का कोई उपाय करना नहीं चाहता था। मरना कोई नहीं चाहता, मैं भी ज़िंदा बना रहना चाहता था, लेकिन अब मामला खराब हो चुका था। मेरी ज़िंदगी उसके कब्जे में थी। अगर जीवित बने रहने का कोई उपाय करना चाहता तो क्या करता? इतने बड़े संसार में वो जहाँ चाहता मेरी हत्या को अंजाम दे सकता था।

'चलो,' उसने कहा और हम बाहर आकर भीड़भाड़ वाली सड़क पर चलने लगे।

रास्ते में ज्यादा बातचीत नहीं हुई। बीच में वो कुछ बोल देता और फिर खामोश होकर चलने लगता। मैं चुप चलता रहा। दिमाग में इतना जरूर था कि क्या सचमुच अब इस संसार को अलविदा कहने का वक्त आ गया है। लेकिन पता नहीं क्यों एक झीनी सी आशा थी, जो मुझे एक छिपा हुया ज्ञान दे रही थी कि इस आदमी के कहने भर से मैं मरने वाला नहीं हूँ। अभी मेरे पास ज़िंदगी के कुछ और दिन बाकी हैं और अगर नहीं होंगे तब मैं उन्हें कैसे छीन सकता हूँ। प्रीति का चेहरा सामने आ रहा था। उसने कब सोचा था, उसके मुँह से एक दाँत उखाड़ने में ही उसके मृत्यु लिख डाली गई थी। मौत जब आनी होगी उसे कौन रोक पाएगा। मुझे ये पूरी दुनिया एक ऐसे कैंसर वार्ड की तरह दिखाई देने लगी जहाँ से किसी का वापस लौटना मुमकिन नहीं है। फिर भला मेरी क्या बिसात थी। मैं उसी कैंसर वार्ड के अंदर था।

चलते-चलते उस युवक से मैंने पूछा, 'आपने ये पेशा कब से अख्तियार किया है?'

वो चौंककर मेरी तरफ देखा, 'कौन सा पेशा?'

मैं हैरान हुआ, क्या ये आदमी इतना नासमझ है कि मेरा सवाल न समझ पाया हो। फिर जैसे उसे समझ आ गया, बोला, 'होटल में चलकर बताता हूँ।'

हम बाज़ार लाँघकर शहर के एक किनारे की तरफ आ गए। कई गलियाँ लाँघकर हम उस इलाके में आए जो होटलों का इलाका जान पड़ रहा था। सड़क के किनारों पर बहुत सारे लोग लोहे की कुंडियों में भाँग-बादाम का मिश्रित घोटा तैयार कर रहे थे। इनके हाथ की डंडियों में घुँघरू बंधे थे। बिलकुल वैसी आवाज़ें आ रही थीं, मानो हल खींचते बैलों के गले में घंटियाँ बंधी हों। आर-पार कुछ ठेले वाले दिख रहे थे। दुकानें और ढाबे खुले थे। बहुत सारे होटल पंक्तिबद्ध थे। वो मुझे एक होटल में ले गया। कमरा उसने पहले से बुक कर रखा

था। काउंटर से चाबी लेकर मुझे उसमें ले आया। भीतर पहुँचकर उसने मुझे बैठ जाने को कहा, 'अब अपनी पूरी इंट्रोडक्शन दे दो।'

'क्या करोगे जानकार?' मैंने कहा, 'तुम मेरे बारे में जितना जानते हो, मर्डर करने के लिए वही काफी है।'

पर उसने जिद्द की तो मैंने संक्षेप में इतना बताया कि मैं अपनी स्मृतियों का हवन करके आ रहा हूँ। उसने किसी आश्चर्य इत्यादि का भाव प्रकट करने के स्थान पर मुस्कुराते हुये कहा, 'श्रीकृष्ण ने सही कहा था, 'तू उसके लिए शोक करना छोड़ दे जो तेरे शोक के योग्य नहीं हैं।'

'तुमने खुद सुना था,' मैंने चुहल की, 'श्रीकृष्ण को ऐसा बोलते हुये। उसने तत्काल जवाब दिया, 'वे किसी स्मृति के वाहक नहीं थे, लड़ने का निश्चयकर खड़ा होने का उपदेश दे रहे थे। ऐसे में किसी के सुनने या न सुनने का क्या अर्थ रह जाता है।'

युवक रोचक है, पहली बार को मुझे ऐसा लगा। ये आदमी किसी की हत्या कैसे कर सकता है। खाना खाती बार उसने अपना नाम प्रीत बताया था। अब बोला, 'मुझे आप प्रीत ही पुकारें। वैसे मेरा असल नाम मंगल सिंह है।'

ये नाम सुनकर पल भर को मेरा वज़ूद कँपकँपा गया। पता नहीं क्यों। हाँ, कहीं न कहीं यह नाम मुझे डरावना लगा, लेकिन मैं सँभल गया। वो शायद भाँप गया था।

बोला, 'कोई बात नहीं। मेरा नाम ही ऐसा है। पहली नज़र में सब डर जाते हैं। वैसे कागजों में अभी तक यही है। मैंने इसे बदलने की कभी नहीं सोची।'

मैंने सिर्फ इतना कहा, 'तुम्हारी कहानी काफी दिलचस्प है।'

'हो सकता है, हो,' उसने जवाब दिया, 'पर मुझे ऐसा नहीं लगता।' कुछ देर तक वो खामोश बना रहा फिर हौले से मुस्कुरा दिया, 'वैसे आपका नाम बड़ा अजीब है। शंकर। ऐसा लगता है, जैसे आप कैलाश पर्वत पर रहते हों। किन्तु देखिये मेरा नाम आपसे ज्यादा खराब है, मंगल सिंह। प्रीत मेरी माँ का दिया हुआ नाम है। माँ को मंगल सिंह नाम पसंद नहीं था। ये मेरे पिता ने रखा था। अब वे दोनों इस संसार में नहीं हैं। इसलिए दोनों के नाम साथ लेकर चलता हूँ। कभी सोचता हूँ बदल डालूँ। या दोनों को जोड़ दूँ। प्रीत मंगल सिंह रख लूँ या मंगल सिंह प्रीत। फिर लगता है क्या फर्क पड़ता है। मैं उन दोनों की इच्छा पूरी नहीं कर पाया। पिता सरदार थे। बिशन सिंह। वे लुधियाणा के पास साहनेवाल के थे। धर्मेन्द्र के गाँव के। कलकत्ता में एक मारवाड़ी लाला के यहाँ ट्रक ड्राइवर थे। वे चाहते थे, उनका बेटा बड़ा होकर डाकू बने। दुनिया में मौजूद सब बुरी आत्माओं का सफाया कर डाले, जिनमें वो लाला भी शामिल हो, जो उन्हें बहुत कम पैसों के बदले ज़िंदगी भर जोतता रहा था। उस जैसे सब हरामियों का लूटा हुआ माल लूटकर गरीब मज़लूमों में बाँट दे। शायद किसी फिल्म में उन्होंने देखा होगा। माँ बंगाली थीं। वे चाहती थीं, उनका बेटा बड़ा होकर दुनिया का सबसे प्यारा इंसान बने। सबसे खूब प्यार करे। कभी चींटी तक को मारने की न सोचे।'

मैंने दखल दिया, 'ये सब बकवास है। तुम मेरा कत्ल करने वाले हो।'

'हाँ,' उसने कहा, 'उसके अलग कारण हैं। असल में आपका कत्ल मैं नहीं आपका बेटा करवाना चाहता है। अगर मैं नहीं करूँगा तब वो किसी दूसरे तीसरे आदमी से ये काम अंजाम दिलवा देगा।'

'क्या इस पर भी श्रीकृष्ण ने कुछ कहा है?'

वो मुस्कुराया, 'उन्होंने एक जरूरी बात कही है, कष्ट भोगने वाले अनेक मनुष्यों में केवल कुछ ही ऐसे हैं, जो सचमुच जानना चाहते है कि वे क्या हैं और आपके जैसी विषम परिस्थिति

में क्यों डाल दिये गए हैं। और शायद वे ये कहना भूल गए कि मनुष्य को अपने कष्टों के बारे में जिज्ञासा क्यों नहीं होती। या हो सकता है कहा हो, पर मुझे नहीं याद है।'

उसकी बातें आधी रात तक चलती रहीं। रात अपने तय सफर में गुजरती गई। वो बोलता रहा था और मैं सुनता। बीच में मुझे नींद के झोंके आए, किन्तु उसकी बातों में जैसे एक सम्मोहन था, जो मुझे सुनते रहने पर मजबूर कर रहा था। मैंने उसकी किसी बात का खंडन पेश नहीं किया और न उसने एक बार को मुझसे पूछा कि क्या उसके इस अस्तित्ववादी किस्म के एकालाप से मैं सहमत हूँ या नहीं। कहीं न कहीं ये विचार भीतर पसरा था, मैं इस आदमी का बंधक हूँ। इसीलिए वो हर तरफ से निश्चिंत हुआ बोलता रहा था।

जब आँखों में नींद भर गई, तब मैंने कहा, 'प्रीत बाबू, रात का दूसरा पहर शुरू हो चुका है और मैं अब सोना चाहता हूँ। लेकिन मरने से पहले कुछ बातें मैं तुम्हारे हितलाभ के लिए और अपने लाभ के लिए स्पष्ट करना चाहता हूँ। किसी किस्म के अस्तित्ववाद, भगवानवाद, अलौकिकता, पारलौकिकता जैसी किस चीज में मेरा कोई विश्वास नहीं है। बल्कि इससे आगे किसी धर्मग्रंथ, किसी धर्म और उन सबकी किसी मान्यता में आजीवन, कभी एक बार को भी, मेरे भीतर रत्तीभर विश्वास नहीं जगा है। मेरी पत्नी से मेरे मतभेदों का यह एक कारण हो सकता है। और अब मैं अपनी उम्र के जिस पड़ाव पर हूँ, उसके बाद, यानी आज की इस रात ऐसा कुछ होने वाला नहीं है, जो मुझे किसी दूसरी दिशा में ले जाये। इसलिए जब तुम मेरा कत्ल करना चाहो कर सकते हो। नींद में भी। वैसे अच्छा यह होगा कि तुम मुझे जब मारो तब मैं जगा रहा होऊँ और पूरी तरह सचेत देखूँ, मेरी मौत मेरे सामने खड़ी है। मैं अपनी मृत्यु को अपनी नंगी आँख से देखना चाहता हूँ। उसकी आँख में आँख डालकर कहना चाहता हूँ, हे मौत! तेरी सबसे बड़ी नाकामयाबी यही है कि तू मुझे डरा नहीं सकी। देख मैं कितना बेखौफ होकर मर रहा हूँ।'

वह कुछ नहीं बोला। मुझे देखता रहा। एक अपरिचित मौन में।

इस मौन ने कमरे में कोई अज्ञात डर पहरे पर बैठा रखा था। मैंने उसे बेरहमी से चीर दिया, 'एक जरूरी बात और—तुम्हारे व्यक्तित्व ने मुझे प्रभावित किया है।'

'ये कर्मयोग की माया है।' उसने न दिख सकने जैसी कुछ बात कही और बिस्तर पर पसरते हुये बोला, 'आप आदमी भले हैं, लेकिन...' अचानक बात अधूरी छोड़कर उसने चुप्पी ओढ़ ली।

मैंने उससे आगे कुछ पूछने की जरूरत नहीं जानी। सिर्फ ये कहा कि अब मैं सो जाना चाहता हूँ और अगर रात को तुम्हें मेरा खून करने की इच्छा हो, जगा देना। और करवट बदलकर सो गया। घनी नींद आई। बहुत सारे सपने आज की नींद में भी आए मगर सिर्फ एक याद रहा। मैं आसमान की तरफ उड़ता जा रहा हूँ, उपर और उपर...मैं एक जगह पर रुकना नहीं चाहता। उड़ते जाना चाहता हूँ। किसी के पास नहीं, किसी के साथ नहीं, सिर्फ अपनी रौ में उड़ते रहना चाहता हूँ। हर नींद में हम ऐसे ही जाग रहे होते हैं। बस, तब हमारा संसार बदल चुका होता है। हम उस अलग संसार में होते हैं, जहाँ एक अलग जीवन हमें अपनी गोद में खेला रहा होता है। वो क्षणिक है, मगर है जरूर। बस जागते ही हम उससे बाहर निकल आते हैं। मैं जब नींद से बाहर आया तब सुबह के नौ बज चुके थे। मैं जिंदा था। इसका मतलब था, अभी मेरी हत्या नहीं हुई थी। इस ख्याल के बाद मैंने प्रीत को ढूँढ़ा। वो कमरे में नहीं था। शायद बाथरूम में हो। लेकिन कुछ देर के बाद वह बाहर से आया और फर्श पर बैठ गया।

'शंकर लाल जी!' पहली बार उसने मुझे मेरे नाम से पुकारा था, 'मुझे लग रहा है, आपके

अंदर कुछ बातें बाकी हैं। आप चाहें उन्हें मेरे साथ शेयर कर सकते हैं। वैसे अभी तक जो मैं समझ पाया हूँ उससे यही लगता है, आप कुछ शेयर करोगे नहीं। पर मैं इतना जरूर कहूँगा, आपको संकोच करने की जरूरत नहीं है। आप बेबाक होकर बोल सकते हो।'

मुझे समझ नहीं आ रहा था, मेरी ज़िंदगी की निजी बातें जानकार ये आदमी क्या करेगा। ज्यादा समय तक हम साथ नहीं हैं। फिर ये क्यों आग्रह कर रहा है। जबकि मैं नहीं जान पाया यह कौन है और न वो जान पाया मैं कौन हूँ। सिवाय इसके कि मैं सिद्धार्थ नाम के एक आदमी का बाप हूँ और बक़ौल इसके उसने मुझे मार डालने की सुपारी दी है। हम दो अलग संसारों के जीव हैं। कहीं कोई साम्य नहीं। हमें अपने-अपने काम निपटाने हैं। कोई दोस्ती नहीं करनी। पर पता नहीं क्या था, मेरे मन में एक छिपी हुई आत्मीयता पनप गई थी। उसकी बातें मुझे अच्छी लगने लगी थीं। लेकिन कुछ शेयर करने का मतलब क्या था।

'मुझे कुछ नहीं कहना है,' मैंने जवाब दिया, 'तुम अपना काम निपटाओ और जाओ।'

उसने आगे कोई आग्रह नहीं किया, किन्तु जैसे एक सम्मोहन था, जिसने मेरा मुँह खुलवा दिया। अजनबी सही, कोई मेरी बात सुन रहा है। अब मुझे लौट जाना होगा। उससे अकेले मैं कुछ बातें दर्ज़ कर जाना ठीक रहेगा। उस घर में जहाँ मैंने प्रीति के साथ एक संसार बसाया था, उसके बारे में। जहाँ सिद्धार्थ की परवरिश हुई थी, उसके बारे में। मैंने उसे बताया, ज़िंदगी भर मैं कमाता रहा और उस फ्लैट को अनेक चीजों से भरता रहा। आज मुझे वे सब गैर जरूरी लग रही हैं। उन्हें संभालने वाला वहाँ कोई नहीं होगा। वो भी नहीं जिसको हम अपने जीवन की धुरी मानते रहे थे। तुम ठीक समझे। मैं सिद्धार्थ की बात कर रहा हूँ। अब रिश्ते चाहे किसी दूर की हद तक खराब हो चुके हों, लेकिन इस तथ्य से कैसे इंकार किया जाये कि वो हमारा इकलौता बेटा है। कारण चाहे जो रहे हों, उसे मुझसे अपार घृणा है। उसने मुझसे कहा था, भगवान साक्षी रहेगा कि तेरे मरने के बाद तेरी कपालक्रिया करने वाला कोई नहीं होगा। तुम्हें उसने यम का दूत बनाकर भेजा। मैं अपनी जान बक्श देने की एवज में तुम्हें एक लाख से ज्यादा की रकम ऑफर कर सकता था। मगर मैंने वो नहीं किया। तुम पूछ सकते हो क्यों?

उसने पूछ लिया, क्यों?

'प्रीत बाबू, क्योंकि मैं उधार की ज़िंदगी जीने का कतई समर्थक नहीं हूँ। साठ साल जी चुकने के बाद रिश्वत देकर अपनी जिंदगी की भीख माँगने से क्या मर जाना बेहतर नहीं है।'

वो चुप रहा। मुझे लगा, मैं अपनी बात पूरी कर चुका हूँ, पर फिर जैसे कुछ बाकी याद आ गया।

तुम जानते हो, सिद्धार्थ अपनी माँ की मृत्यु पर नहीं आया। मुझे इसका कोई दुःख नहीं है। मेरे दुःख का मतलब क्या है। हर व्यक्ति अपने संसारिक कर्म के लिए खुद जिम्मेदार है। संसार को देखने की उसकी अपनी नजर है। उसे बदला जाना न जरूरी है और न मुमकिन है। ज़िंदगी में एक बिन्दु आता है, जब चीजें अपना वेग भूल जाती हैं और अपनी गति रोक लेती हैं। वो किसी गहरे कुएँ की सतह पर तैर रहे मिट्टी के एक घड़े के आकंठ भर जाने का समय है। इसके बाद कहने के लिए ज्यादा कुछ बचता नहीं है। मैं किसी किस्म का स्पष्टीकरण नहीं देना चाहता। हाँ, कुछ अच्छी चीजें उस घर में हैं। मेरी किताबें। वे मेरे लिए अच्छी हैं। बाकियों की मैं क्या बात करूँ। वैसे प्रीति के लिए वे बुरी तो नहीं थीं, लेकिन बहुत अच्छी रही हों ये मैं नहीं कह सकता। बस थीं। इससे अधिक कुछ नहीं। मैंने बड़े जतन के साथ उन्हें अपने सीमित साधनों से वक्त दर वक्त इकट्ठा किया है। लेकिन उन्हें पढ़ पाने और उन्हें सहेजने की मेरी पूरी शारीरिक और मानसिक ताकत अब खत्म हो चुकी है। बाकी तुम जान

चुके हो, अपने जीवन की स्मृतियों की पूरी यात्रा को मैं राख़ कर चुका हूँ। अब मैं एक शून्य में हूँ, बल्कि मैं खुद एक शून्य हूँ। मेरी ज़िंदगी पर मेरे कत्ल का कोई असर नहीं होगा। तुम मुझे मार सकते हो। हाँ, उसके बाद अगर तुम्हें मौका मिले तब मेरी किताबों को उठाकर किसी सार्वजनिक पुस्तकालय में दे देना। ये मुझ पर बहुत बड़ा उपकार होगा। मेरे कत्ल का प्रतिदान होगा। मुझे मरने के बाद शांति मिलेगी।

इसके आगे प्रीत ने जिज्ञासा भरा कोई सवाल नहीं पूछा। कुछ पलों तक चुप रहा। सीधे मेरी नजरों में ताकता हुआ। हौले से बोला, 'शंकरलाल जी, आप आत्मदया में जी रहे हैं।' और एक अंतराल लेकर आगे, 'समय आपसे कर्म करने की माँग कर रहा है।' फिर पूछा, 'आप क्या खाना चाहोगे?'

नाश्ते का वक्त था। मैंने कहा, 'अगर ये मेरे जीवन का आखिरी खाना है, तो जाओ और मीठी सेवइयाँ बनवाकर ले आओ।'

'मीठी? शाम को आप इंसुलिन का इंजेक्शन ले रहे थे?'

'हाँ,' मैंने जवाब दिया, 'मुझे डाइबिटीज़ है। लेकिन मरने से ठीक पहले मैं ढेर सारा मीठा खाना चाहता हूँ।'

वो बोलने लगा और मैं उसे बोलते देखने और सुनने लगा, उसकी आवाज़ और उसके शब्दों से ज्यादा उसकी शैली को लक्ष्य किया। उसमें मुझे कुछ खास दिख रहा था। हालांकि ये खास क्या था, समझ नहीं आया। 'शंकर लाल जी, मेरी हर समझ से ये परे है कि कैलाश पर्वत के निवासी शंकर की तरह आपने हमेशा विषपान क्यों किया है। वक्त पर उसका प्रतिकार क्यों नहीं किया। आप इतना नहीं समझते, आपके कंठ में जो विष है वो सिर्फ आपका नुकसान नहीं कर रहा है। वो इस दुनिया के कई मूल्यों का हनन कर रहा है।'

वो उठकर अपने बैग की तरफ बढ़ा, 'अभी भी वक्त है।' उसने बैग में से वो पैना छुरा, एक सुपारी और नोटों की एक गड्डी निकालकर तिपाई पर धर दी, 'ये रहा वो सामान जिसे लेकर मैं हरिद्वार आया था। शिमला से ही मैं आपका पीछा कर रहा था। मैं रास्ते में आपको मार सकता था पर मैंने आपको अपनी पत्नी का अंतिम संस्कार करने देना जरूरी जाना। अब ये सब आपकी अमानत है। अभी यही कोई पंद्रह मिनट पहले सिद्धार्थ से मैंने कह दिया है कि अगर तुम्हारे बाप को कुछ हुआ तो तुम जिंदा नहीं रह पाओगे। मेरा काम पूरा हुआ। ये सारा सामान मैं आपको सौंप रहा हूँ। अब आप मुक्त हैं। आपको बंधक बनाने का मुझे अफसोस है। इसके लिए आप मुझे माफ कर सकते हैं और अपनी राह जा सकते हैं।'

'इस सबका मैं क्या करूँगा?'

उसने कोई जवाब नहीं दिया। उठा और कमरे से बाहर चला गया। वह किधर गया मुझे नहीं मालूम।

उस रात एक डरावना सपना आया। मैं कैंसर वार्ड के एक बिस्तर पर लेटा हुआ था। नसों में बहुत सारी नालियाँ ठुँसी थीं। भयावह दर्द हो रहा था। उसके बीच मैं अपनी स्मृतियों को टटोलने की भरसक कोशिश कर रहा था, मगर याद आ गया कि मैं उनका तर्पण कर चुका हूँ।

तभी माशा आए, मुस्कुराए और बोले, 'क्यों शंकर लाल, क्या मिल गई वो वजह जो तुम्हें जिंदा रखे हुये है?'

संपर्क : 2544, सेक्टर-27सी, चंडीगढ़-160019 (पंजाब), मो. : 9780147830

पाँच कविताएँ और दो कहानियाँ

कुमार अंबुज

पिता के लिए समर्पित

डिमेंशिया

एक दिन चीजें, नाम, चेहरे, क्रियाएँ
और सुपरिचितताएँ गड्डमड्ड होने लगती हैं
तुम स्मृति का पीछा करते हो लगातार
जैसे छलाँगे मारते हुए हरिण का
और हाँफते हुए समझने की कोशिश करते हो
कि विस्मृति ही अभिशाप है
और यही है अंतिम वरदान

कुछ याद करना चाहते हो तो एक छाया सी दिखती है
जो गायब हो जाती है किसी दूसरी परछाई में
इस अनुभव के आगे सारे दुःख फीके हैं और बीत चुके हैं
दूर खड़े तुम उनकी तरफ देखकर मुसकरा सकते हो
चेहरों से नाम याद नहीं आते, न नाम से चेहरे
यही असहायता है, शेष रह गई है इतनी ही ताकत

ईर्ष्याएँ याद नहीं, क्रोध के सूर्य अस्ताचल हुए
प्रेम के चंद्रमा डूब गए, वासनाएँ जारी हैं
जाने कैसे बची रह गई है स्पर्श की आदिम स्मृति
किसी को न पहचानने से अब कोई अपमानित नहीं होता

अगर पहचान लो तो वह अप्रतिम खुशी से भर जाता है

कोरी हो चली स्लेट पर लिखी जा रही हैं नई इबारतें
पुराने सबक भूले जा चुके हैं
नये याद नहीं रह पाते।

प्रवासी पक्षी

हर आदमी के पास अपना एक जर्जर जहाज होता है
जिस पर वह वापस लौटता है बार-बार

वह जहाज अगर सचमुच नहीं भी है उसके जीवन में
तो फिर वह होता है उसके स्वप्न में, किसी पेंटिंग;
किसी कविता में, इच्छाओं में, मरीचिका में;
स्मृति के आँचल में

वह हर गुजरते मौसम में एक अकेली बैंच पर
या किसी पुराने पेड़ के नीचे बैठकर करता है इंतजार
सोचता हैः पेड़ की छाया भी यात्री-प्रतीक्षालय होती है

आसमान में बादल का एक सफेद फाहा
उसे अपने जहाज की तरह तैरता दिखाई पड़ता है।

उत्तरार्द्ध

बार-बार टूटती नींद
सुबह छह सवा-छह तक पूरी तरह टूट जाती है,
तब तक इस घर में किसी का सवेरा नहीं होता,
शरीर का कौन-सा हिस्सा है वह टटोलकर देखता है
जहाँ से दर्द न उठता हो
सुबह की चाय बनाते हुए उसके हाथ काँपते हैं
उसे याद आता है पिता के हाथ इसी तरह जूझते थे

फिर वह पार्क में हँसने का व्यायाम करता है
हालाँकि इससे तबीयत में रत्ती भर भी फर्क नहीं पड़ता
यों वक्त गुजारने के लिए उसके पास अनंत स्मृतियाँ हैं
लेकिन उनकी रीलें घिस चुकी हैं
अब हर फ्रेम के दृश्यों में, पात्रों के चेहरों पर
धुंध और बारिश की धारियाँ गिरती हैं

मौका पाकर वह बचपन के दोस्त को फोन करता हैः
''अस्पताल से परसों छुट्टी हो गई है,
अब कुछ बेहतर हूँ, मैं इतनी जल्दी मरनेवाला नहीं''
अपनी आवाज में अजीब-सी चमक और हड़बड़ी से
वह खुद भी देर तक चकित रहता है

और सोचता है इस तरह अपने आप को आश्वस्त
करते रहने से अधिक नारकीय और क्या हो सकता है
वह दोस्त से मिलना चाहता है मगर लाचार है
दोस्त भी समझता है उसकी मुश्किल
यही समझ इकलौती दोस्ती को
दूरियों के भूगोल में जीवित बनाये रखती है

रोजमर्रा में विन्यस्त अपमान और अन्यमनस्कता के बीच
अपने अकेलेपन के छज्जे पर अखबार पढ़ने का अभिनय
करते हुए वह खुद से पूछता है कि आखिर यह सब
कितना लंबा चलेगा, अभी तो यह दिन की शुरुआत है
अंतिम छोर पर आएगी एक लंबी पूरी रात
जिसे इस उत्तर-जीवन की ही तरह
कभी टाला नहीं जा सकता।

एक सर्द शाम
अकेले रह जाना कोई चुनाव या इच्छा नहीं
बस, आप अकेले हो जाते हैं
जैसे किसी नियति की तरह
दरसअल समाज ही ऐसा हो जाता है
जो पेश आने लगा है नियति की तरह

गुरुत्वाकर्षण है सुनसान के इस विवर में
और आप खिंचते चले जाते हैं किसी ब्लैक-होल में
यह कुछ इस तरह होता है कि अंदाजा नहीं लग पाता
एक दिन आप इस कदर अकेले रह जाएँगे

संग-साथ की सीमाएँ होती हैं, अकेलेपन की नहीं
अकेलापन अंतरिक्ष की तरह एक विशाल खोखल
जिसमें हैं अनगिन सितारे
मगर सब एक-दूसरे से लाखों मील दूर

किसी और की रोशनी में चमकते
या अपने ही अँधेरे के ज्वालामुखियों में गुड्डुप

यह एकांत नहीं है, अकेलापन है।

अकेलापन

यह साधारण मौसम नहीं है
इस पर हरे-बैंगनी चकत्ते हैं

जैसे पुराने, उपेक्षित, बिना मँजे हुए पीतल
या ताँबे के बर्तन पर हो ही जाते हैं।

तीन स्मृतियाँ, एक चुनौती
दुनिया से गायब हो गए दोस्त की तस्वीर देखकर
सोचना एक पीली, छोटी-सी गेंद के बारे में

पुरानी डायरी में लिखी सूक्तियों को पढ़ना
जिन्होंने तुम्हें वह नहीं होने दिया जो तुम हो सकते थे

उस पुराने कस्बे में पहुँचना और समझना
कि अब गुड़हल के फूल वहाँ भी नहीं खिलते हैं

पीछे पलटकर देखना और पत्थर नहीं हो जाना।

स्मृति का जीवन

कई शहरों के कई मकानों में रहा
जो घर न बन सके लेकिन स्मृति में हैं
जिस मकान में रहता हूँ अभी
लगता है वह भी मेरी स्मृति में ही कहीं है

अनेक परिजन जिनके साथ गुजारा जीवन
स्मृति में हैं कुछ इस तरह
कि अभी रहता हूँ जिन चार लोगों के संग
तो लगता है उनके साथ नहीं
उनकी स्मृति के साथ रहता हूँ।

1. पंचतंत्र

नौकरी करने, परिवार में रहने और प्रेम करने में अपमान होता ही है। दरअसल पूरे जीवन से ही अपमान का संबंध है।

अपमान ही सच्ची आजीविका है। बिना अपमान के आप समाज में जीवित नहीं रह सकते। आप अपमान सहते हैं, इसके बदले ही आपको जीवन जीने का अवसर मिलता है। दिनचर्या में मौका आने पर आप भी अपमान करते हैं। इससे अपमान रूपी जीवन या जीवन रूपी अपमान का एक चक्र पूरा होता है। अपमान करना, सहना, एक विद्या है। इसे सीखकर या बिना सीखे भी जीना पड़ता है। फर्क यह है कि जो इस विद्या को जान लेता है तो वह कुछ संतोष के साथ मर सकता है। लेकिन मरते समय हर एक को लगता यही है कि उसने अपमान किया कम, सहा ज्यादा।

बहरहाल, यह सब सोचते हुए, जानते हुए भी मैंने बॉस से कहा—''सर, मैं यहाँ काम करने आता हूँ, गाली खाने नहीं। काम करूँगा लेकिन अपमान नहीं सहूँगा।'' प्रेमिल उत्तर मिला—''अपमान कार्य-संस्कृति का अनिवार्य हिस्सा है।'' बॉस स्पष्टवादिता के लिए प्रशिक्षित हैं। जबसे नौकरी की सुरक्षा खत्म हो गई है, उन्हें और अधिक स्पष्टवादी होने का निर्देश और साहस, बाकायदा परिपत्र भेजकर दिया गया है।

मैंने इस बारे में बाहर अपने आत्मीय दोस्त से और घर में पत्नी से में बात की। दोस्त ने हँसते हुए बताया कि अपमान के भरोसे ही उसका जीवन कट रहा है। यह कोई चिंताजनक बात नहीं है। पत्नी ने कहा कि बरसों से वह अपमान के बदले ही रोटी-कपड़ा-मकान और बिस्तर की सुविधा ले रही है।

लेकिन मेरी तृष्णा और व्यग्रता शांत नहीं हुई। इसलिए शाम को दूसरे मोहल्ले में रह रहे पिता के पास जाकर बैठा। घुमा-फिराकर यह घटना बतायी और अपमान-सिद्धांत पर अपनी बात रखी।

उन्होंने पिता की तरह अक्खड़ और खड़ा जवाब दिया—''इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं। यदि अपमान नहीं सह सकते तो रोटी नहीं खा सकते। यह मानव-सभ्यता का इतिहास है। यही मनुष्य की जैविकता का रहस्य है। तुम हर महीने मुझे बारह हजार रुपये देते हो। यानी मैं चार सौ रुपये रोज के हिसाब से अपमान की खुराक पर जीवित हूँ। तुम मेरे पास आते हो और नियमित बद्तमीजी करते हो। और जिस दिन नहीं आते हो तो सिर्फ यह बताने के लिए कि उतनी ही राशि में, ज्यादा अपमानित भी किया जा सकता है।''

गहरी साँस लेकर फिर बोले—''तुम ध्यान दोगे तो देखोगे कि मनुष्यों के संसार की हर क्रिया में अपमान की क्रिया शामिल है। घरों में, गलियों में, चौराहों पर, सभाओं में, सदनों में टेलिविजन पर, सिनेमा में, भाषणों में, किताबों में, उपदेशों में उन सबके लिए अपमान भरा पड़ा है जो स्वतंत्राताकामी और न्यायपूर्ण जीवन चाहते हैं। मनुष्य होने की इच्छा मात्रा से अपमान की पात्रता हो जाती है। तुम मुझे एक भी महत्वपूर्ण क्रिया, कोई ऐसा सक्रिय महान वाक्य निकालकर दिखाओ जिससे किसी का अपमान न होता हो। हर शब्द में यदि एक के लिए सम्मान है तो उसी में दूसरे का अपमान छिपा हुआ है। बल्कि उजागर है। चमकता हुआ।''

मैं सोच में पड़ गया। लज्जित भी हुआ होऊँ शायद।

उन्होंने आखिर बात समाप्त करते हुए कहा—

''जो अधिक अपमान कर सकता है, उससे उसकी ताकत का पता चलता है। मेरा अनुभव है कि बीमार बुढ़ापा सर्वाधिक निर्बल होता है इसलिए सर्वाधिक अपमान सहता है। हर कोई

इसलिए भी शक्तिशाली होना चाहता है ताकि वह कम अपमान सहे और ज्यादा अपमान कर सके। परिवार मे, जीवन में या समाज में सत्ता पाने की कोशिश दरअसल व्यवस्थित, आधिकारिक और कानून-सम्मत अपमान कर सकने की आकांक्षा है। सारा धर्म, विज्ञान और राजनीति इसी में जुटे हैं कि कम से कम व्यय में, अधिकतम लोगों का, अधिकतम अपमान, अधिकतम आसानी से किया जा सके। और अपमान करने, सहने को इतना नैतिक बनाया जा सके कि किसी को अपराध-बोध न हो। आगे नयी विधियों के साथ अपमान होगा। तकनीक भी मनुष्य को तरह-तरह से अपमानित करेगी। मानव-सभ्यता का यही भविष्य है।''

पिता से बात करके मेरी जिज्ञासा काफी हद तक शांत हो गई। सच ही कहा है कि बुजुर्गों के पास पर्याप्त अनुभव और व्यावहारिक ज्ञान होता है। अब मैं अधिक इत्मीनान से नौकरी कर पा रहा हूँ। बॉस से झगड़ा खत्म हो गया है। मेरे आधिपत्य में काम करनेवाले कर्मचारी भी अब एकदम सतर्कता से काम करते हैं। वे जान चुके हैं कि अब मैं भी निडर होकर, पर्याप्त अपमान कर सकता हूँ। कंपनी की उत्पादन क्षमता के लिए मेरी गिनती उपयोगी लोगों में होने लगी है। नौकरी से निकाले जाने का खतरा पूरी तरह तो नहीं लेकिन काफी कुछ खत्म हो गया है। पत्नी, बच्चे भी मजे में जी रहे हैं। मैं समझ गया हूँ कि कई बार चीजों के हल बहुत आसान होते हैं। हम व्यर्थ ही उन्हें जटिल बनाते हैं।

पिछले महीने मुझे रुकी हुई वेतनवृद्धियाँ मिलीं। मैं बहुत खुश था। मैंने पिता को बताया कि अब मैं आपको अठारह हजार रुपये हर महीने दे सकता हूँ।

पिता ने मेरी तरफ कुछ अजीब ढंग से देखा और कहा—''नहीं। मेरे लिए बारह काफी हैं। मैं पुराना आदमी हूँ। मेरी जरूरतें कम हैं। इतने में ही गुजारे की आदत पड़ गई है।''

फिर अनावश्यक ही स्पष्ट करते हुए बोले—''ज्यादा अपमान में मेरे लिए ज्यादा मुश्किल होगी। ''

2. स्वर्ण-कमल

जब माँ नहीं रहीं तो उनकी सिंदूरी पेटी खँगाली गई, यानी टीन की वह संदूक जिस पर सिंदूरी रंग का वार्निश हमेशा बना रहा। तमाम फालतू चीजों के बीच उसमें से एक कमल का फूल निकला। पीले-से रंग की धातु का कमल। जो पीतल का इसलिए नहीं था क्योंकि उस पर वैसे दाग़ नहीं थे जो लंबे समय तक रखे हुए पीतल पर पड़ जाते हैं। बल्कि एक सौम्य, स्निग्ध चमक थी। हाथ में लेने पर लगा कि कुल बारह पंखुड़ियों के उस कमल का वज़न करीब पाव भर रहा होगा। माँ बताती थीं कि सिंदूरी पेटी में उनके बचपन की कुछ चीज़ें हैं, जिनका आज की दुनिया में कोई मतलब नहीं और वे किसी को बताना भी नहीं चाहती थीं कि वे चीज़ें आखिर क्या हैं। तो यह कमल का फूल मेरे नाना के घर से आया होगा। कैसे, यह बताना तो अब असंभव है।

कमल का फूल बहुत कलात्मक और सुंदर था। पंखुरियाँ न तो बहुत मोटी थीं और न एकदम पतली। मोटाई इतनी कि हाथ फेरने पर उँगली नहीं कट सकती थी। और वे आसानी से मुड़ भी नहीं सकती थीं। पंखुरियाँ बहुत आकर्षक कटाव लिए हुए थीं। उसकी बनक देखकर मुझे लगा, हो सकता है उसकी उम्र सौ साल से अधिक हो। पत्नी ने देखते ही कहा कि यह सोने का है। सोने का ही है, उसने जोर दिया। फिर लगातार वाक्यों में असीम अफसोस और गुस्सा प्रकट किया, जिसका सार यह था : 'इतनी ग़रीबी के बावजूद माँ ने सोने के कमल

के बारे में परिवार को कुछ नहीं बताया। यहाँ तक कि अपनी उस प्यारी बड़ी बहू को भी नहीं, जिसने अंतिम समय तक सेवा में कोई कमी नहीं रखी। ओह! सबका जीवन घर में सोने के पाव भर कमल के फूल के बावजूद विपन्नता में बीतता रहा।' फिर कुछ साँय-साँय और अंततः संतोष की साँस सुनाई दी कि चलो, अब यह हाथ आ गया है। रात में पत्नी ने मुदित होकर कहा—'कमल के फूल पर लक्ष्मी विराजती हैं। मानकर चलो कि हमारे घर में साक्षात् लक्ष्मी प्रकट हुई हैं।'

आगे जैसा कि होना था उस कमल को लेकर मैं अपने एक परिचित सुनार की दुकान पर गया। उसने मुसकराकर मेरा स्वागत किया। मटमैले से झोले में से निकालकर स्वर्ण-कमल को मैंने उसके सामने रखा : 'इसकी कीमत क्या मिलेगी।' उसने हाथ में लेकर, घुमा-फिराकर देखा, फिर कुछ घिसा और संजीदगी से बोला कि यह सोने का नहीं है। मैं एकदम सदमे में आनेवाला व्यक्ति नहीं हूँ लेकिन निश्चित ही मुझे कुछ धक्का लगा। मैंने सँभलते हुए कहाः

'जरा ध्यान से देखो, जाँचो।'

'जाँच के बाद ही कह रहा हूँ भाई साहब।' वह किंचित हास के साथ बोला—

'तो फिर यह किस धातु का है।'

'पीतल का हो सकता है।'

'लेकिन इतने सालों बाद इस पर वैसे चकत्ते नहीं हैं, जो पुराने पीतल पर आ जाते हैं।'

'मुमकिन है इसमें कुछ दूसरी धातुएँ मिलाई गई हों'

'तब यह भी तो मुमकिन है कि इसमें कुछ सोना मिलाया गया हो'

'नहीं, लगता तो नहीं कि इसमें सोना मिला हो। कुछ ताँबा वगैरह जरूर होगा।'

'लेकिन लगता तो स्वर्ण का ही है।'

'कुछ सोना कल्पना में भी होता है, हो सकता है वही मिलाया गया है।' उसने शायद खीझकर कहा। (हो सकता है कि सोने को स्वर्ण कहने पर भी वह कुछ झल्ला गया हो।)

'फिर मैं इसका क्या करूँ, कहाँ बेच दूँ।'

'भाई, आप इसे किसी बर्तन की दुकान पर ले जाएँ।' फिर वह दूसरे ग्राहकों की तरफ मुड़ गया।

लेकिन मैं आपको बताना चाहता हूँ कि मैंने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। उसे लेकर मैं अनेक स्वर्णकारों, ज्वेलर्स की दुकानों पर गया। सबने कहा इसमें सोना नहीं है। चाँदी भी नहीं। लेकिन कोई भी इस बात का जवाब नहीं दे पाया कि जब इसमें सोना नहीं है तो यह इतनी पीत-आभा कहाँ से आई। इसमें चाँदी भी नहीं है तो इतनी चाँदनी-भरी स्निग्धता कैसे है। बर्तनों की दुकान पर गया, पीतल का व्यापार करनेवाले थोक-व्यापारी के पास भी गया, उन्होंने कहा कि हम लिखकर देने तैयार हैं कि यह पीतल नहीं है। आपको संतोष न हो तो कहीं और दिखवा लो, शायद सोना निकल आए। मेरे दिन-रात उलझ गए। कई महीनों तक मैं अपना कोई दूसरा काम नहीं कर पाया। पत्नी को साथ लेकर कई दुकानों पर गया ताकि उसको भी विश्वास रहे। उसके सामने उन स्वर्ण-पारखियों ने कहा कि बहन जी, यह सोना नहीं है, अन्यथा हम खरीद न लेते। एक बुजुर्ग दुकानदार ने तो उसे बेटी कहकर, पीठ पर हाथ फेरने की कोशिश करते हुए भी समझाया, भरोसा दिलाया। कहा कि हम तो यहाँ बैठे ही इसलिए हैं कि सोना लाओ या ले जाओ। हमारा फायदा केवल बेचने में नहीं, खरीदने में भी है। दो पैसे मिलेंगे तो क्यों न लपककर खरीदेंगे।

उदास हम घर लौट आते। फिर अकसर हम उसे रोशनी में, बॉलकनी की धूप में, चाँदनी

में, सीएफएल के प्रकाश में, हर तरह से घुमा फिराकर, हाथ में लेकर पास लाकर, फिर दूर रखकर देखते, हमें वह सोने का ही प्रतीत होता। अँधेरे में या दस वॉट के बल्ब में भी वह हमें कम से कम तेईस कैरेट का स्वर्ण ही प्रतीत होता। ऐसा नहीं है कि हमने कभी सोना न देखा हो। जनाब, लॉकेट-मंगलसूत्र है घर में, दो अँगूठियाँ हैं। विवाह में मिला पत्नी का एक बेंदा है और दो ग्राम का एक सिक्का भी है जो होण्डा की मोटर साइकिल के साथ मिला था।

बहरहाल, जोखिम की कीमत पर भी मैंने अपने तीन-चार दोस्तों को वह कमल दिखाया। देखते ही सबने कहा, यह तो सोने का है। फिर मैंने पूरी रामकथा सुनाई। उन्होंने सुनकर कुछ सुझाव तत्काल दिए। एक ने कहा कि तुम इसे पुरातत्व विभाग ले जाओ। वे लोग इसे खुशी से लेंगे, सही कीमत भी देंगे। सरकारी गति से पैसा मिलेगा लेकिन पक्का मिलेगा। थोड़ा-बहुत कमीशन भी देना पड़े तो देना। लेकिन खतरा यह हो सकता है कि उनमें कुछ अधिकारी घाघ होते हैं। वे पूछ सकते हैं कि यह इतनी पुरानी चीज आई कहाँ से। क्या सरकार को इसकी सूचना दी गई थी। यह सिंदूरी पेटी और अम्माँ की कहानी वहाँ नहीं चलेगी। वे लोग सीधे एफ आई आर भी कर सकते हैं। तब आप सिद्ध कीजिए अपना स्वामित्व और यह मामाजी-नानाजी वगैरह वाली वंशानुगत अर्जित संपत्ति।

दूसरे ने कहा कि नहीं, तुम इसे एंटीक का व्यवसाय करनेवालों के पास ले जाओ या स्मगलिंग करने वालों के पास। वे सही कीमत देंगे और झिकझिक नहीं करेंगे। स्मगलर हैं तो क्या हुआ, कला के पारखी तो हैं। फिर हँसकर कहा कि तुम देख सकते हो कि कला के क्षेत्र में जितने रईस हैं, ज्यादातर वे सब आखिर क्या हैं। लेकिन हमें उनके गुण देखना है, अवगुण तो सभी में होते हैं। बस, यह ध्यान रखना कि कोई सामान बेचने आता है तो वे दो लाख रुपये के एंटीक की कीमत, दो हजार से शुरू करते हैं। बिल्कुल कबाड़ियों की तरह। उनमें से भी कुछ लोग पुलिस के करीबी होते हैं, सुना है कि जो उन्हें उनकी मनचाही कीमत पर अपना एंटीक का सामान नहीं देता उसे वे धमकियाँ भी देते हैं। घर में चोरी तक करवा सकते हैं।

तीसरे दोस्त ने और अधिक उलझन भरी बात कही कि यह फूल त्रेता युग का प्रतीत होता है। उस युग में नानाप्रकार की खोजें हो चुकी थीं। यह भारत देश सोने की चिड़िया था। तरह-तरह की धातुएँ बन गई थीं। मेण्डलीव की तालिका में उतनी नहीं हैं। उस स्वर्णकाल की धातुओं को इधर के ज्वेलर्स नहीं पहचान सकते। बहरहाल, इससे यह भी तय हो जाता है कि कमल दरअसल भारतीय मूल का ही पुष्प है। सबसे अच्छा यह होगा कि तुम इसे 'भारतीय सांस्कृतिक संघ' के पास ले जाओ। वे बहुत जानकार, आस्थावान और श्रद्धालु लोग हैं। एकदम इसे ले लेंगे। मगर हो सकता है पैसे कम दें। या न भी दें। धर्म और राष्ट्र के नाम पर तुमसे माँग लेंगे। कम से कम तुम्हें धर्म और देश सेवा का लाभ एक साथ मिल जाएगा। लेकिन दूसरा कोई टंटा-फसाद नहीं होगा।

मैं डर गया और मुझे लगा कि यदि ये मजाक भी कर रहे हैं तो बहुत बुरे मजाक हैं। यों भी मैं और मेरी पत्नी बहुत सीधे-सादे लोग हैं, राजनीति, संस्कृति वगैरह के पचड़े से दूर रहते हैं। अन्यथा उस दिन उस बुजुर्ग सोनी की दुकान पर ही न झगड़ पड़ते जिसने मेरी पत्नी की पीठ पर लगभग हाथ घुमा ही दिया था। खैर। मैंने उन दोस्तों से कहा कि भाई, जाहिर है कि तुम लोग ज्यादा समझदार हो, व्यावहारिक हो, जान-पहचानवाले हो, तुम मेरा यह काम कर दो। लेकिन वे सब कन्नी काट गए। एक ने बाद में कहा कि यार, हमको लगा कि कहीं यह चोरी का हुआ तो बेकार ही फँस जाएँगें।

अब यह स्वर्ण-कमल यहाँ घर में पड़ा है। पत्नी ड्राइंग-रूम में नहीं रखने देती। वह भी

दोस्तों की बातें सुनकर डर गई है और नहीं चाहती कि हर कोई आने-जानेवाला इसके बारे में उत्सुकता, जिज्ञासा बताये या पूछताछ करे। लेकिन कहती यह है कि घर में बहुत धूल आती है, इसकी पंखुरियों में घुस जाएगी। और इतनी सफाई वह चीजों की कर नहीं सकती। दरअसल, सबसे ज्यादा डर उसे घर का झाड़ू-पोंछा करनेवाली बाई का है जो, उसके और पूरी कॉलोनी के अनुसार, चोरी में बहुत माहिर है। कई घरों से चीजें उठाकर ले जा चुकी है। पलक झपकते ही ब्लाऊज में रख लेती है। तलाशी भी नहीं ले सकते। हालाँकि, मैं अभी तक यह नहीं समझ पाया कि इतना बड़ा कमल, जो दो-ढाई सौ ग्राम का होगा, वह ब्लाऊज में आखिर छिपा कैसे सकती है। मेरी दिलचस्पी बनी हुई है लेकिन चुप हूँ। पत्नी से इस बारे में ज्यादा बात करने से गृहस्थी में नयी मुश्किलें पैदा हो सकती हैं।

पत्नी ने स्वर्ण-कमल को वापस उसी सिंदूरी पेटी में पटक दिया है। उसने साफ तौर पर मुझे समझा दिया है कि इस फूल के बारे में मैं अपने भाइयों और बहनों को बिलकुल न बताऊँ। वह इसमें कोई पारिवारिक विवाद या कहें कि हिस्सेदारी नहीं चाहती। उसे विश्वास है कि एक न एक दिन कोई ईमानदार और पारखी स्वर्णकार मिलेगा जो इसकी सही कीमत देगा। अभी का जमाना तो ऐसा है कि अपराधी को अपराधी, केसरिया रंग को केसरिया, बबूल को बबूल और सोने की चीज को भी लोग सोना नहीं कहते। हाँ, यह शुद्ध पीतल का होता तो जरूर ही सोना बताकर इसे ठिकाने लगाया जा सकता था। यही कलियुग है।

सच्चा कलजुग।

इधर स्वर्ण-कमल के बावजूद घर में विपन्नता बनी हुई है। जिसमें अब खिन्नता का समावेश भी हो चुका है।

संपर्क : फ्लैट नं.-10, तीसरी मंजिल, गुलमोहर बिल्डिंग, ग्रीन मैडोज़ कॉलोनी, अरेरा हिल्स, भोपाल-462011 (म.प्र.)
मो. 9424474678

छह कविताएँ

कविता कादंबरी

कविता कादंबरी कविताएँ पहले से लिखती रही हैं, परंतु उनको प्रकाशित करने को लेकर कभी उत्साहित नहीं रहीं। हाल-फिलहाल उनकी कविताएँ प्रकाशित होना शुरू हुई हैं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय और बी.एच.यू. से अध्ययन और शोध करने के बाद दक्षिण बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय में शिक्षाशास्त्र का अध्यापन कर रही है। 'नया वरक़' में पढ़िए कविता की कुछ कविताएँ :

तुमसे प्रेम करते हुए

मैं तुमसे प्रेम करती हूँ
मैं उन सभी स्त्रियों से प्रेम करती हूँ
जिनकी किताबों में तुम्हारे प्रेम पत्र मिले
जिनके लिए तुमने प्रेम कविताएँ लिखीं
जिनकी देह में तुमने अपनी देह के गीत बोए
जिनकी गोद में सिर रखकर सुकून से सोए
और जिनके सीने में मुँह छुपाकर बिलख बिलख रोये

स्त्रियाँ जिन्होंने हर नई अँखुवाई पौध के लिए
तुम्हारे ही नाम के सदके लिए
स्त्रियाँ जिन्होंने नदी, झरने, पहाड़, दूब, धूप और अपनी बकरियों से तुम्हारी बातें की
मैं उन स्त्रियों के जूड़ो के लिए चाँद को चूमने वाले पलाश खोजती हूँ
मैं उनकी वेणी के लिए गूँथती हूँ इंद्रधनुषी गजरे
मैं उनके पूरे दिनों में उनके पाँवों को सेंक देने के लिए गर्म पानी का परात लिए

बैठी हूँ
उनके पैरों पर उकेरना चाहती हूँ दुनिया के सबसे सुंदर और कोमल फूल
चुनती हूँ उनके लिए सबसे अच्छे टिकोरे
उनके दिठौने के लिए पारती हूँ सबसे रेशमी काजल
और काँटों भरे रास्तों पर उनके पाँवों के नीचे रखना चाहती हूँ अपनी हथेलियाँ

ऐसे वीभत्स समय में कि जब दुःख इंसान के अस्तित्व को खड़े-खड़े निगल जाए
उन्होंने तुम्हें बचाकर रखा पूरा का पूरा
इंसानी अस्तित्व की महान गरिमा के साथ

ऐसे बंजर समय में कि जब देवताओं के अमृत कलश भी सूख गए
उन्होंने तुम्हारी मिठास सलामत रखी
ऐसे समय में कि जब बच्चे अपनी उम्र से पहले बूढ़े हो रहे थे
उन्होंने सलामत रखा तुम्हारा बचपना

मैं उन सभी स्त्रियों से प्रेम करती हूँ
जिनसे तुम प्रेम करते हो
या जो तुमसे प्रेम करती हैं।

हम गुनहगार और बेशर्म औरतें

हम गुनाहगार और बेशर्म औरतें
थाम कर बैठ सकती हैं हाथ
उन सभी अपरिचित पुरुषों के
जिनके हृदय हो रहे हैं विदीर्ण
अपनी स्त्रियों की प्रसव वेदना की
कातर चीख सुनकर

हम गुनहगार और बेशर्म औरतें
चूम सकती हैं माथे
उन सभी अपरिचित पुरुषों के
न्याय के लिए लड़ते हुए
जो हार रहे हैं हौसला

हम गुनहगार और बेशर्म औरतें
अपनी गोद में रख सकती हैं सिर
उन सभी अपरिचित पुरुषों के
खोई है जिसने अपनी माएँ

अभी-अभी

हम गुनहगार और बेशर्म औरतें
रख सकती हैं ओठों के फाहे
उन सभी अपरिचित पुरुषों की आँखों पर
जिनकी प्रेमिकाओं को कटवा दिया है
खाप पंचायतों ने रात-बिरात

हम गुनहगार और बेशर्म औरतें
बिता सकती हैं रात
थामे हुए मशालें
उन सभी अपरिचित पुरुषों के साथ
उठा ले गया है बाघ जिनकी बकरियों को

हम गुनाहगार और बेशर्म औरतें
उठा सकती हैं हँसिया
उन सभी अपरिचित पुरुषों के लिए
जिनकी नज़रों के सामने ही
जला दी गईं हैं उनकी फसलें और छानें

हम गुनाहगार और बेशर्म औरतें
पोछ सकती हैं पसीना
उन सभी अपरिचित पुरुषों के माथों से
जिनके दोनों हाथ लिथड़े हैं कीच काछने में

हम गुनहगार और बेशर्म औरतें
खोल सकती हैं अपनी साड़ियाँ
गहरे कुओं में ढीलने को बाल्टियाँ
कि प्यास से मर न जाये कोई अपरिचित मुसाफिर

हम गुनहगार और बेशर्म औरतें
दे सकती हैं अपने देह की ओट
उन सभी अपरिचित पुरुषों को
विक्षिप्त भीड़ के आतंक से जो काँपते छुप रहे हैं

हम गुनहगार और बेशर्म औरतें
नहीं खोजती परिचय
पिता, भाई, प्रेमी, पति या सखा का
बस पहचानती है खून और खून बहती उँगलियाँ

और दुपट्टे का कोर फाड़कर बाँध देती हैं पट्टी

हम गुनाहगार और बेशर्म औरतें
मुड़कर नहीं देखती
पीठ पीछे उठ रही उन्हीं उँगलियों को
नहीं साफ करती खून के धब्बे अपनी देह और कपड़ों से
लग रहे अभियोगों पर
नहीं देती कोई सफाई
बस मुस्कुराती हैं

हम गुनाहगार और बेशर्म औरतें।

मेरी दुनिया है कि गोल ही नहीं होती

घर से निकलते वक्त
पिता के अँगोछे में नींद बाँध आई
माँ के आँचल की कोर में सब आलस
भाई की बटुए में सब गुस्सा छुपा आई
और सखी की मुट्ठी में सब ठहाके

अँजुरी का चावल भी वहीं गिरा आई कहीं
कि उस दहलीज़ से निकली हूँ तो
अब तक सफ़र में हूँ
कि नहीं मिलता इक अन्न का दाना
बिन मोल
नहीं मिलती कोई छत

नमक, मिर्च और ज़ुबान के संतुलन के बदले
हर रोज़ वही रैन बसेरा कमाती हूँ दिहाड़ी पर
कि पल भर पीठ टिका सकूँ

एक करवट लेटती हूँ तो
चारपाई के बाएँ पाए कि मिट्टी नाखूनों से कुरेदती हूँ

कि दबा सकूँ
छमाही बुखार
उभरा फफोला
उँगलियों के घाव

पाँव की चोट
और कमर की असह्य पीड़ा

क्यों?
क्योंकि जानती हूँ
कि बीमार मज़दूर हरामख़ोर कहे जाते हैं
और एक दिन नींद से जागती हूँ
तो देखती हूँ–
चारपाई का तर बाध, तर है जस का तस
और एक भीषण जंगल
जिसके वृक्षों की दानवी कनोपियाँ आसमान की ओर मुँह किये
धूप की धूप निगल रही हैं
कि ये दृश्य बड़ा भयानक है

मैं कलाइयाँ टटोल रही हूँ
न जाने कितने साल बीते
और कितने बीतेंगे
अँधेरे में तो बीतते दिन का भी हिसाब लगाना मुश्किल है

बिन फूलों का बरसाती जंगल
जिसका दलदल लपलपा रहा है जीभ
कि जिसके लिजलिजे साँप मुँह में समाए जाते हैं

मैं दम भर चीख रही हूँ
मगर आवाज़ रुँध जाती है
मैं दम भर दौड़ रही हूँ
मगर रास्ता खो जाता है
नाक की सीध में दौड़ते हुए
मैं लौट जाना चाहती हूँ वहीं
जहाँ से पहली बार चली थी
मगर
मेरी दुनिया है कि गोल ही नहीं होती।

अग्निपाखी

प्रेम के ईंधन से भरी
तुम्हारे शरीर की स्याह दहकती भट्टी
तुम्हारी साँसों की गर्म धौकनी से

काजल जैसी रात पिघल कर मेरे शरीर पर टपकती है
और लिपट जाती है रेशमी चादर की तरह
अचकचाया चाँद गिरता है और तुम्हारे घुँघराले काले बालों में खो जाता है
और भौचक 'सिरियस' तुम्हारी आँखों में चक्कर खाकर डूब जाता है
परित्यक्त कमज़ोर दुःखी तारे तुम्हारी पलकों पर आश्रय पाते हैं
और मंत्रमुग्ध मैं
तुम्हारी प्रखर आग को चूमकर राख हो जाती हूँ
हर रात की यही कहानी है
हर रात मैं मरती हूँ
तुम्हें प्रेम करते हुए
और हर सुबह उठती हूँ अपनी राख से
ज्यों उठता है अग्निपाखी।

भेड़ियों से लड़ते हुए

जब हम देह से लहू और माथे से पसीने पोछते हुए लौट रही होती हैं
जब हमें लगने लगता है कि सभी भेड़िये खदेड़े जा चुके हैं
इंसानी आबादी से बहुत दूर
ठीक तभी भेड़ियों का एक विशाल झुंड
हाहाकार करते हुए बढ़ता है
सभी दिशाओं से

सबके दाँतों में अनगिनत स्तनों के लोथड़े फँसे हैं
मुँह में कच्चे दूध की महक
और जुबान पर खून का स्वाद लगा है

थकान और हताशा को कंधों से उतारकर
खूनी पंजों से लड़ते हुए
अनगिनत बार लहूलुहान हो जाती है देह
वस्त्र अनगिनत बार नोचे जाते हैं
और अनगिनत बार होता है बलात्कार
चरित्रहीनता जंग लगी कील की तरह अनगिनत बार
ठोक दी जाती है हमारे माथों पर

जब हम भेड़ियों के हमलों से निपट रहे होते हैं, ठीक उसी वक़्त
कुछ भेड़िये बाँचने लगते हैं धर्मग्रंथ
कुछ हमारे खिलाफ संस्कृति की दुहाई देने लगते हैं
कुछ अपने यौनांगों पर हाथ फिराते हुए

शील और शुचिता का तराजू लेकर बैठ जाते हैं
और कुछ लकड़बग्घा हँसी हँसते हुए उघाड़ देते हैं अपनी जाँघें

और हम हैं कि नुचे वस्त्रों और खुले वक्ष लिए
आँखें और ध्वजा उठाकर चलती हैं

हम बलात्कार से घायल देह और विश्वास लिए
सिर उठाकर आत्मसम्मान के गीत गाती हैं

हम वैश्या की गाली पर शर्मिंदा होने के बजाय
एक बड़ा ठहाका लगाती हैं
और बजबजाती परिभाषाओं पर थूक देती हैं

हम जानते-जानते जान गईं हैं कि
प्रेम और संघर्ष से बड़ा कोई चरित्र नहीं है

हम जान गईं हैं
कि हमारी लड़ाई लंबी तो है
मगर अंतहीन नहीं

कि एक दिन हमारी आँखों की आग
धू-धू कर जला देगी धर्मग्रंथों के सभी काले पन्नों को
हमारे अटूट विश्वास के आगे टूट जाएँगे
आदमखोर हाथों के शील और शुचिता के असंतुलित तराजू
और भेड़िया होना इंसानी बस्ती और मुहावरों से हो जाएगा बाहर।

एक सभ्य आदमी

धरती के सीने पर खेलता हुआ
भरता है पेट
और दाँतों से काट खाता है उसका कलेजा

पहाड़ों की पीठ पर सवार होकर
उनकी रीढ़ पर गिनती सीखता है
और पीठ में गिन-गिन कर करता है वार

जंगल की छाँव में सुस्ताता है तो
छाँव को नापता है

उसको नंगा कर देता है
और उठा ले जाता है शहर

नदी की धार में पानी पीने उतरता है तो
उसकी धार में गाँठ लगा
फँदा मार उसकी गर्दन में डाल देता है

अपनी सभ्यता पर खींसे निपोरता है तो
दाँतों में मांस के लोथड़े दिखते हैं
डकार मारता है तो सड़ांध से भर जाता है शहर
उसकी आँतें सड़ रही हैं
लेकिन उसकी भूख है
जो खत्म ही नहीं होती।

संपर्क : शिक्षाशास्त्र विभाग, दक्षिण बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय, पंचानपुर रोड, ग्राम-करहरा, पो.-फतेहपुर रोड, गया-824236 (बिहार), मो. : 7258810514

मील नहीं किलोमीटर के पत्थर

रणजीत साहा

अनुवाद दो या दो से अधिक भाषाओं के बीच संप्रेषण का सबसे सशक्त माध्यम है। वाचिक परंपरा एवं लिखित पद्धति की सीमाएँ लाँघकर आज अनुवाद की सीमातीत व्याप्ति संचार युग को प्रेरित/प्रभावित कर रही है। स्वांतः साधना की संज्ञा देने के साथ इसे एक सामाजिक और सांस्कृतिक कर्म बताया गया है। एक अलग अनुशासन के तौर पर इसके पठन-पाठन और इसके विभिन्न अवतारों तथा आयामों को लेकर किए जा रहे विमर्श-अकादमिक जगत में इसकी व्याप्ति एवं स्वीकृति के सूचक हैं। पिछले सौ वर्षों में, और इसमें भारतेंदु युग और भारतेंदु मंडल भी जोड़ दे तो डेढ़ सौ वर्षों में, अनुवाद के बारे में चाहे-अनचाहे जितना कुछ कहा गया, लिखा गया, वह दूसरी साहित्यिक विधाओं के लिए निश्चय ही स्पृहणीय है।

अनुवाद के उद्‌भव एवं विकास को ऋग्वेद, संहिता, पाणिनि के महाव्याकरण आदि से उद्‌धृत करते हुए, इसके विभिन्न रूपाकारों और छद्‌मवेषों पर, पिछले कई दशकों से विशिष्ट विद्वानों एवं विशेषज्ञों ने गंभीरता पूर्वक विचार किया है। और जब से विश्वविद्यालयों और कई अन्य शिक्षण संस्थाओं में अनुवाद को पाठ्‌यक्रम में सम्मिलत किया गया है, तब से अनुवाद पर कई ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से कई संपादित भी हैं। इसी क्रम में, प्रस्तुत संकलन में, 'अनुवाद विचार और विचारक', अनुवादः अर्थ, प्रकृति, प्रक्रिया और परंपरा,' 'कालजयी कृतियों के अनुवाद', 'अनुवाद और अनुवादक', 'अनुवाद के आयाम' और 'अनुवाद विचार' कुल पाँच खंडों में, 69 निबंध-संकलित हैं। एक परिशिष्ट भी जोड़ा गया है लेकिन जवाहरलाल नेहरू के व्यावहारिक और वैचारिक सुझावों के अलावा अनुवाद के बारे में दूसरों के वक्तव्य औपचारिक मात्र हैं। यहाँ तक कि दिनकर, महादेवी वर्मा और अमृता प्रीतम के भी। तो भी, पुस्तक की संकल्पना और संकलित पाठ सामग्री ने अनुवाद की बृहत्तर भूमिका को सुनिश्चित किया है, इसमें दो राय नहीं साहित्य के क्षेत्र में सृजनात्मकता से जुड़ी समस्याओं के कारण भी निस्संदेह अब अनुवाद की चुनौतियाँ भी निरंतर बढ़ रही हैं। अनुवाद अध्ययन की इन्हीं

आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर डॉ. अवधेश कुमार सिंह ने प्रस्तुत संकलन की योजना बनाई थी। इस बारे में उन्होंने मुझसे चर्चा भी की थी, जब मैं भारतीय भाषा केंद्र, जे. एन. यू. में अनुवाद अध्यापन से जुड़ा था। साथ ही 'गीतांजलि' पर लिखित मेरा लेख उक्त संकलन में सम्मिलित करने की सूचना दी थी। इस दौरान वे इग्नू छोड़कर अन्य विश्वविद्यालयों की सेवा में चले गए और बहुत कम उम्र (1960-2019) में उनका निधन हो गया।

प्रस्तुत संकलन के लिए उन्होंने जिस प्रकार पाठ जुटाया था, या जिस तौर पर इसे संपादित करना था—संभवतः वे इतना अवकाश नहीं जुटा पाए। इसलिए उन्होंने भारतीय अनुवाद परिषद की सहायता से और उनके प्रकाशनों (विशेषकर 'अनुवाद शतक' के दो खंडों) से बहुत-सी पुरानी सामग्री की फोटो प्रति करवाकर और कुछ नए आलेखों के साथ अकादेमी को सौंप दिया होगा। वे इस बात का ख़्याल नहीं रख पाए कि उन सारी सामग्री में कितना कुछ अनुपयुक्त या अनुपयोगी है। इसलिए इसमें ऐसे प्रबंधाकार निबंध की शामिल हैं, जो विश्वविद्यालय के शोध प्रबंध के अंश हैं।

किसी भूमिका, संपादकीय या प्रकाशकीय वक्तव्य के बदले डॉ. अवधेश कुमार सिंह के लेख 'वाद, अनुवाद, संवाद और हिंदी' शीर्षक के अचानक इस पुस्तक के भाग-1 की पाठ सामग्री शुरू हो जाती है। उन्होंने इस लेख में अनुवाद की यात्रा को, ऋग्वेद ('अन्वेको वदति यद्दित'), पाणिनि (अनुवादे चरणानाम्') ब्राह्मण ग्रंथ आदि के साक्ष्य से जोड़ते हुए, बुद्ध काल (5वीं से 7 वीं सदी), भक्तिकाल (7वीं से 1750 ई.), उपनिवेशकाल (1750 से 1947 ई.) और उत्तर/आधुनिक काल (1950 ई. से अब तक)—विभाजित करते हुए बहुत सारे साक्ष्य और तथ्य प्रस्तुत किए हैं। यह सब उनकी किसी आगामी ग्रंथ योजना का प्रारूप जान पड़ता है—किसी निश्चित बिंदु पर ध्यान केंद्रित न होने के बावजूद यह लेख अनुवाद अध्येताओं के लिए अत्यंत उपयोगी है। अनुवाद, पुनसृजन, पुनर्लेखन, पुनरकथन, अनुकथन, अनुसृजन, रूपांतरण, भाषांतरण, निर्वचन जैसे पदों से पारिभाषित किया जाता रहा है। निस्संदेह इन शब्दों/पदों को पर्याय या एक दूसरे के विकल्प के तौर पर ग्रहण नहीं किया जा सकता। आधुनिक संदर्भ में अनुवाद (Translation) को प्राचीन पौराणिक या परंपरागत संदर्भ के आलोक में, पुनरावृत्ति या पुनर्कथन कदापि नहीं कहा जा सकता। फिर तो भाष्य, वृत्ति और टीका आदि को भी अनुवाद की परिभाषा में लाने की ग़लती दोहराई जाएगी। लेकिन इस बारे में डॉ. सिंह के पास विस्तार से विचार करने का अवकाश न था।

पुस्तक का औपचारिक आरंभ प्रेमचंद लिखित निबंध 'कालिदास की कविता : अनुवाद और समीक्षा के संदर्भ में' (ज़माना, अगस्त, 1914) हुआ है। व्यास, वाल्मीकि के बाद, कालिदास को संस्कृत साहित्य का सर्वाधिक उज्ज्वल नक्षत्र बताते हुए, उन्होंने दोनों से अलग सौंदर्य और प्रेम का कवि ठहराया। वे दोनों तो हिंदू धर्म का अंग ही बन गए, ज कि प्रेमचंद के अनुसार, ''कालिदास को हम कुछ भूल-सा गए थे और अगर अंग्रेजी विद्वानों और लेखकों ने हमारा मार्ग-दर्शन न किया होता तो हम शायद अब तक इस कवि को गुमनामी के कोने में पड़ा रहने देते।'' (पृ. 49) वे आगे लिखते हैं, उनकी रचनाएँ कोमल भावनाओं, अलंकृत कल्पनाओं और मार्मिक अनुभूतियों से सम्पन्न हैं, जिनका अनुवाद करना किसी भी भाषा में एक कठिन चुनौती है। उर्दू में जो भी प्रयास हुए हैं, चाहे वे राजा शिव प्रसाद सिंह मौलवी मोहम्मद मिर्जा, सुरूर (मि. शाकिर की मदद से) मौलवी अब्दुल हलीम, मौलाना शरर वग़ैरह ने जिनके उदाहरण भी दिए गए हैं—वो तो या हिंदी से या फिर अंग्रेजी से। अंततः असफल रहे इन अनुवादों के बारे में प्रेमचंद लिखते हैं—'कालिदास की काव्य सामर्थ्य का एक प्रमाण यह भी है कि वह

एक ही विचार को अलग-अलग ढंग से व्यक्त करता है और विचार की ताज़गी में फ़र्क़ नहीं आता। उर्दू जैसी दरिद्र भाषा में शब्दों की यह बहुतायत कहाँ।'' (पृ. 60)

'अनुवाद का चमत्कार' में निराला ने महावीर प्रसाद द्विवेदी के लंबे वक्तव्य को उद्धृत करते हुए, अपने निबंध में अनुवाद समीक्षा को बेहद चुटीला और रोचक बना दिया है। बाङ्ला से हिंदी में अनूदित कृतियों की कमियों एवं त्रुटियों को चिह्नित करते हुए, अयोग्य अनुवादकों की अक्षमता पर प्रहार किया है। शरतचंद्र चटर्जी की किसी कहानी के पाठ की दूतः स्ततः चर्चा करते हुए, यह बताने से नहीं चूकते कि मूल भाषा की बारीकियाँ यथा, अभिज्ञता-विक्षेप जानकारी को अज्ञता में अनूदित किया है, जो अनुवादक की अल्पज्ञता का सूचक है। 'झी' घर की दासी या नौकरानी को 'मजदूरन' बताना भी गलत है। ऐसे अनुवादकों की व्याजस्तुति में निराला कहते हैं—"अनुवादक महोदय की कृपा से चमत्कार तो दूर रहा, मूल का अर्थ भी ग़ायब हो जाता है।" (पृ. 65)

शिवानी (गौरा पंत) ने 'रवींद्रनाथ और अनुवाद' निबंध में रवींद्रनाथ की कहानियों (काबुलीवाला, पाषाणी, सुभा, रात्रिक्षुधित पाषाण आदि) के हिंदी अनुवाद की चाहकर भी प्रशंसा नहीं कर पातीं। 'योगायोग' उपन्यास के दो अनुवादकों (सुनील कुमार अग्रवाल और इलाचंद्र जोशी) के अनुवादों की तुलना करते हुए, वे जोशी के अनुवाद को निस्संदेह बेहतर बताती हैं। इसी तरह अज्ञेय ने रवींद्रनाथ के 'गोरा' उपन्यास का अनुवाद इतनी निष्ठा और अध्यवसाय के साथ किया कि आज भी इसे अनुवाद का प्रतिमान माना जाता है। अज्ञेय ने इस अनुवाद द्वारा स्वयं को भी प्रतिष्ठित किया।[1] शिवानी जी का शांतिनिकेतन से भी संबंध रहा, लेकिन रवींद्रनाथ का स्नेह सान्निध्य याने के बावजूद उनकी किसी कृति का अनुवाद नहीं किया।

मूल से अनूदित, और अनूदित रचना (कलिता) को भूल समझकर उसे अनूदित करना और उससे प्रभावित किसी कवि फिर से उसे मूल भाषा में अनूदित (अंतरित) करना—इसका एक विलक्षण एवं रोचक उदाहरण दूधनाथ सिंह के निबंध 'अनुवाद एक संरचना है' में देखा जा सकता है। वस्तुतः रवींद्रनाथ ने अपनी एक कविता 'मानस प्रतिभा' के दो प्रारूप तैयार किए थे और दोनों प्रकाशित भी हुए। इन पर आधृत उन्होंने इसका एक रूपांतर अंग्रेजी में किया, जो उनके द्वारा अनुदित अन्य अंग्रेज़ी कविताओं के साथ 'गार्डनर' (Gardener) में छपा। इसकी एक प्रति जब स्पेनी कवि पाब्लो नेरूदा को कवि ने उपहार में दिया तो इस संकलन में संगृहीत कविताओं को मूल समझकर उसने उक्त कविता 'मानस प्रतिमा' का स्पेनिश भाषा में अनुवाद किया। यह कविता 'गार्डनर' में भी बिना शीर्षक के, संख्यानुसार छपी थी। इस स्पेनी भावांतरण से प्रभावित किसी अंग्रेज़ अनुवादक ने अंग्रेज़ी में प्रस्तुत किया। लेकिन बात यहीं नहीं थमी। बाङ्ला के एक सुप्रसिद्ध कवि, संपादक और अनुवादक ने इस अंग्रेजी कविता में निहित मर्म को फिर बांङ्ला में अनुदित किया, जिनका नाम है, शक्ति चट्टोपाध्याय। इस प्रकार, मूल बाङ्ला (रवींद्रनाथ द्वारा स्वयंकृत अंग्रेज़ी अनुवाद)—इससे स्पेनिश-फिर अंग्रेज़ी और अंत में फिर बाङ्ला-यानी 'पुनर्प्रतिमा भव।'

गनीमत है, उक्त कविता लगभग 60-70 वर्षों की भाव-यात्रा में खंडित नहीं हुई। दूधनाथ सिंह ने इस कविता की अलग-अलग अर्थ छवियों एवं अंतर्ध्वनियों का विद्वतपूर्ण विवेचन किया है, जिससे यह निबंध अत्यंत पठनीय एवं मननीय हो गया। बाङ्ला भाषा पर उनकी गहरी पकड़ की भी सराहना करनी होगी।

इसी खंड में धर्मवीर भारती, हरिवंशराय बच्चन, अमृत राय, स. ही. वा. 'अज्ञेय', राजकमल चौधरी, कुँवर नारायण, विष्णु खरे, राजेंद्र यादव ने साहित्यिक कृतियों के अनुवाद (विशेषकर

अंग्रेजी से हिंदी में) के बारे में अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं, कहीं व्यवस्थित ढंग से तो कहीं फुटकर तौर पर।

'यूरोप और अमेरीकी कविताओं की हिंदी-छायाएँ' शीर्षक निबंध में धर्मवीर भारती यह बताते हैं कि कवि कैसे अपनी प्रकृति के अनुकूल कवियों को चुनकर उनके काव्य का अवगाहन करता है, उनका अनुवाद कर अभ्यास करता है और अपनी अभिव्यक्ति को समृद्ध बनाता है। मसलन, रवींद्रनाथ ठाकुर द्वारा पहले ब्रजभूमि के कवियों की खोज और बाद में कबीर और बाउलों की।...एजरा पाउंड द्वारा चीनी कविताओं की खोज। भारती ने यह महत्त्वपूर्ण टिप्पणी 'देशांतर' (1960 ई.) में की है, जिसमें उनके द्वारा अनुदित पश्चिमी देशों, अमेरीका और लैटिन अमेरिका की कविताएँ शामिल हैं।

बच्चन जी फ़िट्ज़ेराल्ड कृत उमर ख़य्याम के अनुवाद पर आधृत अपने हिंदी अनुवाद के बारे में कहते हैं—"उमर को मैं अपनी निधि समझता हूँ, उमर में और मुझ में बड़ी एकता है, मैं उमर की कविता का केवल सौंदर्य ही नहीं देखता, उसकी अनुभूतियों का भी सहभागी हूँ। (पृ. 81) अनुवाद के बारे में फिटज़ेराल्ड के इस कथन को बहुधा उद्धृत किया जाता है, "भुसभरे गिद्ध से फुदकती गौरैया कहीं बढ़कर है।" तभी बच्चन जी कहते हैं—"फ़िटज़ेराल्ड की देन जिसने उनके अनुवाद को मूल से भी अधिक मूल्यवान बना दिया है, (वह है उनका) संकलन और संगठन-जिसकी महत्ता उनके अनुवाद से कहीं अधिक हैं।" (पृ. 88) संभवतः उनका संकेत संवेदना के अलावा संरचनात्मक कौशल एवं अर्थान्विति की ओर है। 'हैमलेट' का गद्यानुवाद करते हुए, अमृतराय जी ने जिन दो बातों की ओर अपने पाठकों का ध्यान दिलाते हुए लिखा है—एक, "मैं देख रहा हूँ, वैसे कुछ लोग जो हिंदी के ध्वजा धारी हैं, अपने उर्दू-द्वेष के पीछे एक बहुत ही खूबसूरत और शानदार जुबान की मिट्टी पलीत किए दे रहे हैं। उस ज़ुबान का कुछ अंदाज़ आपको इस किताब से होगा।" (पृ. 94) और दो, "शेक्सपियर का अनुवाद गद्य में ही करना चाहिए। शेक्सपियर के मुक्त छंद को अनुवाद में निभा सके ऐसा लचीला सहज, प्रौढ़ मुक्तछंद अभी हमारी भाषा में नहीं है। ऐसी स्थिति में अगर पद्य की बलि देकर मूल के काव्य-तत्व की अधिक रक्षा की जा सके, जैसा करने का यत्न मैंने किया है, तो सम्प्रति इसी को संतोषप्रद माना जा सकता है।" (पृ. 97) उन्होंने शेक्सपियर का हैमलेट' नाटक अनुवाद के लिए क्यों चुना, इसे वह अपने चिरपरिचित ज़ुबान में बयान करते हैं-"शेक्सपियर के संपूर्ण साहित्य में ओथेलो को छोड़कर और शायद 'ओथेलो' से भी ज़्यादा 'हैमलेट' में यूरोपीय पुनर्जागरण का मानवतावादी स्तर सबसे अधिक शक्ति और गरिमा के साथ आया है।"(पृ. 90)

अज्ञेयजी अपने लेख 'साहित्य का अनुवाद' में उन शब्दकोशीय शब्दों के पर्याय की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है जो कभी-कभी भ्रमित करते हैं-और जिनका सटीक और सार्थक चयन किसी भी अनुवाद को करना चाहिए। "यथा 'डांसर' के लिए नर्त्तकी, नटनी, नचनी, नाचनेवाली और शराब, सुरा, मद्य मदिरा हाला (या दारु) या खाना और भोजन पर्याय हैं, फिर भी इनके अर्थों के अंतर इतने व्यापक हैं कि उनको समझने के लिए कोई बड़ी बारीकी की आवश्यकता नहीं पड़ती।" (पृ. 100) योग्य अनुवादकों के दुर्लभ होने पर भी अज्ञेयजी ने चिंता व्यक्त की है और उनको दिए जाने वाले कम पारिश्रमिक पर भी। इस आशा के साथ वे अपना लेख समाप्त करते हैं, ''जब अनुवादक को विशेष प्रकार के कलाकार निपुण कारीगर के रूप में अपना वास्तविक स्थान प्राप्त हो जाएगा और उस रूप में संपर्क मान्यता मिल जाएगी तभी इस विशिष्ट प्रकार के साहित्य की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई माँग पूरी हो सकेगी।" (पृ. 103)

राजकमल चौधरी ने 'अनुवाद साहित्य' निबंध में केवल कुछ सूचनाएँ जुटा दी हैं, कोई विवेचन नहीं किया। कुँवर नारायण जी ने 'अनुवादकों की ऐतिहासिक देन' शीर्षक लेख में अनुवाद कर्म को वैश्विक संदर्भ में देखा-परखा है। सिकंदर (अलेक्ज़ेंडर) के हवाले से तक्षशिला की गौरवपूर्ण शिक्षा व्यवस्था और पुस्तकालय को देखकर वह बहुत प्रभावित हुआ था। यूनान लौटकर उसने कई विश्वविद्यालय नगरों की स्थापना की, जिनमें से अलेक्जेंड्रिया लाइब्रेरी, दो अग्निकांडों के बाद भी, आज तक मौजूद हैं। इस तथ्य के आलोक में कुँवर जी ने कुमार जीव-जैसे महान विद्वान एवं अनुवादक का उल्लेख किया है, जिन्होंनें "बुद्ध के विचारों को भी एक नए देशकाल और भाषा में प्रतिष्ठित किया-लाओल्से और कंफ्यूशियस के बग़ल में, उनके नीचे नहीं।" (पृ. 111)

हेमचंद्र पांडे ने 'अनुवाद के विषय में महात्मा गाँधी के विचार' लेख में परिश्रम पूर्वक उनकी रचनाओं और वक्तव्यों से कई ऐसे पदों, यथा-हरिजन, ग्राम स्वराज, सर्वोदय, सत्याग्रह, प्रत्युपाय, कष्टाधीन, प्रतिवर्तन, दृढद्य प्रतिपक्ष, सत्याना दर, सदाग्रह आदि के चयन में निर्माण में और व्यवहार का संधान किया है। सविनय अवज्ञा या असहयोग आंदोलन आदि शब्दों को राजनीतिक एवं रणनीतिक शब्दों को अपनाने में, प्रयोग की प्रक्रिया की भी उन्होंने छानबीन की है, जो न केवल महात्मा गाँधी के प्रयोगधर्मी व्यक्तिव्य से बल्कि स्वातंत्र्य संग्राम के अभिन्न साक्ष्य बन चुके हैं।

विष्णु खरे, मंगलेश डबराल और गिरधर राठी ने भारतीय भाषाओं, विशेषकर हिंदी में अनुवाद की दुःस्थिति पर चिंता जताई है। खरे ने जहाँ अनुवाद की गुणवत्ता का रोना रोते हुए, एक तरफ़ से सबको कोसते हुए, हिंदी में प्रकाशित अनूदित सामग्री को कूड़ा बताते हैं; वहाँ राठी साहित्यिक अनुवाद में घपले की बात करते हैं—"दरअसल अपने बुरे अर्थ में व्यावसायिकता यहाँ छाई है...कुछ अपवादों को छोड़कर ये अनुवाद घोर असाहित्यिक और अपठनीय होते हैं। (पृ. 146) मंगलेश डबराल की शिकायत कि 'हम अनुवाद पर आश्रित हो गए हैं'—को आगे बढ़ाते हुए यह जोड़ देते हैं—"जब से हिंदी को तथाथित राजभाषा का दर्जा दिया गया और सरकारी दफ़्तरों में अनुवादकों की बाढ़ आई, उसने सबसे पहले हिंदी के रचनात्मक संघर्ष को भोथरा और फिर निष्प्राण कर दिया, जो उसे एक समर्थ-सक्षम भाषा बनने के लिए करना था।" (पृ. 140) मंगलेश का यह भी मानना है कि कविता का अच्छा अनुवाद कवि ही कर सकता है। भाषाविद् नहीं।

इस पुस्तक के भाग एक के खंड दो का आरंभ डॉ. गार्गी गुप्त के लेख 'अनुवाद व्युत्पत्ति और अर्थ विकास' से हुआ है जो भारतीय भाषा परिषद, दिल्ली की प्रतिष्ठार्थी और सर्वेसर्वा थी, जिन्होंने 'अनुवाद' पत्रिका आरंभ की एवं अनुवाद शिक्षण का पाठ्यक्रम चलाया। वे प्राचीन ग्रंथों से अनुवाद संबंधी उल्लेखों के क्रम विकास में इसके लक्षणों की पड़ताल भी करती है। उनके अनुसार, "भाव साम्य के सिद्धांत के मानदंडों को लेकर भेद-उपभेदों पर शास्त्रीय निरूपण अवश्य मिलता है। उदाहरण के लिए, आनंद वर्द्धनाचार्य ने 'अर्थापहरण' अर्थात् दूसरे के भावों पर आधृत रचनाओं के तीन भेद माने हैं—'प्रतिबिम्बित', 'आलेख्यवत्' और 'तुल्य-देहिवत्। आचार्य राजशेखर ने इसमें परपुर नामक एक भेद और जोड़ दिया है।" (पृ. 153) निबंध के अंत में अनुवाद कर्म की व्याप्ति और अनुवाद-परिसर में इसकी स्वीकृति को ध्यान में रखकर, उन्हें जोड़ना पड़ा—"हमारे यहाँ अनुवाद का सिद्धांत साहित्य पश्चिम से आया है और उसी को आधार बनाकर हमने की अनुवाद शब्द में मूलनिष्ठ, मूल-मुक्त, आंशिक अनुवाद, रूपांतरण, स्वच्छंद, अपहरण आदि सभी अर्थों को स्वीकार कर लिया है।" (पृ. 158) उनकी इस टिप्पणी

को अंशतः ही स्वीकार किया जा सकता है।

अगले कुछ निबंध—जो सत्यव्रत, कैलाश चंद्र भाटिया, सत्यदेव चौधरी, विश्वनाथ अय्यर, सातकड़िमुखोपाध्याय, र. शौरिराजन आदि लिखित है, जिनमें अनुवाद की परिभाषा, परंपरागत स्वरूप, क्षेत्र, भेद आदि पर विचार किया गया है। अनुवाद अध्ययन की दृष्टि से परस्पर-पूरक हैं। इस खंड में जिन निबंधों का विशेष महत्त्व है वे हैं—'अनुवाद प्रकृति एवं प्रक्रिया' (अवधेश कुमार सिंह)', पश्चिम में अनुवाद सिद्धांत का विकास' (विश्व प्रसाद गुप्त), हिंदी में अनुदित उर्दू उपन्यास' और 'साहित्यिक अध्ययन के संदर्भ में अनुवाद अध्ययन का स्वरूप' (इंद्रनाथ चौधरी) अवधेश कुमार सिंह ने 'द आर्ट ऑव नोबेल के मिलान कुंदेरा लिखित इनके बहुचर्चित उपन्यास 'द जोक' के दूरस्थ (फ्री ट्रांस्लेशन) के हवाले से बताया गया है कि कैसे उस उपन्यास ने कुंदेरा के मन पर एक चिरस्थायी घाव छोड़ दिया। अवधेश मूल कृति पर इस 'बलात्क्रमण' या हिंसा (Voilences) को केंद्र में रखकर, उसकी अपरिहार्यता को चिह्नित करते हैं, जबकि कुंदेरा इस अपरिहार्यता का निषेध करने में असमर्थ दिखाई देते हैं। (पृ. 184) अवधेश उस साहित्यिक परिभूमि को भी अपने विमर्श से जोड़ते हैं कि कैसे पूरा विश्व पाश्चात्य उपन्यास का लंबे समय तक शिकार रहा तथा उनके आलोचना (एवं तत्त्वमीमांसा) संबंधी विचारों को भी उपनिवेशित लोगों द्वारा अपने मूल्यों पर तरजीह दी जाने लगी। यह आरोपित स्थिति तब तक बनी रही जब तक संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद द्वारा जिनमें रोलां बार्थ प्रमुख हैं, व्यक्ति विशेष या सर्जक को उच्च केंद्रीय स्थान से नीचे लाने का प्रयास नहीं हुआ। यही नहीं, नार्थ ने नवआलोचकों की इस मान्यता को अधिक तर्कसंगत ढंग से प्रस्तुत कर 'The Death of Author' (लेखक की मृत्यु) में लेखक को महत्त्वहीन घोषित कर दिया। इसके बाद जॉक देरिदा के विसंरचनावाद (Deconstruction) ने लेखक या सर्जक को केंद्र की बाह्य परिधि में धकेलने में सफलता प्राप्त की और इसके परिणाम स्वरूप आलोचक और अनुवादक, जो अब तक हाशिये को सजाते रहे थे, इस दुग्राह्य केंद्र में आ गए। (दृष्टव्य : पृ. 185, 186) रोलां बार्थ की मान्यता की 'आलोचना अपने आप में बलाक्रमण है' को आगे बढ़ाते हुए अवधेश का कहना है कि रचनाशीलता भी आलोचना की भाँति बलाक्रमण की क्रिया है। (पृ. 187)

अनुवाद और अनुवादक के बारे में उनका कहना है—''दरअसल अनुवादक रचनात्मक वाचक-आलोचक होता है, एक असफल या निराश लेखक नहीं; वह वाचन, विश्लेषण करता है, विवेचना-आलोचना करता है...उन लोगों के लिए नई कृति का सृजन करता है, जिनकी स्रोत भाषा में उस रचना को पढ़ने की सीधी पहुँच नहीं होती।'' (पृ. 192) अनुवाद की जटिल प्रक्रिया को वे कई उदाहरणों से पुष्ट करते हैं और लक्ष्य भाषा में कोडीकरण, विकेंद्रीकरण, पुनर्कोडीकरण की प्रक्रिया को स्रोत कृति की प्राप्ति (चयन), स्वीकरण, प्रतिरोपण (एक भाषा से दूसरी भाषा की व्यवस्था में ले जाना और फिर एक नई भाषा के देश, काल कुल और संस्कृति में नई कृति के सृजन अनुवाद के रूप में भी रखा जा सकता है।" (पृ. 193)

अवधेश ने कैसे ग्रांड, स्लेनेकर, यूजीन नाड्डा (निडो) रवींद्रनाथ आदि के हवाले से अनुवाद कर्म को एक मिश्र सांस्कृतिक घटना बताया है, जिसमें अनुवादक को अपने अनुवाद व्यूह का निर्धारण करना होता है, जिससे वह स्रोत संस्कृति का लक्ष्य संस्कृति में अनुवाद कर सके।" (पृ. 196)

विश्व प्रकाश गुप्त ने अपने निबंध में अनुवाद (Translation) के अर्थ में अंतरण को विशेष संदर्भ में रखना चाहा है, चाहे यह स्थान का हो या रूप का। यह एक पार से दूसरे पार ले जाने की (प्र) क्रिया है। निबंध में अनुवाद-सिद्धांत, काटा विभाजन या स्थान विभाजन-यथा,

यूनान की देन, रोमन युग, अरब और स्पेन, पुनर्जागरण काल और सत्रहवीं तथा अठारवहीं सदी के अंतर्गत दो-तीन अलग-अलग विषयों के संयोजन में आधुनिक युग को पूरी तरह छोड़ दिया गया है, जो अधिक उपयोगी होता। निबंध का उपयोगी और रोचक प्रकरण है—अंग्रेज़ी में बाइबिल के अनुवाद, जिसमें बाइबिल के ओल्ड (हिब्रू मूल) एवं 'न्यू' (ग्रीक मूल) टेस्टामेंट की स्वीकृति-अस्वीकृति और इसके विभिन्न परवर्ती संस्करणों की चर्चा है। साथ ही, इसकी लंबी ऐतिहासिक यात्रा की-जिस में किंग जेम्स के संस्करण को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया।

इंद्रनाथ चौधरी ने 'साहित्यिक अनुवाद के संदर्भ में' जार्ज स्टेनर ('आफ्टर बावेल') कैटफर्ड, मार्ट, जूलियाना हॉस आदि द्वारा अनुवाद की परिभाषाओं के बाद, काव्य के अनुवार की जाँच की है। बच्चन, केशव प्र. पाठक और मैथिलीशरण गुप्त द्वारा फ़िटज़ेराल्ड के अनुदित पाठक के संदर्भ में अलग-अलग अनुवादों की विवेचना की है और पंत तथा रघुवंश लाल गुप्त से एक-दूसरे के अनुवाद कितने भिन्न हैं, उस अलगाव को भी रेखांकित किया है। वस्तुतः ये अंतर तो अपरिहार्य और अनुवार्य हैं—"अनुवाद की दृष्टि से यह असंभावित नहीं; अनुवादक का ध्यान 'बेटर अंडरस्टूड इंडियन' (बेहतर कथन/मुहावरे) पर रहता है क्योंकि एक महत्त्वपूर्ण कृति को दूसरे भाषाभाषी पाठक तक पहुँचा देना उसका उद्देश्य है।" (पृ. 321)

चौधरी जी साहित्यिक अनुवाद में 'ओवरहाल स्ट्रक्चरिंग' की बात करते हैं। साथ ही, समग्र संरचनात्मक प्रक्रिया पर ज़ोर देते हुए, काव्यानुवाद तथा नाट्यानुवाद के उदाहरणों द्वारा अपने उपरोक्त विचारों को पुष्ट करते हैं।

अब्दुल बिस्मिल्लाह ने 'हिंदी में अनुदित उर्दू उपन्यास' का विस्तृत लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। उन्नीसवीं सदी के अंत में बाबू रामकृष्ण वर्मा से बाबू गंगा प्र. गुप्त द्वारा आरंभ किए गए इस उपक्रम को उन्होंने प्रेमचंद (उर्दू में नवाब राय) द्वारा स्वयं अपने उर्दू उपन्यास के स्वयं कृत हिंदी अनुवाद से जोड़ा है। इसमें सेवासदन (बाजारे-हुस्न) प्रेमा' (हम खुर्मा व हमसवाब)', प्रेमाश्रम (गोशा-ए-आफयत), 'रंगभूमि' (चौगाने-हस्ती) आदि उल्लेख्य हैं। "प्रेमचंद ही संभवतः पहले लेखक थे, जिन्होंने उर्दू-हिंदी के कथा-साहित्य में अनुवादक के रूप में एक सेतु के निर्माण की नींव डाली थी।" (पृ. 275) नज़ीर अहमद उर्दू के आरंभिक उपन्यासकार थे, जिनका 'मिरातुल उरूस' 1958 में, साहित्य अकादेमी द्वारा इसी शीर्षक से अनुदित और प्रकाशित हुआ, जिसे हिंदी पाठकों ने भी पढ़ा और सराहा।

आज़ादी के दौर में और बाद में भी, उर्दू-हिंदी विवाद और परस्पर लिप्यंतरण के विमर्श के बीच, रचनात्मक स्तर पर अब्दुल हलीम 'शरर', राजेन्द्र सिंह बेदी, किशन चंदर, कुर्रतुल-ऐन-हैदर, अलीम मसरूर, सआद हसन मंटो, इस्मत चुग़ताई, अब्दुल्ला हसन, ख़दीजा मस्तूर, इंतज़ार हुसैन, शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी आदि के उपन्यास हिंदी में छपे और लेखक के अनुसार आगे भी छपते रहेंगे। वे इस बात को भी लिखते और दोहराते हैं—"हिंदी का पाठक वर्ग उर्दू के पाठक वर्ग से बड़ा है। काश, हिंदी उपन्यासों के भी उर्दू-अनुवाद इसी पैमाने पर प्रकाशित हों।" (पृ. 280)

ओम प्रकाश सिंहल का 'हिंदी में अनूदित आत्मकथाएँ' निबंध निश्चय ही पाठकों के लिए महत्वपूर्ण जानकारियों से भरा है। भारतीय भाषाओं में उपलब्ध आत्मकथाओं के साथ विश्व के सुप्रसिद्ध राजनेताओं, साहित्यिकों, क्रांतिकारियों, अभिनेताओं, खिलाड़ियों, वैज्ञानिकों आदि की आत्मकथाओं को (अधिकांशतः अंग्रेज़ी से) अनुदित किया गया है। दयानंद सरस्वती, महात्मा गाँधी, रवींद्रनाथ ठाकुर, के. एम. मुंशी, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, जवाहरलाल नेहरू, कृष्णा हठी सिंग, नयनतारा सहगल, त्रैलोक्यनाथ चक्रवर्ती आदि लोगों ने अपनी आत्मकथाएँ लिखी हैं। इन्हें पढ़कर व्यक्ति विशेष के आत्मसंघर्ष के साथ उनके देशकाल परिस्थितियों की प्रामाणिक

जानकारी मिलती हैं। अंग्रेज़ी से जिन महत्वपूर्ण लोगों की आत्मकथा प्रकाशित हुई है—उनमें लेव तोल्सतॉय, जूलियस फूचिक, मैक्सिम गोर्की, हिटलर, अब्राहम लिंकन, हेनरी डेविड थोरो, हेलेन केलर आदि ऐसे कुछ नाम हैं, जो इतिहास, राजनीति, साहित्य के साथ हमारे जीवन को प्रभावित एवं प्रेरित करने वाले सशक्त हस्ताक्षर हैं।

संतोष खन्ना द्वारा लिखित 'अंग्रेजी नाटकों के हिंदी अनुवाद' निबंध में मुख्यतः शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद—भारतेंदु हरिश्चंद्र, तोताराम वर्मा, लाल सीता राम, रांगेय राघव, बच्चन और अमृत राय द्वारा किए गए हैं, उनका उल्लेख किया गया है। साथ-ही, अनुवादकों की अभ्युक्तियों को भी संयोजित किया गया है। उन्होंने कुछ अन्य भाषाओं से भी हिंदी में अनूदित नाटकों के अनुवादकों का ज़िक्र किया है, जिनमें जे. एन. कौशल महत्वपूर्ण नाम है, जिन्होंने कई विदेशी नाटकों का अनुवाद करते हुए, भारतीय जामा-पहनाने के साथ उन्हें समानंतर परिस्थितियों से भी जोड़ने का प्रयास किया। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से संबद्ध होने के कारण कौशल के नाटक वहीं के छात्रों द्वारा खेले गए, उन्हें व्यापक रंगमंच नहीं मिला। इस लेख में जैनेन्द्र कुमार, भवानी प्रसाद मिश्र, अरविन्द कुमार आदि द्वारा लिखित फुटकर नाटकों का भी हवाला दे दिया गया है। बच्चन का ज़िक्र करते हुए संतोष खन्ना से तथ्यगत चूक हो गई है। उन्होंने दिनकर जी की प्रसिद्ध कृति 'हारे को हरिनाम' को बच्चन जी की रचना बता दिया है। (पृ. 412) स्वयं संपादक ने भी इसकी जाँच (?) नहीं की।

पुस्तक के तीसरे खंड 'कालजयी रचनाओं के अनुवाद' में, 'श्रीमद्भगवत् गीता' 'गाहा सत्तसई,' 'क़ुरान शरीफ़', 'बाइबिल' (ओल्ड एवं न्यू) और 'गीताजंलि' के अनुवादों पर केंद्रित निबंध संकलित हैं। अन्य लेख संस्कृत नाटकों, विदेशियों द्वारा लिखित हिंदी इतिहास, अंग्रेजी नाटकों तथा अज्ञेय की कविताओं के अनुवाद पर लिखित हैं।

इनमें से जे. एच. आनंद का लेख 'बाइबिल के आरंभिक अनुवाद' विश्व प्रकाश गुप्त के लेख से अलग, बाइबिल की अनुवाद यात्रा का विस्तार पूर्वक और तथ्याश्रित विवेचन करता है और उन्नीसवीं सदी से आगे नहीं बढ़ता। इसलिए फ़ादर कामिल बुल्के द्वारा अनूदित बाइबिल के हिंदी अनुवाद तक नहीं पहुँचता। नामवर सिंह जी ने 'गाहा सत्तसई' के दो अनुवादों—गोविंद्रचंद्र पांडे और हरिराम मीणा कृत (दोहा छंद में) की समीक्षा करते हुए, दोनों के वक्तव्यों का भरपूर सहारा लिया है। उन्होंने दोनों के अनूदित अंशों से कुछेक उदाहरणों द्वारा पांडे जी के मुक्त छंद में किए गए अनुवाद को बेहतर बताया है।

हरीश त्रिवेदी ने 'अज्ञेय की अंग्रेज़ी कविताएँ' में उनके द्वारा लिखित 'प्रिज़न डेज़ एंड अदर पोएम्स' का विवेचन किया है, जो जवाहरलाल नेहरू की भूमिका के साथ सरस्वती प्रेस से 1946 में छपी थी। इसमें अज्ञेय ने अपने कारा जीवन के अनुभवों को, आत्मकातर हुए बिना संजोया है। 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनबी' का तथा 'त्यागपत्र' (जैनेंद्र कुमार के उपन्यास) का अंग्रेजी में अनुवाद करनेवाले अज्ञेय ने इन कारा-कविताओं में अपनी एकाकी आत्मानुभूति जन्य पीड़ा और किसी आत्मीय की स्मृति को वाणी दी है। त्रिवेदी को मूल अंग्रेज़ी कविता के साथ, अज्ञेय द्वारा बाद में हिंदी में अनूदित कविताओं के साथ, अज्ञेय द्वारा बाद में हिंदी में अनूदित कविताओं को प्रस्तुत कर, दोनों की अलग-अलग विशेषताओं को विश्लेषित करना चाहिए था। लेकिन वह अवांतर प्रसंगों और सूचनाओं में उलझकर रह गए हैं। गनीमत है, उन्होंने निबंध के अंत में अज्ञेय द्वारा हिंदी में पाँच कविताएँ संयोजित की हैं, जो उनकी सर्जनात्मकता की साक्षी हैं। यहाँ एक कवितांश दृष्टव्य है—

..."मेरे दीवार पर लिखे टोने से तुम
फिर भी देख लोगी मुझे

और जान लोगी उस निबिड़ अंधकार में
कि मेरा कटु कोसना तो बस तुम्हें पाने का सपना है।
लिख दूँगा दीवार पर तुम्हारा नाम, बिना प्रेम संबोधनों के
और पड़ा रहूँगा उसकी छाँह में थका-हारा रात भर।"

'दीवार पर नाम' (पृ. 433)

पुस्तक के प्रथम भाग का अंतिम लेख है—'गीताजंलि का अनुवाद'—जिसके अनुवादक रणजीत साहा ने ही, इसे लिखा है। हिंदी अनुवाद में मूल बाङ्ला 'गीतांजलि' की प्रशस्त भावभूमि, रवींद्रनाथ की मानसिकता, प्रियतम के प्रति उनके प्रेम निवेदन एवं अंतर्संवाद से समृद्ध पदावली की भी उन्होंने सोदाहरण चर्चा की हैं। 'गीतांजलि' में संगृहीत कुल 158 गानों (गीतों) को अनुदित करते हुए, उन्होंने उनमें अभिव्यक्त उदात्त भावों की गहनता को उसी तरलता और प्रांजलता के साथ रखने का यत्न किया है ताकि मूल की लयात्मकता बनी रहे। साहा ने बताया है कि "छंदोबद्ध गीतों को प्रत्येक पंक्ति ने अपनी संश्लिष्ट प्रकृति, प्रस्तुति एवं अन्विति ने उन्हें बार-बार उलझाया है। जहाँ कोई राह नहीं बची, वहाँ मैंने भूल को आघात पहुँचाए बिना, हिंदी में रखने की कोशिश की है।" (पृ. 445)

इस पुस्तक का दूसरा भाग मूलतः दो खंडों में विभक्त है—पहले में 'अनुवाद और अनुवादक' तथा दूसरे में 'अनुवाद के आयाम'। वैसे अनुवाद पर तो इस पुस्तक में आद्यंत चर्चा हुई है।

इस खंड के आरंभ में आचार्य सोमनाथ के अनुवाद कर्म पर विराट चर्चा करते हुए पूरनचंद टंडन ने उनकी चौदह मौलिक कृतियों के उल्लेख के साथ, उनकी छः अनुवाद परक कृतियों का विवेचन किया है। नौ उपशीर्षकों में विभाजित यह निबंध-मूल संस्कृत और सोमनाथ द्वारा ब्रजभाषा में अनुदित पाठांशों से पटा हुआ है, जिनमें वाल्मीकि रामायण, रास पंचाध्यायी, रामचरित्र रत्नाकर आदि संस्कृत ग्रंथों एवं फुटकर रचनाओं के लंबे-लंबे उद्धरण दिए गए हैं—जो विभिन्न प्रसंगों से संबद्ध हैं। निबंधकार ने इनका वैशिष्ट्य न बताकर अनुवाद संबंधी उन लक्षणों को विवेचित किया है, जो कहीं भी संयोजित किए जा सकते हैं। टंडन के अनुसार, "अनुवादक सोमनाथ ने अपनी सभी अनुदित कृतियों में यथासंभव मूलनिष्ठ रस-योजना को सुरक्षित रखने तथा तद्रूप प्रस्तुत कर संप्रेषित एवं अनुभूत कराने का सफल प्रयास किया है।" (पृ. 485)

अगले निबंध 'मल्लिनाथ' में वाचस्पति उपाध्याय ने बताया है कि कालिदास रचित 'रघुवंश', 'कुमारसंभव', 'मेघदूत' की संजीवनी टीका समेत मल्लिनाथ ने 'किरातार्जुनीय', 'शिशुपाल वध', 'नैषधीय चरित' आदि ग्यारह संस्कृत ग्रंथों की टीकाएँ की। इनमें उनके द्वारा गृहीत पद्धतियों, यथा घंटापथ (राजमार्ग), सर्वकष, जीवाणु, सर्वपथीना (जनपथ दे) तरल निष्कंटिका, सिद्धांजन एवं परिमल का विनियोग किया गया है—जिसे सुविज्ञ संस्कृत विद्वान ही अच्छी तरह समझ सकते हैं। उपाध्याय जी से सहमत होते हुए, निस्संदेह कहा जा सकता है कि मल्लिनाथ वेद-वेदांग, दर्शन आदि के साथ, विभिन्न शास्त्रग्रंथों के मर्मज्ञ और अपनी टीका पद्धति द्वारा उन्होंने संस्कृत के पठन-पाठन को उत्कर्ष पर पहुँचा दिया।

इसी क्रम में पोतन्ना (तेलुगु के भक्त कवि) की अनुवाद पद्धति को देवाकर्ल वेंकट वधानी ने- संस्कृत-तेलुगु-हिंदी-में प्रस्तुत किया है, ताकि वे अपने विचार हिंदी पाठकों तक सफलता पूर्वक पहुँचा सकें।

पोतन्ना ने 'भागवत', 'योगिनी दंडक' और 'नारायण शतक' जैसी कई कृतियों का प्रणयन किया। उनका भागवत अपने प्रांजल प्रवाह, स्वाभाविक वर्णन, रस संचार, विशद चरित्र-चित्रण एवं कल्पना प्रवण सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध है। उनका 'भागवत' अनुवाद होते हुए भी मौलिक ग्रंथ के रूप में मान्य है। तेलुगु के कवित्रय (नन्नय भट्ट, तिक्कना और एरप्रिगड- महाभारत

के रूपांतरकार) ने अपनी-अपनी कल्पना, मनीषा और समसामयिक परिस्थितियों के अनुरूप 'महाभारत' के प्रसंगों एवं प्रकरणों का विवेचन किया था। तेलुगु के कवियों द्वारा जिन तीन अनुवाद पद्धतियों का अनुसरण किया गया, वे हैं—इत्तिवृत्त का अनुवाद (अनुगमन), विचारों का अनुवाद एवं शब्दानुवाद। इनमें इतिवृत्त पद्धति को न केवल वरीयता बल्कि स्वतंत्रता भी दी गई। पोतन्ना के अनुवाद (रूपांतर) की तीन विशेषताएँ, लेखक के अनुसार, ये हैं—1. भक्ति प्रधान एवं आराध्य (भगवान) के महात्म्य वाले प्रसंग के साथ अपनी भावनाओं (विचारों) का संयोजन, 2. दार्शनिक विचारों का विवेचन करते हुए मूल के साथ श्रीधरीय भाष्य का अनुसरण, 3. विष्णु, हरिवंश एवं नृसिंह पुराण में 'भागवत' से संबद्ध प्रसंगों को छोड़ देने के औचित्य पर भी विचार किया है। भक्त कवि होने के साथ पोतन्ना ने एक विचारशील अनुवादक के नाते अपने रचनात्मक विवेक को भी मर्यादित बनाए रखा।

इसी खंड में रामचरित मानस के अंग्रेज़ी अनुवादों पर दो लेख-विश्वनाथ मिश्र और अवनिजेश अवस्थी-ने लिखे हैं, जो पूर्वापर संयोजित हैं। इस तथ्य को मान लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि रामचरित मानस का अंग्रेज़ी अनुवाद अत्यंत दुरूह है और सी. एफ. ग्राउज से लेकर रामचंद्र प्रसाद तक जो भी अनुवाद किए गए हैं, वे प्रयत्न साधित हैं, प्रयत्न सिद्ध नहीं।

विश्वनाथ मिश्र ने मानस के प्रथम अंग्रेज़ी अनुवादकों में ईस्ट इंडिया कंपनी के मुंशी अदालत ख़ान का उल्लेख किया है, जिन्होंने अंग्रेज़ शासकों के हिंदी ज्ञान को बढ़ाने के लिए मानस का अंग्रेज़ी अनुवाद 1871 में किया। इसे एक परिचयात्मक रूपांतर या पाठ-प्रस्तुति भर कहना उपयुक्त होगा। इसमें रामकथा थी, 'मानस' नहीं था। इसे शब्दानुवाद बताते हुए मिश्र जी ने कुछेक उदाहरण भी जोड़े हैं। जो भी हो, इस अनुवाद ने अपने शासकों का ध्यान आकृष्ट किया, जिससे प्रेरित होकर ग्राउज ने इसका अंग्रेज़ी अनुवाद प्रारंभ किया, जो 1883 ई. में प्रकाशित हुआ। यह गद्यानुवाद अंग्रेज़ी पाठकों द्वारा पढ़ा और सराहा तो गया लेकिन यह मानस की मूल भावना से कोसों दूर था। इसके बाद डगलस पी. हिल ने 1934 ई. में रा. च. मा. का अंग्रेज़ी अनुवाद प्रस्तुत किया। उन्होंने ग्राउज़ के अनुवाद को बेतुका (हेय) बताया। इधर हिल के अनुवाद को भी सामान्य बताया गया। वस्तुतः अंग्रेज़ी या अंग्रेजों की प्रयोगशाला में उस 'राम रसायन' की कमी थी, जिसकी रा. च. मा. की ज़रूरत थी। इस कमी को एक सीमा तक ए. जी. एटकिन्स के अंग्रेजी अनुवाद ने दूर किया। यह 1954 ई. में प्रकाशित हुआ। इसमें रा. च. मा. के भाव वैशिष्ट्य एवं अभिव्यंजना को सुरक्षित रखा गया था। इसमें कृति के साथ तुलसी दास के प्रति एटकिन्स की श्रद्धा और निष्ठा भी करागर साबित हुई। इस निबंध में उनके दो-एक उदाहरण ही दिए गए हैं।

बाद में जिन अंग्रेज़ी अनुवादों का उल्लेख हैं, वे सभी भारतीयों द्वारा किए गए हैं; यथा, रामचंद्र प्रसाद (1988 ई.) एस. पी. बहादुर, जिन्होंने छह खंडों में संपूर्ण तुलसी वाङ्मय (Complete works of Tulsidar) का अनुवाद किया है। इसी क्रम में चिमनलाल गोस्वामी (गीता प्रेस), सी. एल. ढोडी, अनिल सिन्हा और जे. एम. मैक्सी का नामोल्लेख भी निबंधकार ने किया है।

अवनिजेश अवस्थी ने 'रा. च. मा. के अंग्रेज़ी अनुवाद में एटकिन्स का योगदान' में उनके अनुवाद की विशेषताओं को रेखांकित किया है। एटकिन्स की भूमिका से ही कई उद्धरणों के साथ एटकिन्स और रामचंद्र प्रसाद के गद्यानुवाद की तुलना करते हुए, वह एटकिन्स के अनुवाद को तुलसीदास के अधिक निकट बताते हैं। एटकिन्स ने मानस के पद्यानुवाद में "न केवल अर्थ में अपितु अभिव्यंजना में भी मस्तक यह प्रयत्न रहा है कि दोहे, सोरठे, चौपाई

के अन्त्यानुप्रास को भी वे अंग्रेज़ी में सुरक्षित रख सकें।" (पृ. 534) अवस्थी ने अंग्रेज़ी अनुवादों की परंपरा में एटकिन्स के अनुवाद को 'मील का पत्थर' बताया है, लेकिन कई अंग्रेज़ी के आलोचक और विद्वानों की नज़र में यह अनुवाद भी कमोबेश 'किलोमीटर का पत्थर' ही है। अनुवाद कोई भी हो, पूर्णतः आश्वस्त नहीं कर पाता।

विष्णुकांत शास्त्री ने राखाल दास बंधोपाध्याय के बाङ्ला उपन्यास 'शशांक' के रामचंद्र शुक्ल द्वारा हिंदी अनुवाद पर विस्तार से चर्चा की है। आचार्य शुक्ल द्वारा अंग्रेज़ी से हिंदी में अनुदित कई महत्वपूर्ण कृतियों के उल्लेख के बाद, 'शशांक' की राजनीतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उन्होंने हवाला दिया है, जिनमें पुरातत्वविद् राखाल दास की विशेष रुचि थी। शुक्ल जी ने हर्षवर्धन के पूर्व गुप्तकालीन परिवेश में रचित कथा-वस्तुओं को ही नहीं इसकी संरचना भाषा-प्रकृति को भी, अपनी मानसिकता और हिंदी भाषा की प्रकृति बदल दिया। शास्त्री जी ने बाङ्ला भाषा की संश्लिष्टता और संस्कृतनिष्ठता को हिंदी की विश्लिष्ट प्रकृति में बदले जाने के साथ ही, कथ्य एवं संवाद को, आचार्य शुक्ल ने सुगम और मुहावरेदार बनाया है इसके अनेक उदाहरण दिए हैं। शुक्ल जी ने मूल उपन्यास की भूमिका का अनुवाद क्यों छोड़ दिया, इस पर आपत्ति की है। संभवतः इससे शुक्ल जी को कठिनाई होती, क्योंकि उन्होंने उपन्यास के अंत को बौद्ध नहीं, बल्कि हिंदू मानसिकता के अनुरूप परिणत कर दिया है। अनुवाद का अनुशासन तो इसे शुक्ल जी को निरंकुशता ही मानेगा।

कृष्णदत्त पालीवाल ने अनुवादक 'लक्ष्मण सिंह' निबंध के मूल में इस तथ्य पर बल दिया है कि "उन्नीसवीं सदी का आधुनिक भारतीय नवजागरण-विशेषकर हिंदी प्रदेशों में फैलने वाले नवजागरण का प्रकाश है, जिसमें अपनी परंपरा संस्कृति और सौंदर्य-संवेदना की पुनर्प्रतिष्ठा का भाव प्रबल है।" (पृ. 566) इसी प्रेरणा के फलस्वरूप भारतेंदु के एक सुदृढ़ स्तंभ के नाते लक्ष्मण सिंह ने 1884 ई. (संवत 1919) में 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का अनुवाद "बहुत ही सरस और विशुद्ध हिंदी में प्रकाशित किया।" पालीवाल ने विस्तार से हिंदी भाषा की भूमिका के संदर्भों के साथ लक्ष्मण सिंह के वक्तव्य को उद्धृत भी किया है, "जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज़ ग़ैर-मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिए और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नए-नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिए, जब तक कि हम लोगों को उनके जारी करने की ज़रूरत न साबित हो जाए।" (पृ. 557) कहना न होगा, उनके समय में ही संस्कृत प्रवण और फारसी बहुल उर्दू के बीच तीव्र विवाद ने हिंदू-मुस्लिम विवाद को जन्म दिया, जिसने विषम और विकृत रूपधारण कर लिया। लेकिन उस विवाद से परे, अनूदित पाठांशों के कई उद्धरणों द्वारा भूल संस्कृत और हिंदी की दूरी और नैकट्स को छंद योजना, भाव उपमा, भाषिक सर्जना की दृष्टि से निबंधकार ने रखा है। साथ ही यह भी स्वीकारा है—"यह अुनवाद मूल कृति की विषय-वस्तु और अंतर्वर्ती भावनाओं साथ काफी हद तक न्याय करता है, किंतु कालात्मक अनुभूति तक नहीं पहुँच पाता।" (पृ. 565)

दक्षिण भारत के महान तमिल कवि, चिंतक एवं स्वातंत्र्य प्रेमी सुब्रह्मण्यम भारती के बहुआयामी व्यक्तित्व का एक और महत्वपूर्ण पक्ष है, उनका समर्पित अनुवादक होना। विजय राघव रेड्डी ने अपने लेख में भारती द्वारा अनूदित डेढ़ दर्ज़न कृतियों के अनुवाद की सूचना दी है-जो उन्होंने संस्कृत, अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी और बाङ्ला से किए थे। तमिल में अनूदित इन कृतियों में जहाँ 'श्रीमद्भगवत् गीता', पतंजलि सूत्र, वैदिक ऋचाएँ हैं, वहाँ फ्रांसीसी से 'रत्न मौल', महान चिंतकों के नीति वचन, विक्टर ह्यूगों की गद्य रचनाएँ और अन्य कवियों की कविताएँ सम्मिलित हैं। अंग्रेज़ी उन्होंने जॉन स्कर (John Scur), रवींद्रनाथ की अंग्रेज़ी (में रूपांतरित) कविताएँ, श्री अरविंद की कविताएँ और निबंधों के अनुवाद किए। बाङ्ला से अनूदित

रचनाओं में रवीन्द्रनाथ की कहानियाँ एवं कविताएँ और निबंध के अलावा बंकिमचंद्र के 'वंदे मातरम्' गीत आदि सम्मिलित हैं। भारती की अनुवाद पद्धति में मूल रचनाओं के मुक्त अनुवाद में मूल के भानसाम्य की रक्षा करने और उसे तनिक भाषा में बोधगम्य बनाकर, प्रस्तुत करने पर जोर था। जहाँ आवश्यक हुआ, वहाँ मूल पाठ के अनुगमन के साथ तल समान भाव या संदर्भों की व्याख्या भी जुड़ जाती थी। उनके लिए अपने पाठकों को साहित्य मनीषियों की कृत से परिचित कराने के अलावा दीक्षित करना भी था।

राजेन्द्र प्रसाद 'गोस्वामी तुलसीदास' निबंध में 'सचेष्ट' अनुवाद के संदर्भ में 'सचेष्ट अनुवादक (?)- के तौर पर यह बताया है कि तुलसीदास ने रामचरित मानस में किन विभिन्न स्रोतों और ग्रंथों से अपनी उक्तियों को समृद्ध किया है। रामनरेश त्रिपाठी ने ऐसे बहत्तर ग्रंथों की सूची दी थी, जबकि कई विद्वानों के अनुसार तुलसी वाङ्मय में दो सौ से अधिक ग्रंथों एवं स्रोतों (जिनमें लोक भी शामिल है) का उल्लेख किया गया है, जिनमें से कुछ के उद्धरण इस लेख में दिए गए हैं। इनमें श्रीमद्भगवत पुराण, गीता, 'अध्यात्म रामायण', 'हनुमन्नाटक', 'भविष्य पुराण' 'प्रसन्न राघव', 'रघुवंश' आदि उल्लेख्य हैं। तुलसीदास ने इसके अनुवाद में राजशेखर प्रणीत 'काव्य मीमांसा' में उल्लेखित 'प्रतिबिम्ब कल्प 'पद्धति को अपनाया है, जिसमें व्यक्त अर्थ को "केवल दूसरे शब्दों में, कभी-कभी भाषा में और कभी संक्षेप के साथ विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है।" (पृ. 588)

अब्दुर्रहीम ख़ान ख़ाना की 'रहीम रत्नावली' (भूमिका : माया शंकर याग्निक) को आधार बनाकर हरीश कुमार सेठी ने उनके बहुभाषा विद् और सर्जनात्मक व्यक्तित्व की विस्तार से चर्चा की है। उस ऐतिहासिक तथ्य का ज़िक्र भी किया है कि उनकी प्रतिभा और अनुवाद क्षमता से प्रभावित होकर बादशाह अकबर ने उन्हें अपने पितामह बाबर (प्रथम मुग़ल बादशाह) की तुर्की में लिखित 'तुजुक-ए-बाबरी' का फ़ारसी में अनुवाद करने का दायित्व सौंपा। अरबी-तुर्की-फ़ारसी, संस्कृत, ब्रजभाषा में सुरक्षा और हिंदी के आरंभिक एवं प्रकरणों का इस सुदीर्घ लेख में काफी चर्चा है लेकिन हिंदी समाज में वे अपने प्रभावी दोहों और पदो के लिए पिछली चार सदियों से सुपरिचित हैं। रहीम ने अपने दोहों की निर्मित में संस्कृत वाङ्मय के अजस्त स्त्रोतों के अरगाहन (और लोक जीवन का निरीक्षण) किया वह रहीम की रूपातंरण (अनुवाद) क्षमता को दर्शाता है। "फारसी के अतिरिक्त भारतीय धर्म ग्रंथों के ज्ञान का शब्दानुवाद, छायानुवाद और भावानुवाद-रहीम की रचनाओं में देखा जा सकता है।" (पृ. 600) सेठी ने यह नहीं बताया है कि पूरनचंद टंडन द्वारा प्रस्तावित पद—'सचेष्ट' और 'अचेष्ट' अनुवादकों में रहीम किस श्रेणी में हैं, जबकि उन्होंने अपने लेख (पृ. 596-597) में कई बार इसे दोहराते हुए, यह निष्कर्ष दिया है—'सचेष्ट अनुवादक' के रूप में रहीम का स्वाभाविक, सरल-सरस अनुवाद रचनात्मक होता था (?), वहीं साहित्य-सृजन के दौरान किए गए 'अचेष्ट अनुवाद' में अनुवादक एवं सर्जक का प्रत्यक्ष रूप से तादात्म्य है।" (पृ. 597) "सचेष्ट अनुवाद के दौरान रहीम सृजनात्मकता को बनाए रखते थे ताकि अनूदित रचना सादगी लिए हो और उच्च कोटि की बने।" (पृ. 620)

ममता गुप्ता ने 'गुरु गोविंद सिंह' (सिक्खों के दसवें और अंतिम गुरु) के समग्र लेखन के बारे में लिखा है। वस्तुतः गुरु तेग बहादुर सिंह ने युद्ध कौशल की शिक्षा के साथ गोविंद सिंह को विविध भाषाओं में ज्ञान प्रदान करने के लिए विद्वान शिक्षकों की व्यवस्था की थी। इसी कारण गुरु गोविंद सिंह को संस्कृत, अरबी, फारसी, पंजाबी और ब्रजभाषा का अच्छा ज्ञान था। उनके द्वारा लिखित 'कृष्णावतार' (भागवत पुराण, दशम स्कंध) पर आधारित है। इसी तरह 'चंडी- चरित्र उक्ति विलास', 'चंडी चरित्र-2' और 'चंडी-दी-वार'- इन तीनों ग्रंथों की रचना

'दुर्गा सप्तशती' पर आधृत हैं। ये कृतियाँ भावानुवाद की कोटि में आती हैं। सिक्खों की भक्ति परंपरा और खालसा पंथ के संस्थापक के नाते गुरु गोविंद सिंह ने स्वयं एक संत योद्धा का चोला धारण किया था। उनके अन्य ग्रंथों—रामवतार और चौबीस अवतार में उन्होंने ओज, उत्साह, तेज और शौर्य का गौरव गान किया है। उनका 'दशम ग्रंथ' त्याग, बलिदान और स्वाभिमान का प्रतीक है और सिख पंथ में अत्यंत मान्य है।

'भाषाभूषण' नामक अलंकार-निरूपक ग्रंथ के प्रणेता महाराजा जसवंत सिंह की प्रसिद्धि एक रीतिबद्ध कवि आचार्य के रूप में है लेकिन उन्होंने अनुवाद कार्य को भी महत्वपूर्ण मानते हुए तीन प्रसिद्ध ग्रंथों को ब्रजभाषा में अनूदित किया, ये हैं—प्रबोध चंद्रोदय', 'श्रीमद्भगवत् गीता' और पद्मपुरण के अंतर्गत 'गीता महात्म्य'। चंद्र मोहन रावत ने इस निबंध में विस्तार पूर्वक 'प्रबोध चंद्रोदय' (कृष्ण मिश्र प्रणीत नाटक) के अनुवाद में जसवंत सिंह द्वारा ली गई छूट का भी उल्लेख किया है। वे बताते हैं—"उनका बल रचना के भाव, कथ्य को पाठकों तक संप्रेषित करने पर था, इसलिए वे भावानुवाद का रास्ता चुनते हैं, रचना के उन स्थलों को छोड़ते जाते हैं, जो विवादास्पद तथा अनावश्यक हैं। या जिनका भाव के साथ विशेष संबंध नहीं है।" (पृ. 638) गीता के पद्यानुवाद में उनकी वृत्ति अधिक रमी है। एक साधक के नाते भी उन्होंने इसे सरस और सरल बना दिया। इन अनुवादों में उनकी कारयित्री प्रतिभा के भी दर्शन होते हैं।

मैथिली शरण गुप्त (उमाकांत गोयल) श्रीधर पाठक (आरिफ़ नजीर), सूर्यकांत त्रिपाठी' निराला' (सूर्य प्रसाद दीक्षित) कृत अनुवादों पर काफ़ी कुछ लिखा गया है, वही बातें यहाँ भी दोहरा दी गई हैं। दीक्षित जी ने निराला कृत बाङ्ला से हिंदी में अनूदित कृतियों के बारे में कई नई सूचनाएँ दी हैं, जिन पर निश्चय ही अलग से विचार (बल्कि शोध) करने की आवश्यकता है। 'निराला' चूँकि वर्षों तक बंगाल (महिषादल इस्टेट) में रहे इसलिए किशोरावस्था से ही मूल वाङ्ला से हिंदी में अनुवाद करते रहे। बंगाल की पृष्ठभूमि और बाङ्ला की श्रेष्ठ कृतियों के अनुवाद कम गहरे जुड़े रहने के कारण, संबद्ध-कठिनाइयों और समस्याओं से वे अच्छी तरह परिचित थे। उनका मानना था, "भाषाओं के मुहावरे को जाने बिना अनुवाद में सफलता नहीं होगी। ...अनुवादक को सदैव मूल के अर्थ पर ध्यान रखना चाहिए। यदि मूल में कोई चमत्कार हो तो अनुवाद में भी चमत्कार दिखाना चाहिए।" (पृ. 664)

मोहन राकेश पर लिखित लघु लेख में नीलम फ़ारूकी ने राकेश द्वारा अंग्रेज़ी से हिंदी में अनूदित चार उपन्यासों—जो कहें पापा जो करे पापा (क्लैरेंस डे के लाइफ़ विद फ़ादर')', हिरोशिमा के फूल' (एविता मौरिस के 'फ़्लावर्स आफ़ हिरोशिमा') 'उस रात के बाद (ग्राहम ग्रीन के 'द एंड ऑफ़ द स्फ़ेयर') और हेनरी कृत 'द पोट्रेट ऑफ ए लेडी' का अनुवाद 'एक औरत का चेहरा'।

निबंध में इन उपन्यासों के अनूदित उद्धरणों से स्पष्ट है कि मोहन राकेश ने हिंदी की प्रचलित शब्दावली को ही अपनाया ताकि पाठकों को शब्दकोश की शरण में न जाना पड़े। यह बात भी लक्ष्य की जा सकती है, कि कई स्थानों पर राकेश भावानुवाद का सहारा लेते हैं या कथा-प्रस्तुति का। राकेश की ख्याति वस्तुतः संस्कृत से 'शाकुंतल' और 'मृच्छकटिक' के अनुवादों को लेकर है। निबंध में केवल 'शांकुतल' का ही उल्लेख है और इसके चयनित उद्धरण भी, जो हिंदी अनुवाद में संस्कृत मूल की तरह सुरक्षित हैं। यथा-

'सरसिजमनुबिं शैवलेनापिरम्यं
मलिनपि हिमांशोलक्ष्य तनोति।
इयमधिक मनोज्ञा कल्कलेनापि तन्वी

किमिवहि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।' (अंक 1, 20)

हिंदी अनुवाद–

सेवार से घिरा होने पर भी कमल/सुंदर ही रहता हैं
कालिमा के रहते भी/चाँद/चाँदनी छिटकाता है।
वल्कल के परिधान में भी/यह बाला
आकर्षक जान पड़ती है,
क्या है/जो एक रमणीय आकृति को
और रमणीय नहीं बना देता? (शाकुंतल पृ. 25-26)

मोहन राकेश ने अनुवाद क्रम में, मूल एवं अनूदित भाषा के तालमेल को तो बनाए रखा है लेकिन समयोचित और रंगमंचीय परिवर्तन भी किए उन्होंने स्वीकारा भी है, "मूल का अनुसरण करने के लिए लय और उन्नति की उपेक्षा कर जाने-से अनुवाद में बहुत-सी सीमाएँ अनुवादक की हो सकती हैं, पर कुछ समीाएँ ऐसी भी हैं, जो इस तरह के प्रयत्न में स्वतः अन्तर्निहित रहती हैं। फिर मूल रचना से आज का सदियों का अंतर-भाषा शिल्प, भाव योजना तथा परिकल्पना का अपने में ही एक सीमा है।" (पृ. 687)

अशोक कालरा ने कन्नड़ के विद्वान 'रघुनाथ राव' निबंध में उनके द्वारा 1910 ई. में लिखित 'The Art of Translation' की सूचना के साथ उसकी समीक्षा भी की है। यह सचमुच हैरान करने वाली लेकिन सुखद सूचना है कि भारत में इतने पहले अनुवाद कर्म की आवश्यकता पर ज़ोर देने के साथ कन्नड़ में अनूदित कुछ कृतियों की समीक्षा भी की गई है। उन्होंने कालिदास के अभिज्ञान शांकुतलम् के मोनियर विलियम के अंग्रेज़ी अनुवाद और वासवप्पा शास्त्री द्वारा कन्नड़ अनुवाद की कमियों को भी दर्शाया है। राव का सुझाव है–"दो भाषाओं में पाई जाने वाली भौगोलिक, पौराणिक, सामाजिक, अनुष्ठानगत और व्याकरणिक व्यवस्था में भिन्नता के कारण–इन स्थितियों में अनुवाद को अनुकूलन का सहारा लेना चाहिए।" (पृ. 696)

बौद्धग्रंथों, विशेषकर 'जातक' के छः खंडों में अनुवादक के नाते भदन्त आनंद कौसल्यायन (मूलनाम हरनाम दास) अत्यंत प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने भगवान बुद्ध के 'बुद्धालंकार' के अलावा बुद्ध वचनों के संग्रह 'धम्मपद' द्वारा एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की। इस निबंध के लेखक देवेश चंद्र का मानना है कि बौद्ध वाङ्मय पर गंभीर कार्य करने वालों का अभाव सचमुच चिन्त्य है। राहुल सांकृत्यायन तो उन्हें अपना ज्येष्ठ भाई ही मानते थे।

इस खंड के अंत में, 'अनुवादक राम विलास शर्मा' के अनुवाद कर्म का आकलन एवं विश्लेषण लेखक एवं अनुवादविद् रमण सिन्हा ने किया है। उन्होंने उन सभी कृतियों में निहित तथ्यों एवं उद्धरणों के सहारे लगभग पैंतालीस वर्षों (1933-1979) तक रामविलास शर्मा द्वारा अनूदित छोटी-बड़ी लेकिन महत्वपूर्ण पुस्तकों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। दुःख की बात है कि रामविलास जी के विपुल अनुवाद कर्म पर सुव्यवस्थित ढंग से अब तक कोई काम नहीं हुआ है। इस निबंध को ध्यान में रखकर अपेक्षा की जा सकती है कि श्री सिन्हा इस शोधपूर्ण निबंध को प्रबंध का रूप देंगे।

रामविलास जी निरलस भाव से आजीवन लेखन कार्य करते रहे और उन्हें बहुत निकट से देखने का मुझे अवसर भी मिलता रहा। मिशनरी भाव से किए गए लेखन का पचास प्रतिशत हिस्सा अनुवाद से जुड़ा है क्योंकि उनकी मौलिक पुस्तकों में भी कई महत्वपूर्ण तथ्यों एवं संदर्भों के अंश अंग्रेज़ी, संस्कृत, बाङ्ला आदि भाषाओं से अनूदित हैं। रामविलास जी ने अपने अनुवाद कार्य का आरंभ विवेकानंद जी की पुस्तिका 'भक्ति और वेदांत' (1933) से किया था। इसी क्रम में उनकी 'कर्मयोग', 'राजयोग' के साथ न्यूयॉर्क में दिए गए उनके भाषण 'माई मास्टर'

का अनुवाद भी जुड़ गया।[2] बाद में मार्क्सवाद से संबद्ध रहने के कारण रामविलास-कार्लमार्क्स, स्तालिन, माओ की रचनाओं का अनुवाद किया। यद्यपि सारे अनुवाद अंग्रेजी से किए गए थे। बुल्गारिया के क्रांतिकारी कवि वप्त्सारोव की 26 कविताओं के साथ, मित्रों के आग्रह पर बाङ्ला से काजी नजरूल इस्लाम की प्रसिद्ध कविता 'विद्रोही' का भी अनुवाद किया।

रामविलास जी ने 'सोवियत संघ की कम्युनिष्ट पार्टी (बोल्शेविक) का इतिहास', रजनी पात्र दत्त की पुस्तक 'India Today' का 'आज का भारत', माओत्सेतुंग ग्रंथावली के प्रथम भाग का कार्ल मार्क्स के 'दास कैपिटल' के दूसरे भाग का 'पूँजी' शीर्षके से अनुवाद किया।[3] उन्होंने अपने अपने साक्षात्कारों में अनुवाद कर्म के बारे में भी अपने विचार व्यक्त किए थे। रमण सिन्हा वे अपने निबंध का अंत इस निष्कर्ष के साथ किया है—"छायावाद और नई कविता के संधि-स्थल पर किया गया। उनका काव्यानुवाद जहाँ निराला के पीछे-पीछे चलता दिखाई देता है, वहीं गद्यानुवाद के क्षेत्र में प्रेमचंद के।" (पृ. 727)

इस पुस्तक का अंतिम खंड (पाँच) 'अनुवाद के आयाम' के अंतर्गत नौ लेख सम्मिलित हैं। नाटकों के अनुवाद की समस्याओं पर क्रमशः नेमिचंद्र जैन और डॉ. नगेन्द्र ने प्रकाश डाला है। नेमिजी ने हिंदी अनुवाद कार्य के परिदृश्य को दयनीय बताते हुए काव्य और नाट्य-दोनों के अनुवाद में बरती जाने वाली सावधानियों को बिना कोई, उदाहरण दिए, उल्लेख भर किया है।

जबकि डॉ. नगेन्द्र ने संस्कृत, कन्नड़, बाङ्ला, मराठी से अनूदित नाटकों के हवाले से इनके कथ्य, और संवाद में घर पर तालमेल का अभाव और हिंदी की असार्थता का उल्लेख किया है। उन्होंने आंचलिक बोलियों के साथ, हास-परिहास और व्यंग्य के भाषांतरण का प्रश्न भी क्योंकि बहुत-से शाब्दिक वाग्वैदग्ध्य का तो कोई अनुवाद हो ही नहीं सकता। पिछले सौ वर्षों में शेक्सपियर के नाटकों के बेशुमार अनुवादों और रूपांतरों के बारे में वे कहते हैं—"ज्यादातर तो ये अनुवाद नहीं अपितु शेक्सपियर के नाटकों के कथानों में मौजूद अति-नाटकीय प्रसंगों के और भी अतिरंजित प्रस्तुतिकरण मात्र हैं। अनेक अनुवाद इतेन शाब्दि और भ्रामक हैं कि वे विचारणीय ही नहीं। रांगेय राघव ने बहुत सारे नाटकों का अनुवाद बड़े यांत्रिक ढंग से फीके और निर्जीव गद्य में कर डाला।" (पृ. 746-747) रघुवीर सहाय के 'मैकबेथ' का 'बरनभवन' में शेक्सपियर की व्यगत अंतदृष्टि के संप्रेषण एवं नाटकीयता की प्रशंसा करते हुए भी, यह बताने से नहीं चूकते कि इसके कई अंश छोड़ दिए गए हैं, कई जगह अर्थ और संदर्भगत सावधानी नहीं बरती गई है। डॉ. नगेन्द्र के संस्कृत नाटकों के मोहर राकेश, भारतभूषण अग्रवाल और बी. वी. कारंथ के अनुवादों के साथ हबीब तनवीर द्वारा 'मृच्छकटिक' और 'उत्तर रामचरित' के छत्तीस गढ़ी और मदन सोनी द्वारा 'मालकिाग्निमित्र के बुंदेली अनुवाद का भी ज़िक्र किया है, जो नाट्यविधा में उनकी रुचि और पैठ को भी दर्शाती है।

'कथा-साहित्य का अनुवाद' निबंध में रणवीर रांग्रा ने अनेकार्थकता को सर्जनात्मक साहित्य का गुण बताते हुए, जैनेन्द्र कुमार लिखित उपन्यास 'त्यागपत्र' का अज्ञेय द्वारा अंग्रेज़ी अनुवाद 'The Resignation' की पाठगत समीक्षा की है। इसमें अज्ञेय द्वारा ली गई स्वतंत्रता के कई प्रकरणों एवं उद्धरणों के सहारे रांग्रा ने अज्ञेय के अनुवाद को रूपांतर या भावानुवाद से भी आगे 'टीका' की संज्ञा दी हे। जबकि पाठक इसे मूलनिष्ठ अनुवाद मानता रहा है। 'The Resignation' का नया अनुवाद जब 1960 में निकला तो यह "मानो एक नई कृति ही बन गई।" (पृ. 775)

निबंधकार रांग्रा ने कृष्णा सोबती के उपन्यास 'सूरजमुखी अँधेरे के' कविता नागपाल द्वारा अंग्रेज़ी में अनूदित 'ब्लासम्स इन डार्कनेस' से निराशा व्यक्त की है और उनकी यह निराशा श्रवण कुमार द्वारा 'बवंडर' कहानी के 'Storm' शीर्षक से स्वयंकृत अंग्रेज़ी अनुवाद को पढ़कर

और भी गहरा गई है। उन्होंने राजा राव की दो अंग्रेज़ी कहानियों के विमला मोहन द्वारा किए गए हिंदी अनुवाद के उदाहरण भी दिए हैं। अंत में, रांग्रा की इस टिप्पणी को उद्धृत करना शोध अध्येताओं के लिए उपयोगी होगा कि "अज्ञेय का अनुवार प्रभावधर्मी, विमला मोहन का पाठधर्मी और श्रवण कुमार का अंग्रेज़ी अनुवाद, दोनों प्रक्रियाओं का सम्मिश्रण है।" (पृ. 761)

'लोक-साहित्यानुवाद'—जैसे विषय पर विजय कुमारन सी. पी. वी. ने विचार करते हुए, कबीर के पद (अविनासी दुलहा कब मिलिहौ) के प्रभाकर माचवे और सूरदास के पद (मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो) के उषा विल्सन कृत अंग्रेज़ी अनुवाद को उद्धृत किया है। माचवे ने 'विरहिनी' और 'विरहा' शब्द को जहाँ यथावत् ('इटैलिक'-italic) में रखा हैं; वहाँ विल्सन ने अंग्रेजी दो पाठकों अपने पाठान्तर (छंदमुक्त) में, अँधेरे में नहीं रखा है। इनके समतुल्य या समकक्ष शब्द प्रायः विषम समाज या संस्कृति में नहीं मिलते-ऐसे लोकधर्मी शब्दों या पदों के 'अल्पानुवाद (under transtation) पर्याप्त प्रमाण में उपलब्ध हैं। 'आधा गाँव', 'बसंती', 'रागदरबारी' 'मैला आँचल' आदि उपन्यासों में लोक संस्कृति के अनेक चिह्नों और पदावलियों पर विस्तार से विचार किया जाता तो यह लेख अधिक उपयोगी होता। निबंधकार ने ब्रजभाषा के स्थान पर 'ब्रजबुलि' का प्रयोग किया है, जो ग़लत है।

सुरेश सिंहल का निबंध 'अन्य साहित्यिक गद्य-विधाओं का अनुवाद' न तो प्रस्तावित विषय वस्तु से संबंधित है और न अपनी पाठ सामग्री में स्पष्ट। पाठक इसे पढ़कर हताश होंगे।

'कम्प्यूटर (मशीन) अनुवाद' पर विस्तारपूर्वक और क्रमानुसार इसकी वैज्ञानिक प्रक्रिया और पद्धतियों को समझाया है। मानव बनाम मशीन या मानव-सह-मशीन को चरणबद्ध ढंग से रखते हुए, विश्लेषण (Analysis), अंतरण (Transfer), पुनर्गठन (Reorganization/Re-construction) आदि को प्रविधिगत विकास के साथ-भारत में किए जा रहे (उपक्रमों/प्रयासों) एवं कार्यक्रमों का ब्योरा भी दिया है। इस प्रविधि या तकनीक का उद्देश्य है—एक भाषा से दूसरी भाषा में संदेश। इसमें संरचना (structure) माध्यम है, अंतरण (transfer) प्रक्रिया है और संदेश (message) लक्ष्य है। पिछले दो दशकों में, मशीन अनुवाद से संबंधित और उन्नत प्रविधियाँ और उपकरण विकसित हुए हैं—क्योंकि इस अनुवाद में विज्ञान ही कोई नई पहल विकसित करने के सुझाव को चुनौती के रूप में लेता है। लेकिन इस दिशा में अभी भी आंशिक सफलता ही मिली है और एक सीमा तक ही यह अनुवाद में सहायक हो पाया है।

अनुवाद समीक्षा से संबद्ध दो लेख भी इस खंड में हैं, पहला सुरेश कुमार का और दूसरा ए. अरविन्दाक्षन का। सुरेश कुमार का मानना है कि अनुवाद समीक्षा अपेक्षाकृत एक अलग विद्या है, इसकी स्वतंत्र प्रकृति और महत्ता है—"जिस प्रकार साहित्य समीक्षक के लिए साहित्य सर्जक होना अनिवार्य नहीं, उसी प्रकार अुनवाद समीक्षक के लिए अनुवादक होना अनिवार्य नहीं।'' (पृ. 809) उन्होंने अनुवाद समीक्षा के दो आयाम बताए हैं—वर्णनात्मक और तुलनात्मक। पहला, द्विपक्षीय (एक मूल पाठ के साथ अनूदित पाठ; जबकि दूसरा त्रियक्षीय मूल पाठ और न्यूनतम दो अनुदित पाठ। इसे उन्होंने कुछ उदाहरणों से पुष्ट भी किया है। ए. अरविन्दाक्षन ने 'अनुदित' रचनाओं के मूल्यांकन के प्रतिमान' निबंध में, प्रतिमानों का संधान करते हुए यह पाया है कि कैसे आलोचना (यहाँ समीक्षा) का विश्लेषणात्मक और व्याख्यात्मक पक्ष, मुख्य होते हुए भी, सृजनात्मक एवं संवेदनात्मक अन्वेषण में बदल जाता है। "अनुवाद तभी पुनःसृजन हो जाता है, जब वह दो भाषाओं की संवेदनाओं के बीच सेतु के रूप में उपस्थित हो...श्रेष्ठ अनुवाद की गुणवत्ता की आधार शिला संयमित भाषा का सृजनात्मक उपयोग है।" (पृ. 819) काव्यानुवाद के संदर्भ में आत्मपक्ष की प्रमुखता रहती है—"अनुवाद में इसे अनदेखा नहीं किया

जा सकता।...अनुवादक के व्यापक परिचय (अनुभव) से ही अनूदित रचना वांछित सृजनात्मकता अर्जित कर सकती है।" (पृ. 821)

पुस्तक का अंतिम निबंध है, दिलीप सिंह लिखित 'तुलनात्मक अनुवाद'—जिसमें वे तुलनात्मक साहित्य की भूमिका को भारतीय साहित्य के संदर्भ में देखने के साथ सर्जनात्मक साहित्य को केवल सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति ही नहीं, सामाजिक यथार्थ की दृष्टि से भी परखने का आग्रह करते हैं। तुलनात्मक साहित्य के लिए वे रवींद्रनाथ श्रीवास्तव द्वारा सुझाए गए तीन धरातलों का उल्लेख करते हैं—कथानक, साहित्यिक आंदोलन और विधा (विशेष)। इनकी व्याख्या के साथ दिलीप सिंह भाषाविद् रोमन याकोब्सन के लेख ('ऑन लिंग्विस्टिक आसपेक्ट आव ट्रांसलेशन') द्वारा अंतः भाषिक, अंतरभाषिक और अंतर-प्रतीकात्मक अनुवाद के अनुरूप तुलनात्मक साहित्य की सोदाहरण व्याख्या भी करते हैं। वे इस लेख में डॉ. नगेंद्र को भी उद्धृत करते हैं—"तुलनात्मक साहित्य वास्तव में एक प्रकार का अंतःसाहित्यिक अध्ययन है, जो अनेक भाषाओं के साहित्य को आधार मानकर चलता है और जिसका उद्धेश्य होता है—अनेकता में एकता का संधान।" (पृ. 829) विभिन्न विद्वानों, संदर्भों और उद्धरणों से समृद्ध इस लेख की परिणति होती है—वर्ल्ड लिट्रेचर (गेटे) या विश्व साहित्य (रवींद्रनाथ) की संकल्पना से, जहाँ समग्र विश्व और संपूर्ण साहित्य एक हो जाता है—"Where all literature and world become one."

पुनःश्च :

वैसे साहित्य अकादेमी ने उत्साहपूर्वक इस पुस्तक का प्रकाशन अवधेश कुमार सिंह के निधन के एक डेढ़ वर्ष वाद (2020 ई.) में ही कर दिया, लेकिन अगर वह जीवित होते तो निश्चय ही इसका स्वर और स्वरूप सर्वथा अलग होता। तब संभवतः सामग्री के चयन, विषयवार खंडों का निर्धारण एवं पुनर्गठन में भी परिवर्तन होता। पुस्तक में जो बात अधिक अखरती है वह है ग़लतियों की भरमार। संदर्भगत त्रुटियों और वर्तनी (एक ही पृष्ठ पर नामों और कृतियों में) पार्थक्य आदि के कारण खीझ पैदा होती है। कुछ पृष्ठों (यथा, 21, 77, 127, 239, 296, 549) पर ढेरों अशुद्धियाँ हैं। साहित्य अकादेमी की स्वीकृत वर्तनी के बदले कई जगह 'अकादमी (Academy) छपी है, जो लापरवाही ही दर्शाती है। और हाँ, आवरण (जो बेहद ख़राब है), इसे भी बदलने को लेकर सोचना होगा।

संदर्भ :

1. ये दोनों अनुवाद 'योगायोग' (इलाचंद्र जोशी) और 'गोरा' साहित्य अकादेमी से प्रकाशित हैं।
2. "यह अनुवाद शाब्दिक न होकर लक्ष्य भाषा की सांस्कृतिक अपेक्षाओं के मद्देनज़र हुआ है...गीता का मूल श्लोक (यदा यदा हि...) तो यहाँ उद्धृत है ही 'कम डाउन' अवतार और एशिया में भी रूपांतर हो गया है... वे अंग्रेज़ी को ज़्यादा से ज्यादा हिंदी संरचना में ढाल देना चाहते हैं।" (पृ. 711)
3. रामविलास जी की विचारधारा कभी अस्पष्ट नहीं रही, विवेकानंद के अनुवाद को छोड़ दें तो उनके सारे अनुवाद मार्क्सवादी विचारधारा को पुष्ट करने के लिए किए गए हैं। ये सारे अनुवाद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रकाशन गृह से छपे और जैसा कि अनुवादक की आत्म-स्वीकृति है कि उन्होंने उसके लिए कभी पैसे नहीं लिए। अपनी धरती अपने लोग 'खंड एक, पृ. 167

पुस्तक : हिंदी अनुवाद विमर्श (दो भागों में)/संपा.-अवधेश कुमार सिंह/साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली/2019

संपर्क : एमजी 1/26, विकासपुरी, नई दिल्ली-110018, मो. 9811262257

असहमति में उठा एक हाथ : रघुवीर सहाय की जीवनी

कर्मेन्दु शिशिर

'असहमति में उठा एक हाथ' विष्णु नागर की लिखी रघुवीर सहाय की जीवनी है। सच पूछिये तो यही वह केंद्रीय विन्दु है जो रघुवीर सहाय के जीवन और सृजन को प्रतिबिंबित करती है। ऐसी असहमति जिसमें कोई उग्रता नहीं दिखती बावजूद इसमें अंदरूनी ताप भरपूर महसूस होता है। रघुवीर सहाय का व्यक्तित्व और सृजन ऐसा ही था। इसी विचार-बिन्दु से बँधी सृजन की वह तनी हुई रस्सी है जिस पर चलकर नागर जी ने रघुवीर सहाय के जीवन को समझने या कहिये उकेरने की कोशिश की है। वैसे तो किसी भी विधा में कोई भी श्रेष्ठ लेखन हमेशा एक चुनौती होता है, वह भी खासकर जीवनी लेखन। हिंदी में अभी तक जिन रचनाकारों की जीवनियाँ लिखी गई हैं उनकी तुलना में किसी आधुनिक रचनाकार की जीवनी लिखना ज्यादा मुश्किल भरी चुनौती है। भारतेन्दु, निराला, प्रेमचंद, शरतचंद्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी या नागार्जुन की जिन्दगी में अपेक्षाकृत अधिक आकर्षण है क्योंकि उनका जीवन ज्यादा औपन्यासिक, घटना बहुल है। उनका जीवन-चरित लिखने में अधिक नाटकीय रचने की गुंजाइश होती है। समय और परिवेश के साथ जिन्दगी में जो बदलाव आता है वह आधुनिक जीवन वाले नायक के लिये ज्यादा स्पेस नहीं छोड़ता। अब तो मजाज, उग्र, भुवनेश्वर या राजकमल चौधरी होने की गुंजाइश तो दूर की बात है, रेणु या त्रिलोचन जैसी जिन्दगी को भी शायद ही यह समय और समाज जीने की इजाजत दे। ऐसे में रघुवीर सहाय जैसे निहायत शालीन, भद्र, गंभीर और थोड़े अंतर्मुखी व्यक्तित्व वाले रचनाकार को जीवनी के लिए नायक का वरण करना निश्चय ही चुनौतीपूर्ण कार्य था। बावजूद नागर जी ने न सिर्फ इसे स्वीकार किया बल्कि अपने कठिन अध्यवसाय, दृष्टि संपन्नता और दीर्घ एकाग्रता से पूरा भी कर दिया। यह भी चार सौ पृष्ठों में ऐसी जो हिंदी के जीवनी लेखन के लिए एक नजीर सी बन गई। ऐसा मैं इसलिए कह रहा हूँ कि जीवनीकार को लेखक के बाहरी जीवन से अधिक उसके अंदरूनी इलाकों की पड़ताल करनी पड़ी है। जो निश्चय ही बहुत सुगम नहीं। उनके जीवन के अदीठ पहलुओं तक पहुँचना

और एक-एक परत को उकेरने में नागर जी की दक्षता और लेखन कौशल का लोहा मानना पड़ता है।

फिर जैसा कि विष्णु नागर का गद्य है, ऐसा कि शुष्क दिखती हुई जमीन को थोड़ा कुरेदिये तो अंदर का गीलापन साफ-साफ दिखने लगता है। उनमें एक ऐसा आत्मसंयम और संतुलन है कि वे कहीं भी थोड़ा-सा भी बहते-बहकते नहीं है। उनमें ठीक आपरेशन करने वाले डाक्टरों जैसी भावहीन निर्वैयक्तिकता और अविचलन भरी तटस्थता है। नागर जी ने इस जीवनी लेखन में इसका शुरू से आखिर तक निर्वाह करते हुए रघुवीर सहाय की सोच और स्वभाव को एकदम हू-ब-हू समझने की कोशिश की है। उनकी कोशिश इतनी हठीली है कि वे उनके जीवन संदर्भों के बीच से ही नहीं, उनके समीप के लोगों की प्रतिक्रियाओं और संस्मरणों से ही नहीं, बल्कि उनकी रचनाओं के सुरंग से भी उनके अंदरूनी इलाकों तक जाते हैं। उन्होंने जिस तरह उनके जीवनानुभवों, जीवन-प्रसंगों और रचनाओं के संदर्भों में इसकी तलाश की है, उसके साक्ष्य बार-बार देखने को मिलते हैं। श्रम, मेधा और दृष्टि के एकत्व से भरे अनेक मार्मिक स्थल आपको विस्मित कर देते हैं। पूरी जीवनी में कहीं भी सूत-भर न तो अनुकंपा वाली छूट दिखती है और न ही अवज्ञा भरा कोई आग्रह। पूरी जीवनी एक सृजनात्मक यात्रा के पाठ-सुख से भरी हुई है। ऐसा सधा संतुलन इतने लंबे गद्य लेखन में बहुत कम ही देखने को मिलता है।

रघुवीर सहाय आधुनिक रचनाकार थे। जीवनीकार विष्णु नागर से उनके निजी संबंध भी थे। नागर जी के लिए उनसे जुड़े लोगों की अच्छी खासी संख्या में मौजूदगी भी सुलभ थी। उन पर लिखे संस्मरण भी थे, पत्र थे। मसलन उनके जीवन के प्रसंगों के अलोप या संदिग्ध होने की भी कोई गुंजाइश नहीं थी। नागर जी इन तमाम उपलब्ध सुविधाओं और सामग्री के बावजूद संतुष्ट नहीं थे। उनकी इस जीवनी को पढ़ते हुए लगता है जब तक ये सारे स्रोत-साक्ष्य उनकी रचनाओं से अभिप्रमाणित नहीं होते, तब तक वे संतुष्ट नहीं हो पाते। रघुवीर सहाय संबंधी जीवन के सुज्ञात और सुलभ प्रसंगों के साथ उनकी रचनाओं की संगति इस जीवनी को सृजनात्मक स्तर पर बहुत उर्वर बना देती है—मूल्यवान और आकर्षक भी। उनके जीवनी लेखन का सबसे अधिक रचनात्मक पक्ष यही लगता है।

रघुवीर सहाय का परिवार आर्यसमाजी था और बचपन से ही इसके संस्कारों का गहरा असर था। वे परिवार में अपने पिता से बहुत ज्यादा प्रभावित थे। उनको पिता भी ऐसे मिले थे जो उस जमाने में तो लगभग अपवाद ही थे। परिवार में उतनी आजादी की तो तब गुंजाइश ही नहीं होती थी। बच्चा जो करना चाहे करे, जो पढ़ना चाहे पढ़े, जो बनना चाहे बने, यह सब उसकी इच्छा और समझ पर निर्भर था। वह चाहे तो पिता से तर्क-वितर्क कर सकता है। वे बेटों के निर्णयों में हस्तक्षेप करने वाले पिता थे ही नहीं। अलबत्ता राय-विमर्श में वे सहायक जरूर हो सकते थे। नागर जी ने इस आसंग में एक बड़ी ही दिलचस्प घटना का उल्लेख किया है। एक बार रघुवीर सहाय अपने पिता के साथ ट्रेन में लखनऊ लौट रहे थे। बेटे की कुछ असामान्य बेचैनी को पिता बहुत देर से लक्षित कर रहे थे। आखिर में उन्होंने बड़ी सहजता से कहा—तुम्हें सिगरेट पीने की तेज तलब हो रही है। उधर बाथरूम की ओर चले जाओ और पीकर आ जाओ। पिता के रिश्तों के साथ नागर जी रघुवीर सहाय की कविता- ''शक्ति दो/शक्ति दो, बल दो, हे पिता''—का स्मरण करते हैं। जाहिर है संदर्भ के साथ इस कविता का मर्म और पिता के साथ रिश्ता दोनों विशिष्ट हो उठता है। पिता की यह प्रेरणा 'असहमति में उठे एक हाथ' के आसंग में भी गौरतलब है। हर मुश्किल वक्त में यह ताकत उनको बल देती है। यह उनके व्यक्तित्व की गठन, मानसिक बुनावट और रचनात्मकता के

मूल में भी विन्यस्त है।

रघुवीर सहाय का बचपन, शिक्षा और शुरुआती साहित्यिक गतिविधियों का केंद्र लखनऊ ही रहा। इस बहाने नागर जी ने तत्कालीन लखनऊ के समाज, शैक्षणिक और सांस्कृतिक-साहित्यिक केंद्रों के यथार्थ टटोलने की कोशिश की है। उन दिनों लखनऊ हिंदी-उर्दू लेखकों का बड़ा ही जीवंत केंद्र था। लखनऊ की तहजीब शुरू से असांप्रदायिक रही है और उर्दू-हिंदी दोनों भाषाओं का वह प्रमुख साहित्यिक मरकज रहा है। यही स्थिति इलाहाबाद और वाराणसी की भी थी। नई पीढ़ी की एक ऐसी जमात थी जिसका लखनऊ और इलाहाबाद अक्सर आना-जाना था। दिल्ली जाने के पूर्व रघुवीर सहाय की सक्रियता में इलाहाबाद शामिल था। इस जीवनी में लखनऊ के तत्कालीन साहित्यिक जिन्दादिली का बड़ा ही मोहक वर्णन है। आप उस समय के लखनऊ के कॉफी हाउस वर्णन का छोटा-सा अंश देखिये—''लखनऊ में वैचारिक मतभेदों के बावजूद लेखकों का आपस में मिलना-जुलना खूब था, साहित्य की गहमागहमी थी। लखनऊ का कॉफी हाउस दिन भर हिंदी-उर्दू के लेखकों से खचाखच भरा रहता था। x x x यशपाल, अमृतलाल नागर, इलाचंद्र जोशी, भुवनेश्वर, मजाज, सलाम मछलीशहरी, अली अहमद सुरूर की अलग-अलग मेजे हुआ करती थीं। लखनऊ आने पर डॉ. राममनोहर लोहिया या डॉ. केसकर की मेज के आसपास भी मजमा जमता था।''(47) कॉफी हाउस खुलने से बंद होने तक एकदम गुलजार रहता। फिर वे बड़ी सहजता से एक बेहद दिलचस्प घटना जोड़ देते हैं- ''नाटककार भुवनेश्वर भी अक्सर कई दोस्तों से घिरे होते थे और बहस का केंद्र होते थे। x x x उनकी बहस में इतनी कशिश होती थी कि उनके तर्कों से तंग आ चुके लोगों का भी वहाँ से उठकर जाने का मन नहीं होता था। जोशी जी के अनुसार मजाज और भुवनेश्वर कॉफी हाउस से तभी उठते थे, जब कोई प्रशंसक, कॉफी से बेहतर चीज पिलाने का प्रबंध कर देता था। ''(47) आप इस गद्यांश को बस उटकेरना शुरू कीजिए—इसमें भुवनेश्वर की प्रखर प्रतिभा, अपने समकालीन साहित्यिकों के बीच उनका जलवा, उनकी बेफ्रिक मस्ती और बोहेमियनपना—सारा कुछ एक साथ जीवंत हो उठता है। जबकि गद्य कहीं काव्यात्मक नहीं होता, न ही कोई अतिरिक्त शिल्पगत कोशिश दिखती हैं। एकदम सहज और बतकही वाला गद्य।

विष्णु नागर ने यह लिखा है कि लखनऊ में ही रघुवीर सहाय की साहित्यिक अभिरुचियाँ सामने आने लगी थीं। शुरुआत उन्होंने छंदोबद्ध लेखन से किया और मात्रा 14 साल की उम्र में 'वीर शिवाजी' नाम से जो गाना लिखा उसका बाद में रिकार्ड बना। उस समय उन पर बच्चन जी, गिरिजा कुमार माथुर और रामकुमार वर्मा जैसे कवियों का असर था। खासकर बच्चन जी का उन पर बहुत गहरा प्रभाव था। बाद में वे कहते भी थे कि ''बच्चन जी की अतुलनीय लोकप्रियता का रहस्य दरअसल वह स्मृति है जो बच्चन ने बचपन से किशोरावस्था तक अपने परिवेश और पुरखों से हासिल की थी।'' लखनऊ में उनके तीन अत्यन्त अंतरंग साहित्यिक मित्र बने जो अंत-अंत तक बने रहे—कृष्णनारायण कक्कड़, कुँवर नारायण और मनोहर श्याम जोशी—जिन्होंने आगे चलकर उन पर किताब भी लिखी। लखनऊ में उनकी साहित्यिक-सांस्कृतिक सक्रियता के कुछ और आयाम भी थे। वे नाटकों में भी हिस्सा लेते थे और संगीत में भी उनकी रुचि थी। बाद में इप्टा से जुड़े जिसके अनुभवों का उन्होंने आगे रचनात्मक इस्तेमाल भी किया। लेकिन इस सबके बीच उनका सबसे उल्लेखनीय पक्ष रहा—प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ना।

लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ काफी सक्रिय था और उससे हिंदी-उर्दू के तमाम बड़े लेखक जुड़े थे। उसकी नियमित गोष्ठियाँ होती और रचना-पाठ भी। लेकिन इसमें कुछ वैचारिक

और कुछ शायद ऐसी व्यावहारिक अड़चनें पैदा होने लगीं कि उससे सभी का जुड़े रहना संभव नहीं हो सकता। अंततः रघुवीर सहाय और उनके कुछ साथियों ने एक अलग संगठन गठित **fd ;kµ लखनऊ लेखक संघ**। 1950 में गठित इस संघ का प्रगतिशील लेखक संघ से कोई मन मुटाव नहीं था। कोई आपसी विवाद या तिक्तता भी न थी। कक्कड़ जी और नरेश मेहता की भी इसमें सक्रिय भूमिका थी। यहाँ तक कि इस नये संघ के गठन में यशपाल और अमृतलाल नागर का भी साथ मिला। 8 अप्रैल 1951 को लखनऊ लेखक संघ का विधान सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। रघुवीर सहाय, कक्कड़ और नरेश मेहता ने नये लेखकों से संवाद स्थापित करने में पहल की। इसका संयोजन रघुवीर सहाय ही करते। इसमें प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े तमाम दिग्गज साहित्यकार, अमृतलाल नागर, रजिया सज्जाद जहीर, भगवतीचरण वर्मा, बाकर मेंहदी, सुरूर, भगवतशरण उपाध्याय, इलाचंद्र जोशी, गिरिजा कुमार माथुर, शिवमंगल सिंह सुमन, शमशेर बहादुर सिंह और यशपाल जैसे तमाम लेखक बराबर भाग लेते। वैचारिक मतभेदों की चर्चा के बावजूद ये गोष्ठियाँ बहुत सौहार्दपूर्ण वातावरण में होती। विचारों के कारण लेखकों के आपसी रिश्तों में कोई कटुता नहीं थी। एक बार इसकी गोष्ठी में स्टीफन स्पेंडर भी आये। इसमें लोग अपनी रचनाओं का पाठ करते और बहसें होतीं। उधर इप्टा की तर्ज पर **'लखनऊ नाट्य संघ'** भी बना जिसमें अनेक महत्त्वपूर्ण नाटक मंचित हुए और कुछ आकाशवाणी से प्रसारित भी। विष्णु नागर ने इसकी सक्रियता को पूरे विस्तार से लिखा है।

इधर रघुवीर सहाय अंग्रेजी में तृतीय श्रेणी से एम.ए. करने के बाद नौकरी की तलाश में थे। अज्ञेय जी इलाहाबाद से 'प्रतीक' निकालते थे जिसमें उनकी कुछ कविताएँ प्रकाशित हुई थीं। उनका इलाहाबाद जाना होता था और अज्ञेय जी से एक रिश्ता बन गया था। 1951 में अज्ञेय जी इलाहाबाद से दिल्ली चले गये और उनको 'प्रतीक' के लिए एक सहायक संपादक की जरूरत पड़ी। रघुवीर सहाय ने इस आमंत्रण को स्वीकार किया और वे लखनऊ से 'प्रतीक' के सहायक संपादक होकर दिल्ली आ गये। लखनऊ की तमाम साहित्यिक गतिविधियाँ और रंगमंच संबंधी सक्रियता धीरे-धीरे खत्म होती गई। एक आदमी के रहने, न रहने का फर्क कभी-कभी निर्णायक हो जाता है। मसलन सारी सक्रियता के केंद्र में रघुवीर सहाय थे। लेकिन दिल्ली जाना उनके लिए निर्णायक और हिंदी के लिए ऐतिहासिक सिद्ध हुआ। हिंदी पत्रकारिता और कविता में एक बड़ी भूमिका उनकी प्रतीक्षा कर रही थी।

विष्णु नागर रघुवीर सहाय की जीवनी लेखन में कुछ अलग तरह की प्रविधि अपनाते हैं। वे जानते हैं कि इतिवृत्तात्मक क्रमबद्धता से वे रघुवीर सहाय की जीवनी नहीं लिख सकते थे। न ही वे उनके जीवन को प्रभावित करने वाले तमाम पक्षों प्रसंगों और लोगों की भूमिकाओं को क्रमबद्धता से दर्ज कर सकते हैं। इसलिए उन्होंने उनके जीवन के विविध पक्षों, बिखरे प्रसंगों और विभिन्न संपर्कों को या तो छोटे-छोटे अध्यायों में अथवा मार्मिक कवियोचित अंदाज से जगह-जगह प्रसंगवश दर्ज कर दिया है। इससे उनका जीवन बाह्य एवं आभ्यंतरिक दोनों रूपों में और समग्रता में दीप्त हो उठता है। उदाहरण के लिए उनके तीन अंतरंग मित्रों की चर्चा वाले अध्याय को देखें, कृष्णनारायण कक्कड़, कुँवर नारायण और मनोहर श्याम जोशी उनके शुरुआती दौर से जीवन के आखिरी समय तक अंतरंग मित्र रहे। विष्णु नागर ने इनकी चर्चा एक स्वतंत्र अध्याय में की है। जैसे कक्कड़ प्रसंग में। अपनी मृत्यु के एक महीने पूर्व जब रघुवीर सहाय लखनऊ जाते हैं तो दो बार उनसे मिलने जाते हैं। एक बार जाते हैं तो उनसे नहीं मिल पाते। उन्होंने न मिल पाने का स्पष्टीकरण देते हुए एक पत्र भेजा। उत्तर में जब कुछ दिनों बाद रघुवीर सहाय के घर से उनके न रहने का फोन आता है तो कक्कड़ जी

मर्माहत हो उठते है। कक्कड़ जी ''धीरे-धीरे यह अहसास घर करता गया कि मैंने संभवतः अपने जीवन का सबसे गहरा साथी खो दिया है। यह अहसास उसके बाद हर दिन गहरा होता गया है।'' (74) इसी तरह कुँवरनारायण उनके विश्वविद्यालय से शहर तक मटरगश्ती करने वाले रोज-रोज के साथी थे। उनसे दोस्ती के तमाम वर्णनों के बीच एक प्रसंग है कि कुँवर जी को दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर के एलीट क्लब की सदस्यता के पैसे रघुवीर सहाय जमा कर देते हैं। कुँवर जी कहते हैं—''तुमने एक तरह से मेरे लिए दिल्ली में जायदाद खरीद दी है।''(78) लेकिन इस दोस्ती का एक रचनात्मक पक्ष भी है। जब रघुवीर सहाय कहते हैं कि मैं लंबी कविता लिखना चाहता हूँ। कुँवर जी कहते हैं—''तुमने अपने आपसे पूछा है कि तुम क्यों लंबी कविता लिखना चाहते हो?'' रघुवीर सहाय चुप हो जाते हैं। फिर थोड़ी देर बाद कहते हैं—''हाँ इस पर सोचना पड़ेगा।'' तो ऐसी छोटी-छोटी बातें, मामूली-मामूली प्रसंग उनके व्यक्तित्व और रचनात्मकता के अलक्षित कोनों तक पाठकों को ले जाते हैं।

विष्णु नागर के लेखन में पर्याप्त आत्मसंयम और संतुलन भी है। दूसरी बात यह कि वे व्यक्तित्वों और उनके आपसी रिश्तों को लेकर नैतिकता और मर्यादा का भी ख्याल रखते हैं। इसका एक उदाहरण मनोहरश्याम जोशी के प्रसंग में भी देखा जा सकता है। जोशी जी उनके तीन अभिन्न मित्रों में ऐसे थे जिन्होंने उन पर 'रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने एक स्मरण' पुस्तक भी लिखी थी। वे विश्वविद्यालय में दो-तीन साल कनीय थे इसलिए मित्रता के बावजूद रघुवीर सहाय उनको अनुजवत् मानते थे। दोनों थोड़े अंतराल के साथ दिल्ली आये थे तो शुरू में उनके कुछ खर्चों का वहन रघुवीर सहाय ही करते थे। अज्ञेय जी के सौजन्य से दोनों को आगे-पीछे आकाशवाणी में कैजुअल अनुवादक का काम मिल गया। उस दौरान दोनों साथ-साथ खूब मटरगश्ती करते और विष्णु नागर के शब्दों में सड़क साहित्य रचते। बाद में दोनों कालांतर में 'दिनमान' और 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के संपादक हो गये। बहुत बाद में ऐसा संयोग हुआ कि दोनों को लगभग एक ही समय अपने पदों से इस्तीफा भी देना पड़ा। इस दौरान तमाम मैत्री और गर्मजोशी के बावजूद कुछ ऐसा हुआ कि दोनों के बीच दूरियाँ पैदा हो गईं। इस आसंग में दोनों ने कभी कुछ कहा-लिखा नहीं लेकिन रघुवीर सहाय ने अपने दो-एक इंटरव्यू में जोशी जी को लेकर कुछ नकारात्मक बातें जरूर व्यक्त की। विष्णु नागर ने इस प्रसंग को बिलकुल कुरेदा नहीं है। संभव है उनको तहकीकात में कुछ पता चला हो लेकिन उन्होंने मर्यादावश इसे अदीठ ही रहने दिया है।

(2)

दिल्ली बहुतों को बहुत दौड़ाती है, किसी को ठाँव मिल जाता है तो किसी को कुछ नहीं। कुछ यहीं घिसटते रह जाते हैं तो कुछ वापस अपने देस लौट जाते हैं। कहते हैं जो टिक जाते हैं उसमें कुछ ऐसा हासिल कर लेते हैं जो शायद अपने शहर में नहीं कर पाते। रघुवीर सहाय जब दिल्ली आये तो उनके पास 'प्रतीक' के सह-संपादक का नियुक्ति पत्र था। वेतन चाहे जितना कम हो मगर खड़े होने भर जमीन सुनिश्चित थी। सबसे बड़ी बात यह कि यहाँ अज्ञेय जैसे समर्थ व्यक्तित्व की छाँव थी। स्नेह था, मदद की आस थी। फिर असल बात यह कि खुद रघुवीर सहाय के भीतर विलक्षण क्षमताएँ थीं। बस अवसर की दरकार भर स्पेस चाहिए था। संघर्ष का जज्बा और सामर्थ्य भरपूर था। 'प्रतीक' के बंद होने पर कुछ दिनों तक फ्रीलांसिंग तो चली लेकिन वह बिलकुल नाकाफी थी। अज्ञेय जी आकाशवाणी में सलाहकार थे। टाइम्स ऑफ इंडिया में उनका असर था। रघुवीर सहाय ने भी यह बात महसूस कर ली थी कि अब

जो होना है यहीं होना है। लखनऊ वापसी की कोई गुंजाइश नहीं थी। वहाँ जाकर क्या करते? लखनऊ की साहित्यिक सक्रियता बहुत काम आयी। 'नवभारत टाइम्स' की पत्रकारिता करते हुए रिर्पोटिंग से अन्य तरह-तरह अनुभव हासिल किये जो आगे 'दिनमान' संपादन में बहुत काम आये। आकाशवाणी में तब समाचार वगैरह का प्रसारण अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद द्वारा होता था। विष्णु नागर ने लिखा है कि 26 साल की उम्र में उनका विवाह हो चुका था। अनियमित और अनिश्चित आय के भरोसे गृहस्थी चलाना संभव नहीं हो पा रहा था। इसी दौरान आकाशवाणी में उन्होंने लिखित परीक्षा देकर साक्षात्कार से पक्की नौकरी हासिल कर ली। यहाँ विष्णु नागर ने एक छोटी-सी बात का उल्लेख किया है, जिसे वे चाहते तो छोड़ सकते थे। मगर अपनी निष्पक्षता और तटस्थता उन्होंने कायम रखी। मनोहर श्याम जोशी का कहना था कि इसमें अज्ञेय जी का हाथ था। लेकिन गौर करने वाली बात है कि अगर हम रघुवीर सहाय की योग्यता पर संदेह भी करें तो वे चयन में प्रथम आये थे। क्या अज्ञेय जी ने सिफारिश नौकरी के लिए नहीं, प्रथम आने के लिए की थी? इसलिए तमाम अंतरंगता के बावजूद जोशी जी और रघुवीर सहाय के बीच एक पतली सी नाखुशी जरूर बनी हुई थी।

आकाशवाणी की नौकरी के दौरान उनका व्यवहार दब्बूपन वाला नहीं था। वे भाषा की असावधानता और प्रयोग को लेकर बहुत सचेत रहते थे। चाहे सहयोगी हो या उच्च पदासीन इस मामले में वे किसी से उलझनें में कोताही नहीं करते थे। यहाँ तक कि राज्यसभा सदस्य दिनकर जी के दामाद शिवसागर मिश्र तक से भी। इस कारण उनकी बहुतों से अनबन हो जाती थी। मसलन गलत के प्रति असहमति उनके स्वभाव का अनिवार्य हिस्सा थी। उन दिनों शिवरामन नामक कोई अंग्रेजीदाँ आकाशवाणी की बेहतरी और देख-रेख के लिए अमेरिका से बुलाये गये थे। हिंदी और हिंदी वालों के प्रति जाहिर था उनका स्वभाव उपेक्षा वाला था। एक बार आकाशवाणी में मंत्रालय के उच्च अधिकारियों के साथ हिंदी में बगैर अनुवाद के समाचार प्रसारण को लेकर बैठक थी। उसमें शिवरामन ने हिंदी वालों की योग्यता को लेकर बहुत तीखा तंज कर दिया। रघुवीर सहाय इस पर तुरंत उत्तेजित हो गये और उनसे उलझ गये। मामला इतना बढ़ गया कि उन्होंने आवेश में आकर पक्की नौकरी से इस्तीफा दे दिया। यह उन्होंने तब किया जब उनकी बड़ी बेटी मंजरी का जन्म हो चुका था। एकदम शरीफ और शालीन स्वभाव वाले रघुवीर सहाय के भीतर एक विद्रोही भाव स्थाई रूप से मौजूद रहा। आप गौर कीजिए मुद्दा कोई निजी अहम् का नहीं था, वरन भाषा के सम्मान से जुड़ा हुआ था।

जाहिर था नौकरी छोड़ने के बाद फिर भटकना शुरू हुआ। कुछ महीनों के लिए वे 'कल्पना' में काम करने के लिए हैदराबाद गये। इस बीच पिता की मृत्यु पर लखनऊ। इसी बीच दूसरी बेटी हेमा का जन्म हुआ। लगभग दो वर्षों की भागदौड़ के बाद फिर आकाशवाणी में ही तीन साल के अनुबंध पर उन्हें संवाददाता की नौकरी मिल गई। इसी बीच उनका पहला संग्रह 'सीढ़ियों पर धूप' छपा। लगातार लगभग तीन वर्षों तक 'धर्मयुग' में 'दिल्ली की डायरी' स्तंभ लिखा और दूरदर्शन की स्थापना के साथ उसमें वार्त्ताकार के लिए चयनित हुए। 1960 में तीसरी बेटी गौरी और अगले वर्ष 1961 में बेटे वसंत का जन्म। घर-गृहस्थी के बढ़ते भार और तमाम दवाबों के बीच उनकी पत्रकारिता और कविता लेखन का सिलसिला भी चलता रहा। आप उनके पारिवारिक जद्दोजहद की कल्पना कर सकते हैं। इसलिए यह अकारण नहीं है कि विष्णु नागर ने उनके परिवार का विस्तार से और बड़ी आत्मीयता से वर्णन किया है।

रघुवीर सहाय के जीवन में स्थिरता नहीं थी। बहुत भागदौड़ थी। नौकरी में अनिश्चितता थी। फिर भी उनके स्वभाव में खीज न थी। कोई चातुर्य नहीं था और न ही समझौता परस्ती।

परिवार उनके लिए बड़ी राहत थी। विष्णु नागर ने उनका एक कथन उद्धृत किया है—''बिना मेरे बच्चों और मेरी पत्नी के मेरी कोई तस्वीर पूरी नहीं हो सकती, चाहे वह खुद मैंने ही क्यों न खींची हो।''(127) शायद उनके अपने पिता से मिले संस्कार हों, या कवि मन। वे बच्चों को बहुत चाहते थे। उनकी रुचियाँ भी अजीब थीं। वे घर में रंदा, बसूला, छेनी, आरी सब रखते थे। एक बार वे कहीं गये तो लकड़ी का बना एक सुंदर-सा दो मंजिला मकान महँगा होने के बावजूद ले आये। अब उसमें दो बच्चों की गुड़ियाएँ तो अँट गई मगर बाकी दो बच्चों की? उन्होंने घर में ही बड़े मनोयोग से दो मंजिला मकान बना दिया। वे अपने बच्चों को कैसा बनाना चाहते थे, क्या थी उनकी सोच! इसका एक बड़ा ही सुंदर उदाहरण विष्णु नागर ने दर्ज किया है। भारत-पाक युद्ध के दौरान रिपोर्टिंग के सिलसिले में गये तो चीनी मिट्टी की टूटी रकाबियाँ, तामचीनी के पिचके बर्त्तन और ऐसी ही बेकार की चीजें उठाकर ले आये कि बच्चे युद्ध के ध्वंस को समझ सकेंगे और युद्ध से नफरत करेंगे। ऐसे दुर्लभ पिता भाग्य से ही किसी को मिलते हैं। वसंत को विज्ञान में रुचि थी तो उसके लिए ग्लाइडर का किट खरीद लाये। एक कुशल कुम्हार की तरह अपने बच्चों को गढ़ने का उनका अपना अंदाज था। उन्होंने हेमा को दस रुपये दिये कि स्कूल में जमा कर देगी। उसने नहीं जमा किये, मगर झूठ बोल दी। रघुवीर सहाय को संदेह हुआ लेकिन वे कुछ नहीं बोले। कार में लौटते समय उन्होंने पूछा—जमा कर दिये न! हेमा ने कहा हाँ! लेकिन उसे अहसास हुआ उसने नाटकीय भंगिमा बनाते हुए कहा—सारी पापा! नहीं कर पाये। रघुवीर सहाय ने उसकी ओर देखा और हँस दिये। उसी तरह हेमा अपने कॉलेज मिरांडा हाउस में मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे'(?) चूक वश विष्णु नागर ने नाटक का नाम गलत लिख दिया है। 'अषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका का अभिनय किया था। रघुवीर सहाय भी नाटक देखने गये थे। लौटते समय उन्होंने कहा 'अगर तुमने अंग्रेजी स्कूल में पढ़ाई की होती तो बताओ, तुम क्या मल्लिका जैसे पात्र की शुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिंदी अच्छी तरह बोल पाती?(134) सो, इतनी दूरदृष्टि, इतनी बारीक नजर और ऐसी समझ थी उनकी। विष्णु नागर की खूबी यह है कि ऐसी छोटी-छोटी घटनाओं को उन्होंने इतनी खूबसूरती से पिरोया है कि उनके व्यक्तित्व के अदीठ कोने भी दीप्त हो जाते हैं।

रघुवीर सहाय के परिवार का दायरा अपने चार बच्चों और पत्नी तक ही सीमित नहीं था। उनकी पारिवारिक दुनिया का एक और अलग इलाका था जो उनके व्यक्तित्व की अलग ही पहचान कराता है। विष्णु नागर ने इसका भी उसी आत्मीयता और लगाव से वर्णन किया है। ये भी स्वजन थे जिनसे उनका रागात्मक रिश्ता था—सघन और गहरा। इसमें एक बूढ़ा कुत्ता था जिसे उनके पड़ोसी ने घर से निकाल दिया था। रघुवीर सहाय ने उसे अपने यहाँ शरण दी। गो कि उनके घर में कोई फैल नहीं था लेकिन दिल में काफी जगह थी। उसे खाज हो गया तो हुआ अब इसे रखना ठीक नहीं। रघुवीर सहाय उसे दिल्ली विश्वविद्यालय के पास एक डॉक्टर के पास ले गये। डॉक्टर ने दया-मृत्यु का सुझाव दिया। भला स्वजन के लिए ऐसा प्रस्ताव कौन मानता है! उसे फिर वापस घर लाये। वह दो-तीन साल जिन्दा रहा। एक दिन कुत्ते गाड़ी वाले उसे पकड़ ले गये। विष्णु नागर ने लिखा है ''वह मानते थे कि बच्चों में दया-भावना और भावुकता की कमी न रहे, इसलिए उनका जानवरों से रिश्ता बनना, उनसे लगाव पैदा होना आवश्यक है, ऐसा लगाव जिसमें अपना कोई स्वार्थ न हो। ऐसा लगाव ही मनुष्य को अधिक संवेदनशील बनाता है।''(138) उनके लिए यह शौक और प्रदर्शन का मामला नहीं था।

रघुवीर सहाय को सबसे प्रिय बिल्लियाँ थीं। विष्णु नागर के अनुसार वे यह मानते थे कि बिल्लियाँ 'स्वाभिमानी' होती हैं। वे खुदगर्जी के लिए कुत्तों की तरह अपने को एकदम समर्पित

नहीं करतीं। विष्णु नागर जी बताते हैं कि उनका जीवन के प्रति भी यह रवैया था। बिल्लियों को लेकर उन्होंने एक कहानी लिखी थी—'चालीस के बाद प्रेम'। इस कहानी में वे अपने यहाँ पालने वाली बिल्लियों को चरित्र ही नहीं बनाते बल्कि उनका वर्णन भी वे मानवीय चरित्र की तरह करते हैं। जिस टीना नामक बिल्ली को उन्होंने पाल रखा था उसका पूरा परिवार भी उन्हीं के यहाँ पला था। उसके एक बच्चे का नाम मुनमुन रखा था जिसका एक कहानी में बड़ी विस्तार से चर्चा भी की है। जब बिल्लियों का परिवार बहुत तेजी से बढ़ा तो वे बड़े संभ्रांत तरीके से लेकिन बलात् कभी जवाहरलाल कौल को तो कभी कुबेरदत्त को उदारता से उसके बच्चे गिट करने लगे। कुछ को जे.एन.यू. के एक ढाबे में या अन्य सुरक्षित जगहों पर छोड़ते रहे। उनकी अत्यन्त प्रिय मुनमुन का अंत बड़ा कारुणिक हुआ। वह बगल के शरणार्थी बस्ती में चली गई थी जहाँ कुछ लड़कों ने शरारतन उस पर उत्तेजित कुत्ते छोड़ दिये। उसकी मृत्यु पर उनके लिखे को विष्णु नागर ने उद्धरित किया है। ''हमलोगों को एकाएक समझ में आया कि वह अपने हत्यारों की कल्पना में कितनी अजनबी, कितनी अनचाही और कितनी असामान्य रही होगी, ग ग ग गरीबी की घुटन में हिंसा का संबंध, समाज में अपनी क्षुद्रता में अपनी सुरक्षा का, मनुष्यों के परायेपन का अहंकारयुक्त आश्वासन, जहाँ प्रेम का कोई मूल्य नहीं है, भय है मुनमुन की हत्या का कारण था।''(146) दरअसल रघुवीर सहाय अपने हर सरोकार में जितने मानवीय थे, उतने ही सुचिंतित और अंततः पूरे के पूरे रचनात्मक!

(3)

आकाशवाणी से अनुबंध खत्म होने के बाद वे 'नवभारत टाइम्स' में विशेष संवाददाता बने। इस बीच वे 'धर्मयुग' में 'दिल्ली की डायरी' स्तंभ लगातार लिखते रहे। भारत-पाक युद्ध, दक्षिण में हिंदी विरोध ये ऐसे मुद्दे थे जिस पर उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ लिखीं। मार्च 1968 में उनका स्थांतरण हुआ और वे अज्ञेय जी के संपादन में निकलने वाले साप्ताहिक 'दिनमान' में समाचार संपादक बनकर आ गये। यहाँ इतिहास उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। हिंदी पत्रकारिता का ऐसा इतिहास जो आजादी के बाद फिर दुहराया नहीं जा सका। अज्ञेय जी विदेश चले गये और लंबे प्रवास के बाद लौटने पर इस्तीफा दे दिये। कार्यकारी से बाज़ाप्ता 'दिनमान' के संपादक बनकर रघुवीर सहाय ने हिंदी पत्रकारिता का एक नया भूगोल ही रच डाला। विष्णु नागर ने लिखा है कि रघुवीर सहाय कहते थे अखबार नवीसी और कविता के अलावे उन्हें कुछ और नहीं आता। इस बात को लेकर बहुत बहस रही कि रघुवीर सहाय अज्ञेय की प्रतिछाया रहे लेकिन इसमें कोई तथ्य नहीं। अज्ञेय जी ने जरूर उनकी मदद की, अपार स्नेह दिया लेकिन व्यक्तित्व से सृजन तक में दोनों में कोई मेल नहीं था। न ही अज्ञेय जी को 'दिनमान' में इतना समय मिला था कि वे हिंदी पत्रकारिता की कोई अभिनव जमीन तैयार कर पाते जिसे रघुवीर सहाय आगे बढ़ाते। 'दिनमान' और उसके माध्यम से हिंदी पत्रकारिता को विस्तार और उत्कर्ष तक ले जाने का पूरा का पूरा श्रेय रघुवीर सहाय जी को ही जाता है।

विष्णु नागर ने रघुवीर सहाय के 'दिनमान' संपादन के पूरे दौर को, उसकी भूमिका को बड़ी ही गंभीरता से लिखा है। उसके वैविध्य और विस्तार की बारीक छानबीन किसी समर्थ शोधार्थी की तरह की है। उन्होंने अपनी ओर से लगभग हर पहलू को छोटी-से-छोटी ऐसी तमाम उल्लेखनीय बातों को उदाहरण सहित दर्ज किया है जिससे 'दिनमान' के मौलिक और विशाल योगदान पर तनिक भी रोशनी पड़ती हो। साथ ही साथ रघुवीर सहाय के संपादन कौशल, उनके कार्य करने की अनोखी और आत्मीय शैली, मसलन विष्णु नागर की यह कोशिश रही है कि

उनकी संपादन दक्षता का कोई पक्ष अछूता न छूट जाय। इसमें विष्णु नागर का श्रमसाध्य शोध और उनकी दृष्टि की दक्षता पाठक को गहरे प्रभावित करती है। वे आगामी अंकों के लिए साप्ताहिक बैठकें करते तो विचार-विमर्श में सिर्फ अपनी बात ही नहीं थोपते। दूसरों की भी सुनते, उनके सुझावों को महत्त्व देते, विषय सुझाने को कहते। बहस-विवाद कामकाजी हो या सैद्धांतिक ये इसका तनिक बुरा नहीं मानते। विष्णु नागर जी ने प्रयाग शुक्ल के हवाले से लिखा है कि हर बहस के बाद उनसे संबंध और बेहतर ही हुए।

'दिनमान' के लिए राजनीतिक, सामाजिक या सांस्कृतिक विषयों में महत्त्व को लेकर कोई भेदाभेद नहीं था। राजनीतिक प्रधान साप्ताहिक का आवरण लेख, आवरण पृष्ठ पर पाब्लो नेरूदा, अल्लाउद्दीदन खाँ, ऋत्विक घटक, भुवनेश्वर, मणि कौल बड़ी सहजता और स्वाभाविक रूप से शामिल होते थे। आवरण की तस्वीर भी एक रचना की तरह होती थी। विष्णु नागर ने सुरेन्द्र राजन के मंडी हाउस की तस्वीर वाले प्रकरण की चर्चा की है कि उनको कितनी परेशानी हुई। एक बार उन्होंने आवरण पर चंद्रकांत देवताले की कविता 'थोड़े से बच्चे और बाकी बच्चे' का एक अंश दे दिया। प्रसिद्ध समाजवादी नेता और बिहार के मुख्यमंत्री कर्पूरी ठाकुर एक बार गाँव गये। वहाँ उन्होंने किसी शख्स की दाढ़ी बनाई। दाढ़ी बनाते रघुवीर सहाय ने 'दिनमान' के मुख्य पृष्ठ पर तस्वीर छापी और हर कर्म के प्रति सम्मान पर जोर देते हुए कुलीन मानसिकता पर चोट की।

विष्णु नागर ने लिखा है कि वे सामने वालों के भीतर छुपी क्षमता की पहचान कर लेते थे और उससे ऐसा लिखवा लेते थे, जिसका उसे खुद यकीन नहीं होता। प्रयाग शुक्ल को कहा आप निराला जी के जन्म-स्थान गढ़कोला जाइये और रिपोर्ट तैयार कीजिए। प्रयाग जी संकोच में थम रहे थे, इतने वर्षों बाद वहाँ क्या होगा? मगर संपादक का जोर, वे बेमन से गये। लौटे तो उनकी रपट तीन किश्तों में छपी। उनकी निगाह संपाती वाली थी जो किसी को न दिखे, उन्हें दिख जाती थी। अलाउद्दीन खाँ मैहर में आखिरी साँसें गिन रहे थे। रघुवीर सहाय ने कहा—इतना बड़ा कलाकार बिछड़ने वाला है। अपने संगीत की कम जानकारी का प्रयाग जी हवाला देने लगे। आखिर गये और शानदान रिर्पोटिंग की। बिस्मिल पर एक समारोह की रपट किसी अखबार ने इसलिए नहीं छापी कि उनकी जन्म-तिथि या शहादत दिवस बीत चुका है। रघुवीर सहाय ने कहा- 'बिस्मिल जैसे शाश्वत सत्य और आदर्श की स्मृति में उनकी जन्मतिथि या पुण्यतिथि ही नहीं, उनका कभी स्मरण भी खबर है और यह पुरानी नहीं पड़ सकती।' उसे छाप दिया। उनकी दृष्टि समग्रतावाली थी और वे बेहद चौकन्ने थे। राजनीतिक घटनाओं या व्यक्तियों में उनका कोण अलग होता था। साहित्य, कला, फिल्म, संगीत से खेल तक वे समान रूप से सजग थे। यह कम लोगों को याद है कि क्रिकेट में एलबीडब्ल्यू के लिए उन्होंने एक खूबसूरत शब्द चलाया था—'पगबाधा!'

वे 'दिनमान' के जरिये एक ऐसा प्रबुद्ध नागरिक बोध पैदा करना चाहते थे जिससे उनका पाठक सांस्कृतिक स्तर पर भी विश्व नागरिकता का स्तर हासिल कर सके। इसके लिए वे विश्व के मशहूर फिल्मकारों, उनके फेस्टिवल, उनकी फिल्मों की समीक्षा से लेकर पत्रिका के अंतिम पृष्ठ पर धारावाहिक रूप से विश्वकवियों के लंबे समय तक अनुवाद प्रकाशित किया था। 'दिनमान' शायद आखिरी समाचार पत्रिका थी जिसमें राजनीतिक खबरों का दायरा पूरा विश्व होता था। उसमें देश के अलावे, छोटे-छोटे राज्यों के कॉलम होते थे। यूरोप, पड़ोस, एशिया, अफ्रीका और लातीनी देशों के कॉलम में जरूरी समकालीन घटनाएँ या खबरें होती थीं। यह सब वे अपने सहयोगियों से कैसे कराना है, मित्र कृष्ण नारायण कक्कड़ से क्या लिखवाना

है, प्रोफेसर कृष्ण कुमार का क्या इस्तेमाल करना है, सुदूर आदिवासी पिछड़े इलाके में गये कार्यकर्त्ता मिजाजवाले सुधेन्दु पटेल से कैसे रिर्पोटिंग करानी है यह सब एक कुशल जासूस की तरह उनको पता होता था। बनवारी जी राजनीतिक कार्यकर्त्ता, धरने पर बैठे हुए थे। बुलाकर कहा 9 अगस्त पर कुछ लिखना है। बनवारी जी के पास धरने का सीधा बहाना था। शार्टहैंड में उनसे बुलवाकर, टाइप करा कर मँगवाया। शुरू का पैरा अंत में और अंत का शुरू में—छप गया। बनवारी जी चकित। तो वे अँकुसी लगाकर अंदर से निकाल लेने वाले कुशल संपादक थे। उनकी संवेदनशीलता कितने ऊँचे दर्ज की थी इसका एक दिलचस्प उदाहरण विष्णु नागर ने दिया है कि एक बार किसी कारणवश विनोद भारद्वाज नाराज हो गये। वे उनको मनाने के लिए उनके घर गये। दरवाजे पर पहुँचे तो सुना अंदर श्यूबर्ट की सिम्फनी बज रही थी। रघुवीर सहाय दरवाजे पर ही ठिठके रह गये। उनको यह भी अच्छा नहीं लगा कि वे ऐसे मोहक पल में जाकर बाधक बनते। वे पैंतालीस मिनट तक दरवाजे पर चुपचाप खड़े श्यूबर्ट की सिम्फनी सुनते रहे और लौट आये।

लेकिन यह नवजागरण की पत्रकारिता का युग नहीं था, जब शिवप्रसाद गुप्त जैसा मालिक भारी शरीर लिए सीढ़ियाँ चढ़कर पराड़कर जी के कमरे में मिलने जाता था और अगर वे संपादकीय लिख रहे होते थे तो बाहर बैठकर इंतजार करता था। यह आधुनिक पूँजीवाद की व्यावसायिक पत्रकारिता थी। बड़े ही अपमानित ढंग से उनको 'नवभारत टाइम्स' में कनीय पद पर भेजा गया। यह कितनी बड़ी विडंबना है कि उनकी जगह लेने आये कन्हैयालाल नंदन! यह घटिया झूठ फैलाया गया कि प्रसार संख्या चालीस से चौदह हजार आ गई है। ऐसे नाजुक समय में अज्ञेय जी ने उनकी मदद क्यों नहीं की? विष्णु नागर लिखते हैं—''रघुवीर जी का मानना है कि वात्स्यायन जी ने किसी से कुछ कहा-किया नहीं। कहा क्यों नहीं या कहा और कुछ नहीं होने के संकेत उन्हें दिये गये या वह उस समय कुछ कहने करने की स्थिति में नहीं रहे थे या सचमुच कुछ करना नहीं चाहते थे, यह कहा नहीं जा सकता।''(200) पूँजीपति पृथ्वी का ऐसा प्राणी होता है जिसके पास सब होता है बस दिल नहीं होता।

विष्णु नागर ने बताया है कि मार्क्सवाद से अपनी यात्रा शुरू करने वाले रघुवीर सहाय लखनऊ में ही मार्क्सवादी जड़ता से बिदककर लखनऊ लेखक संघ बना चुके थे। 'नवभारत टाइम्स' के विशेष संवाददाता के रूप में संसद की कार्यवाही कॅवर करने के दौरान प्रतिपक्ष के नेता लोहिया से प्रभावित हुए। वे उनसे लखनऊ के दिनों से ही परिचित और प्रभावित हो गये थे। खासकर तीन आना प्रतिदिन प्रति भारतीय की आमदनी वाले मशहूर भाषण ने उन्हें लोहिया का मुरीद बना दिया। लोहिया जी का भारतीय लेखकों पर प्रभाव था। खासकर हिंदी लेखकों के बीच भी याराना रिश्ता था। 'दिनमान' में पहले के दो-तीन बर्षों तक अज्ञेय जी के दिनों में ही उनके नाम, भाषण और तस्वीरों को प्रमुखता से जगह मिलती रही थी। फिर जयप्रकाश नारायण के आंदोलन में 'दिनमान' ने खुलकर आंदोलन का पक्ष लिया। वे जयप्रकाश जी के इंटरव्यू के लिए पटना भी गये। फिर आपात्काल का लगना और सेंसर का हटना, यह दौर 'दिनमान' के लिए बहुत घातक रहा। उसका मूल तेवर धूमिल पड़ गया। रघुवीर सहाय का मानना था कि ''1977 में सरकार बनने पर सेंसर तो हट गया पर उसकी विकृति बनी रही। यह विकृति यह है कि बोलने की आजादी है, पर बहस नहीं है, जो सेंसर के पहले थी। बहस है पर असहमति के तार्किक और सामाजिक आधार नहीं हैं, केवल हाँ या नहीं बच रहे हैं जिनमें से कोई एक चुनना बहस को और भी व्यर्थ कर देने पर ही संभव हैं।''(226)

श्रीकांत वर्मा से रघुवीर सहाय हमेशा आहत रहे। थोड़ी-बहुत अनबन तो सर्वेश्वर जी

से भी चलती थी मगर सभी अपनी-अपनी सीमा में गरिमा का निर्वाह करते। श्रीकांत वर्मा का स्वभाव थोड़ा अहमन्यता वाला रहा होगा क्योंकि विष्णु नागर ने लिखा है कि जब वे बीमार पड़े तो श्रीकांत जी उनको देखने गये। उनके जाने के बाद रघुवीर सहाय ने कहा कि—''जो मेरी बीमारी का कारण है वही (श्रीकांत वर्मा) मेरा हालचाल लेने चला आया है।''(223) लेकिन सर्वेश्वर जी के अंतिम संस्कार के समय बड़ी बेटी विभा की नौकरी के लिए वे चिंतित हुए और उसके लिये बच्चन जी से बात भी की। वे संबंधों की गरिमा समझते थे और कभी किसी संबंध को विस्फोटक नहीं होने दिया।

रघुवीर सहाय की इस जीवनी में उनकी कविताओं और कहानियों को लेकर भी विष्णु नागर ने बहुत ही गंभीरता से लिखा है। उस विस्तार में जाना तो संभव नहीं लेकिन वे बातें रघुवीर सहाय की कविताओं को समझने में बड़ी सहायक हैं। अपनी प्रसिद्ध कविता 'रामदास' के बारे में उनके महत्त्वपूर्ण कथन को विष्णु नागर ने लिखा है—''वह कहते थे कि यह एक सरल कविता होते हुए भी सरल नहीं है। सरल शब्दों के भीतर दुःख की कई परतें छिपी हैं, दुःख के खिलाफ विरोध की अनेक तस्वीरें भी हैं। इसमें रचनात्मकता के कई प्रयत्न समाहित हैं, मानव सभ्यता, मानवीय आत्मा पर आक्रमण को निरस्त करने के भी कई प्रयत्न शामिल हैं।'' (271) रघुवीर सहाय की कविताओं की गहराई और बारीकियाँ ऐसी हैं कि थोड़ी भी चूक हमें कविता के मूल अर्थ से बहुत दूर कर देती है। अब 'हँसो, हँसो जल्दी हँसो' को ही लीजिए। वे कहते हैं—'वे जल्दी हँसने में जो आदेशात्मकता है, उसकी भयंकरता देख नहीं पा रहे थे।'' (272) तो वे बड़ी सावधानता की माँग करती हैं। उनकी सोच नई और भिन्न होती थी जिसे वे रचना में विन्यस्त करते थे। यही कारण है कि उनकी कहानियाँ भी लीक से हटकर हैं जिस पर आज तक हिंदी आलोचना का ध्यान नहीं गया। विष्णु नागर ने इस बात को उदाहरण सहित लिखा है—''एक मनुष्य को दूसरे पर दया करने का कोई हक नहीं है, दूसरे मनुष्य पर ही नहीं बल्कि संकट में फँसे किसी पक्षी पर भी (देखें कहानी 'मुक्ति का क्षण' और एक 'जीता जागता व्यक्ति')। वह भी आपकी दया के बगैर स्थितियों से जूझ सकता है, उसे पहले जूझने दें।''(246) तो वे जिजीविषा और मनुष्य की जीवटता पर यकीन रखने वाले रचनाकार थे।

'दिनमान' के संपादक से 'नवभारत टाइम्स' के कनीय पद पर भेजना दरअसल उनको टाइम्स छोड़ देने का संकेत था, जिसे वे समझ गये थे और उन्होंने आत्म सम्मान के लिए यही किया भी। उनकी उम्र बहुत ज्यादा भले न हुई हो, मगर वे थके-थके रहने लगे थे। उन दिनों दिल्ली बस स्टॉप पर या बस में सफर करते उनको देखने वालों ने उनकी शारीरिक थकान को रेखांकित किया था। फिर भी वे अपनी जीवटता के साथ संघर्षरत रहे। कॉलम लिखते, घर में बच्चों के साथ समय देते खुद को सँभाल रखा था। बाबरी मस्जिद ध्वंस के समय हिंदी समाचार पत्रों की भूमिका को लेकर प्रेस कौंसिल ने जो समिति बनाई थी, रघुवीर सहाय उसके प्रमुख सदस्य थे। इस सिलसिले में उन्होंने हिंदी के प्रमुख नगरों में जाकर वहाँ के समाचार पत्रों की भूमिका की छानबीन की थी और उसकी रिपोर्ट तैयार करने में लगे थे। पता नहीं उनको अंदर से आभास था या नहीं मगर उनके मना करने के बावजूद वे दूसरे सदस्य रमन जी को घर बुला लिये थे। 30 दिसंबर 1990 रविवार का दिन था। वे बार-बार रमन जी को आने पर जोर दे रहे थे। वे रिपोर्ट तैयार करने को लेकर व्यग्र थे। वे प्रतीक्षा में कबूतर के बच्चे को कुछ खिला रहे थे जो तीन सप्ताह पहले रोशनदान में अकेला मिल गया था जिसके पालने की जिम्मेदारी उन्होंने ले ली थी। रमन जी आये। वे काम पर बैठे। पाँच पैराग्राफ पूरा लिख चुके थे। छठा लिखना शुरू ही किये थे कि उनकी तबीयत बिगड़ने लगी। साँस लेने में

दिक्कत होने लगी। वे बाथरूम में गये मगर तब तक उनकी हालत ज्यादा खराब हो गई। उन्हें बिस्तर पर लिटाया गया। बदन पसीने से तरबतर। डॉक्टर, फोन और थोड़ी हड़बड़ी। रघुवीर सहाय चिरनिद्रा में।

विष्णु नागर ने बिखरी हुई अनेक छोटी-छोटी घटनाओं, प्रसंगों और पक्षों की विपुल कणिकाएँ जुटाई हैं। बड़े ही मनोयोग से, बड़े करीने से पूरी दक्षता से एक विशाल मेहराब खड़ा किया है जो मेरी नज़र में रघुवीर सहाय की यह जीवनी एक आधुनिक क्लासिक के रूप में प्रस्तुत है। हाँ, यह जरूर है कि जीवनी के प्रारंभिक हिस्से में कुछ जगहों पर जो आवृत्तियाँ हो गई हैं उनको संपादित कर देना चाहिए था। लेकिन जिस निष्ठा और रागात्मकता से सतत् समझ के साथ यह लिखी गई है। इसे उसी आत्मीयता से पढ़ा भी जाना चाहिए।

पुस्तक : असहमति में उठा एक हाथ (जीवनी) : विष्णु नागर/राजकमल प्रकाशन, दिल्ली/2019/ ₹ 499

संपर्क : बी-301 किंग्सड कोर्ट अपार्टमेंट, गैलेरिया मार्केट के पीछे, क्रासिंग रिपब्लिक, गाज़ियाबाद-201016 (उ.प्र.), मो. 8669029763

अमरफल चाहता है कि कविता फिर किसी फल का बीज बनकर अमर हो

अच्युतानंद मिश्र

लीलाधर जगूड़ी का नया संग्रह है 'कविता का अमरफल'। लीलाधर जगूड़ी तक़रीबन छह दशकों से कविता लिख रहे हैं। 'शंखमुखी शिखरों पर से' लेकर 'कविता का अमरफल' तक फैला उनका काव्य संसार बहुविध और बहुचर्चित रहा है।

उनकी कविता, विविध-कविता समय का समुच्चय है। वह कई काव्य प्रवृत्तियों और काव्य-बोध को अपने में समाहित किये हुए है। ऐसे कवि की कविताओं पर बात करना जटिल काव्य-स्वाद की प्रक्रिया को आमंत्रित करना है। इसलिए जगूड़ी की कविताओं को किन्हीं निर्धारित काव्य प्रतिमानों या काव्य प्रवृत्तियों के सहारे नहीं समझा जा सकता। ऐसा करने पर हम बहुत तरह के सरलीकरणों के शिकार होने लगते हैं। साठोत्तरी कविता से शुरू करते हुए उनकी कविता हर समय की कविता का नया समकाल निर्मित करती है। लेकिन जो बात जगूड़ी की कविता को महत्वपूर्ण बनाती है, वह है—उनका समयबोध। जगूड़ी की कविता संभवतः एक ऐसी कविता है जो किसी पाठक के समय-बोध के समानांतर चलने को कविता का अनिवार्य और जरूरी काम मानती है। ये कविताएँ एक वरिष्ठ कवि की कविताएँ होते हुए भी नये कवि के काव्य-बोध की तरह पाठक की चेतना में प्रवेश करती हैं।

लीलाधर जगूड़ी का हर नया संग्रह पुरानी काव्य परिपाटियों से आगे निकल जाता है। उनके विभिन्न संग्रहों को समय की संगति में रखकर पढ़ा जाना चाहिए। यही वजह है कि इतने लंबे समय से कविता लिखते हुए भी जगूड़ी की काव्य-भाषा और काव्य-बोध रूढ़ नहीं हुआ है। उनका नया संग्रह कविता का अमरफल कविता के पारम्परिक दृष्टिकोण और आस्वाद दोनों को ही चुनौती देता है। 'कविता का अमरफल' की कवितायें काव्यात्मकता एवं काव्यास्वाद के प्रश्न को काव्य विषय के रूप में प्रस्तुत करती हैं। वे एक सजग कवि के भीतर पाठक की चौकन्ना निगाहों से, दायरे तोड़ती कविता है। एक नये प्रस्थान को इंगित करती कविता है।

समय और समाज की संगति में ही रहकर कवितायें अपना आकार ग्रहण करती हैं। वे वहीं अपना अर्थ भी पाती हैं। जगूड़ी कहते हैं–

'कविता ने जैसे पहले अपने लिए गद्य को पद्य का रूप दिया उसी तरह आधुनिक समय में कविता को एक नये गद्य की जरूरत है जो पद्य की सरसता को एक नया रूप-विधान दे सके'।

हम देखते हैं कि 20 वीं सदी के तमाम बड़े गद्यकारों ने गद्य में काव्यात्मक प्रभाव विकसित किया। इससे गद्य में एक नई चमक, नई पाठकीयता और नई गति पैदा हुई। काव्यात्मक बोध लिए हुए गद्य अर्थ की सरलता और बोध के इकहरेपन के पार जा सकती थी। समय की जटिलताओं ने अर्थ की बहुस्तरीयता को अनिवार्य बना दिया। ऐसे में गद्य के भीतर काव्यात्मकता का दबाव और आग्रह दोनों बढ़ा।

निराला कवि के जीवन संघर्ष को गद्य में प्रस्तुत करने की बात कह रहे थे। जीवन संघर्ष का अर्थ उनके लिए आत्मसंघर्ष ही था। निराला के गद्य में काव्यात्मक आवेग और गति दोनों को देखा जा सकता था। यह आवेग और गति उनके जीवन के झंझावातों से निर्मित हुई थी। उनके गद्य में एक तरह की तुर्शी थी।

मुक्तिबोध वैचारिक और द्वंद्वात्मक बोध को गद्य में रख रहे थे। वे आत्मसंघर्ष के लिए आत्मसंवाद की भाषा तलाश रहे थे। एक ही व्यक्ति की खंडित चेतनाओं का आपसी संवाद- उनके यहाँ बहुत प्रखरता के साथ मूर्त होता है।

मुक्तिबोध की कोशिश आत्म को विलगाव से बचाने की थी। यह कोशिश ही उनके यहाँ आत्मसंघर्ष का रूप अख्तियार करता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। यह कथन जितना सरल, इकहरा और सहज दिखता है, वास्तव में उतना रह नहीं गया। इसमें मौजूद तनाव को मुक्तिबोध ने लक्षित किया। उनकी कविता और गद्य में इस तनाव की रूपरेखा को समझने और पहचानने की कोशिश दिखाई देती है। यही वजह है कि मुक्तिबोध हिंदी में एक नये तरह की गद्यात्मक कविता और विचारोत्तेजक एवं संवादपरक गद्य लेकर आये। जगूड़ी की वर्तमान संग्रह की कवितायें गद्यात्मक कविता का एक नया और जरूरी आयाम रचती हैं। जो समाज और व्यक्ति में आये मूलभूत परिवर्तन को इंगित करती है।

आज का मनुष्य आत्म-विस्मृति में जी रहा है। जगूड़ी उसे कविता में लाते हैं। एक नये काव्यबोध के साथ। पुराने काव्यात्मक स्वरूप के रास्ते इस आत्म-विस्मृति को गहनता के साथ अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। वह आत्म विलगाव की पुरानी स्थितियों को पार कर चुका है। ऐसे में उसके समक्ष एक नया अस्तित्वगत प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। यह अजनबियत की नई स्थिति है। अपरिचय का नया मुकाम। अलगाव और अजनबियत ने भय का नया परिवेश उसके भीतर रच दिया है।

जगूड़ी की कवितायें संवाद की कविता हैं। शुष्क होती संवेदना के भीतर संवाद का जल। संवाद का लहजा गद्यात्मक है। यानी कविता के भीतर गद्य। कविता में इस संरचनात्मक रूपांतरण को कभी रघुवीर सहाय ने अपने अंतिम दिनों में दर्ज किया था। वे समझ रहे थे कि भावुकता और व्यवहारिकता के मध्य मौजूद द्वंद्व समाप्त हो रहा है। लोग रोमान, भावुकता और नोस्टेल्जिया के एक छोर से निकलकर भीषण व्यवहारिकता की तरफ बढ़ रहे हैं। वे इसे कुशल जीवन प्रबंधन समझ रहे हैं। इस कुशल होने की प्रक्रिया में उनके भीतर कुछ नष्ट हो रहा है। वे इसे जीवन में आगे बढ़ना समझते हैं, लेकिन यह बढ़ना, उन्हें आत्म-क्षरण की तरफ लिए जा रहा है। रघुवीर सहाय लिखते हैं :

यह नई पीढ़ी है
भावुकता से परे व्यावहारिकता से अनुशासित
इस नई पीढ़ी को ऐसे ही स्वाधीन छोड़ दें। (नई पीढ़ी, एक समय था)

21 वीं सदी के आते-आते यह नई पीढ़ी व्यवहारिकता से आत्महनन की तरफ बढ़ गयी। वह किसी सेल्फ को स्वीकार नहीं करती। जगूड़ी की कविता उसे आत्म की ओर धकलने की कोशिश करती है। इसलिए गहरे अर्थों में कविता के अमरफल की कविताएँ आत्म-स्मृति की कविताएँ है। घटित का वर्तमान। और इस अर्थ में वह कविता में पुनः-घटित होती हैं। यहाँ कवि सर्वत्र है, लेकिन उसके मैं ने विस्तार कर लिया है। वह जीवन, प्रकृति, समय, संस्कृति और भाषा सब में पैवस्त होना चाहता है। ये कविताएँ समय के ठहराव की कविताएँ नहीं हैं। समय के आगे बढ़ जाने की कविताएँ है :

क्षणों से बने समय को घटनाओं से बनी समस्याएँ
ढँकने लगती हैं
मगर समय है कि सरक जाता है। (64)

इसलिए ये कवितायें समय की फिल्म तैयार करती हैं। समय का चेहरा। समय के हाव भाव। समय का संवाद। इसमें छूट जाने और पा लेने का पुराना द्वंद्व नहीं है। समय के साथ हो लेने की अंतर्लय है। ये स्मृति को वर्तमान में खोजने की कविता नहीं है, वर्तमान में स्मृति को घुला देने की कविता है। स्मृति यहाँ अतीत नहीं वर्तमान है। वह लगातार घटित हो रही है :

औजार भले ही कहीं गोदाम में रखे हुए हों दूर
पर इस्तेमाल उनका दिमाग में रखा हुआ
कभी भी कहीं भी चलता रहता है। (65)

कवि पीछे मुड़कर देखने की बजाय पीछे के समय को आगे लाकर वर्तमान के भीतर से उसे देखता है। हिंदी में स्मृति पर खूब कविताएँ लिखी गयीं हैं। उनमें से अधिकांश कविताओं में स्मृति को अतीतोन्मुखी बनाने पर ही जोर रहता है। वहाँ आगे बढ़ते हुए याद करने की जद्दोजहद की जगह पीछे मुड़कर समय के विपरीत चले जाने की उत्कंठा या उत्साह अधिक दिखाई देता है। इसलिए कई बार ऐसी कवितायें एक स्थूल रोमान ही निर्मित करती हैं। वह हमारे गतिशील बोध में दाखिल नहीं होती। समय के विपरीत कौन जा सका है? जगूड़ी की ये कविताएँ स्मृति के भीतर से वर्तमान में फूटने का यत्न करती हैं :

उधर उस पत्थर में थोड़ी देर उसी जैसा होकर सोचने लगा
पत्थर की याद में छिपे किसी फूल की तरह अपनी भी यादों को
काट-छाँट कर उकेरो तो खिलाया जा सकता है पत्थर को भी। (65)

रचनात्मकता के श्रोत किन्हीं पत्थरों में ही छिपे होते हैं। पत्थर जो कि अतीत में रहा होगा मुलायम मिट्टी का टुकड़ा। जिस पर अंकित हुए होंगे मनुष्य के पैरों के निशान। उसकी मुलायम देह पर खिले होंगे फूल और फिर समय के थपेड़ों ने उसके भीतर का जल नष्ट कर दिया होगा। जगूड़ी उस पत्थर के भीतर मौजूद फूल की स्मृति को पुनर्जीवित करते हैं। उस पत्थर पर मौजूद अंकित मनुष्य के पैरों के निशान की तलाश ही उनकी कविता का वर्तमान है। वर्तमान में स्मृति का यह कम्पन इस तरह दर्ज़ होता है :

पर जिन पत्थरों पर से नदी गुजरी है
उन्होंने अगर पानी से मिलाई होगी अपनी आवाज़

तो वे रेत हो चुके होंगे
कछारों में बगुलों संग बगुले बनकर उड़ रहे होंगे
या अगर वे नदी मार्गों से अलग छिटके पड़े हैं
तो पानी के स्पर्श और उसकी आवाज़ के लिए तड़प रहे होंगे। (30)

नदी का रास्ता सभ्यता का रास्ता है। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते गयें, हम नदी के रास्ते से दूर होते गयें। लेकिन कवि की निगाह उस रास्ते को अपने भीतर अब भी बचाए हुए हैं।

जगूड़ी की कविताओं में सभ्यता और समय के अंतर्द्वंद्व की गहरी पड़ताल देखी जा सकती है। गौरतलब है कि यह अंतर्द्वंद्व जगूड़ी के काव्य व्यक्तित्व का केंद्रीय अंतर्द्वंद्व है। साठोत्तरी कविता से वर्तमान कविता तक इस अंतर्द्वंद्व की पड़ताल के रास्ते भी उनकी कविता के चेहरे को संवेदना की रौशनी में देखा जा सकता है। इस व्यवस्था में, बलदेव खटिक, मंदिर लेन जैसी कविताओं में मौजूद काव्य-भाषा, कविता समय और काव्य संवेदना से निश्चित रूप से उनकी कविता दूर निकल आई है, लेकिन समय और सभ्यता के अंतर्द्वंद्व की शिनाख्त ही उनकी वर्तमान कविताओं को उनकी पुरानी कविताओं से जोड़ती है। कहना न होगा कि यह क्रमिकता लीलाधर जगूड़ी की काव्य-यात्रा के विकास को दिखाती है। वे विस्तार से सूक्ष्मता की तरफ अग्रसर हुए हैं। इस सूक्ष्म होने की प्रक्रिया में उनका काव्य-बोध अधिक जटिल और समकालीन हुआ है।

इस संग्रह की कवितायें काव्यात्मकता का बहुत आग्रह नहीं करती। इनके दायरे खुले हैं। पुराने काव्यात्मक-बोध से देखने पर ये कविताएँ अधिक सपाट लग सकती हैं। लेकिन गद्यात्मक और अधिक गतिशील हो रहे जीवन, समय और समाज की कविता क्या पुराने काव्यबोध के भीतर से संभव है? कविता का अमरफल की कविताएँ इस प्रश्न का उत्तर नये तरह की कविताओं से देती हैं :

भीतर से ज्यादा बाहर सुन्दर है
क्योंकि ब्रह्माण्ड के अंदर है
थोड़ा मेरा वर्तमान अतीत के भीतर
थोड़ा भविष्य में
ज्यादा भविष्य के बाहर है
हर भीतर फिर भी बाहर के अंदर है। (55)

यह दुनिया, समय और स्वयं को देखने का एक दृष्टिकोण है। जिसे हम बाहर समझ रहे हैं, वह भी अंततः किसी के अंदर है। यानी वास्तव में कुछ भी पूरी तरह न तो बाहर है और न ही अंदर। चीज़ें किसी खास भाषा या किसी समय में एक तरह का अर्थ रखती हैं। वह अर्थ उनका स्थूल वर्तमान है। उस क्षण के बीत जाने पर उसका अर्थ बदल जाता है। बदलाव की यह शृंखला ही वास्तविकता है। एक कवि इसमें अपने लिए उम्मीद खोजता है। हर आततायी या क्रूर या दहशतगर्द या जालिम जितना सबसे खुद को बाहर समझता है या मुक्त समझता है वैसा है नहीं। वह भी कहीं से किसी से नियंत्रित है। किसी के भीतर है। किसी का अनुगामी है। किसी के निर्देशों का पालन कर रहा है।

इन कविताओं में मौजूद है समय से संवाद करने की कोशिश में निज की तलाश। और यह निज कवि का व्यक्तित्व भर नहीं है। यह निज वह संवेदना है, जिससे उसके भीतर बाहर का संसार निर्मित होता है। किसी कवि का महत्व इसमें है कि उसने अपने निज को कितना विस्तृत किया। वह समय एवं समाज के कितने आयामों को पार जा सका। वह अपनी ही

सीमाओं में तो कैद नहीं? कहीं वह बने बनाये कविता के रास्ते का यात्री तो नहीं। जगूड़ी की कवितायें सतत् नये राह की तलाश करती हैं। पुराने स्थलों को छोड़ आती हैं। कवि को लगता है :

इस कोठरी, इस बिस्तर और चीज़ों को छोड़कर
काव्यभाषा भी बहुत दूर नहीं जा सकती। (44)

काव्यभाषा में परिवर्तन हो ऐसा कवि को लगता है। क्यों? क्योंकि, काव्यभाषा में भाषा मौजूद है। भाषा में मौजूद है -समाज और समाज मनुष्य से बना है। मनुष्य का जीवन लगातार बदल रहा है। जगूड़ी की कवितायें इस बदलते मनुष्य की कविता है। उसके दुःख-दर्द, पीड़ा-क्लेश, जीवन-मृत्यु की कविता है। मनुष्य इन सब चीज़ों से गुजरते हुए अपने लिए एक जीवन-दृष्टि का निर्माण भी करता है, जो उसे इन चीज़ों में मौजूद जीवन शक्ति की ओर मोड़ती है। इसी जीवन शक्ति से सौन्दर्य-बोध और फिर सौन्दर्य-शास्त्र बनता है। जगूड़ी कहते हैं :

चाहता हूँ मृत्यु को एक अच्छी तरह बरता हुआ कपड़ा मिले
जो सचमुच पहनने लायक न रहा गया हो
चाहता हूँ कि मृत्यु को वह आँख मिले
जो अपने सारे सपने देख चुकी हो
और उससे मृत्यु कोई सपना न देख पाए। (87)

भाषा और समाज का एक अर्थ यह भी है कि हम भाषा के रास्ते समाज की शिनाख्त करे। समाज की उन अंतर्ध्वनियों और द्वंद्व को पहचानें, जो भाषा में झाँकती रहती हैं। जिस भाषा के भीतर एक सामान्य मनुष्य का चेहरा कौंध उठता है। लेकिन जब हम काव्यभाषा की बात करते हैं, तो वह भाषा को रूपांतरित करती है। वह समाज के सूक्ष्म आयामों को रखती है। एक तरह से कहें तो काव्यभाषा समाज की एक्सरे मशीन है। इसलिए काव्यभाषा का निर्माण एक कवि के लिए बड़ी चुनौती भी है और वह एक बड़े दृष्टिकोण की माँग भी करता है। कवि भाषा का पुनर्निर्माण करता है। लेकिन एक जटिल सामाजिक संरचना के भीतर, एक समयहीन समय के भीतर वह शब्दों की जीवंत दुनिया का निर्माण करता है। यह दुनिया कवि का अपना आसरा है, ठिकाना है। लेकिन लम्बे दौर में इस काव्यभाषा में परिवर्तन की जरूरत रहती है। बहुत से कवि एक स्थिर काव्य-भाषा के कम्फर्ट जोन में कविताएँ लिखते रहते हैं। ऐसे में काव्यभाषा समाज की छवियों को स्थिर करने लगती है। कवि अपनी काव्यभाषा के साथ एक पुराने काव्यात्मक संसार में रहने लगता है। वास्तविक संसार से उसका संबंध छूटने लगता है। ऐसे में कवि दो स्तरों पर, दो भाषाओं में, दो समाजों में और दो समयों में जीने को अभिशप्त हो जाता है। एक उसकी कविता की दुनिया और दूसरे उसके जीवन समाज की दुनिया। इस तरह उसके व्यक्तित्व में एक गहरा गैर रचनात्मक तनाव घर करने लगता है। काव्यभाषा और भाषा के बीच के बढ़ते अन्तराल से यह तनाव उत्तरोत्तर गहरा होता जाता है। कविता में जीवन छवियाँ तो रहती हैं, लेकिन वे जीवन छवियाँ हमारी वर्तमान संवेदना को झंकृत नहीं करती। समकालीन कविता में ऐसे बहुत सारे कवियों के उदाहरण देखे जा सकते हैं, जो धीरे-धीरे अपनी कविता के कम्फर्ट जोन में कैद होते गये और उत्तरोत्तर कविता के वास्तविक संसार से उनका मोहभंग होने लगा। जगूड़ी की कविताओं में काव्य भाषा का सतत् परिवर्तन उन्हें इतना प्रासंगिक और अनिवार्य बनाता है। उनकी कवितायें इस संसार के गहरे मोह से बनी कविताएँ ही हैं।

'रात अब भी मौजूद है' से लेकर 'घबराए हुए शब्द तक' एक खास तरह की प्रतिक्रियात्मक

आवेग वाली भाषा है, तो 'भय भी शक्ति देता है' से लेकर 'ईश्वर की अध्यक्षता में तक' की कविताओं में प्रतिक्रिया का ढंग परोक्षात्मक है। जगूड़ी की काव्यभाषा का एक तीसरा दौर भी है, जो वर्तमान तक की कविताओं में देखा जा सकता है। जहाँ भाषा समय की सीमाओं के पार जाना चाहती है। जहाँ अनुभव का विपुल संसार घटित होकर भी वर्तमान को जीवंत करता है। यह पीछे मुड़कर अतीत की रूमानी अनुभूतियों में खोये रहने की भाव-परक भाषा से भिन्न अनुभूति की भाषा है। यहाँ अनुभूति का वर्तमान केंद्रीय है। इसलिए आत्महत्या जैसे विषय को भी जब जगूड़ी याद करते हैं तो वहाँ भाववादी होने से बचते हुए जीवन जीने की प्रक्रिया में उसकी शिनाख्त करते हैं :

एक दिन गोमती नगर वाले शानदार घर को भी छोड़कर
अपना साफ़ सुथरा आकर्षक शारीर लेकर
चिड़ियाघर और सिविल अस्पताल के बीच
सूचना विभाग को छोड़कर
वही राजेश शर्मा
हुसैनगंज वाली ग्यारहवीं मंजिल पर जा पहुँचा
जहाँ दरी पर चादर बिछाकर
अच्छे साहित्य से पैदा हुए अच्छे समाज की बातें की थीं हमने
लिफ्ट पर चढ़कर गया वह
कूदकर नीचे आने के लिए। (49)

आखिरी पंक्ति पूर्व की तमाम पंक्तियों से ही पैदा हुई है। वहाँ उसका महिमा-मंडन नहीं किया गया है। वहाँ एक प्रक्रिया के तहत ऊपर जाना और फिर नीचे आना है। यह प्रक्रिया सफल जीवन जीने की प्रक्रिया मानी जाती है :

अपने को सबसे अलग समझने की
यह अलग ही कोई चोट है
जो खुद पर खुद ही मारनी पड़ती है राजेश की तरह। (50)

यह आत्महत्या इस वर्तमान सभ्यता का निष्कर्ष है। भाग-दौड़ का अंतिम स्टेशन है। सफल जिंदगी का आखिरी पड़ाव :

जिंदगी बहुत सी चीज़ों के काम आती है
इसलिए आत्महत्या के भी काम आई एक दिन
जैसे अपनी मृत्यु ही सारी चीज़ों पर अंतिम पर्दा हो। (50)

जगूड़ी की कवितायें पढ़ते हुए एक बात बहुत शिद्दत से महसूस होती है कि उनकी कविताओं में एक अनोखा सामाजिक इतिहास विन्यस्त है। अरुण कमल की तरह उनकी कविताओं में सामाजिक घटनाओं से बनी मुकम्मल कथाएँ नहीं है, लेकिन बहुतेरे प्रसंग है। उनकी किसी भी महत्वपूर्ण कविता में ऐसे प्रसंगों की बहुतायत है। इन प्रसंगों को पढ़ते हुए कई बार जगूड़ी हैरान करते हैं, खासकर जब वे एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग की ओर जाते हैं। दिलचस्प सी बात लगती है कि जितनी खूबसूरती से ये प्रसंग जुड़े हैं, उतनी ही स्वायत्तता के साथ स्वतंत्र भी। यह शायद जगूड़ी का अपना अंदाज़ है। इसके पीछे दो कारण देखे जा सकते हैं, एक तो कविता की पूरी लय बोलचाल के सधे हुए स्वर के बेहद निकट और दूसरी उनकी कल्पनाशीलता चमत्कृति पैदा करने से बचती है।

एक और महत्वपूर्ण चीज़ की तरफ ध्यान जाता है, हम अमूमन समकालीन कविता में एक द्वंद्व निर्मित करते हैं। साठोत्तरी बनाम आठवाँ दशक। शायद यही बिंदु है, जहाँ हम आठवें

दशक के कवियों के महत्व को उजागर करते हैं। लेकिन जगूड़ी सरीखे कवियों को पढ़ते हुए, हम उस संक्रमण को पढ़ते हैं, उस यात्रा से गुजरते हैं जहाँ ये दोनों दिशाएँ मिलती हैं। कैसे कविता का पोलिटिकल मंतव्य एक सामाजिक कथन में बदलता है। कैसे भाषा का बाहरी अर्थ निजता के दायरे में फैलता है। यह बात जगूड़ी को पढ़ते हुए बखूबी समझ में आती है। जगूड़ी लोक की गहन संवेदना और जीवन शैली को अपनी भाषा में बार-बार विन्यस्त करते हैं। उसे समकालीन मिजाज़ के अनुरूप ढालते हैं। संभवतः लोक और समकालीन बोध के संधि स्थल पर खड़ी उनकी कविता अपना एक ऐसा पाठकीय दायरा विकसित कर लेती है, जो समकालीन दृश्य में कई बार दुर्लभ सा जान पड़ता है। लोक का गतिशील अर्थ क्या है? 21 वीं सदी में लोक किसे कहेंगे। इन प्रश्नों को 'कविता का अमरफल' से समझा जा सकता है :

हिरना गाड़ी हो या बैलगाड़ी
भैंसा गाड़ी हो या कुत्ता गाड़ी
हर गाड़ी को घोड़ा शक्ति तक लाने के लिए
हमें नहीं था पता कि हम कार के कारखानों और
रिज़र्व बैंक की ओर तीर छोड़ रहे हैं
गति मति और हुनर ने हमारी बहुत धुनाई की है
हमें नहीं पता था कि हम कोड़ों को इंजेक्शन में
घोड़ों को इंजिन में और पहियों को टायर में
बदलने के कगार पर पहुँचेंगे। (119)

औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप हम मति और गति की दुनिया में आ गये। हमारे सारे संबंध मति और गति के तर्कों से निर्मित होने लगे। इस मति और गति के तर्कों ने मनुष्य को एक सतत लालच और फायदे के संसार में ला दिया। यह संसार मनुष्य का वास्तविक संसार नहीं था। धीरे धीरे इस छद्म संसार की संसारिकता ने मनुष्य को अपने नियंत्रण में ले लिया। मनुष्य की यह क्रूर रचनाशीलता उसी का शिकार करने लगी :

अचानक से भी ज्यादा जल्दी छलाँगता आ जाता है भीतर का बाघ
अभिव्यक्ति में खुशी का भी हिरन की तरह शिकार करना पड़ता है। (119)

समय के अन्तराल और संक्रमण को जगूड़ी की कवितायें बहुत बारीक़ नज़र से पकड़ती हैं। लेकिन इस बारीकी के मूल में भाषिक उलझाव नहीं है, बल्कि अनुभव को काव्यबोध में रूपायित करने की सघन ऐंद्रिकता है। 'मौत का कब्जा' उनकी एक पुरानी कविता है 'रात अब भी मौजूद है' संग्रह में वह कविता पढ़ी जा सकती है :

बैल को बचाना जरूरी था
और वह समूचा का समूचा नहीं पकड़ा जा सकता था
इसलिए पूँछ पकड़े हुए दादी भी पहाड़ से गिर पड़ीं।

यह गिरना, एक युग का, एक समय का, एक सभ्यता का, एक पीढ़ी का ,एक व्यवस्था का, एक दूसरे से अलग होना था। लेकिन हर अलगाव के मूल में कोइ न कोई लगाव विन्यस्त रहता है। उसकी गति में कोई संगति अंतर्भूत रहती है। इसलिए जगूड़ी कहते हैं :

दादी का बैल के साथ मर जाना
किसी मजदूर का मशीन की चपेट में आ जाना है।

यह पंक्ति दो समयों, दो सभ्यताओं, दो पीढ़ियों और दो व्यवस्थाओं के बीच खड़ी है। एक कवि यही करता है। वह बीच की कड़ी बनता है। वह शृंखला के टूटने की मार अपने ऊपर झेलता है लेकिन शृंखला के टूटने को थामे रहता है।

'कविता का अमरफल' की कविताओं में एक आधुनिक लोक-समाज को पकड़ने की कोशिश की गयी है। समय की चोट मनुष्य को भी बदलती है और शहर को भी बदलती है। शहर के आईने में मनुष्यता में हो रहे बदलाव को देहरादून कविता दिखाती है। मनुष्य के भीतर हो रहे ये बदलाव शहर के बदलाव की प्रति-छायाएँ हैं :

जंगल काटकर कोठियाँ उगाता जा रहा है देहरादून
1960 तक यहाँ पंखे नहीं चलते थे
बाटा की दुकान तो थी पंखों की नहीं
धूप की वजह से नहीं बारिश की वजह से बिकते थे छाते
हिमालय का चेरापूँजी था देहरादून।

शहर का बदलना प्रकृति और मनुष्य का बदलना है। लोक और जीवन का बदलना है। भाषा और मूल्य का बदलना है। यह कविता आज़ादी के बाद बदलते हिंदुस्तान की काव्य-कथा कहती है।

21वीं सदी में भर्तृहरि को याद करते हुए संग्रह की शीर्षक कविता, 'कविता का अमरफल' लिखी गयी है। इस कविता में उस मनुष्य की शिनाख्त करने की कोशिश की गयी है, जो लालच के एक वृहद् संसार को दुनियादारी मानता है। उसके न्याय और नैतिकता, भाईचारा और समानता के तर्क वहीं से बनते हैं। जगूड़ी भर्तृहरि के जीवन प्रसंग को समकालीन कवि के जीवन संकट से जोड़ते हैं। वर्तमान समय और समाज में एक कवि की भूमिका क्या है? आखिर कला कहाँ खड़ी है? किसके साथ? किसके पक्ष में? कौन उसे नियंत्रित करता है? जगूड़ी की कविताएँ, इन प्रश्नों का उत्तर बनती हैं। कवि समाज का आलोचनात्मक दृष्टिकोण विकसित करता है। वह समाज का अगुआ है। समाज के विकास और विनाश की बड़ी जिम्मेदारी उसी के कंधे पर है। उसे बार- बार कविता के बदले अमरफल प्राप्त होता है, जिसे उसे छोड़ना होता है। जहाँ उसने अमरफल चखा, कविता उसे छोड़ देती है। सच्चा कवि ही उस अमरफल के मोह से मुक्त रह सकता है। कविता का अमरफल, दरअसल अमरफल पा लेने के लोभ के पार चले जाना है :

तुम कवि न होते तो राजत्व न छोड़ पाते
एक साधारण वेश्या जितना धन भी
नहीं रखा तुमने अपने पास
वेश्यावृत्ति की तरह तुमने राजत्व छोड़ दिया
पर वेश्या का उपकार हमेशा याद रखा।

यह कविता एक कवि के आलोचनात्मक और समकालीन विवेक की कविता है। हर युग, हर सत्ता उसे पुरष्कृत करती है, उसे लालच देती है। वह उस पर है कि वह क्या छोड़ता है, क्या याद रखता है? कविता बाँधती भी है, और मुक्त भी करती है। अब यह कवि पर है, वह किससे बँधता है और किससे मुक्त होता है? उसे राजाश्रय से जुड़ना है या लोक समाज से? उसे धन-वैभव के मोह से मुक्त होना है या ज्ञान-संवेदना से? उसे सचमुच कविता के अमरफल की चाह है या नहीं? क्योंकि अमरफल के मोह से मुक्त होकर ही वह कबीर की तरह कह सकेगा—अमरपुर ले चल हो सजना।

पुस्तक : कविता का अमरफल/ लीलाधर जगूड़ी/ राजकमल प्रकाशन, दिल्ली/ 2020/ ₹ 160

संपर्क : प्लॉट नं.-72 2nd फ्लोर, सेक्टर-2, पिनवुड इन्क्लेव, वेव सिटी, गाजियाबाद-201002 (उ.प्र.), मो. : 9213166256

उत्तर पैग़म्बर : समग्र मनुष्यता की पक्षधर कविताएँ

मीना बुद्धिराजा

कविता आज जीवन और समाज के सरोकारों से अधिक अब कवि के लिए चुनौती है क्योंकि बाहर का यथार्थ अधिक हिंसक, हृदयहीन और क्रूरतम हुआ है। कविता के लिये सबसे निर्मम और विरोधी समय में भी कविता लेकिन एक अंतिम विकल्प और सामूहिक-मानवीय स्वर के रूप में बची रहती है। ऐसे समय में एक सचेत और अंतर की तहों में झाँकने वाली संवेदना और दृष्टि को पा सकने कि समर्थता का कवि ही अपनी कविताओं में वह सच पैदा कर सकता है जिसमें सभी अंतर्विरोधों के बीच चीज़ों की वस्तुनिष्ठता से देखने की समझ और एक पोएटिक दूरी भी हो। कविता में विचार भी संवेदना और कवि की मानवीय प्रतिक्रिया के रूप में ही समाहित हो सकता है न कि उपदेश, नारे और किसी सिद्धांत के रूप में। कविता में सार्वजनिक परिस्थितियों की गवाही भी सबसे निजी अनुभव के दायरे में अभिव्यक्त होकर भी वह सबकी तरफ से होती है। कवि के सृजन का विवेक ही सामूहिक चेतना में जो भी अनछुआ छुपा सच है उसे अँधेरे से निकालकर कविता में चमकाता है :

मेरे जन्म ने तय कर दी मेरी पहचान
मुझे जो कुछ रटाया गया मैंने याद किया
मैंने सीख लिये रस्मो-रिवाज़
अपने धर्म को अंतिम मानते हुए मैंने उसे स्वीकार किया
मुझे सम्भावित नर्क से बचने के लिए
अपनी तरफ से न कुछ देखना था, न सुनना था, न सोचना था, न बोलना था
और इस तरह मैंने अपनी मनुष्यता खो दी।

समकालीन कविता के परिदृश्य में एक सार्थक उपस्थिति के रूप में 'अरुण देव' प्रतिष्ठित नाम हैं जिनकी कविताओं में कलात्मक शर्तों से अविव्यक्त प्रतिबद्धता और समय के संकट का, सरोकारों का जो प्रखर स्वर मिलता है, वह अनोखा है, अलग और भिन्न है। उनके पिछले

कविता संग्रहों में 'क्या तो समय' और 'कोई तो जगह हो' चर्चित और बहुप्रशंसित कृतियाँ रही हैं। इनकी खासियत यह है कि ये कविताएँ सिर्फ संवेदना और विचार से ही नहीं, जीवन प्रक्रिया से भी आवेशित हैं। हिंदी की प्रसिद्ध वेब पत्रिका 'समालोचन' के संपादन के माध्यम से समकालीन कविता के परिदृश्य और उसके आलोचनात्मक विमर्श को भी पाठकों तक पहुँचाने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

अरुण देव का नया कविता संग्रह 'उत्तर पैग़म्बर' शीर्षक से प्रकाशित होना कविता के पाठकों के लिये एक विशेष उपलब्धि है जो कविता को जीवन की प्राथमिकताओं में मानते हैं और इस जटिल समय और परिवेश में कविता के नये स्वरों और बदलावों को अनुभव करना चाहते है। इस कविता संग्रह की सौ से भी अधिक कविताएँ सबसे भयावह और जटिल समय में भावनात्मक क्षरण और मूल्यों से रिक्त परिवेश में जीवन के राग और भरोसे को ही नहीं बचातीं बल्कि इनमें सघंर्ष और प्रतिरोध की भी गरिमापूर्ण जगह है जो कविता के लिए बहुत जरूरी है।

उत्तर पैग़म्बर की कविताएँ भाषा और यथार्थ के बीच की दूरी को पाटते हुए जिन अनुभवों, आत्मस्वीकृतियों, विडंबनाओं और जीवन की त्रासदियों से टकराती हैं, उसकी अभिव्यक्ति का सच समकालीन बोध से जुड़ा है और कवि सिर्फ मनुष्य के पक्ष में ही चिंतित है। इन कविताओं में व्यक्तिगत और सामाजिक, राजनीतिक और सार्वभौमिक जैसे अलगाव नहीं है क्योंकि उनका आधार आत्मसंघर्ष और स्वप्न और यथार्थ के बीच का तनाव और द्वंद्व है। यह इन कविताओं की ठोस पहचान है जिनमें जीवन, प्रकृति, व्यवस्था, समय और समाज की विद्रूपताएँ, समस्याएँ अपने सभी आयामों में बहुत संश्लिष्ट और सघन रूप में उद्घाटित हुए हैं। इन कविताओं का फलक और संवेदनात्मक विस्तार असीमित है। इनमें रफ़ी, जायसी, घर, सुजान, प्रेम, स्त्री, घड़ा, साईकिल जैसी स्मृतियों से लेकर क्रूर आदमखोर सभ्यता के निशान भी हैं। इसके साथ-ही बेआवाज़, मिलना किसी स्त्री की तरह, किसी दिन, परंपरा, महादेवी की बेटियाँ, घडी पर समय का भार जैसी कविताओं में आज की त्रासद लोकतांत्रिक व्यवस्था में पराजित, निराश मनुष्य की विवशता, घुटन, पीड़ा और चिंताएँ दर्ज़ हैं। गेहूँ का उचित मूल्य, बरी कर दिये गये सभी आरोपी, हाँ मैं निराश हूँ, स्त्रियों की हँसी, खल पात्रों का कु-समय, हत्या और हत्या, इसी समय में, कविता का देश, पुरस्कार का खेल, बहुमत, संघर्ष, पराजित की दिनचर्या और उसकी सीख, मैं बीमार हूँ जैसी कविताएँ समकालीन व्यवस्था के अंतर्विरोधों में साधारण मनुष्य की विडंबनाओं को बहुत गहराई से देखती हैं। लेकिन इस यांत्रिकता और निराशा से ऊपर उठकर इनमें कविता की वह पैग़म्बरी आवाज़ अधिक प्रखर है जिसमें हाशिये और अंतिम व्यक्ति की चीख संघर्ष और मुक्ति की पुकार बन जाती है। इन कविताओं में जो नया जटिल मनुष्य है वह अनेक असुविधाजनक सवालों से घिरा है और इस छूटते हुए समय में जिन बुनियादी विंसगतियों से जूझता है। उनमें वह भले ही अकेला है लेकिन एक बड़े जनसमूह की ईकाई है और आसपास से निर्लिप्त नहीं है। यह आत्मनिरीक्षण उसके जीवित होने की, मनुष्य की चेतना की जरूरी शर्त है। और ये कविताएँ भी उन जटिलताओं और प्रश्नों के बीच जाने का नैतिक साहस करती हैं जिनमें अपने समय का दबाव, आक्रोश, आवेग, बेचैनी और असहमति जायज़ है। कविता की स्वाभाविक और अंतर्निहित उम्मीद यहाँ मूलभूत दृष्टि के रूप में कवि की उदार और उदात्त की आकांक्षा पर फिर भी भरोसा रखती है :

यह धरती सिर्फ तुम्हारी नहीं है
आकाश, समुद्र और ज़मीन साझे के हैं

इस पर रहने वाले छोटे से छोटे कीट की भी यह उतनी ही है
एक असमय पीला पडा पत्ता
कहीं किसी पेड़ के सूख जाने की तर्फ इशारा करता है
और पेड़ों का काटा जाना जंगलो की तबाही है
जहाँ से मिलती है तुम्हें हवा
गर वृक्ष तुम्हें कृतज्ञता से नहीं भर देते
तो तुम्हारे अंदर एक कुलहाड़ी छुपी है
अगर तुम्हारे अंदर बचपन की निर्दोष आँखें अब भी चमक रही हैं
तो तुम बचे हुए हो
नहीं तो एक निरर्थक विवशता के सिवा क्या हो तुम?

अपने परिवेश और अपने समय के सभी बड़े प्रश्नों, सरोकारों और मानवीय चिंताओं से जूझते हुए इन कविताओं में समकालीन आंदोलनों और जन-संघर्षों की आहटें भी दिखाई देती हैं। ये समस्याएँ कवि और कविता की दृष्टि से दूर नहीं रह पातीं और उनसे टकराती हैं :

थाली में परसी गर्म रोटी को तोड़ते हुए
क्या तुम्हें उस किसान की याद आती है
जो इस उम्मीद में था कि इस वर्ष फसल अच्छी होगी
क्या तुम्हें उस खेतिहर का जरा भी ख्याल आया
जो शीत में भीगते और धूप में जलते हुए दे रहा था जड़ों में पानी
तुम्हारी रोटी के लिये बैंक के उस कर्ज़दार का क्या
कोइ कर्ज़ नहीं है तुम पर
कभी सूखा, कभी बाढ़, कभी पाला
अभी भी वह आसमान के नीचे है अपनी फसलों के साथ
कभी दह जाता है कभी बह जाता है
कभी टूट कर नगरों में बिखर जाता है
कभी तोड़ना रोटी तो सोचना क्या तुमने चुकाया
गेहूँ का उचित मूल्य
किसान चुकाता है
कभी सल्फास खाकर, कभी लटककर पेड़ से।

इन कविताओं में लंबे विवरणों की जगह संवेदनशीलता का ध्रुवीकरण है जो इन्हें अनावश्यक और बोझिल नहीं बनाता। इन कविताओं में दृश्य बोध के साथ तीखी व्यंजनाएँ कविता के मूल स्वर में जीवन की विषमताओं को आत्मसात करती चलती हैं जिनका कोई चालू समाधान संभव नहीं। इसलिये ये यथार्थ बोध की सघन कविताएँ हैं। प्रेम की संवेदना, उसके भाव और स्त्री की स्थिति और पहचान से जुडी कविताएँ भी प्रेम के स्वर को मद्धिम स्वर में लेकिन समकालीन जटिलताओं को मुख्यता में उभार कर सामने लाती हैं :

अगर मैं गिरा तो प्रेम में गिरा
झुका तो सामने प्रेम खड़ा था
जब लोग असरदारों के सामने गिरे, झुके, घिघिया रहे थे
और अपनी तरफदारियाँ चुन रहे थे

मैं प्रेम में था
शुक्र है मैं बदनाम दुनियादारी के लिए नहीं हुआ।

इन कविताओं की विविध अर्थ छवियाँ मानव मन के अनेक अनुत्तरित सवालों की जैसे थाह लेती रहती हैं। इक्कीसवीं सदी में जहाँ सच, यथार्थ और आभास का अंतर मिट गया है वहाँ कविता का साफ-साफ कहना चुनौती ही नहीं दायित्व भी बना हुआ है। इस संग्रह में अरुण देव कवि रूप में उनके विशिष्ट और मौलिक भाव-बोध, संवेदना, विचार और भाषा-शिल्प की अलग से पहचान करातीं वे सभी कविताएँ संकलित हैं जो पिछले तीन-चार वर्षों के बीच उन्होनें लिखी हैं। अरुण देव की काव्यात्मक विशिष्टता यहाँ दिखाई देती है जहाँ वे कविता को स्वंय भी जीते हैं। ये कविताएँ पाठक को हर मोड़ पर समकालीन यथार्थ से परिचित कराती चलती हैं, बिना किसी काल्पनिक भावुकता के और शिल्पगत चकाचौंध के। आज के निर्मम और कठिन समय में इन कविताओं का सबसे बड़ा स्वर मानवता का है :

अर्थ से इतना गिर जाऊँ कि हो जाऊँ रिक्त
इतना निरर्थक कि सभी सत्ताओं के लिए अनुपयोगी
दृश्य से विलग कि
लगभग अदृश्य।

इसलिये यह कविता की पैग़म्बरी आवाज़ है जिसमें समग्र मनुष्यता की पक्षधरता है। अंतिम पंक्ति के व्यक्ति की चीख, संघर्ष और मुक्ति की पुकार है जिसे कवि ने इन कविताओं में कहीं भी अनसुना नहीं किया है जो इस संग्रह की उपलब्धि और व्यापक समकालीन दृष्टि का प्रतीक है।

पुस्तक : उत्तर पैग़म्बर/ अरुण देव/ राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-111002/ ₹ 160

संपर्क : एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, अदिति महाविद्यालय, बवाना, दिल्ली-110039, मो. 9873806557

जुलुम कर डारा री मेरी गुइयाँ...

(विद्या जी को 'सहेला रे' के एक पाठक का ई-मेल)

राकेश बिहारी

आदरणीया विद्या जी,

मृणाल पाण्डे का उपन्यास—'सहेला रे', लगभग दो वर्षों से मेरे सिरहाने बना हुआ था। लेकिन किसी न किसी वजह से इसका पढ़ा जाना लगातार स्थगित होता रहा। दो दिन हुये मैंने इसे पढ़ लिया। उसी दिन से आपको यह खत लिखने की सोच रहा हूँ, पर एक खास तरह की बेचैनी के कारण यह भी विलंबित होता रहा। हाँ, इस बीच यूट्यूब पर मैंने किशोरी अमोनकर की आवाज़ में वह बंदिश जाने कितनी बार सुन ली है, जिसे मृणाल जी ने उपन्यास के आरंभ में ही किसी पुरालेख या सुभाषित की तरह उद्धृत किया है :

सहेला रे, आ मिलि गाएँ,
सप्त सुरन के भेद सुनाएँ,
जनम-जनम का संग न भूलें
अबकी मिलें तो बिछड़ि न जाएँ।

इस बंदिश को मैंने यूट्यूब पर सुना इस कारण आप नाराज़ तो नहीं हो रहीं? हो सके तो समझने की कोशिश कीजिएगा कि मुझ जैसे मूलविहीन नौतुरियों के लिए यह किसी वरदान से कम नहीं। ऐसा कहकर मैं संगीत और कला के समक्ष नये माध्यमों द्वारा खड़ी की गई चुनौतियों के प्रति आपकी और उपन्यास की चिंताओं को नकार नहीं रहा, बस उसके दूसरे पक्ष को भी विमर्श का हिस्सा बनाना चाहता हूँ। इस बात को और तूल देना विषयांतर का कारण हो सकता है इसलिए इस संदर्भ को यहीं छोड़ मैं 'सहेला रे' की उस बंदिश पर आता हूँ। तीन ताल में निबद्ध राग भूप की वह बंदिश जैसे-जैसे विलंबित की ओर बढ़ती है, उपन्यास के इस छोर से उस छोर तक फैली उदासी मेरे भीतर फिर-फिर गाढ़ी होने लगती है। आपको यह खत लिखते हुए भी 'सहेला रे' की वह सांद्र और करुण आवृत्ति मेरे भीतर लगातार ध्वनित हो रही है।

दो ख़ानदानी डेरेदार गवनहारियों, हीराबाई और अंजलीबाई की कथा दर्ज करने के क्रम में आपने जिस धैर्य और शोधवृत्ति का परिचय दिया है, हिंदी में उपन्यास लेखन की वह धारा लगातार क्षीण होती दिखाई पड़ती है। अलबत्त शोध के नाम पर गूगललोक से आयातित सूचनाओं से आक्रांत लेखन की आमद तो इधर खूब बढ़ी है, जहाँ गल्प और यथार्थ के बीच की दूरी लगभग समाप्त सी होती दिखती है। गोकि इस उपन्यास की प्रभावोत्पादकता भी इसके यथार्थ के बहुत करीब होने का एहसास लगातार कराती है, पर कुछेक स्थलों को छोड़कर, कथारस की एक खास उपस्थिति इसके उस पक्ष को क्षतिग्रस्त नहीं होने देती, जो कथास्वाद से जुड़ता है। पाँच वंशों के लगभग दर्जन भर से ज्यादा चरित्रों की आवाजाही से विनिर्मित इस उपन्यास के पात्रों के परस्पर संबंध को समझने में उपन्यास के शुरू में दिये गए वंशवृक्ष सहायक साबित हुये हैं। हालाँकि यह भी एक सच है कि इन वंशवृक्षों की मौजूदगी का प्रभाव भी उन कई कारकों में से एक है, जिनके कारण दो वर्षों से इस उपन्यास का पढ़ा जाना मेरे लिए स्थगित होता रहा कि जाने कितना जटिल होगा इसका चरित्र-विन्यास। वैसे तो हीराबाई और अंजलीबाई की जीवनकथा ही इस उपन्यास के केंद्र में है, पर इन चरित्रों की स्थापना के क्रम में जिन अन्य चरित्रों से आपने पाठकों का साक्षात्कार कराया है, उनमें हुस्नाबाई, अल्लारक्खी, हैदरी, सुकुमार बनर्जी, राधा प्रसाद, संजीव, पुतुल आदि भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन सभी चरित्रों के कोलाज से ही संगीत के उस स्वर्ण युग का चेहरा विनिर्मित होता है, जब संगीत और साधना पर्यायवाची हुआ करते थे। लेकिन दुर्भाग्य यह रहा कि संगीत का वह युग और उस युग की वे विशेषताएँ कुछ खास लोगों की स्मृतियों में ही कैद रह गईं। उस समय का कोई मुकम्मल लिखित इतिहास, जिसके नाभिकेंद्र में गीत-संगीत और उससे जुड़े कलाकार हों, नहीं लिखा जा सका।

मुझे यह देखकर अच्छा लगता है कि विगत कुछ वर्षों में हमारी भाषा के कई कथाकारों ने संगीत के उस इतिहास को औपन्यासिक वितान में रचने का काम किया है। संतोष चौबे का उपन्यास 'जलतरंग' और भगवान दास मोरवाल का उपन्यास 'सुर बंजारन' तो आपने जरूर देखा होगा। मुझे नहीं मालूम आपने उन उपन्यासों को किस तरह देखा-परखा है, पर उनसे गुजरते हुये मेरे भीतर कई तरह के असंतोष अंकुरित हुये थे। 'जलतरंग' की शुष्क शोध प्रस्तुति उसे उपन्यास नहीं बनने देती वहीं 'सुर बंजारन' में नायिका के वास्तविक जीवन को जस का तस रखने का मोह उसे न तो जीवनी बनने देता है न ही अपने समय के इतिहास की औपन्यासिक रचना। आपको यह भी पता हो कि हाल ही में संगीत को केंद्र में रखकर रणेन्द्र का उपन्यास 'गूंगी रुलाई का कोरस' भी प्रकाशित होकर आया है। इस उपन्यास को मैंने अभी पढ़ा नहीं है, इसलिए उस पर कुछ कह नहीं सकता। बहरहाल 'जलतरंग' और 'सुर बंजारन' से जो मेरी शिकायतें थीं उसके मद्देनजर मैंने 'सहेला रे' को तीव्र उत्सुकता के साथ पढ़ना शुरू किया था। उपन्यास के पहले ही पन्ने पर राधा दादा को लिखी आपकी चिट्ठी पढ़ते हुये मेरी वह आरंभिक उत्सुकता बहुत जल्दी ही एक रचनात्मक जिज्ञासा में बदल गई। एक मजेदार बात बताऊँ, मृणाल जी की भाषा का मैं अपने कॉलेज दिनों से ही मुरीद रहा हूँ। तब दैनिक हिंदुस्तान के संपादकीय पृष्ठों पर छपे उनके लेख की भाषा और उनके रचनात्मक शीर्षकों का मैं दीवानावार प्रशंसक हुआ करता था। 'पहले भरपेट भोजन, फिर परिवार नियोजन' और 'मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपड़ा' जैसे शीर्षक तो मेरे स्मृतिपटल का स्थायी हिस्सा बन चुके हैं। अपने तरुण दिनों में भाषा का जो संस्कार मैंने उनके लेखों से ग्रहण किया था, आपकी चिट्ठी की भाषा ने एक बार फिर से मुझे उसकी याद दिला दी। मैं इस बात पर मुग्ध था कि कैसे कोई लेखक युगीन

संदर्भों से नए शब्द अर्जित कर अतीत और वर्तमान को जोड़ने के लिए भाषा का पुल बनाता है। आपको ही आपकी भाषा की सुंदरता का क्या उदाहरण देना पर पहले ही पेज पर जिन वाक्यों को पढ़ते हुये ऐसा एहसास हुआ था उसे पुनः-पुनः याद करने का एक अलग ही सुख है—

"याद का चिट्ठियों वाला साम्राज्य तो कब का सिमट चुका। और ईमेल न जाने कितनी बेवकूफ किस्म की इमोशनल यादों पर स्पैम का ठप्पा मार पते को नफासत से डिलीट बटन दबाकर तुरत सायबर स्पेस से उड़ा सकती है। खैर, इससे पहले कि तुम भी अपने मित्र की देखादेखी डिलीट बटन की तरफ तर्जनी बढ़ाओ, जल्द से यह बेशर्म मेल भेजने की दूसरी वजह सुन लो।"

आपका यह खत, जो 'सहेला रे' का पहला अध्याय है, को इस उपन्यास की प्रस्तावना की तरह देखा जाना चाहिए। इसी खत से पता चला कि आपने सांगीतिक थियेटर के इतिहास पर किसी महत्वाकांक्षी शोध की शुरुआत की थी। उस शोध के दौरान आपको उस दौर से संबन्धित इतनी सारी जानकारियों की अर्गलाएँ खुलती दिखीं जिसे उस मौजूदा फ़ेलोशिप में शामिल करना संभव नहीं था। संगीत के स्वर्ण युग की उन संभावित निधियों को एकत्र करने की आपकी अभिलाषा पूरी हो सके इसके लिए किसी प्रकाशक से एडवांस रॉयल्टी प्राप्त कर उस दिशा में शोध करना आपको जरूरी लगा था। शोध के लिए एडवांस रॉयल्टी और शोध के नतीजों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने का प्रस्ताव आपने इस पत्र में राधा दादा, जो कि एक बड़े प्रकाशक हैं, को भेजा है। प्रकाशकीय सहमति के बाद हीराबाई और अंजलीबाई की जीवन यात्रा के अनुसंधान में अपनी प्रस्तावित पुस्तक के लिए जो कुछ आपको हासिल हुआ, वही इस उपन्यास में पत्र (पढ़ें ई-मेल) की शैली में मौजूद है।

आदरणीया विद्या जी, अपनी प्रस्तावित पुस्तक के लिए आपने जो श्रम किया है, जितनी यात्राएँ की हैं, जो सामग्रियाँ इकट्ठा की हैं, वह निःसंदेह एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, इसकी सराहना भी की जानी चाहिए। पर यहाँ मेरी जिज्ञासा कुछ और है। पुस्तक लेखन की इस पूरी प्रक्रिया में जिसे आप हर जगह शोध कहकर पुकार रही हैं, क्या सचमुच इसे शोध कहा जाना चाहिए? शोध तो मूलतः समाज विज्ञान की एक प्रक्रिया है न, जिसके मूल में सर्वेक्षण, डाटा विश्लेषण, प्रवृत्ति निरूपण जैसी कई उप-प्रक्रियाएँ भी शामिल होती हैं? कोई कथाकार किसी शोध के दौरान इस तरह हासिल निष्कर्षों को किस तरह एक औपन्यासिक कृति में ढालता है, वह चर्चा का एक अलग विषय है, पर आपने जिस प्रविधि से जानकारियाँ इकट्ठा की हैं क्या उन्हें शोध के बजाय अलग-अलग व्यक्तियों के संस्मरण का समुच्चय नहीं कहा जाना चाहिए? हाँ, आपकी इस बेबाकी के लिए मैं आपकी तारीफ जरूर करना चाहता हूँ कि आपने अपनी इस 'शोध-यात्रा' में कहीं भी उपन्यास लिखने का कोई दावा नहीं किया है। यदि मुझे ठीक-ठीक याद है तो आपने अपने पहले पत्र में शोध के नतीजे को पुस्तकाकार छापने की जो बात कही है, पूरी किताब में आद्योपांत उस पर कायम भी रही हैं। आपके हवाले से इस उपन्यास के दूसरे पात्र भी उसे प्रस्तावित पुस्तक ही बताते हैं। अब 'शोध' में हासिल नतीजे से बनी किताब की संरचना से ही तो यह तय होगा कि वह किताब उपन्यास है या इतिहास, जीवनी है या संस्मरण या कि कुछ और। इस प्रक्रिया के दौरान आपको प्राप्त चिट्ठियाँ, जिसे आप लगातार अपने प्रकाशक और बड़े भाई संजीव से साझा करती रही थीं, भी तो आपकी पुस्तक के लिए कच्चा माल ही थीं न! इन चिट्ठियों में छुपे रहस्यों को आप अपनी पुस्तक में कैसे तरतीब देंगी, आपने तो अभी यह भी नहीं तय किया था। इसलिए इन्हें समवेत रूप में जब मृणाल जी ने उपन्यास

कहकर हमलोगों को सौंपा तो इसकी संरचना को लेकर मेरे भीतर कई सवाल खड़े हुये। जिस कृति को हम उपन्यास कह रहे हैं, उसके पात्रों के बीच कैसा अंतर्संबंध होना चाहिए? उस कृति के कथासूत्र में संयोजन और समायोजन की कौन सी विशेषताएँ होनी चाहिए? उपन्यास के भिन्न अध्याय आपस में कितने सम्बद्ध या कितने स्वतंत्र हो सकते हैं? 'सहेला रे' के कुछ हिस्सों से गुजरते हुये मुझे मेरे प्रश्नों के माकूल जवाब भी मिले। पर कुछ हिस्सोंकी मूल कथा से असंबद्धता ने मुझे किंचित परेशान भी किया। मेरे कहे का मतलब आप समझ रही होंगी कि मेरी परेशानी का अर्थ यह नहीं है कि उन हिस्सों में मौजूद जानकारियाँ निरर्थक हैं। मेरी चिंता दरअसल यह है कि क्या अपने मौजूदा स्वरूप में किताब के वे अंश औपन्यासिक संरचना के कितने अनुकूल हैं? ऐसा भी नहीं है कि इस तरह के प्रश्न मेरे भीतर पहली बार उठे हैं। सच कहूँ तो पिछले दो-चार वर्षों में प्रकाशित और चर्चित अधिकांश उपन्यासों को पढ़ते हुये उपन्यास की संरचना को लेकर ऐसे सवालों से मैं दो-चार होता रहा हूँ। कई बार तो यह भी मन में आता है कि कहीं 'अकविता' और 'अकहानी' की तरह 'अउपन्यास' के शिल्प में उपन्यास लिखे जाने का समय तो नहीं है यह? समकालीन उपन्यास को जाँचने-परखनेवाले सुधी आलोचकों के प्रति मैं बहुत उम्मीद से देखता रहा हूँ कि अपनी मीमांसा में वे कुछ इस मुद्दे पर भी अपनी बात रखेंगे। लेकिन...

श्रद्धेय विद्या जी, मुझे तो 'सहेला रे' से गुजरते हुए लगातार यह भी लगता रहा कि इसके कुछ हिस्सों या अध्याओं की मूल कथा से असंबद्धता के जो प्रश्न मेरे भीतर कुलबुलाते रहे, वे कहीं न कहीं आपके जेहन में भी थे। अपने पात्रों के साथ एक खास तरह की तटस्थ तन्मयता के अभाव का लेखकीय बोध हो या कि स्वयं आपके कथा स्रोतों द्वारा पाने ही असमबद्ध बातों के पक्ष में दिये गए उनके तर्क, कहीं न कहीं उपन्यासकार और आपकी दुविधा को ही तो प्रकट करते दिखते हैं न! इससे पहले कि मेरी बातें आपको किसी नई उलझन में डाल दें, आईए मैं सीधे-सीधे आपको उपन्यास के उन हिस्सों तक लिए चलता हूँ–

"अब तक मैंने लिखा छपाया चाहे जितना हो, किसी दूसरी किताब पर काम करने में कभी मुझे अपने स्रोतों या पात्रों के साथ इतना उत्कट लगाव भी महसूस नहीं हुआ। डर सा लग रहा है! क्या इस पुस्तक में मेरी जैसी रुक्ष अकादमिक यह सब समेट भी सकेगी।" (पृष्ठ 43)

"तुम कहोगे आए थे हरिभजन को औ' ओटन लगे कपास। क्या किया जाए यह विस्मयकारी कपास है ही इतनी बहुरंगी।" (पृष्ठ 43)

"कथानायिका हीरा यानी बीवी विक्टोरिया मसीह से इलाका मुआयने के दौरान उनके मिलन की भूमिका इस तनिक लंबे संदर्भ के बिना नहीं समझी जा सकती, यह मेरी अकुंठ राय है। इसलिए इतना लंबा चौड़ा ऐतिहासिक ताना-बाना पेश किया है।" (पृष्ठ 61)

उम्मीद करता हूँ कि उपर्युक्त उद्धरणों से आपको यह स्पष्ट हो गया होगा कि मैं उपन्यास के किन संरचनात्मक अन्तरालों या विशेषताओं की तरफ इशारा कर रहा था। बहुत संभव है आप इसे शंकामूलकता के अनिवार्य लेखकीय गुण से जोड़कर देखें, पर मुझे तो यह असमबद्धता की संभावित पाठकीय प्रतिक्रियाओं को संबोधित करने का एक लेखकीय उद्यम ही ज्यादा लगता है। मैंने अभी ऊपर बदलती रचनाशीलता के बीच औपन्यासिक संरचना पर बहस की जरूरत को रेखांकित किया है। 'सहेला रे' अपनी मूल कथा के साथ और समानान्तर जिस तरह अपनी रचना प्रक्रिया और रचनात्मक दुविधाओं पर भी बात करता चलता है, उसे मैं इस बहस या संवाद की तरफ बढ़े हुये एक कदम की तरह देखना चाहता हूँ। हाल के दिनों में प्रकाशित

मुझे कोई और ऐसा उपन्यास याद नहीं आ रहा जो अपनी संरचनात्मक प्रस्तुति में घोषित रूप से औपन्यासिक शिल्प-संरचना पर इस तरह से बात करता हो। मुझे लगता है, औपन्यासिक संरचना के प्रश्नों को रचनात्मक अकादमिक विमर्श से जोड़ सकने की इस क्षमता को इस उपन्यास की एक विशेषता के रूप में रेखांकित किया जाना चाहिए।

इसे एक संयोग ही कहिए कि मैंने यह उपन्यास मार्च महीने में पढ़ा है। मार्च यानी स्त्री दिवस का महीना। मृणाल जी के समूचे लेखकीय जीवन में स्त्री सरोकारों के प्रति उनकी जिस प्रतिबद्धता को मुझ जैसे उनके पाठक हमेशा से महसूस करते रहे हैं, उसका आस्वाद 'सहेला रे' में शुरू से अंत तक बना रहता है। उपन्यास के आरंभ में आपके, यानी एक स्त्री के पुस्तक लेखन और शोध के प्रस्ताव को दो-दो पुरुषों (राधा दादा और संजीव) की सहमति या स्वीकृति हो या फिर इसका अंतिम अध्याय- हैदरी बी की बेटी अमाल का वह ईमेल जिसमें आप अपनी प्रस्तावित पुस्तक का उपसंहार हो सकने की संभावना देखती हैं, हुस्नाजान और हीराबाई का बहनापा हो या फिर हीराबाई और अंजली बाई के द्वन्द्वातक संबंध, एक लेखिका से लेकर तवायफ और उसकी संततियों तक के जीवनानुभवों, उनके निजी सुख-दुःख, राग-विराग, भीतर-बाहर के संघर्ष और इन सबके प्रति समाज का अनुकूलित हो चुका व्यवहार, जिस वैचारिक अंतर्दृष्टि और रचनात्मक संयम के साथ इस उपन्यास में दर्ज हुये हैं, वह निःसंदेह प्रशंसनीय है। लेकिन कुछ हद तक चयनित शिल्प की सीमा तो कुछ हद तक पात्रों को पुनर्सृजित करने के लिए अपेक्षित लेखकीय धैर्य के अभाव के कारण यह उपन्यास अपनी कथा मध्यस्थों के सहारे संप्रेषित करता है। काश आपकी शोध-यात्रा में मिले उन पात्रों को सीधे-सीधे उपन्यास के चरित्रों में ढाल दिया जाता! आप समझ रही हैं न, यह सिर्फ मेरी ही नहीं, परमलाल शाह की भी कसक है, जिसे उन्होंने आपको लिखे अपने खत में भी अभिव्यक्त किया है–

"बेहतर होता यदि मेरी तरह आप अपने को गंधर्व, किन्नरों के वंशज बतानेवाले हमारे इन शर्मीले : वनरौतों, बादियों के रचे मनोमुग्धकारी सांगीतिक किस्से खुद उनके मुख से ही सुन पातीं। पर अभी समयाभाव से मुझे ही हिवेट साहिब, गुलाब और हिरुली की सरस प्रेमगाथा को अपने नीरस गद्य में आपके आगे प्रस्तुत करना पड़ेगा।"

प्रिय विद्या जी! लेखक होने के नाते आपसे एक हमपेशा अपनापा-सा हो गया है, इसीलिए आपको प्रिय संबोधित करने की छूट ले रहा हूँ। उम्मीद है आप इसका बुरा नहीं मानेंगी। क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि इन पात्रों को पुनर्सृजित करने का धैर्य रखा जाता तो उपन्यास में इस तरह के कई स्थल न सिर्फ ज्यादा रोचक हो जाते बल्कि तब मुख्य कथा के साथ इन जैसे पात्रों के आनुषंगिक जुड़ाव की रचनात्मक संभावना इन्हें असम्बद्ध होने के आरोपों से भी बचा लेती?

मुख्य कथा के समानान्तर यह उपन्यास संगीत की दुनिया जे जुड़े कई ऐसे मुद्दों की तरफ भी इशारा करता है, जिन्हें सभ्यता और संस्कृति के इतिहास का अनिवार्य हिस्सा होना चाहिये। संगीत की गंगा-जमुनी तहजीब हो याकि कलाकारों और उनकी हमपेशा संततियों के बीच अनवरत चलनेवाली प्रशंसा और स्पर्धा की जुगलबंदी, जीवन की न्यूनतम व्यावहारिक जरूरतों को न पूरा कर पाने के दंश से उपजी बिडंबनाएँ हों या समय के साथ नितांत अकेले पड़ते जाने की आंतरिक तकलीफ, सांस्कृतिक अवशेषों को स्क्रैप और मलबे में बदल दिये जाने वाले व्यावसायिक सोच की तकलीफदेह नियति हो या फिर नई तकनीकों के आगमन के बीच स्वतः हाशिये पर सिमट जाने को मजबूर कलावंतों के जीवन की त्रासदियाँ या फिर संगीत की समरस और समावेशी परंपरा को हिन्दू-मुसलमान में विभाजित करने की सुनियोजित कोशिशें, उपन्यास

में आये ये प्रसंग किसी भी सभ्य समाज की चिंता के कारण होने चाहिए। लेकिन उपन्यास की शिल्पगत सीमा लेखिका को इन प्रसंगों में गहरे नहीं उतरने देती। काश! मृणाल जी ने विभिन्न चरित्रों के साथ हुये आपके पत्रव्यवहार को उपन्यास न समझ कर इस उपन्यास का कच्चा माल समझा होता!

गुजिश्ता जमाने की जिन तवायफ़ों ने खून-पसीना और यौवन की कुर्बानी की कीमत पर भी पक्के गाने की लौ को बुझने नहीं दिया उनके जीवन का सुख-दुःख अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद उदासी के संगीत की तरह इस उपन्यास में लगातार बजता रहता है। उन गवनिहारों की कसक, अकेलेपन का दंश, आजीवन राग और रस लौटाने के बाद स्वयं तप्त और रिक्त रह जाने की नियति मुझे भी उदास और बेचैन किए दे रही हैं। इसलिए बस इतना ही।

उम्मीद है आपने एक अपरिचित के इस ईमेल को स्पैम समझकर डिलीट नहीं किया होगा और इसे पूरा पढ़ गई होंगी। क्या आप इसे मृणाल जी को फॉरवर्ड कर देंगी? मैं तो इस ईमेल की कॉपी सीधे उन्हीं को भेजना चाहता था, पर उपन्यास में उनके ईमेल का पता नहीं मिला इसलिए यह आग्रह आपसे कर रहा हूँ।

आपका बहुत समय ले लिया। सादर-सप्रेम-सधन्यवाद,

—एक पाठक

पुनःश्च :

एक जरूरी बात तो रह ही गई। यूँ तो मूल कथा में उनकी उपस्थिति बहुत हस्तक्षेपकारी नहीं है, पर उपन्यास में राधा दादा का होना, एक अलग कारण से भी इसे महत्त्वपूर्ण बनाता है। मेरी स्मृति में तुरंत कोई दूसरा उपन्यास नहीं कौंध रहा जिसमें प्रकाशक का किरदार इतना महत्त्वपूर्ण हो। राधा दादा की सहमति के बिना यह उपन्यास कहाँ संभव हो पाता। भले यह उपन्यास का केंद्रीय विषय नहीं है, लेकिन लेखक-प्रकाशक संबंध, एडवांस रॉयल्टी, शोधपरक लेखन के लिए प्रकाशकीय सहयोग, लेखकीय अधिकार जैसे मुद्दे जिस सहजता से प्रतीक रूप में यहाँ मौजूद हैं, वह हिंदी के हर लेखक की आँखों में पलने वाला एक हसीन सपना है। किंचित कारणों से इन मुद्दों पर व्यवस्थित बातचीत का माहौल हमारी भाषा में नहीं बन पाया है। 'सहेला रे' का संरचनात्मक विधान इस दिशा में सोचने के लिए भी कई सूत्र उपलब्ध कराता है।

पुस्तक : सहेला रे/ मृणाल पाण्डे/ राधाकृष्ण प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली/ 2018/ ₹ 180

संपर्क : डी 4/6, केबीयूएनएल कॉलोनी, पोस्ट-काँटी थर्मल, जिला-मुजफ्फरपुर-843130 (बिहार), मो. : 9425823033